सर्वत्र विद्वान लेखक की तेजस्वी प्रतिभा प्रस्फुटित हुई है। उसने सर्वत्र तुलनात्मक व समन्वयात्मक दृष्टि से चिंतन किया है। लेखक खण्डनात्मक नीति से अलग थलग रहकर अनेकान्त दृष्टि के निष्पक्ष आलोक में जैनाचार का प्रतिपादन करता है। उसने जैनाचार के साथ ही विश्व के सभी प्रमुख धर्म और दर्शनों की आचार संहिता पर भी प्रकाश डाला है जिससे यह ग्रन्थ भारतीय आचार का प्रतिनिधि ग्रन्थ बन गया है। हमारा यह स्पष्ट अभिमत है कि भारतीय संस्कृति के उज्ज्वल रूप को प्रस्तुत करने के लिए इसी तरह के श्रेष्ठ ग्रन्थों की आज आवश्यकता है। आज भारत में विचार पक्ष तो प्रबल होता जा रहा है पर आचार पक्ष में शिथिलता आती जा रही है जिससे हमारी मानवता मर रही है और दानवता पुष्ट हो रही है। ऐसी विषम वेला में यह ग्रन्थरत्न प्रकाशस्तम्भ की तरह सभी के लिए उपयोगी होगा।

श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय जैन समाज की विश्रुत संस्था है। सम्प्रदायवाद के दलदल से ऊपर उठकर उसने मानवतापरक श्रेष्ठ साहित्य समय समय पर प्रदान किया है। साहित्य की हर विधा में नित्य नूतन श्रेष्ठ ग्रन्थ दिए हैं। स्वल्पावधि में ही शताधिक ग्रन्थों का शानदार प्रकाशन कर एक कीर्तिमान आदर्श उपस्थित किया है। इसका सम्पूर्ण श्रेय परम श्रद्धेय सद्गुरुवर्य उपाध्यायश्री को है जिनके हार्दिक आशीर्वाद से यह संस्था दिन दूनी और रात चौगुनी प्रगति कर रही है। ग्रन्थ के प्रकाशन विभाग को उदारमना दानी महानुभावों का सतत स्नेह सुधा स्निग्ध सहयोग भी समय-समय पर मिलता रहा है जिससे निरन्तर ग्रन्थों के प्रकाशन करने का हम साहस कर सके हैं। हम चाहते हैं कि हमारा पाठक वर्ग सत् साहित्य पढ़ने में रुचि रखें तथा इतने श्रम से तैयार हुए ग्रन्थ रत्नों का रसास्वादन कर अपने आपको धन्य अनुभव करें। साहित्य लिखना गुरुदेवों का कार्य है और प्रकाशन का कार्य हमारा है तथा प्रचार का कार्य पाठकों का है। हमारी यह हार्दिक इच्छा है कि पाठक वर्ग साहित्य के प्रचार-कार्य में अधिक से अधिक सहयोग दें जिससे हम अधिक से अधिक श्रेष्ठ साहित्य का अभिनव प्रकाशन कर सकें। आशा ही नहीं अपितु दृढ़ विश्वास है कि सभी का हार्दिक सहयोग हमें सदा मिलेगा।

ग्रन्थ को मुद्रण कला की दृष्टि से सर्वाधिक सुन्दर बनाने वाले हमारे अभिन्न साथी स्नेहमूर्ति श्रीचन्दजी सुराना सरस हैं जिनका स्नेह भरा सहयोग हमें सदा मिलता रहा है। वे हमारे हैं हम उनके हैं अतः उनके लिए आभार जैसे हलके शब्द का प्रयोग करना हमें इष्ट नहीं है। आभार इतर का होता है अन्तरंग का नहीं।

हम इस सुनहरे अवसर पर हम सभी का हृदय से अभिनन्दन करते हैं जिनका [illegible] सहयोग ग्रन्थ के प्रकाशन के साथ रहा है। इस अवसर पर हम [illegible] सम्पन्न [illegible] श्राविकारत्न [illegible] श्री [illegible] जीवनभर जैन शासन की [illegible] और जैन शासन की [illegible] ज्योतिर्मय बनाने के लिए

अपने प्यारे इकलौते पुत्र श्री देवेन्द्र मुनि शास्त्री तथा इकलौती पुत्री परम विदुषी महासती पुष्पवतीजी को भी आर्हती दीक्षा प्रदान की तथा उन्हें आध्यात्मिक, साहित्यिक प्रगति के क्षेत्र में आगे बढ़ाया उनका समाज पर महान उपकार है अतः वह उनका चिर ऋणी रहेगा। दिनाङ्क २७ जनवरी १९८२ को दिन सवारे के साथ बजेरोन उदयपुर मेवाड़ में उनका स्वर्गवास हो गया है। भौतिक देह से वे आज हमारे बीच नहीं है पर यश शरीर से वे आज भी विद्यमान हैं और भविष्य में भी सदा उनकी गौरव गाथा गूंजती रहेगी।

हम पूर्ण विश्वास है कि उनके नाम को चार चाँद लगाने वाले उनके सुपुत्र देवेन्द्र मुनिजी और सुपुत्री महासती श्री पुष्पवतीजी विद्यमान हैं जो उत्कृष्ट व मौलिक साहित्य से भारती के भण्डार को भरते रहेंगे और सद्गुरु व सद्गुरुणीजी के नाम को रोशन करते रहेंगे।

इस पुस्तक की प्रस्तावना लिखने का हमारा अनुरोध स्वीकार कर प० रत्न श्री विजय मुनिजी शास्त्री (आगरा) ने हमें अनुगृहीत किया है हम मुनिश्री के प्रति हार्दिक भावेन विनत एवं कृतज्ञ हैं।

मन्त्री
श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय
उदयपुर (राजस्थान)

अपनी बात अपनी कलम

भारतवर्ष दर्शनों की जन्मस्थली है तो आचार धर्म की क्रीडास्थली भी है। यहाँ पर समय समय पर अनेक दर्शनों ने जन्म लिया है। वे खूब ही फले-फूले और अन्त में अनन्त काल के गाल में समा गये। जैन दृष्टि से श्रमण भगवान महावीर के समय तीन सौ त्रेसठ दर्शन थे तो तथागत बुद्ध ने त्रेसठ दर्शनों का वर्णन किया है। उनमें कितने ही दर्शन क्रियावादी थे तो कितने ही दर्शन अक्रियावादी थे। कितने ही दर्शन अज्ञानवाद पर आधारित थे तो कितने ही दर्शन विनयवाद को महत्व दे रहे थे। जितने दर्शन थे उतनी ही आचार परम्पराएं भी थीं। वैचारिक मतभेद होने से आचार में भी मतभेद होना सहज था स्वाभाविक था। कितने ही मूलभूत ऐसे नियम थे जो सभी दर्शनों ने स्वीकार किये थे पर यह भी पूर्ण सत्य है कि किसी ने किसी तत्त्व को गौण मानकर उसकी उपेक्षा की तो दूसरे ने उसे मुख्य मानकर उसका चिन्तन विवेचन विश्लेषण किया। इस तरह विभिन्न आचार-परम्पराएं समय-समय पर बनती रहीं और बिगड़ती रहीं।

प्रस्तुत ग्रन्थ जैन आचार सिद्धान्त और स्वरूप में जैन आचार पर तुलनात्मक दृष्टि से चिन्तन किया है। जैन दर्शन का प्राणतत्त्व आचार है। आचार को केन्द्र मानकर ही अन्य चिन्तन विकसित हुआ है। यदि हम वर्तमान में भारतीय चिन्तन क्षितिज पर मंडराते हुए अन्य दर्शनों के आलोक में चिन्तन करें तो यह स्पष्ट होगा कि जितना जैन दर्शन ने आचार को केन्द्र मानकर विकास किया है उतना अन्य दर्शनों ने आचार को केन्द्र मानकर विकास नहीं किया। उदाहरण के रूप में हम योग दर्शन को ले सकते हैं। आचार्य पतंजलि जो योग दर्शन के प्राण स्वरूप रहे हैं उन्होंने पातंजल योग दर्शन में जितना विस्तार के साथ आचार का विश्लेषण किया उतना अन्य वैदिक दर्शन नहीं कर सके हैं। आचार्य पतंजलि ने अहिंसा सत्य अस्तेय ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह को पाँच यम कहा है[1] और आगे चलकर उन्हें महाव्रत ही कहा है।[2] जबकि जैनधर्म में भी इन गुणों को महाव्रत की संज्ञा दी है। पर यहाँ यह स्मरण रखना होगा कि पतंजलि ने यम को योग का अन्तरंग कारण न मानकर बहिरंग कारण माना है।[3] अन्तरंग कारण ध्यान धारणा और समाधि को माना है।

१—योगसूत्र २ ३

२—एते जातिदेशकालसमयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम्। —योगसूत्र २ ३१

३ त्रयमन्तरङ्गं पूर्वेभ्यः। —योगसूत्र ३ ७

आसन, यम नियम प्राणायाम और प्रत्याहार—ये योग के बहिरंग कारण हैं। यह सही है कि आचार्य पतञ्जलि का यह अभिप्राय नहीं था कि यम का महत्त्व कम है पर परवर्ती चिन्तकों ने आचार्य पतञ्जलि के मूल अभिप्राय को न समझकर षडङ्ग योग का प्रचलन किया। षडङ्ग योग में आसन यम और नियम को हटाकर ध्यान धारणा समाधि, प्राणायाम प्रत्याहार और तर्क को प्रस्थापित किया४। आचार्य पतञ्जलि ने योग में तर्क को स्थान नहीं दिया था पर बाद के आचार्यों ने तर्क को जोड़कर अपनी तार्किक बुद्धि का परिचय दिया। मेरी दृष्टि से आसन यम और नियम को छोड़ने का मूल कारण यही हो सकता है कि पतञ्जलि ने यम और नियम को जो बहिरंग में स्थान दिया इसी के कारण उन चिन्तकों ने उसकी सर्वथा उपेक्षा कर दी।

योगदर्शन का दार्शनिक पक्ष सांख्यदर्शन में उजागर हुआ है। उसने तात्त्विक प्रश्नों पर गहराई से अनुचिन्तन किया है। न्यायदर्शन में प्रमाणशास्त्र पर ही विश्लेषण हुआ है तो वैशेषिक दर्शन में पदार्थशास्त्र का निरूपण है। पूर्वमीमांसा का प्रतिपाद्य विषय धर्म है। किन्तु वह धर्म चरित्र पर आधृत न होकर बाह्य क्रियाकाण्डों पर अवलम्बित है। यज्ञ-याग की विविध विधियाँ निरूपित हुई हैं। देवता और स्वर्ग पर अधिक चिन्तन किया गया है। इस तरह बाह्य क्रियाकाण्ड के साथ देवीतत्त्व पर बल दिया है। उत्तरमीमांसा में ज्ञानकाण्ड की प्रमुखता है। उसे वेदान्त भी कहते हैं।

भारतीय दर्शनों में बौद्धदर्शन अवश्य ही आचार-प्रधान रहा है। तथागत बुद्ध ने आचार पक्ष पर इतना अधिक बल दिया कि तात्त्विक प्रश्नों की सर्वथा उपेक्षा ही कर दी। जब कोई भी साधक तथागत के पास आत्मा परमात्मा जीव और जगत् के गम्भीर प्रश्नों को लेकर उपस्थित हुआ तो बुद्ध ने उन प्रश्नों को अव्याकृत कहकर टाल दिया।५

जैनदर्शन में आचार-पक्ष पर बल अवश्य दिया गया है किन्तु उस आचार की अपनी एक अलग ही विशेषता है। इसमें आचार और विचार दोनों पर ही समान बल दिया है समान भूमिका पर चिन्तन किया है। श्रमण भगवान् महावीर आत्मा कर्म लोक-परलोक आदि तात्त्विक प्रश्नों के सम्बन्ध में कभी भी मौन नहीं रहे। उन्होंने जमकर उन सभी दार्शनिक प्रश्नों के समाधान दिये। भगवान् महावीर का चिन्तन था—आचार की निर्मल गंगा मन वचन और काया इन तीनों में समान रूप से प्रवाहित हो। उन्होंने स्पष्ट रूप से उद्घोष किया कि मन में भी संयम होना चाहिए वचन में भी संयम होना चाहिये और काया में भी संयम होना चाहिए। मन वचन और काया की निर्मलता और एकरूपता ही साधक को साधना के सर्वोच्च शिखर पर पहुँचाती है।

---

४ गुह्य समाजतन्त्र (१८ १४०)—विज्ञान भैरव (हिन्दी १६३८) की डा० व्रजवल्लभ द्विवेदी लिखित भूमिका के पृ० ३६ पर उद्धृत।

५ मज्झिमनिकाय (सारनाथ १६ ५) २ २ २

तथागत बुद्ध ने मन-संयम पर जितना बल दिया उतना बल कायसंयम पर नहीं दिया। मन-संयम पर बल देने के कारण बौद्ध परम्परा में ध्यान आदि का अत्यधिक विकास हुआ। किन्तु कायसंयम की उपेक्षा करने के कारण शारीरिक तप आदि का जितना विकास होना चाहिए उतना नहीं हो सका। कायसंयम में काय क्लेश की प्रमुखता है। पर मध्यममार्ग का प्रतिपादन करने से आचार में शैथिल्य आ गया। यही कारण है कि बुद्ध एक ओर अहिंसा का निरूपण करते हैं किन्तु दूसरी ओर वे मांसाहार मत्स्याहार का पूर्ण निषेध न कर सके जिससे बिना रोकटोक के मांसाहार का प्रचलन प्रारम्भ हो गया और अनेक सुख-सुविधाएँ साधकों के लिये खुली हो गई। जब कि जैन परम्परा में मन के साथ ही वचन और काय-संयम पर समान बल देने से वचन पर भी गहराई से चिन्तन हुआ। साधक कौन सी भाषा का प्रयोग करे इसके लिये महाव्रतों में द्वितीय महाव्रत समितियों में द्वितीय समिति और गुप्तियों में द्वितीय गुप्ति का विधान है। साधक में भाषा का विवेक आवश्यक है। उसे बोलने की कला में निष्णात होना चाहिए। वह ऐसी भाषा का प्रयोग न करे, जिससे किसी भी प्राणी को कष्ट हो। सर्वप्रथम साधक मौन रहे और यदि बोलना भी हो तो विवेकपूर्वक बोले। इसी तरह कायसंयम पर बल देने के कारण अनशन ऊनोदरी आदि बाह्य तप का पूर्ण विकास हुआ। स्वयं महावीर उग्र तपस्वी थे तो उनके शिष्यगण भी तप की दृष्टि से पीछे नहीं रहे। आगम साहित्य में उन साधकों की रोमांचकारी तप साधना का उल्लेख है। 'देहदुक्खं महाफलं' की उद्घोषणा कर महावीर ने कायसंयम की महत्ता प्रतिपादित की। इसी प्रकार मन-संयम पर बल देने से ध्यान और कायोत्सर्ग का भी विकास हुआ। साधक के लिए ध्यान-साधना अनिवार्य थी। आठ प्रहर में दो प्रहर ध्यान साधना के लिये नियत किये गये थे। इस तरह जैन परम्परा ने मन, वचन और काया के संयम पर बल दिया।

आत्मवाद की मूलभित्ति पर जैन आचार का भव्य प्रासाद अवस्थित है। आचारांग जो जैन आचार का मूलभूत ग्रन्थ है उसमें सर्वप्रथम आत्मा की चर्चा की गई है और यह प्रतिपादित किया गया है कि जिस तरह से तुझे सुख प्रिय है वैसे ही संसार के सभी प्राणियों को सुख प्रिय है। जैसे तुम कष्ट से घबराते हो वैसे ही संसार के सभी प्राणी कष्ट से घबराते हैं। तुम अपनी आत्मा के समान उन प्राणियों को समझकर उनकी हिंसा मत करो। पृथ्वी पानी अग्नि, वायु वनस्पति आदि स्थावर के चक्षु आदि इन्द्रियाँ नहीं है तथापि कष्ट देने से उन्हें अपार वेदना होती है। अंधे बहरे और गूँगे व्यक्ति के अंगोपांग का यदि कोई छेदन भेदन करता है तो उसे अपार वेदना होती है पर वेदना होने पर भी वह उसे कह नहीं पाता। यही स्थिति स्थावर जीवों की है।[1] जैसे मानव का शरीर जन्म ग्रहण

---

१ (क) आचारांग सूत्र १५

(ख) जं ण पासंति ण सुणंति तेसिं कहं वेयणा उप्पज्जइ ? स बमि

—आचारांगचूर्णि पृ० २३

करता है अभिवृद्धि को प्राप्त होता है वह सचित्त है। शरीर को काट देने पर भी पुन घाव भर जाता है। इसी तरह वनस्पति आदि भी है। वह भी वृद्धि को प्राप्त होती है। आहार ग्रहण करती है।[७] अत वह भी जीव है।[८] अहिंसा धर्म शाश्वत है ध्रुव है। जितने भी अतीत काल म तीर्थकर हुए हैं वर्तमान म हैं और भविष्य म होंगे वे सभी अहिंसा का ही प्रतिपादन करेंगे। अहिंसा का ही विकास अन्य चार महाव्रतों म हुआ है। अहिंसा का ही अपर नाम समता' है राग-द्वेष का परित्याग है। सामायिक म समता की ही प्रमुखता है। वह अहिंसा का ही रूप है। तीर्थकर द्रव्य, क्षेत्र काल और भाव की दृष्टि से बाह्याचार म परिवर्तन करते हैं। पर वह परिवर्तन व्यवहार की दृष्टि स होता है निश्चय की दृष्टि से नहीं। निश्चय नय की दृष्टि से जैन आचार संहिता में कभी भी कोई परिवर्तन नहीं होता।

हाँ इस एतिहासिक सत्य तथ्य को मैं स्वीकार करता हूँ कि श्रमण भगवान महावीर के पश्चात जैन श्रमणों की आचार परम्परा म कुछ शथिल्य आया है। बृहत्कल्पचूर्णि[९] के अनुसार आचार शथिल्य का सवप्रथम सूत्रपात आर्य सुहस्ती के समय हुआ। भयंकर दुष्काल के कारण क्षुधा स छटपटाते हुए अनेक श्रमण साधना के कठोर कटकाकीर्ण माग स भटक गये। सम्राट सम्प्रति ने श्रमणों को यथेष्ट भिक्षा प्राप्त हो इस प्रकार का समुचित प्रबन्ध किया। आर्य महागिरि ने जब यह देखा कि दुष्काल म भी श्रमणों को भिक्षा सुगम रीति से उपलब्ध हो रही है तो उन्होंने आर्य सुहस्ती म इसका कारण जानना चाहा। आर्य सुहस्ती अच्छी तरह स जानते थे कि श्रमणों को जो भिक्षा मिल रही है वह सदोष है तथापि उन्होंने आर्य महागिरि को स्पष्ट उत्तर नहीं दिया जिसके फलस्वरूप आर्य महागिरि ने आर्य सुहस्ती के साथ साम्भोगिक सम्बन्ध विच्छेद कर दिया।

पण्डित प्रवर श्री बेचरदास जी दोशी का अभिमत है कि तथागत बुद्ध के मध्यममार्ग का प्रभाव जैन धर्मावलम्बियो पर भी पडा। सभव है प्रारम्भ म जैन धम के प्रचार के लिए श्रमण आचार म छूट ग्रहण करते रहे होंगे। उसके पश्चात् उन्हें अभ्यास हो गया होगा जिसस शिथिलता म अभिवृद्धि होती गई और वे ही आगे चल कर चैत्यवास के रूप म परिणत हो गई।[१०]

पण्डित नाथूराम जी प्रेमी का भी अभिप्राय है प्रारम्भ म दोनों ही शाखाओं के साधुओं में आगमोक्त आचारों के पालन का अधिक से अधिक आग्रह था पर ज्यों

७ आचारांग सूत्र ४५

८ सवणावमिद्दस्य भणन्ति इम पि जाइधम्म इम नि मणुस्ससरीरं। —
—आचारांगचूर्णि पृ० ३४ ३५

९ (क) बृहत्कल्पचूर्णि उद्देशक १
(ख) निशीथचूर्णि उद्देशक ८

१० जैन साहित्य और इतिहास पृ० ३५१

ज्यों ज्यों समय बीतता गया श्रमणों की संख्या मे भी अभिवृद्धि होती गई और वह श्रमण समुदाय भिन्न भिन्न आचार विचार वाले विभिन्न प्रदेशों में भी फैलता गया। गृहस्थों और राजा महाराजाओं के द्वारा ज्यों ज्यों पूजा प्रतिष्ठा प्राप्त होती गई त्यों-त्यों शिथिलता आती गई और श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों ही परम्पराओं में शिथिलाचारी श्रमणों की संख्या में वृद्धि हुई।[11]

दुर्भिक्ष लोक-संग्रह की भावना यन्त्र मन्त्र तन्त्र शक्ति प्रयोग प्रभृति अनेक कारण शिथिलता पनपने के रहे हैं। वीर निर्वाण ८८२ यानि विक्रम संवत् ४१२ में चैत्यवास की स्थापना हुई।[12] चैत्यवास की स्थापना होने से श्वेताम्बर परम्परा का श्रमण समुदाय दो भागों में विभक्त हो गया—एक चैत्यवासी दूसरा सुविहित या संविग्न-पाक्षिक। सम्बोध प्रकरण में[13] आचार्य हरिभद्र ने चैत्यवासियों के शिथिलाचार का विस्तार से वर्णन किया है। 'संघपट्टक' में जिनवल्लभ सूरि ने सुविहित मार्ग के सम्बन्ध में चिन्तन किया और संघपट्टक पर तीन सहस्र श्लोक प्रमाण टीका का निर्माण कर उसमें चैत्यवास के स्वरूप का विस्तार से वर्णन किया है। चैत्यवास के विरुद्ध यह अभियान बन्द नहीं हुआ। समय-समय पर संविग्न आचार्य उसके सम्बन्ध में स्वर बुलन्द करते रहे।

विक्रम की सोलहवीं शती में वीर लोंकाशाह ने मूर्ति-पूजा एवं श्रमणाचार की शिथिलता के विरोध में आवाज उठाई। उनके द्वारा रचित हुण्डी में शिथिलाचार के प्रति विद्रोह के स्पष्ट स्वर मुखरित हुए हैं।[14] जब लोंकागच्छ में भी शिथिलता ने प्रवेश किया तब सोलह सौ छियासठ में जीवराजजी महाराज ने क्रियोद्धार किया।[15]

श्वेताम्बर परम्परा की भांति दिगम्बर परम्परा में भी आचार शैथिल्य के विरुद्ध क्रान्ति हुई। चैत्यवासियों के सदृश ही भट्टारकों की भी स्थिति थी। वे उग्र साधना को छोड़कर मठवासी हो गये। एक स्थान पर अवस्थित हो गये थे। वे उद्दिष्ट भोजन करने लगे थे। लोह के कमण्डलु कपड़ के पात्रत्राण सुखासन पर बैठना प्रभृति अनेक प्रवृत्तियाँ पनपने लगी थी।[16] त्रिवर्णाचार[17] धर्मरसिक[18] ग्रन्थों में उनकी मान्यताओं का स्पष्ट निदर्शन है।

---

११ जैन साहित्य और इतिहास पृ० ३५१

१२ वीरात ८८२ चैत्यस्थिति। —धर्मसागर कृत पट्टावली

१३ सम्बोधप्रकरण गाथा ४६ ४६ ५७ ६१ ६३ ६८ ७६ ८१, १६२ १६३

१४ १६६ बोल की हुण्डी

—शिक्षाहित शिक्षा पृ० १५५

१५ उपाध्याय पुष्कर मुनि अभिनन्दन ग्रन्थ खण्ड ८ पृ० ८६ ८७

१६ शतपदी जैन हितैषी भाग ७ अंक ६

१७ त्रिवर्णाचार ४ ८५

१८ धर्मरसिक ३३ ५६

विक्रम की सत्रहवीं शती में पण्डित बनारसीदासजी ने भट्टारक परम्परा का विरोध किया।

जब जब शिथिलाचार का प्रभाव बढ़ा तब-तब उसके विरोध में आचार क्रान्ति के स्वर मुखरित हुए। जैन परम्परा में जो भी सम्प्रदाय भेद और प्रभेद हुए हैं मेरी दृष्टि से उसमें मुख्य रूप से विचार भेद कम और आचार भेद ही प्रमुख रहा है। इसीलिए उसे क्रियोद्धार कहा गया है। आचार शैथिल्य को जैन आचार्यों ने कभी भी मान्य नहीं किया है। यही कारण है कि जैन श्रमणों की आचार संहिता अन्य भारतीय परम्परा की आचार संहिता से अधिक कठोर है और आज भी वह काफी सक्षम नियम-संप पर आधारित है।

जैन आचार व्यापक दृष्टिकोण को लिए हुए है। वहाँ केवल पवित्र चारित्र तक ही आचार सीमित नहीं रहा है उसने केवल कमनीय-कल्पना के अनन्त गगन में विहरण करने को ज्ञान नहीं माना अपितु वही ज्ञान श्रेष्ठ है जिसका सम्बन्ध आचार के साथ है। दर्शन जो तत्त्वश्रद्धा पर अवलम्बित है, वह दर्शन भी यदि आचार के साथ सम्बन्धित नहीं है तो दर्शन केवल दर्शन तक ही सीमित रहता है। जब दर्शन आचार के साथ संपृक्त होता है तो वह दर्शनाचार के रूप में गौरव को प्राप्त होता है। इसी तरह चारित्र तप और वीर्य यानी पुरुषार्थ भी आचार से समन्वित होने से वे ज्ञानाचार दर्शनाचार, चारित्राचार तपाचार और वीर्याचार के रूप में विश्रुत हैं।

जैन आचार के विविध पहलुओं पर मैंने प्रस्तुत ग्रन्थ में चिन्तन किया है। संक्षेप में सभी प्रमुख बातें देने का प्रयास किया है। ग्रन्थ आवश्यकता से अधिक कलेवर न हो जाय इस दृष्टि से विषय प्रतिपादन की शैली न अति विस्तृत रखी है और न बहुत ही संक्षिप्त। शोध-साहित्य में मुख्य रूप से संक्षिप्त शैली अपनाई जाती है तो प्रवचन-साहित्य में अधिक विस्तार होता है। अत्यन्त संक्षिप्त शैली शोधार्थियों के लिए या तद्विषय सम्बन्धी अन्य ज्ञाताओं के लिए उपादेय होती है तो अधिक विस्तृत शैली अत्यन्त भावुक भक्तों के लिए ग्राह्य होती है। पर सभी के लिये ये दोनों प्रकार की शैलियाँ उपयोगी नहीं होतीं। अतः इन दोनों प्रकार की अतियों से बच कर मैंने मध्यम मार्ग को अपनाना ही श्रेयस्कर समझा। इससे जिज्ञासुओं को भी रोचक सामग्री मिलेगी और अनुसंधाता भी अभिनव सामग्री प्राप्त कर सकेंगे। मुझे विषय प्रतिपादन करने में कहाँ तक सफलता प्राप्त हुई है—इसका मानदण्ड प्रबुद्ध पाठकों के हाथों में है।

'जैन दर्शन स्वरूप और विश्लेषण' ग्रन्थ के पश्चात् ही मेरा विचार प्रस्तुत ग्रन्थ को देने का था पर परम श्रद्धेय सद्गुरुवर्य उपाध्याय श्री पुष्कर मुनिजी म० के दीक्षा स्वर्ण जयन्ती का गौरवपूर्ण प्रसंग आने से विराटकाय अभिनन्दन ग्रन्थ और गुरुदेवश्री के धर्म का सम्यवक्ष जीवन के आँगन में', 'अनुयम में दान एक समीक्षा-

त्मक अध्ययन, श्रावक धर्म दर्शन तथा जैन कथाएँ सिरीज माला के सम्पादन में
व्यस्त होने के कारण इस ग्रन्थ के लेखन में विलम्ब होता रहा। साथ ही महाराष्ट्र,
कर्णाटक, तमिलनाडु, आन्ध्र, गुजरात और राजस्थान की लम्बी विहार यात्रा होने के
कारण भी विलम्ब होना स्वाभाविक था तथापि बंगलोर, मद्रास, सिकन्दराबाद,
उदयपुर और राखी वर्षावास में जब भी मुझे समय मिला, तब लिखता रहा। एक
स्थान और एक साथ ग्रन्थ का लेखन नहीं हुआ है। जिसके कारण ग्रन्थ के कुछ
विषय विस्तृत हुए हैं तो कुछ संक्षिप्त भी हैं। ग्रन्थ का प्रत्येक प्रकरण अपने आप में
परिपूर्ण और स्वतन्त्र निबन्ध के रूप में रह सके ऐसा भी लक्ष्य रखा गया है। कुछ
अनुभवी स्नेहियों का यह भी आग्रह था कि पाश्चात्य नीतिशास्त्र के साथ जैन
आचार की तुलना की जाय और आधुनिक सन्दर्भ में उसकी क्या उपयोगिता है उस
पर भी चिन्तन किया जाय पर घुमक्कड़ जीवन होने के कारण ग्रन्थाभाव व समया-
भाव के कारण मैं उनके स्नेहभरे सुझाव को ग्रन्थ में साकार रूप नहीं दे सका हूँ।
समय मिलने पर द्वितीय संस्करण में उस दिशा में प्रयत्न किया जा सकेगा।

जैन श्रमण होने के नाते जैन आचार के प्रति स्वाभाविक आकर्षण और
बहुमान होना सहज है। किसी भी आचार परम्परा का खण्डन करना मुझे इष्ट नहीं
है। मेरा यह स्पष्ट अभिमत है कि आज के युग में खण्डनात्मक नीति अनुचित है।
साम्प्रदायिक समन्वय के लिए यह अपेक्षित है कि हम तुलनात्मक दृष्टि से और शोध
प्रधान शैली में प्रत्येक विषय पर गहराई से चिन्तन करें। उस विषय के तलछट तक
पहुँचने का प्रयास करें जिससे एक दूसरे में जो बिखराव अलगाव और तनावपूर्ण
स्थिति है उसे मिटाया जा सकता है और परस्पर स्नेह सद्भावना की सुरसरिता
प्रवाहित की जा सकती है। प्रारम्भ से ही मेरा ध्यान इस ओर रहा है। श्रद्धेय
सद्गुरुदेव से मुझे यही विरासत मिली है। अन्य ग्रन्थों की भांति प्रस्तुत ग्रन्थ में भी
मैंने यही शैली अपनाई है।

परम श्रद्धेय अनन्त आस्था के केन्द्र सद्गुरुवर्य राजस्थान केसरी अध्यात्म
योगी उपाध्याय श्री पुष्करमुनि जी म० सा० की सतत प्रेरणा मिलती रही है कि मैं
साहित्य के क्षेत्र में कुछ कार्य करूँ। गुरुदेवश्री के हार्दिक आशीर्वाद से ही मैं विविध
विधाओं में कुछ लिख सका हूँ। मेरे साहित्य में जो कुछ भी अच्छा है वह गुरुदेवश्री
की कृपा का फल है। उन्हीं की कृपा से मैं साहित्यिक क्षेत्र में आगे बढ़ रहा हूँ।

परमादरणीया प्रतिभामूर्ति मातेश्वरी महासती श्री प्रभावती जी
तथा ज्येष्ठ भगिनी परमविदुषी महासती श्री पुष्पवतीजी की हार्दिक इच्छा थी कि
जैन दर्शन जैन आगम और जैन तीर्थंकरों पर जिस तरह शोध प्रधान ग्रन्थ लिखे हैं
उसी प्रकार जैन आचार पर भी मैं ग्रन्थ लिखूं। मातुश्री के ममता भरे आदेश को मैं
कैसे टाल सकता था? मैंने ग्रन्थ लिखना प्रारम्भ किया। लेखन में अनेक व्यवधान भी
आये किन्तु ग्रन्थ लेखन के रंग में मस्त हो गया। मन्थर गति से चल रहा था कि

यकायक मातुश्री का सथारे के साथ दि० २७ जनवरी सन् १९८२ को खरोदा (मेवाड़) मे स्वर्गवास हो गया।

यह सृष्टि का एक अनिवार्य क्रम है जो उदय होता है वह अस्त भी होता है। विश्व म जितने भी प्राणी जन्म लेते हैं, जीवन जीते हैं उन्हे इसी क्रम से गुजरना पड़ता है। प्रकृति के इस महाविधान को बदलने की शक्ति किसी म भी नही है। हम प्रतिदिन देखते हैं कि प्रात सूर्य उदित होता है और देखते ही देखते सध्या को अपने अस्तित्व को समेट कर विलीन हो जाता है। विदा होने के बाद उसका इतिहास समाप्त हो जाता है। पर कुछ ऐसी विशिष्ट विभूतियाँ होती हैं जिनका ओजस्वी व्यक्तित्व और कृतित्व कभी धुधला नहीं होता। वे त्रिकालाबाधित होती हैं। देशकाल की सकीर्ण सीमाएँ उनके ओजस्वी व्यक्तित्व कृतित्व को आच्छादित नहीं कर सकती। माताजी महाराज का जीवन ऐसा ही तेजस्वी जीवन था। उसके असीम व्यक्तित्व को ससीम शब्दो म व्यक्त करना कठिन ही नही कठिनतर है। मुझे जीवन के उषा काल से ही उनकी ममता मिली थी। उसके छलछलाते हुए वात्सल्य ने मेरा पथ प्रशस्त किया था। उसकी विमल छत्र छाया ने मुझ श्रमण साधना के क्षेत्र म निरन्तर आगे बढ़ने के लिए उत्प्रेरित किया। क्रूर काल ने राजस्थान की सच्ची वीरागना साध्वीरत्न को हमारे से छीन लिया। उनकी छत्र छाया सदा के लिए उठ गई। माँ के मन म श्रमणाचार के प्रति गहरी निष्ठा थी। वह स्वय शुद्ध आचार और विचार की देवी थी। आगम साहित्य का तलस्पर्शी अध्ययन होने पर भी उसम किंचित मात्र भी अहकार नहीं था। उत्कृष्ट आचार और विचार की धनी होने पर भी मन म अस्मिता नहीं थी। मोह ममता से ऊपर उठी हुई कर्तव्य की जीती-जागती मूर्ति माँ की सतशिक्षाएँ मुझे सतत पथ प्रदर्शन करती रहेंगी। मैं उनके बनाये हुए आचार-मार्ग पर निरन्तर बढ़ता रहूँ यही हार्दिक कामना है और उसके प्रति सच्ची श्रद्धार्चना है।

मैं पूजनीया मातेश्वरी महाराज व बहिन म० तथा गुरुदेवश्री की भावना के अनुरूप ग्रन्थ तयार कर सका हू इसका मुझे सात्विक गौरव है। जब गुरुजनों का हार्दिक आशीर्वाद प्राप्त होता है तो असम्भव कार्य भी सम्भव हो जाते हैं।

कुछ समय से मेरे हाथ मे दर्द होने से लिखने म विशेष कष्ट होने के कारण बोलकर ही ग्रन्थ लिखाता रहा हू। अत प्रस्तुत ग्रन्थ की पाण्डुलिपि तैयार करने म श्री रमेशमुनि जी शास्त्री तथा एस श्री कण्ठमुनि जी बँगलोर का हार्दिक सहयोग मिला है। श्री राजेन्द्रमुनि शास्त्री श्री दिनेशमुनि और श्री नरेशमुनि की सतत सेवा भावना लेखन कार्य म सहयोगी रही है अत मैं उन्हें हार्दिक साधुवाद प्रदान करता हूँ।

सौजन्यमूर्ति श्रीचन्दजी सुराणा को भी विस्मृत नहीं हो सकता जिन्होंने पाडुलिपि तथा प्रूफ आदि सशोधन कर ग्रन्थ को सर्वाधिक सुन्दर बनाने का प्रयत्न किया है। अखिल भारतीय कान्फ्रेंस के लब्धप्रतिष्ठित आधारस्तम्भ श्री मचालाल जी

बाफणा औरंगाबाद, स्थानकवासी जैन समाज के गौरव सेठ श्री गुलाबचन्दजी गोटा वत-बघाना (नीमच) परमगुरुभक्त सेठ श्री धनराज जी पु० हीरालालजी बाफना पूना परम गुरुभक्त सेठ श्री पीयूषालाजी मोहनलालजी गांग बैंगलोर परम श्रद्धालु भक्त लाल जी दीपचन्द जी भोजानी गिवाना धर्मनिष्ठ श्री घासराजजी बाफना श्री कोठारी बालोतरा धर्मप्रेमी श्री एम० मोहनमल जी चोरड़ा सिकन्दराबाद धर्मप्रेमी श्री मोहनलाल जी पारख-हैदराबाद धर्मप्रेमी श्री कन्हैयालालजी धनावत गोगोलाव धर्मप्रेमी श्री नेमराज जी धम्ब इचलकरंजी धर्मप्रेमी श्री रामचन्द जी सुन्दर-पूना धर्मप्रेमी माणकलाल जी चुन्नीलाल जी सोनकी-पूना धर्मप्रेमी श्री धीसूलाल जी बाफना सिवाना धर्मप्रेमी श्री एस० किशनचन्द जी चोरड़िया मद्रास धर्मप्रेमी श्री हरीलाल जी बाफना जयपुर धर्ममूर्ति एम० मथुरदासभाई महता बैंगलोर प्रभृति साहित्य प्रेमी श्रद्धालु श्रावकों का ग्रन्थ प्रकाशन हेतु उदार सहयोग भी प्रकाशन को प्राप्त हुआ जिससे प्रस्तुत ग्रन्थ शीघ्र प्रकाश में आ सका।

ग्रन्थ की शब्दानुक्रमणिका तैयार करने में परमविदुषी प्रभावशालिनी महासती जी म० प्रशान्तमूर्ति कौशल्या जी म० की सुशिष्या प्रतिभामूर्ति विजयश्री जी ने जो कठिन श्रम किया है वह भी सदा स्मृति पटल पर चमकता रहेगा। स्नेही सौजन्य मूर्ति प० प्रवर श्री विजय मुनि जी शास्त्री ने ग्रन्थ पर अत्यन्त महत्वपूर्ण प्रस्तावना लिखकर ग्रन्थ की गौरव गरिमा में चार चाँद लगाये हैं अतः मैं उनका आभारी हूँ।

ज्ञात व अज्ञात रूप में जिन ग्रन्थ और ग्रन्थकारों की सामग्री का मैंने उपयोग किया है उन सभी का हृदय से आभार मानता हूँ। मुझे पूर्ण आत्म विश्वास है कि प्रस्तुत ग्रन्थ जैन आचार के सिद्धान्त व स्वरूप को समझने में परम उपयोगी होगा।

सुज्ञेषु किं बहुना

जैन स्थानक सिंहपोल
जोधपुर
६ जुलाई १९८२
गुरु पूर्णिमा

—देवेन्द्र मुनि

प्रस्तावना

जीवन का नियामक शास्त्र : आचार

[भारतीय तथा पाश्चात्य आचार परम्परा का एक विहगावलोकन]

—विजय मुनि शास्त्री

आचार-मीमांसा

भारतीय दर्शन में आचार शास्त्र दर्शन शास्त्र का ही एक अंग है। प्रमाण शास्त्र, तत्त्व शास्त्र और आचार शास्त्र—भारतीय-दर्शन में ये तीनों साथ-साथ ही चलते हैं। भारतीय-दर्शन की प्रत्येक शाखा ने अपना प्रमाण शास्त्र, अपना तत्त्व शास्त्र और अपना आचार शास्त्र बनाया है। चार्वाक जैसे नास्तिक-दर्शन में भी ये तीनों अंग परिपूर्ण रूप में हैं। फिर आस्तिक दर्शनों ने तो इन तीनों पर विशेष बल दिया ही है। आचार्य शंकर जैसे एकान्त ज्ञानवादी एवं अन्तवादी दर्शन में भी आचार को स्थान मिला है। अतः भारतीय दर्शनों में प्रत्येक दर्शन में ज्ञान, तत्त्व और आचार पर अपनी अपनी दृष्टि से विचार किया है। पाश्चात्य-दर्शन में ज्ञान-मीमांसा, तत्त्व-मीमांसा और आचार-मीमांसा का समन्वित रूप तो उपलब्ध नहीं होता, किन्तु इन तीनों अंगों पर भिन्न रूप में पर्याप्त लिखा गया है। अनुभववादियों ने ज्ञान पर ही विशेष बल दिया, जबकि तत्त्ववादियों ने तत्त्व की व्याख्या पर ही अपना बल लगाया। आचार शास्त्र के सम्बन्ध में स्वतन्त्र रूप से अनेक ग्रन्थ उपलब्ध हैं। भारतीय दर्शनों में जिसे आचार शास्त्र कहा जाता है, पाश्चात्य-दर्शन में उसे नीति शास्त्र कहा गया है। नीति शास्त्र के सम्बन्ध में यूनानी दार्शनिकों ने, यूरोपीय-दार्शनिकों ने और अमरीकी दार्शनिकों अपने दर्शन ग्रन्थों के साथ नहीं, स्वतन्त्र रूप से ही इस विषय पर ग्रन्थ लिखे हैं।

समाज और आचार

आचार शब्द अनेक अर्थों में प्रयुक्त होता रहा है, जैसे—नीति, धर्म, कर्तव्य और नियम। धर्म एक व्यापक शब्द है और आचार शब्द भी उतना ही अधिक व्यापक है। मानव के कर्तव्य के रूप में जिन कर्मों का अथवा जिन नियमों का होना आवश्यक है, वे सब नियम आचार और धर्म में समाहित हो जाते हैं। जिस युग में मानव जंगलों में रहता था, कुटुम्ब, परिवार और समाज की रचना नहीं हुई थी, उस समय धर्म और आचार के नियमों की भी आवश्यकता नहीं था। जब धीरे-धीरे मानव ने विकास किया, परस्पर में मिलने और सुखपूर्वक रहने के लिए नियमों की आव

श्यकता पड़ी। अकेला व्यक्ति जिस पद्धति से रहता है परिवार, समाज और राष्ट्र में रहने की पद्धति उससे सर्वथा भिन्न प्रकार की होती है। जब मानव कुटुम्ब, परिवार और समाज रूप में बदला तभी से जीवन को व्यवस्थित बनाने के लिए कुछ नियमों की आवश्यकता हुई। जब वक्त के साथ अधिकार की भावना ने बल पकड़ा तब अपने अधिकारों के संरक्षण के लिए और दूसरों के अधिकारों में बाधा न डालने के लिए मर्यादा की आवश्यकता पड़ी। यह मर्यादा और यह सीमा ही आगे चलकर नियम रूप में बदली फिर आचार रूप में और अन्त में धर्म रूप में बदली। समाज के निर्माण के साथ ही आचार और धर्म का भी आविर्भाव सहज ही हो जाता है। जिस समाज के आचार और धर्म के नियम जितने अधिक व्यापक और उदार होते हैं वह समाज उतना ही अधिक समुन्नत समझा जाता है। आचार और धर्म के बाद ही दर्शन और तत्त्व का विकास होता है। समाज को स्थिर, सम्पन्न और समृद्ध बनाने के लिए निश्चय ही आचार और धर्म की जीवन विकास के लिए नितान्त आवश्यकता है। इस विश्व में एक भी समाज इस प्रकार का नहीं होगा जिसमें आचार और धर्म के नियमों का विधान नहीं होगा।

भारतीय आचार

जैन परम्परा के विश्वास के अनुसार उसके धर्म और आचार के नियमों का निर्माण प्रथम तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव ने किया। उसी परम्परा का कुछ परिवर्तनों के साथ अथवा अपने युग की भावना अनुसार भगवान नेमिनाथ ने और महाश्रमण भगवान महावीर ने अपने अपने तीर्थ में आचार और धर्म के नियमों का विधान किया था। तथागत बुद्ध ने बौद्ध परम्परा के अनुसार नियमों की रचना की। वैदिक परम्परा में मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान राम और कर्मयोगी श्रीकृष्ण ने भी उस युग की जनता के लिए नैतिक नियमों का विधान किया। भारतीय आचार और धर्म को सुदृढ़ बनाने वाले मूल रूप में ये ही महापुरुष हैं। फिर श्रुति, स्मृति और कल्प आदि ग्रन्थों में तथा त्रिपिटक और आगम आदि वाङ्मय में उन्हीं का पल्लवन, विस्तार, संकोच और विकास होता रहा है। नियमहीन अथवा आचारहीन मानव को भारतीय साहित्य में पशु के समान माना गया है। अतः जीवन विकास के लिए आचार आवश्यक है।

पाश्चात्य आचार

पाश्चात्य-आचार और धर्म की नींव डालने वालों में ईसा, मूसा और मोहम्मद मुख्य हैं। बाइबिल और कुरान में दर्शन और तत्त्व का प्रतिपादन नहीं किया गया। किन्तु मानव जीवन के विकास के लिए जिन नियमों की आवश्यकता थी उन्हीं का प्रतिपादन किया गया है। ईसा ने चार बातों का उपदेश दिया था—प्रेम, सेवा, दान और उपकार। मोहम्मद ने भी कहा था—तुम सबसे प्रेम करो, आपस में प्रेम से रहो, पापों और मजहब को भी निर्मित कर सकता। पाश्चात्य विचारकों पर बाइबिल और कुरान के विचारों का ही अधिक प्रभाव पड़ा है।

यूनानी-आचार

यूनान के दार्शनिकों में प्रसिद्ध विचारक सुकरात था। उसका शिष्य प्लेटो था और प्लेटो का शिष्य अरस्तू था। तीनों ने ही नीति और आचार पर विशेष बल दिया था। सुकरात के विचार में नीति अथवा धर्म का स्थान सर्वोच्च था। भद्र क्या है और अभद्र क्या है? इसकी नींव सुकरात ने बुद्धि पर रखी। सुकरात ने कहा कि जो भद्र है वह सभी के लिए भद्र है और जो अभद्र है वह सभी के लिए अभद्र है। सुकरात ने सबसे बड़ी बात यह कही थी कि सदाचार ही ज्ञान है। इस प्रकार सदाचार को ज्ञान कहकर सुकरात ने धर्म का गौरव बढ़ाया था। सुकरात का कहना था कि जिस व्यक्ति को सदाचार का ज्ञान न हो वह सदाचार का पालन नहीं कर सकता। न्याय वही कर सकता है जिसे न्याय का ज्ञान हो। सुकरात ने यह भी कहा था कि नियम मनुष्य के लिए बनते हैं मनुष्य नियम के लिए नहीं। सुकरात ने सत्य न्याय और संयम के लिए खूब कहा था और प्रचार भी खूब किया था। प्लेटो ने नीति के साथ राजनीति को भी जोड़ दिया और कहा कि समाज को समृद्ध और शक्तिशाली बनाने के लिए जिस प्रकार नैतिकता की आवश्यकता है उसी प्रकार राजनीति की भी आवश्यकता है। प्लेटो के विचारों के अनुसार नीति और राजनीति दोनों का प्रयोजन मानव-कल्याण है। नीति बताती है कि व्यक्ति भद्र की उत्पत्ति में अपने प्रयत्न से क्या कर सकता है? राजनीति बताती है कि मनुष्यों का सामूहिक प्रयत्न क्या कर सकता है? न्याय की परिभाषा करते हुए प्लेटो ने कहा था—न्याय दूसरों के साथ उचित और निष्कपट व्यवहार का नाम है। जो कुछ अपना है उसे प्राप्त करना यही न्याय है। सामाजिक जीवन का सार प्लेटो के विचार में व्यवस्था का स्थापन है। समाज नियम स्थापित करता है और माँग करता है कि नागरिक उन नियमों पर चलें। प्लेटो कहा करता था कि अच्छा व्यक्ति अच्छे राष्ट्र का अच्छा नागरिक है। इस प्रकार प्लेटो ने सदाचार नीति और आचार के सम्बन्ध में बहुत कुछ लिखा था। प्लेटो के समान अरस्तु का भी यही विचार था कि समाज और राष्ट्र को समृद्ध और शक्तिशाली बनाने के लिए नीति और राजनीति दोनों की आवश्यकता है। अरस्तू का कहना है कि शक्ति और सदाचार में मित्रता नहीं हो सकती। व्यवहार की दृष्टि से अरस्तु किसी एक के स्थान में कुछ भले पुरुषों के हाथों में शक्ति देने के पक्ष में था। उसका यह भी विश्वास था कि राष्ट्र में किसी वर्ग का बहुत धनवान होना अथवा बहुत दरिद्र होना राज्य के लिए हानिकारक होता है। मध्यम वर्ग राष्ट्र में रीढ़ की हड्डी के समान होता है। अरस्तू कहता था—प्रेम स्त्री और पुरुष को दो से एक बनाता है प्रेम परिवार को जन्म देता है सन्तान इसे स्थायी बनाती है। अरस्तू ने अपने नीतिशास्त्र में कहा है कि धन का व्यय करने में कंजूस एक सीमा पर जाता है और अपव्ययी दूसरी सीमा पर जा पहुँचता है। उदार पुरुष मध्यम मार्ग चुनता है। दूसरों को धन की सहायता देना सुगम है परन्तु उचित मनुष्य को उचित समय पर, उचित मात्रा में और उचित ढंग से सहायता देना

बहुत कठिन है। अरस्तू ज्ञान के साथ क्रिया को भी महत्व देता है। उसके विचार से अभ्यास का फल सदाचार है। जैसे गाते गाते ही मनुष्य गायक बन जाता है वैसे ही अच्छा आचार भले कर्मों के लगातार करते रहने से ही बनता है। हम देखते हैं कि यूनानी दार्शनिकों के विचार जो धर्म और नीति के सम्बन्ध में उन्होंने लिखे हैं उनमें उन सभी बातों का समावेश हो जाता है जो जीवन को सुन्दर और मधुर बनाने के लिए आवश्यक हैं। धर्म के सभी अंग इन विचारों में आ जाते हैं।

स्पिनोजा की नीति

यूरोपीयन दार्शनिकों में स्पिनोजा ने नीति और राजनीति दोनों के सम्बन्ध में अपने विचार स्पष्ट रूप में रखे हैं। स्पिनोजा का सिद्धान्त यह था कि संसार में जो कुछ हो रहा है नियमबद्ध हो रहा है इससे अधिक कुछ हो ही नहीं सकता था। स्पिनोजा यह भी कहता है कि आत्मरक्षा से बढ़कर अन्य कोई धर्म नहीं है। स्पिनोजा ने कहा था, जो पुरुष समस्त प्राणियों को आत्मा में और आत्मा को सब प्राणियों में देखता है वह किसी से घृणा नहीं करता स्पिनोजा का यह कथन धर्म और सदाचार का ऊंचे से ऊंचा रूप मानव समाज के समक्ष प्रस्तुत करता है। राजनीति के सम्बन्ध में स्पिनोजा का विचार था कि वह मानव उद्वेगों का खेल है। वह कहता है कि शासक का मुख्य काम शासन करना है। प्रत्येक मनुष्य अपने आपको सुरक्षित रखने के लिए शक्ति सम्पन्न होना चाहता है। मनुष्यों के लिए सबसे बड़ी हानि समाज और राष्ट्र में अव्यवस्था है। जो शासन रक्षा और स्वाधीनता दे सकता है उसकी शक्ति कायम रखने के लिए व्यक्ति को हर प्रकार के बलिदान देने के लिए तैयार रहना चाहिए।

अमरीकी दार्शनिक

अमरीकी दार्शनिकों ने भी नीति सदाचार और धर्म के रूप में बहुत कुछ लिखा है। हम पूछते हैं—नैतिक आदर्श क्या है? अमरीकी दार्शनिक ड्यूई पूछता है—किस विषय में और किस स्थिति के विषय में प्रश्न करते हो? समस्त मनुष्य एक स्थिति में नहीं और कोई एक मनुष्य भी एक ही स्थिति में नहीं रहता। प्रत्येक का कर्तव्य वर्तमान बाधा को दूर करके आगे बढ़ना है। यदि मेरे लिए इस समय शारीरिक दुर्बलता बाधा है तो मेरा कर्तव्य स्वस्थ और बलवान होना है। यदि मेरे पड़ोसी के लिए पारिवारिक कलह विशेष बाधा है तो उसका कर्तव्य उस कलह को दूर करना है। यह बात विशेष महत्व की नहीं है कि हम कहाँ खड़े हैं? महत्व की बात यह है कि जहाँ कहीं हम हैं वहाँ से आगे बढ़ने का प्रयत्न करें। अच्छा व्यक्ति वह है जो और अधिक अच्छा बनने के प्रयत्न में लगा रहता है।

इस प्रकार पाश्चात्य दर्शन में आचार धर्म और नैतिकता के सम्बन्ध में बहुत कुछ कहा गया है। सदाचारमय जीवन बनाना ही धर्म का मुख्य काम है।

मनोविज्ञान और आचार

सामाजिक आदर्शों की प्रतिष्ठा समाज के आचरण और व्यवहार पर निर्भर रहती है। सामाजिक आचरण की व्याख्या दो परस्पर विरोधी सिद्धान्तों के आधार पर की जाती है—पहला बुद्धिवाद और दूसरा मूलप्रवृत्तिवाद। बुद्धिवाद के अनुसार मनुष्य का आचरण बुद्धि के द्वारा नियन्त्रित होता है। किसी कार्य को करने से पूर्व मनुष्य साध्य एवं साधन आदि पर पर्याप्त विचार कर लेता है। फिर विवेकपूर्वक उस कार्य में लग जाता है। दूसरे सिद्धान्त के अनुसार सामाजिक आचरण में इस प्रकार की स्थिति का ध्यान रखना आवश्यक नहीं है। व्यक्ति के अनुभव और विचार व्यक्ति तक ही सीमित रहते हैं। व्यापक समुदाय के आचरण का नियमन मनुष्य की स्वाभाविक मूलप्रवृत्तियों के द्वारा होता है। डा० मैक्डूगल का कहना है कि सामाजिक आचार का आधार प्रेम अथवा कोमलता का सवेग है। इस स्वाभाविक सिद्धान्त के अनुसार जब तक व्यक्ति में कोमलता का सवेग और प्रेम न हो तब तक उसका आचरण सुन्दर नहीं बन सकता। जिस सवेग की आलोचना का सार यह है कि सामाजिक आचरण के लिए मनुष्य को कुछ उदार और श्रद्धाशील भी बनना पड़ता है। सामाजिक आचार की व्याख्या कुछ विद्वानों ने कतिपय इस प्रकार की प्रवृत्तियों पर की है जिनकी यथार्थ में प्रवृत्ति की सत्ता नहीं दी जा सकती किन्तु वे प्रवृत्ति के समान प्रतीत होती हैं। इसका अर्थ यह है कि आचरण की यह व्याख्या बाह्य संकेत के अनुकरण के सिद्धान्त से सम्बन्ध रखती है। आचार अथवा धर्म सामाजिक व्यवस्था के लिए उतना ही आवश्यक है जितना कि राजनीति।

बेजहाट (Bagehot) का मत

बेजहॉट के अनुसार आदिम मानव समाज के आचार एवं व्यवहार रीति और नीति तथा धर्म और संस्कृति को प्रेरणा देने वाला तत्व अनुकरण है। प्रायः यह देखा जाता है कि एक व्यक्ति दूसरे का अनुकरण करता है। घर में बालक अपने गुरुजनों का अनुकरण करते हैं। शिष्य गुरु का अनुकरण करता है। अनुयायी अपने नेता का अनुकरण करते हैं। कुछ मनोविज्ञानपण्डितों ने सामाजिक मनुष्य की समस्त क्रिया का मूल आधार अनुकरण के इस सामाजिक तथ्य को माना है। प्रसिद्ध समाजशास्त्री बेजहॉट ने सन् १८७८ में अपने ग्रन्थ Physics & Politics में इस सिद्धान्त की ओर सर्वप्रथम संकेत किया था और फ्रांसीसी समाजशास्त्री टार्ड ने १८८५ में इसको अधिक विकसित रूप प्रदान किया। अनुकरण मानव मन में रहने वाली एक वृत्ति है और इसी के अनुसार आचार बनता है। प्रत्येक व्यक्ति जो कुछ दृष्टिगोचर होता है वह अपने इसी अनुकरण गुण का विकास है। बेजहॉट के मत के अनुसार इस प्रकार का अनुकरण जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में आज भी व्याप्त है। वेश एवं भूषा में रहन-सहन में और यहाँ तक कि धर्म और राजनीति में भी अनुकरण का प्रभाव है। जनता किसी व्यक्ति को किसी वस्तु में आकर्षण अनुभव करती है और यथाशक्ति उसके अनुकरण का प्रयत्न करती है। बेजहॉट का मत है

कि अनुकरण की क्रिया अज्ञात रूप म होती है। इसके लिए व्यक्ति को न इच्छा करनी पडती है और न चेष्टा। कुछ भी हो और किसी भी प्रकार हो परन्तु यह सत्य है कि जीवन-यात्रा म अनुकरण का बडा महत्त्व है। मनोविज्ञान के सिद्धान्त के अनुसार यह अनुकरण वृत्ति ही हमारे आचार की आधारशिला बनती है।

टार्ड का अनुकरण का सिद्धान्त सत्य के सम्पूर्ण दर्शन का एक अग है। समस्त सामाजिक समस्याओं के लिए इसका उपयोग करके उन्होंने अद्भुत कल्पना-शक्ति का परिचय दिया था। उनके अनुसार सामाजिक प्रक्रिया समूह म स्थित व्यक्तियों की पारस्परिक क्रिया प्रतिक्रिया का परिणाम है। मरण कभी बाह्य बाह्य सकेत या निर्देश की भी है। मनोवैज्ञानिकों ने बाह्य सकेतों की भी प्रक्रिया का वैज्ञानिक विश्लेपण किया है। इसम कोई सन्देह नहीं है कि बाह्य सकेतो का सामाजिक आचरण म स्थान है। जन-जीवन म शब्दों के रूप म बाह्य सकेतों का क्या प्रभाव पडता है यह विभिन्न राजनैतिक दलों के नारो म प्रमाणित हो जाता है। जैसे—धन और धरती बट के रहेंगे कमाने वाला खाएगा और लूटने वाला जायगा—ये समाजवादी नारे हैं। कम्युनिस्टो का नारा इस प्रकार का होता है—'दुनिया के मजदूरो एक हो जाओ तुम्हे कुछ खोना नहीं है अपने बन्धनों से ही मुक्त होना है।' इस प्रकार के नारे अथवा शब्दावली मनुष्य के मन पर निश्चित रूप से प्रभाव डालती है। अत बाह्य सकेत और निर्देशन का हमारे आचार म एक विशेष महत्त्व है।

सामाजिक नियन्त्रण म धम का स्थान

युग के प्रारम्भ से ही धम ने मानव के वयक्तिक एव सामाजिक आचार का किसी न किसी रूप म नियन्त्रण किया है। जिन सिद्धान्तो का पालन अधिकाश लोग अपने दनिक जीवन म करते हैं उनका विधान उसके द्वारा होता है जिसे धम कहते हैं। प्रत्येक धम कुछ इस प्रकार के विश्वासो को उपस्थित करता है जो हमारी भावना एव आस्था के नियम बन जाते हैं। ये विश्वास हमारी आस्था का नियमन करते हैं और विविध व्यवहारो को जन्म देते हैं। इन्ही विश्वासो के आधार पर रीति एव नीति तथा आचारो का विकास होता है जिन्हे धम का समर्थन प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार से धम का प्रयोजन न केवल मनुष्य को ईश्वर से बाँधना रह जाता है बल्कि व्यक्ति और समाज का धारण भी हो जाता है। सामाजिक व्यवस्था सस्था, वयक्तिक एव सामाजिक जीवन के लिए सिद्धान्तो का विधान प्राय प्रत्येक धम—हिन्दू, जैन बौद्ध ईसाई और इस्लाम के महत्वपूर्ण अग है। जहाँ तक धम और आचार का सम्बन्ध है प्रत्येक मनुष्य के जीवन म इसका एक महत्त्व है इसमे इन्कार नही किया जा सकता। पर आचार और धम एक वस्तु है और सम्प्रदाय एक भिन्न वस्तु है। साम्प्रदाय और धम को एक मानने के भयकर परिणामो से प्रत्येक व्यक्ति भलीभाँति परिचित है किन्तु धम की सत्ता या महत्ता को ऐतिहासिक पृष्ठभूमि म अस्वीकार नही-

ने कहा है कि समाजहीन मनुष्य नाम का ही मनुष्य है। अतः मानव आचरण का अध्ययन बिना उसके सामाजिक जीवन के अध्ययन के सम्भव नहीं है। व्यक्ति का सुख समाज के सुख से ही सम्बंधित है। वास्तव में बिना समाज के मनुष्य की कल्पना भी नहीं की जा सकती। जिस मनुष्य का सद्गुण या दुर्गुण कहा जाता है वह तो मनुष्य का दूसरे के साथ कैसा व्यवहार होता है, इसी पर निर्भर है। अतः आचार शास्त्र और समाजशास्त्र में घनिष्ठ सम्बन्ध है।

मानव आचरण का क्या आदर्श होना चाहिए यह व्यक्ति और समाज के वास्तविक सम्बन्ध को जानकर ही विचारा जा सकता है। समाज और व्यक्ति में अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। अतः व्यक्ति के सुख का अर्थ है—सामाजिक सुख और सामाजिक सुख का अर्थ है—व्यक्ति का सुख। व्यक्ति और समाज अभिन्न हैं। मानव का चरम लक्ष्य या चरम शुभ सामाजिक शुभ है।

आचारशास्त्र वास्तव में समाजशास्त्र पर आश्रित है। सामाजिक संस्थाओं का इतिहास, रीति-रिवाजों का विकास तथा नैतिक नियमों के विकास का इतिहास समाजशास्त्र में मिलता है। इन्हीं के आधार पर हम मानव आचरण के आदर्श का विचार करते हैं। यथार्थ का ज्ञान समाजशास्त्र से होता है और आदर्श का आचार-शास्त्र से। इसलिए समाजशास्त्र आचारशास्त्र का आधार है। पर वास्तव में समाज शास्त्र स्वयं आचारशास्त्र पर आश्रित है। समाज के नियमों और उसके इतिहास को जानकर ही उसकी प्रगति या पतन का ज्ञान नहीं होता। समाज के उत्थान या पतन का मूल्यांकन किसी मापदण्ड से ही सम्भव है। यह मापदण्ड आचारशास्त्र से ही मिलता है। अतः समाजशास्त्र में सामाजिक विकास या परिवर्तनों का मूल्यांकन आचारशास्त्र के मापदण्डों के द्वारा होता है।

आचारशास्त्र और समाजशास्त्र की घनिष्ठता के कारण कुछ विचारकों (स्पेंसर, स्टीफन आदि) ने आचारशास्त्र को समाजशास्त्र की एक शाखा माना है। समाजशास्त्र में नैतिक आदर्शों के विकास का अध्ययन होता है, इसीलिए वे ऐसा विचारते हैं। पर आचारशास्त्र में मुख्यतः नैतिक आदर्शों के विकास का अध्ययन नहीं होता बल्कि उसके स्वरूप की मीमांसा होती है। इसके अतिरिक्त दोनों विज्ञानों में अन्तर भी है।

आचारशास्त्र मानव जीवन के आदर्श से सम्बंधित है। पर समाजशास्त्र मानव समाज के इतिहास तथा विकास से।

आचारशास्त्र आदर्श निर्णायक विज्ञान है पर समाजशास्त्र यथार्थ विज्ञान है। किसी समाज या सामाजिक संस्था का विकास कैसे हुआ इसके क्या नियम हैं ये प्रश्न समाजशास्त्र के हैं। किन्तु उस समाज का कैसा आदर्श होना चाहिए, ये प्रश्न आचारशास्त्र के हैं। अतः समाजशास्त्र वर्णनात्मक है आचारशास्त्र आदर्श निर्देशक।

आचारशास्त्र व्यावहारिक विज्ञान है। इसका सम्बन्ध मनुष्य के दैनिक

कर ही उसके आदर्श की मीमांसा हम कर सकते हैं। मानव आचरण की क्या विशेषताएँ हैं यह जानकर ही उसका आदर्श निर्धारित किया जा सकता है। मानव आचरण का विश्लेषण उसका स्वरूप और स्रोत आदि का अध्ययन मनोविज्ञान में होता है। अतः आचारशास्त्र और मनोविज्ञान में घनिष्ठ सम्बन्ध है। वास्तव में आचारशास्त्र का मनोवैज्ञानिक आधार जानना आवश्यक है। मानव-आचरण का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण किये बिना उसके आदर्शों की मीमांसा हम नहीं कर सकते। सिजविक ने कहा है कि प्रायः सभी नैतिक विचारों में मनोवैज्ञानिक तत्त्व वर्तमान हैं। किसी भी नैतिक मत का पालन क्यों न किया जावे अर्थात् मानव आचरण का कोई भी आदर्श क्यों न माना जाय। मानव जीवन के लक्ष्य के वास्तविक स्वरूप को जाने बिना मनुष्य के मानसिक स्वरूप को जानना सम्भव नहीं है। पर आचारशास्त्र और मनोविज्ञान में ऐसी घनिष्ठता रहने पर भी दोनों के क्षेत्र और दृष्टिकोण में अन्तर है।

मानसिक क्रियाओं के तीन पहलू हैं—ज्ञानात्मक भावात्मक और क्रियात्मक। मनोविज्ञान सभी का अध्ययन करता है। आचारशास्त्र का सम्बन्ध केवल ऐच्छिक क्रियाओं से ही है अतः इस दृष्टि से मनोविज्ञान का क्षेत्र आचारशास्त्र के क्षेत्र से अधिक व्यापक है।

मनोविज्ञान में ऐच्छिक क्रियाओं का विश्लेषण तथा उनके स्वरूप का अध्ययन होता है। आचारशास्त्र का लक्ष्य है—आचरण के आदर्श का ज्ञान। अतः जहाँ मनोविज्ञान एक यथार्थ विज्ञान है वहाँ आचारशास्त्र एक आदर्श निर्देशक विज्ञान है। मनोविज्ञान का सम्बन्ध 'है' से है और आचारशास्त्र का 'चाहिए' से।

मनोविज्ञान का दृष्टिकोण वस्तुनिष्ठ और आचारशास्त्र का आत्मनिष्ठ माना जाता है। मनोविज्ञान मानसिक तथ्यों का वस्तुओं की भाँति अध्ययन करता है। आचारशास्त्र व्यक्तियों की आन्तरिक मानसिक अवस्थाओं और व्यक्तिगत अनुभूतियों से सम्बन्धित रहता है।

आचारशास्त्र में मनोवैज्ञानिक पद्धति से काम लिया जाता है। परन्तु उसकी पूर्ति दार्शनिक पद्धति से होती है। इसमें मनुष्य 'क्या करता है' यह जानकर उसे 'क्या करना चाहिए' की समीक्षा होती है।

आचारशास्त्र और समाजशास्त्र (Sociolgy)

समाजशास्त्र समाज का विज्ञान है। इसमें समाज के स्वरूप नियम तथा विकास का अध्ययन होता है। विभिन्न सामाजिक वर्गों का निर्माण भिन्न संस्थाएँ रीति रिवाज आदि का प्रारम्भ तथा विकास कैसे हुआ यही जानना समाजशास्त्र का लक्ष्य है। आदि काल से वर्तमान रूप में मनुष्य समाज का कैसे विकास या परिवर्तन हुआ, समाजशास्त्र में इसी का अध्ययन किया जाता है। आचारशास्त्र का सम्बन्ध आचरण से है। [illegible] है। व्यक्ति समाज का अंग है। मार्ग पु

ने कहा है कि समाजहीन मनुष्य नाम का ही मनुष्य है। अतः मानव आचरण का अध्ययन बिना उसके सामाजिक जीवन के अध्ययन से सम्भव नहीं है। व्यक्ति का सुख समाज के सुख से ही सम्बन्धित है। वास्तव में बिना समाज के मनुष्य की कल्पना भी नहीं की जा सकती। जिसे मनुष्य का सद्गुण या दुर्गुण कहा जाता है वह तो मनुष्य का दूसरे के साथ कैसा व्यवहार होता है, इसी पर निर्भर है। अतः आचारशास्त्र और समाजशास्त्र में घनिष्ठ सम्बन्ध है।

मानव आचरण का क्या आदर्श होना चाहिए यह व्यक्ति और समाज के वास्तविक सम्बन्ध को जानकर ही विचारा जा सकता है। समाज और व्यक्ति में अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। अतः व्यक्ति के सुख का अर्थ है—सामाजिक सुख और सामाजिक सुख का अर्थ है—व्यक्ति का सुख। व्यक्ति और समाज अभिन्न हैं। मानव का चरम लक्ष्य या चरम शुभ सामाजिक शुभ है।

आचारशास्त्र वास्तव में समाजशास्त्र पर आश्रित है। सामाजिक संस्थाओं का इतिहास रीति-रिवाजों का विकास तथा नैतिक नियमों के विकास का इतिहास समाजशास्त्र में मिलता है। इन्हीं के आधार पर हम मानव आचरण के आदर्श का विचार करते हैं। यथार्थ का ज्ञान समाजशास्त्र से होता है और आदर्श का आचारशास्त्र से। इसलिए समाजशास्त्र आचारशास्त्र का आधार है। पर वास्तव में समाजशास्त्र स्वयं आचारशास्त्र पर आश्रित है। समाज के नियमों और उसके इतिहास को जानकर ही उसकी प्रगति या पतन का ज्ञान नहीं होता। समाज के उत्थान या पतन का मूल्यांकन किसी मापदण्ड से ही सम्भव है। यह मापदण्ड आचारशास्त्र से ही मिलता है। अतः समाजशास्त्र में सामाजिक विकास या परिवर्तनों का मूल्यांकन आचारशास्त्र के मापदण्डों के द्वारा होता है।

आचारशास्त्र और समाजशास्त्र की घनिष्ठता के कारण कुछ विचारकों (स्पेंसर, स्टीफन आदि) ने आचारशास्त्र को समाजशास्त्र की एक शाखा माना है। समाजशास्त्र में नैतिक आदर्शों के विकास का अध्ययन होता है, इसीलिए वे ऐसा विचारते हैं। पर आचारशास्त्र में मुख्यतः नैतिक आदर्शों के विकास का अध्ययन नहीं होता बल्कि उनके स्वरूप की मीमांसा होती है। इसके अतिरिक्त दोनों विज्ञानों में अन्तर भी है।

आचारशास्त्र मानव जीवन के आदर्श से सम्बन्धित है। पर समाजशास्त्र मानव समाज के इतिहास तथा विकास से।

आचारशास्त्र आदर्श निर्देशक विज्ञान है पर समाजशास्त्र यथार्थ विज्ञान है। किसी समाज या सामाजिक संस्था का विकास कैसे हुआ इसका क्या नियम है ये प्रश्न समाजशास्त्र के हैं। किन्तु समाज का क्या आदर्श होना चाहिए, ये प्रश्न आचारशास्त्र के हैं। अतः समाजशास्त्र वर्णनात्मक है आचारशास्त्र आदर्श-निर्देशक।

आचारशास्त्र व्यावहारिक विज्ञान है। इसका सम्बन्ध मनुष्य के नित्य

व्यवहारों से है। यह आचरण कैसा होना चाहिए इसका ज्ञान देता है। समाजशास्त्र सैद्धान्तिक है। इसमें समाज का सैद्धान्तिक अध्ययन होता है।

समाजशास्त्र में मनुष्य के सामूहिक रूप का अध्ययन होता है। आचारशास्त्र में सामूहिक तथा व्यक्तिगत दोनों रूपों का।

समाजशास्त्र में मानसिक तथ्यों का वस्तुनिष्ठ अध्ययन किया जाता है। जैसे—रीति रिवाजों का संस्थाओं का। आचारशास्त्र में आत्मनिष्ठ मानसिक प्रक्रियाओं का अध्ययन होता है जैसे—इच्छा, प्रयोजन आदि का।

आचारशास्त्र और राजनीतिविज्ञान (Politics)

राजनीतिशास्त्र वह विज्ञान है जिसमें राज्य और शासन सम्बन्धी समस्याओं का अध्ययन होता है। किस प्रकार का शासन हो कि सम्पूर्ण मानव-जाति सुख और शान्ति से रहे यही इसकी समस्या है। कैसा विधान या नियम हो जिससे मानव वर्ग में शान्ति रहे और उसका उत्थान हो यही प्रश्न है राजनीतिशास्त्र का, इसलिए यह आदर्श निर्देशक है।

आचारशास्त्र का सम्बन्ध भी आचरण के आदर्श से है। इसलिए दोनों विज्ञान आदर्श निर्देशक हैं। दोनों विज्ञानों का सम्बन्ध मनुष्य के दैनिक जीवन से है। इसलिए दोनों व्यावहारिक हैं।

राजनीतिशास्त्र का आधार आचारशास्त्र ही है। किसी भी विधान को न्यायसंगत होने के लिए नैतिक होना आवश्यक है। राज्य के विधान नैतिक सिद्धान्तों के अनुकूल यदि नहीं रहते तो उनका फल खराब होता है। कोई राज्य अनैतिक नहीं हो सकता। नीति और राज्य के विधान में आचारशास्त्र और राजनीतिशास्त्र में घनिष्ठ सम्बन्ध है। दोनों शास्त्रों में ऐसी घनिष्ठता के कारण कुछ दार्शनिकों ने राजनीतिशास्त्र को आचारशास्त्र का अंग माना है (प्लेटो और अरस्तू)। उन्होंने नैतिक नियमों में ही राज्य शासन के विधान का प्रतिपादन किया है। पर कुछ विचारकों ने राजनीतिशास्त्र को आचारशास्त्र से बिल्कुल भिन्न माना है (मैकियावेली)। उनके अनुसार राज्य नैतिक नियमों से बँधा नहीं है। शासन के विधान अवसर के अनुसार बनते हैं। यदि किसी राज्य का कोई उद्देश्य है तो उसे किसी भी साधन द्वारा प्राप्त करना उचित होता है। छल धोखा इत्यादि जो नैतिक दृष्टि से असंगत हैं अवसर के अनुसार राज्य की दृष्टि से संगत भी हो सकते हैं। कुछ विचारकों ने आचारशास्त्र को राजनीतिशास्त्र का अंग माना है। वे राज्य के नियम को ही नैतिक नियम बतलाते हैं। इनमें हॉब्स और बेन्थम प्रमुख हैं। उपर्युक्त विचार एकांगी है। किसी शासन क्रम में यदि नैतिकता को स्थान नहीं तो उसका प्रभाव मनुष्य पर नहीं पड़ता। जो राज्य नैतिकता की दृष्टि से निम्न स्तर का रहता है उसकी सत्ता अधिक दिनों तक नहीं टिकी रहती, इसके कई उदाहरण इतिहास में हमें मिलते हैं। नैतिक शक्ति ही सबसे बड़ी शक्ति है।

इसलिए राजनीति का आधार आचारशास्त्र ही है। पर इसका यह भी अर्थ नहीं कि दोनों एक हैं। उनमें भेद भी हैं।

राजनीतिशास्त्र का सम्बन्ध अधिकतर क्रिया कलापों के बाह्य रूप से है। मनुष्य के कर्म ऐसे हों कि उनका फल सुखकर हो। आचारशास्त्र का सम्बन्ध अधिकतर मनुष्य की इच्छा अभिलाषा आकांक्षा तथा लक्ष्य से हैं। मनुष्य की अभिलाषा तथा आकांक्षा उच्च होनी चाहिए। राजनीतिक विधान के अनुसार किसी को कष्ट देना एक अपराध है पर आचारशास्त्र के अनुसार किसी को कष्ट देने का विचार भी अपराध है। यद्यपि राजनीतिशास्त्र मनुष्य के आन्तरिक पहलू से भी सम्बन्धित है पर बाह्य रूप ही प्रधान विचारे जाते हैं।

राजनीतिशास्त्र का उद्देश्य है—अधिकांश मनुष्यों का सुख देना। इसका सम्बन्ध समुदाय से है और आचारशास्त्र का व्यक्ति से। व्यक्ति का सुख ही इसका लक्ष्य है। इसका अर्थ यह नहीं है कि व्यक्ति और समुदाय विरोधक हैं वास्तव में दोनों पूरक हैं। हर राजनीतिशास्त्र में सामुदायिक पहलू का और आचारशास्त्र में वैयक्तिक पहलू का अधिक विचार किया जाता है। राजनीति समुदाय के सम्मिलित व्यवहार को देखती है आचारशास्त्र मनुष्य की व्यक्तिगत क्रियाओं को।

दोनों के दृष्टिकोणों में भी भेद हैं। किसी समुदाय के लिए कौन सा कार्य लाभदायक होगा यह बताना राजनीतिशास्त्र का लक्ष्य है। आचारशास्त्र में बाह्य लाभ का प्रश्न नहीं उठता। यह आवश्यक नहीं है कि जो कार्य लाभदायक हो वह नैतिक दृष्टि से भी उचित हो।

राज्य के नियम दण्ड और पुरस्कार के डर तथा प्रलोभन द्वारा लागू होते हैं। आचारशास्त्र के नियम का पालन बाह्य डर तथा प्रलोभनों से नहीं होता है। यदि केवल दण्ड के डर से ही कोई सदा सत्य बोले तो नैतिक दृष्टि से उसका महत्त्व नहीं है।

आचारशास्त्र का क्षेत्र राजनीतिशास्त्र से अधिक व्यापक है। राजनीतिक नियमों की भी नैतिक परीक्षा होती है।

आचारशास्त्र और धर्मशास्त्र (Theology)

धर्मशास्त्र धर्म के सिद्धांतों की मीमांसा है। धर्म का अर्थ है—मानव शक्ति से उच्चतर किसी शक्ति में विश्वास। यह शक्ति इन्द्रियगोचर नहीं पर मानव संवेग से उदासीन भी नहीं है। धर्म का सबसे विकसित रूप एक सर्वशक्तिशाली अन्तर्यामी सर्वज्ञानी व्यक्ति रूप ईश्वर का विचार करता है। धर्मशास्त्र ईश्वर प्राप्ति को ही मानव जीवन का चरम लक्ष्य विचारता है। अतः यह उस लक्ष्य की प्राप्ति के विषय में बतलाता है इसलिए दोनों शास्त्रों में बड़ा घनिष्ठ सम्पर्क है। बहुत से दार्शनिकों ने आचारशास्त्र को धर्मशास्त्र के अधीन माना है। उनके अनुसार धर्म ही नीति (morality) का मूल है। (Descartes Locke Duns Scotu)। धर्म के नियम

ही नतिक नियम हैं। हमारे वसे ही आचार नतिक कहे जा सकते हैं, जो धम के नियमों के अनुसार हो। ईश्वर की इच्छा पर ही उचित और अनुचित निर्भर है। जिसे वह आदिष्ट करता है वही उचित और जिसका निषेध वह अनुचित होता है। ईश्वर अपनी इच्छाओं का पालन दण्ड के भय और पुरस्कार के प्रलोभन से कराता है।

यह मत मान्य नही प्रतीत होता। धार्मिक विचार मनुष्य-जीवन के पिछले भाग म उदय होते हैं। पर बाल्यकाल ही से सत्य और असत्य का ज्ञान आरम्भ हो जाता है। यदि धार्मिक विचार ही नतिक विचारो का साधन होता तो ऐसी बात नहीं होती।

यदि भय और प्रलोभन से ही कोई मनुष्य कोई कम करता है तो उसम नतिकता का प्रश्न नही उठता। हमारे आचरण केवल दण्ड के डर और पुरस्कार के प्रलोभनो से यदि सचालित हो तो उ हे अच्छा या खराब कैसे कहा जा सकता है? उन कर्मों से तो हमारे वास्तविक स्वरूप का पता नही चलता।

धम या सत्य ईश्वर की आज्ञाओ पर निभर नही है अपितु उनकी प्रकृति के द्योतक हैं। ईश्वर अपनी इच्छानुसार किसी काय को सत्य या असत्य नही बना सकता। कोई कम इसलिए सत्य या असत्य नही होता कि वसी ईश्वर की इच्छा होती है अपितु वह किसी कम का आदेश देता है इसलिए कि वह सत्य है और निषेध करता है इसलिए कि वह असत्य या अधम है।

यदि धमशास्त्र को आचारशास्त्र का मूल माना जाय तो बिना ईश्वर के विश्वास के नीति का भी लोप माना जाता है। पर वास्तव म ऐसी बात नही है। बौद्ध मत और जन मत इसके उदाहरण है।

इसके विपरीत कुछ दाशनिको का मत है कि धमशास्त्र का आधार आचारशास्त्र है क्योंकि धम का आधार है नीति (morality)। हमम यह विश्वास है कि अच्छे कर्मों का फल अच्छा होता है और बुरे कर्मों का बुरा। पर वास्तविक जगत म ऐसा नहा पाया जाता। बुरे ही अधिकतर सुख भोगते हैं और सदाचारी कष्टो के शिकार बनते हैं। इसलिए इस भेद के कारण हमम यह विश्वास उत्पन्न होता है कि कोई शक्तिशाली ईश्वर का अस्तित्व है जो इन विषमताओ को दूर करता है और सदाचारियों को पुरस्कार देता है और दुराचारियो को कष्ट। यही विश्वास धम की माव है—काट मार्टिनु (Kant Martineau) इत्यादि।

दूसरे मनुष्य नतिक नियमों का पालन करना अपना कत य समझता है। किसी सत्ता के प्रति ही कोई कतव्य होता है। यह सत्ता कौन है? इसके फलस्वरूप ईश्वर म हमारा विश्वास होने लगता है।

तीसरे आचारशास्त्र म चरित्र का आदश निर्धारित किया जाता है। यह आदश कभी सैद्धान्तिक नहीं माना जाता। इसलिए एक ऐसी शक्ति को हम मानते हैं जो उन आदर्शों से सम्पूर्ण है।

इन्हीं कारणों से कहा गया है कि नैतिक विचारों से ही ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास उत्पन्न होता है। किसी न किसी रूप में धर्म हर देश और काल में रहता है चाहे वहाँ नैतिक विचार हों या नहीं हों। इसके अलावा धार्मिक विचार मनुष्यों की अपूर्णता के भाव से उदय होते हैं। मनुष्य अपने को अपूर्ण पाकर एक ऐसी सत्ता में विश्वास करने लगता है जो सर्वशक्तिमान है। नैतिक विचारों का उदय मानव आत्मा की पूर्णता की भावना से होता है। दोनों के दो सूत्र होते हैं। एक के बिना दूसरे का विचार किया जा सकता है। कोई बिना धार्मिक विचारों के भी नैतिक नियमों का पालन कर सकता है और बिना नैतिक विचारों के धार्मिक नियमों पर चल सकता है। पर दोनों शास्त्रों का सम्बन्ध घनिष्ठ है। एक का प्रभाव दूसरे पर बहुत अधिक है। वास्तव में जो नैतिक दृष्टि से अच्छा है वह धार्मिक भी है और जो धार्मिक दृष्टि से अच्छा है वह नैतिक भी है। आचारनियम धार्मिक विचारों की पुष्टि करते हैं। इस दृष्टि से धर्मशास्त्र और आचारशास्त्र एक-दूसरे से सम्बन्धित हैं।

आचारशास्त्र और दर्शनशास्त्र (Ethics and Philosophy)

संसार तथा उसके तत्त्व सम्बन्धी प्रश्नों की विवेचना दर्शनशास्त्र में की जाती है। संसार क्या है? मनुष्य का उसमें क्या स्थान है? आत्मा तथा परमात्मा क्या है? उसकी प्रकृति क्या है? इत्यादि प्रश्न इस शास्त्र के हैं। दर्शन का सम्बन्ध पदार्थों की वास्तविकता से है।

आचारशास्त्र दर्शन से सम्बन्धित है। उसकी समस्याओं का समाधान दर्शन की विवेचनाओं पर अधिकतर निर्भर है। जिस प्रकार के दार्शनिक विचार होते हैं हमारे नैतिक विचार भी वैसे ही होते हैं। जड़वाद (Materialism) पर ही सुखवाद (Hedonism) आधारित है। यदि जड़ जगत ही वास्तविक है तो मनुष्य का ध्येय अधिक से अधिक सुख प्राप्त करना ही होना चाहिए। इस तरह सुखवाद की प्रवृत्ति होती है। वैसे ही चेतनवाद (Spiritualism) पर पूर्णतावाद (Perfectionism) की नींव है। बिना किसी दार्शनिक आधार के आचारशास्त्र एक कल्पना है।

इच्छाशक्ति की स्वतन्त्रता मनुष्य की नैतिक प्रकृति इत्यादि प्रश्नों की विवेचना दर्शनशास्त्र में होती है। आचारशास्त्र उन्हीं पर अवलम्बित है। आचार-शास्त्र को आचार-दर्शन भी कहा गया है।

इसलिए दर्शन आचारशास्त्र का आधार है। पर दोनों में अन्तर भी है।

दर्शन का क्षेत्र आचारशास्त्र के क्षेत्र से विस्तृत है। आचार सम्बन्धी समस्याएँ दर्शन का एक अंग है। दर्शनशास्त्र में अन्य समस्याओं पर भी विचार किया जाता है।

दर्शनशास्त्र सैद्धान्तिक है। उसमें किसी भी विषय का चिन्तन ज्ञान की दृष्टि से किया जाता है। आचारशास्त्र व्यावहारिक तथा आदर्श-निर्देशक है। इसका सम्बन्ध मनुष्य के दैनिक जीवन और व्यवहार से है।

भारतीय आचार-परम्परा

भारत के तीनों प्राचीन धर्मों—वदिक जन और बौद्ध—ने अपनी परम्परा और पद्धति के अनुरूप आचारों की प्ररूपणा की है। भारत की प्रजा म प्राचीन काल से ही आचार अत्यन्त लोकप्रिय रहा है। भारतीय जन जीवन का वह अभिन्न अग रहा है। लोक-जीवन की प्राणशक्ति ही आचार है। भारतीय संस्कृति तथा सभ्यता का मूल आधार आचार रहा है। आचारहीन जीवन को भारत की प्रजा कभी सहन नही कर सकती। आचारसम्पन्न व्यक्ति यदि अनपढ भी हो तो उसका सत्कार होगा। विद्वान यदि आचार हीन है तो उसका तिरस्कार ही होगा। आचार हीन व्यक्ति को न वेद पवित्र कर सकते हैं न आगम एव पिटक ही। भारत के जन जीवन म सदा से ही आचार की प्रतिष्ठा रही है। अत श्रुति स्मृति, आगम एवं पिटको म आचार की ही गरिमा तथा महिमा रही है और आज भी है।

वदिक परम्परा का आचार जन परम्परा का चारित्र और बौद्ध परम्परा का विनय—भावनात्मक रूप मे ये तीनो एक ही अथ की अभिव्यक्ति करते हैं। परन्तु पद्धति तीनों की एक नही रही है। कारण यह है कि तीनो का आधार भूत तत्त्व अलग-अलग है। एक का आधार है वेद दूसरे का आधार है आप्त और तीसरे का आधार है बुद्ध। वद तीथकर और बुद्ध ही भारतीय आचार के मापदण्ड रहे हैं। वेद किसी भी व्यक्ति विशेष का नाम नही है। तीथकर और बुद्ध निश्चय ही व्यक्ति विशेष है। वेद अपौरुषय है। अत उसमे विहित कम भी अपौरुषय ही होगा। उसका अथ है—नित्य सनातन, सदाकालीन। तीथकर के अनुयायी और बुद्ध के अनुगामी—इस व्यवस्था को स्वीकार नही करते। तीथकर आचीर्ण आचार को ही वे चारित्र कहते हैं। बुद्ध आसेवित आचार को ही वे विनय कहते हैं। तीथकर और बुद्ध—दोनों ही अपनी परम्परा में आप्त पुरुष हैं। आप्त की वाणी ही आगम एव पिटक हैं। आगम और पिटक म निहित जो भी कम अथवा क्रिया है वह चारित्र एव विनय है। विहित कम आचार है और निषिद्ध कम अनाचार। अनाचार कभी धम नही हो सकता। वह तो अधम ही है। अत जो कुछ वेद विहित है तीथकर आचीर्ण है तथा बुद्ध आचरित है वह सब आचार है शष सभी अनाचार है। भारतीय आचार पद्धति की इस व्यवस्था एव परम्परा को ही भारतीय आचार शास्त्र कहा गया है।

भारतीय आचारशास्त्र क तीन प्रवाह रहे हैं—वदिक आचार जन चारित्र और बौद्ध विनय। आचार श बहुअर्थी एव बहुआयामी रहा है। अत आगम पिटक एव धर्मस्मृति शास्त्र म परिव्याप्त है। चारित्र एव विनय शब्द का प्रयोग भी प्रचुर दृष्टिगोचर होता है। विनय शब्द का प्रयोग वदिक शास्त्र म एव जन शास्त्र म अन्य अर्थों में है केवल आचार अथ म नहीं। बौद्धशास्त्र म यह केवल आचार अर्थ म प्रयुक्त होता है। अत यह एक पारिभाषिक शब्द है।

भारतीय आचारशास्त्र के मूलभूत ग्रन्थ तीन हैं—स्मृति आचारांग और विनयपिटक। स्मृति वेद का अनुगमन करती है। आचारांग चरम तीर्थंकर महावीर की प्रथम देशना है। विनयपिटक बुद्ध के अनुभूत शिक्षापद हैं। वैदिक परम्परा का मूल आधार है—वर्ण व्यवस्था आश्रम व्यवस्था और यज्ञ होम। अन्य शेष सब इसी का विस्तार है। जैन परम्परा का मूल आधार है—अहिंसा। अन्य व्रत नियम केवल अहिंसा के ही आयाम हैं। अहिंसा का ही विस्तार है—तप और संयम। अमृषावाद अस्तेय, अकाम और अपरिग्रह—ये सब अहिंसा के ही परिजन-परिवार हैं। अहिंसा के ही अस्तित्व में इन सबका अस्तित्व है। अतः अहिंसा ही जैन आचार है। बौद्ध परम्परा का मूल आधार है—अष्टांग मार्ग। विनय उसी का ही विस्तार है। विनयपिटक में जितने भी शिक्षापद हैं वे सब अष्टांग मार्ग की देन हैं। अन्त मूल में यही बौद्ध परम्परा का विनय एवं आचार है।

वैदिक आचार

आर्यों की सभ्यता संस्कृति और धर्म की रूप रेखा जानने का एवं समझने का एक मात्र साधन वेद ग्रन्थ ही हैं। परम्परा से श्रुत (सुना हुआ) होने के कारण वेद को श्रुति कहा गया है। मनु ने अपनी स्मृति में कहा है—

श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयो धर्म-शास्त्रं तु वै स्मृतिः।

वैदिक साहित्य को दो भागों में विभक्त किया गया है—ज्ञानकाण्ड और कर्म काण्ड। प्रथम में संहिता एवं उपनिषदों का समावेश होता है तथा द्वितीय में ब्राह्मण ग्रन्थ एवं कल्पसूत्र ग्रन्थों का। यज्ञ-यागादि का पूर्ण परिचय कल्पसूत्रों से होता है। कल्पसूत्रों के दो विभाग हैं—श्रौत सूत्र स्मार्त सूत्र। श्रौतसूत्र श्रुति से प्रसूत हैं इसलिए श्रौत सूत्र कहे जाते हैं। आर्यों के मूल आचार अथवा याग पद्धति का परिबोध श्रौत-सूत्रों से ही होता है। स्मार्तसूत्रों की संरचना स्मृति के आधार पर हुई है। स्मार्तसूत्रों के भी दो विभाग हैं—गृह्यसूत्र और धर्मसूत्र। गृह्यसूत्रों में गृहस्थ के आचार अनुष्ठान और यज्ञ करने की विधि का विस्तार से वर्णन किया गया है। इनमें मनुष्य के जन्म से लेकर मृत्युपर्यन्त होने वाले षोडश संस्कारों का भी वर्णन किया गया है। जो आर्यों का विशेष आधार है। धर्मसूत्रों में धार्मिक नियम राजा और प्रजा के अधिकार तथा कर्तव्यों का विधान किया गया है। वर्ण-व्यवस्था एवं आश्रम-व्यवस्था का पूर्ण परिज्ञान कराया गया है। धर्मसूत्रों के आधार पर स्मृतियों की रचना हुई है। स्मृतियों की संख्या अनियमित है। परन्तु दो स्मृतियाँ अत्यन्त प्रसिद्ध हैं—मनु-स्मृति और याज्ञवल्क्यस्मृति।

महाकवि कालीदास ने रघुवंश महाकाव्य के आरम्भ में ही स्मृति को वेदानुगामिनी कहा है। वेद के अर्थ का ही स्मृति ग्रन्थ अनुचिन्तन करते हैं। लोक-कल्याण की भावना से जनकल्याण के लिए वेद विहित व्यवस्था देते हैं। इसी आधार पर स्मृतियों को धर्मशास्त्र की संज्ञा प्राप्त होती है। वे लोकाचार का प्रतिपादन करते हैं।

नु ने आचार को परम धर्म कहा है। स आचार का विस्तार से वर्णन मनु ने किया है। ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य और शूद्रों के कर्तव्यों का वर्णन किया है। अतः स्मृति ग्रन्थ आचार शास्त्र हैं।

स्मृति प्रतिपादित आचार

वैदिक परम्परा में गौतमधर्मसूत्र सर्वाधिक प्राचीन है। धर्मसूत्रों को आधार मानकर ही विभिन्न स्मृतियों का सगुम्फन किया गया है। स्मृतियों में सबसे प्राचीन है—मनुस्मृति। जिसमें वैदिक आचार का सर्वांगीण विकास हुआ है। प्रायः सभी स्मृतियों का एक ही विषय है—देश एवं काल के अनुसार आचार की मीमांसा करना तथा प्रसुप्त जन चेतना को प्रबुद्ध करके धर्म की ओर उन्मुख करना। जो जन-जीवन राज धर्म और अर्थ शास्त्र के अधीन होकर चल रहा था उसे मनु ने अपनी स्मृति में धर्म के अधीन लाकर धर्मशास्त्र का उपजीवक बना दिया। यही था मनु का अपना मौलिक नवीन चिन्तन। उस युग में मनु के आचार एवं विचार का खुलकर स्वागत हुआ। वर्णधर्म और आश्रमधर्म—स्मृतियों का मुख्य विषय रहा है। हिन्दू समाज के लिए ये धर्म शास्त्र ही नहीं हैं अपितु विधि ग्रन्थ भी हैं। अंग्रेजी शासन काल मे इसी को हिन्दू ला धर्म कहा गया था। भारतीय आचार परम्परा के ये प्रतिनिधि ग्रन्थ हैं।

स्मृति रचना काल

आचार शास्त्र और धर्म शास्त्र के मूलभूत तत्त्वों की व्याख्या एवं परिभाषा करने वाले स्मृति ग्रन्थों की सरचना किस काल में प्रारम्भ हुई और किस काल में परिसमाप्त हुई? इसका निर्णय करना आसान नहीं है। भारतीय धर्मशास्त्रों का इतिहास जिन्होंने लिखा है उनके अनुसार स्मृति ग्रन्थों के निर्माण को तीन युगों में विभाजित किया गया है—प्रथम युग—ईसा पूर्व ६०० से १०० तक। द्वितीय युग—ईसा १०० से ८०० तक और तृतीय युग ईसा ८०० से १८०० तक, प्रथम युग धर्म सूत्रों का है जो स्मृतियों का मूल स्रोत हैं। द्वितीय युग धर्मसूत्रों की व्याख्या का है और साथ ही स्मृतियों के निर्माण का प्रारम्भ भी। इतिहासकारों की दृष्टि में यही युग ही स्मृति निर्माण का युग है। धर्मशास्त्र का इतिहास पुस्तक के लेखक पी० वी० काणे का मत है कि मनुस्मृति याज्ञवल्क्य स्मृति से अधिक प्राचीन है। क्योंकि मनुस्मृति में व्याय सम्बन्धी बातें पूर्ण रूप में नहीं हैं लेकिन याज्ञवल्क्य स्मृति में ये सब बातें पूर्ण रूप में हैं। याज्ञवल्क्य की तिथि कम से कम तृतीय शताब्दी है। अतः मनुस्मृति का उससे बहुत पहले होना चाहिए। मनुस्मृति की रचना ईस्वी पूर्व द्वितीय शताब्दी तथा ईसा के उपरान्त द्वितीय शताब्दी के मध्य कभी हुई होगी। महाभारत मनुस्मृति के बाद की रचना है।

मनु और याज्ञवल्क्य

मनुस्मृति और याज्ञवल्क्यस्मृति में काफी समानता है। फिर भी याज्ञवल्क्य

मनु की बहुत सी बातों को स्वीकार नहीं करते। विभिन्नता इस प्रकार है—मनु ब्राह्मण को शूद्र कन्या से विवाह करने का विधान करते हैं परन्तु याज्ञवल्क्य नहीं करते। मनु पुत्रहीन पुरुष की विधवा पत्नी के दायभाग पर मौन हैं याज्ञवल्क्य इस विषय में स्पष्ट हैं। विधवा को उसका हक दिलाते हैं। मनु जुआ की निन्दा करते हैं याज्ञवल्क्य जुआ को राज्य नियन्त्रण में रखकर राजकीय कर का एक हिस्सा बना देते हैं। इस प्रकार मनु के और याज्ञवल्क्य के आचार में काफी अन्तर है।

वेद धर्म का मूल है— वेदो 'धर्मस्य मूलम्।' यह कथन गौतमसूत्र का है। मनुस्मृति में धर्म के पाँच उपादान हैं—वेद वेदज्ञों की परम्परा एवं व्यवहार साधु जनों का आचार और आत्म तुष्टि। याज्ञवल्क्य का कथन है कि वेद स्मृति सदाचार शिष्टजनों का आचार—व्यवहार और जो अपने को अच्छा लगे तथा शुभ संकल्प—यही धर्म के उपादान हैं जो परम्परा से चले आ रहे हैं। इस प्रकार धर्म के विषय में मनु और याज्ञवल्क्य के विचार एक होते हुए भी कहीं-कहीं पर काफी बड़ा अन्तर भी है। आचार पर देश एवं काल का प्रभाव अवश्य ही पड़ता है।

याज्ञवल्क्य स्मृति

वैदिक आचार ग्रन्थों में याज्ञवल्क्य स्मृति एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ माना गया है। इसके प्रणेता एक महर्षि दार्शनिक एवं योगीश्वर थे। इसकी रचना मिथिला में हुई है। मिथिला मगध का एक सांस्कृतिक स्थल रहा है। वैदिक परम्परा और जैन परम्परा का मुख्य केन्द्र। याज्ञवल्क्यस्मृति धर्मशास्त्र प्रणेता महर्षि याज्ञवल्क्य की एक महनीय कृति है। वैदिक परम्परा के आचार ग्रन्थों की सम्पूर्ण पूर्व परम्परा इसमें समाहित हो चुकी है। आचार अथवा धर्म का कोई भी विषय ऐसा नहीं जिसका समावेश इसमें न हो गया हो। प्रणेता ने अपने सम्पूर्ण स्मृति ग्रन्थ को तीन विभागों में विभाजित किया है और विषयानुरूप समुचित स्थान दिया है। याज्ञवल्क्य स्मृति में दो हजार सात सौ श्लोक हैं। मनुस्मृति का परिमाण बहुत अधिक है। विषय व्यवस्था भी इतनी सुन्दर नहीं है। याज्ञवल्क्य स्मृति में वेद वेदांग योग अध्यात्म दण्ड-नीति धर्म और आचार की सुन्दर व्याख्या एवं व्यवस्था है। तीन अध्यायों में वह विभक्त है—आचार व्यवहार और प्रायश्चित्त। आचार ग्रन्थों का इस प्रकार का विभाजन जैन आचार को व्यवस्थित एवं स्थिर करने वाले छेदसूत्रकार आचार्य भद्रबाहु ने किया था—आचार दशा, कल्पसूत्र और व्यवहारसूत्र।

बौद्ध आचार

वैदिक आचार गृहस्थ के लिए है। उसमें संन्यास का महत्त्व उतना नहीं जितना गृहस्थ का। वानप्रस्थ और संन्यास के नियम बहुत कम बहुत संक्षेप में हैं। यतिधर्म संग्रह जैसे ग्रन्थ हैं अवश्य परन्तु संन्यास एवं यति के आचार पर जैन एवं बौद्धों का प्रभाव स्पष्ट है। उनके नियम उपनियम तथा उनकी जीवनचर्या श्रमणों जैसी है। जैन और बौद्ध संन्यास प्रधान धर्म रहे हैं। गृहस्थ के आचार एवं चर्या को दोनों में

जन और बौद्ध

जन परम्परा और बौद्ध परम्परा मूलत आचारवाली परम्पराएँ रही हैं। इन दोनों परम्पराओं म तत्व की अपेक्षा आचार की व्याख्या एव विश्लषण अधिक हुआ है। परन्तु दोनों परम्पराएँ आचार पर बल देते हुए भी दोना की पद्धति म महान अन्तर है। बौद्ध परम्परा में आचार के स्थान पर दो शब्दों का प्रयोग हुआ है—शील एव विनय। शील का सम्बन्ध गृहस्थ-जीवन से अधिक है भिक्षु-जीवन स कम। किन्तु विनय का अथ बौद्ध परम्परा के अनुसार भिक्षु का आचार अथात साध्वाचार होता है। जन परम्परा मे आचार और चारित्र शब्द का प्रयोग किया गया है। जन परम्परा का आचार शास्त्र व्यवस्थित विशाल और बहु आयामी है। जन परम्परा म धम क दो भेद हैं—आगारधम एव अणगारधम। इसी को श्रावकाचार और श्रमणाचार भी कहा जाता है।

आचार कल्प और समाचारी

श्रमण परम्परा में और मुख्यत जन परम्परा म आचार पर अत्यधिक बल दिया गया है इसम जरा भी सन्देह नहीं है। आचार शब्द को लेकर ही जनो म विभिन्न सम्प्रदाय खडे हुए हैं। श्वेताम्बर और दिगम्बरों म मुख्यत परिग्रह एव अपरिग्रह की व्याख्या को लेकर ही भेद पडा है। श्वेताम्बरों की मान्यता क अनुसार मूर्च्छाभाव हो परिग्रह है वस्तु नहीं। इसके विपरीत दिगम्बर परम्परा म वस्तुओं को परिग्रह कहा गया है। जन परम्परा म सचेलवाद के मूल म परिग्रह ही मुख्य है। स्थानकवासी एवं तेरापंथ सम्प्रदायों म जो आज भेद दृष्टिगोचर होता है उसका मुख्य आधार हिंसा-अहिंसा की व्याख्या ही रहा है। श्वेताम्बर दिगम्बर स्थानकवासी और तेरापथी—ये सब भेद आचार को लेकर ही मुख्य रूप में प्रचलित हुए हैं। अत आचार की विस्तृत व्याख्या का जन परम्परा म होना सहज एव स्वाभाविक था। आचारांग सूत्र उसकी नियुक्ति उसकी चूर्णि और उसकी सस्कृत टीका म आचार के स्वरूप पर अत्यधिक विस्तार से विचार किया गया है। दशवकालिक सूत्र उस पर नियुक्ति उस पर चूर्णि एव उस पर विविध सस्कृत टीकाओं म आचार का ही मथन किया गया है। छेदसूत्रों एव उन पर नियुक्ति भाष्य चूर्णि एव सस्कृत टीकाओं का जो एक विशाल साहित्य है वह सब साध्वाचार को लेकर ही लिखा गया है। जन परम्परा म आचार शब्द के अतिरिक्त कल्प और समाचारी शब्द का अथ भी आचार ही होता है फिर भी आचार को अपना कल्प और समाचारी य तीनों [illegible] शब्द है तथा इन तीनों के अथ मे भी पर्याप्त भेद है। वस्तुत [illegible] मूल-गुणों को ही आचार कहा गया है। कल्प और [illegible] क लिए किया गया है। मर्यादा की सुरक्षा के [illegible] उत्तर-नियम बनाए गए एव [illegible]

नहीं है। क्योंकि मध्य के बाईस तीर्थकरों की परम्परा के अनुसार राजपिण्ड लेना कोई दोष नहीं था तथा प्रतिदिन उभयवेला मे प्रतिक्रमण करना आवश्यक नही था। परन्तु प्रथम तीर्थकर ऋषभदेव और चरम तीर्थकर भगवान महावीर के शासन में राजपिण्ड लेना निषिद्ध माना गया तथा प्रतिदिन उभयवेला म प्रतिक्रमण करना अनिवार्य हो गया। इन दस प्रकार के कल्पो म समयानुसार परिवतन होते रहे हैं। अत इस प्रकार के कल्प उत्तरगुण कहे जाते हैं। क्योंकि उनमे समय समय पर परिस्थितिवश एव आवश्यकता के अनुसार परिवतन करने की छूट गीतार्थ मुनि को सहज ही उपलब्ध रही है।

साधु समाचारी का अर्थ है—साधु जीवन के लिए नित्य कर्मों की व्यवस्था। रात और दिन म साधु को किस कायक्रम के अनुसार अपना साधनामय जीवन व्यतीत करना चाहिए—इस प्रकार का विधि विधान ही साधु समाचारी है। प्राचीन काल मे साधु-समाचारी के अनुसार साधुजन अपना साधनामय जीवन इस प्रकार से व्यतीत करते थे—दिन की प्रथम पौरुषी म स्वाध्याय द्वितीय म ध्यान तृतीय म आहार-पानी एव विहार और चतुर्थ म पुन स्वाध्याय। रात्रि म प्रथम पौरुसी म स्वाध्याय द्वितीय म ध्यान तृतीय म शयन निद्रा और चतुर्थ म पुन स्वाध्याय। इस समाचारी म स्वाध्याय एव ध्यान पर विशेष बल दिया गया है। वस्तुत साधु जीवन की सच्ची साधना स्वाध्याय एव ध्यान ही है। भिक्षुणी एव भिक्षु के जीवन का एक भी क्षण व्यय न जाय तथा प्रमत्त भाव म व्यतीत न हो इस व्यवस्था का नाम ही वस्तुत साधु समाचारी है। इस साधु समाचारी के अनुसार जीवन व्यतीत करने वाले साधु एव साध्वी ज्ञानी ध्यानी एव तपस्वी तथा सयमी होते थे। साध्वी एव साधु के लिए यह भी आवश्यक था कि वह आचाराग सूत्र तथा निशीथ सूत्र का प्रतिदिन स्वाध्याय करें ताकि वे विस्मृत न हो जायें। यदि य विस्मृत हो जाते थे तो उसके लिए कठोर प्रायश्चित्त का विधान भी छेदसूत्रों म है। यदि कोई भिक्षु या भिक्षुणी इस लिए भूल गया है कि वह अस्वस्थ था रोगी था अथवा दुर्भिक्ष था उसके लिए प्रायश्चित्त का विधान नहीं है। यदि प्रमत्तभाव से उसने इन शास्त्रों को विस्मत कर दिया है तो उस स्थिति म प्रायश्चित्त का विधान है। साधु हो या साध्वी हो यदि इन दो शास्त्रों का उसने विधिवत अध्ययन नहीं किया है तो उसे स्वतन्त्र होकर विहार करने का भी निषेध था। इन दोनों शास्त्रों का परिज्ञाता न होने के कारण उसे आचाय पद उपाध्याय पद एव प्रवतक पद तथा प्रवर्तिनी पद नही दिया जाता था।

साधु जीवन में परिवतन

प्राचीन युग से लेकर आज तक के युग में साधु-जीवन म काफी परिवतन आ चुका है। खान-पान रहन-सहन लेना देना तथा करना-कराना आदि म प्राचीन युग के नियमो का पूरी तरह परिपालन आज नहीं हो पा रहा है। जबकि जन भिक्षुओं

की मन वचन एव काय से हिंसा न करने न करवाने तथा करते हुए का अनुमोदन न करने की प्रतिज्ञा होती है। प्राचीन युग के जैन भिक्षु एव निर्ग्रन्थ इस प्रतिज्ञा का अक्षरश पालन करने का प्रयत्न करते थे। जिस वस्तु की प्राप्ति करने में हिंसा की तनिक भी सभावना रहती थी उस प्रकार की किसी भी वस्तु को वे स्वीकार नहीं करते थे। आचाराग सूत्र एव छेदसूत्रो को देखने से उनकी यह चर्या स्पष्ट मालूम पड जाती है। इस प्रकार अत्यन्त कठोर आचरण के कारण वे श्रमण धर्मरक्षा के नाम पर अपनी चर्या में किसी प्रकार की ढील नहीं रखते थे। जहाँ कहीं हिंसा या परिग्रह की सभावना होती उन प्रवृत्तियो का वे परित्याग कर देते थे। यहाँ तक कि शास्त्र लेखन की प्रवृत्ति को भी उन्होंने स्वीकार नहीं किया। हिंसा एव परिग्रह की सभावना के कारण व्यक्तिगत निर्वाण के अभिलाषी इन निर्ग्रन्थ साधुओ ने शास्त्र-लेखन की प्रवृत्ति की उपेक्षा की। उनकी इस अहिंसापरायणता का उल्लेख बृहत्कल्प नामक छेदसूत्र के भाष्य में स्पष्टतया आज भी उपलब्ध है। उसमें स्पष्ट विधान है कि पुस्तक पास में रखने वाला श्रमण प्रायश्चित्त का भागी होता है। उक्त आगम में बताया गया है कि पुस्तक पास में रखने वाले श्रमण में प्रमत्त दोष उत्पन्न होता है। पुस्तक पास में रहने से स्वाध्याय में प्रमाद की सभावना रहती है। धर्म प्रवचनो को कठस्थ रखकर उनका बार-बार स्मरण करना स्वाध्याय रूप आभ्यन्तर तप कहा गया है। पुस्तकें पास रहने से यह तप मन्द होने लगता है।

भगवान महावीर के निर्वाण के बाद साधु सघ के आचार में शिथिलता आने लगी। उसके विभिन्न सम्प्रदाय बनने लगे। सचेलक एव अचेलक-परम्परा प्रारम्भ हुई। वनवास कम होने लगा। लोक सम्पर्क बढ़ने लगा। साधुजन चैत्यवासी भी होने लगे। चैत्यवास के साथ उनके साधनामय जीवन में परिग्रह प्रविष्ट हुआ। इस समय श्रमणों ने अपनी जीवन चर्या में अनेक अपवाद भी स्वीकार किये। अत उन्हें इस लिखने लिखवाने की प्रवृत्ति का अपवाद भी स्वीकार करना पड़ा। भगवान महावीर के निर्वाण के लगभग १००० वर्ष बाद देवर्धिगणि क्षमाश्रमण ने श्रुत को जब पुस्तक बद्ध एव व्यवस्थित करने का प्रयत्न किया तब उनका घोर विरोध हुआ था। अहिंसा के साधको को यह हिंसा प्रवृत्ति कैसे स्वीकार हो सकती थी। पर आज समस्त साधुजन फिर चाहे वे किसी भी परम्परा के क्यो न हो देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण का गुणोत्कीर्तन ही करते हैं।

पुरातन युग का निर्ग्रन्थ-सघ

पुरातन-युगीन निर्ग्रन्थ-सघ के जीवन पर आचाराग सूत्र में विस्तार के साथ प्रकाश डाला गया है। इतना ही नहीं बल्कि आचाराग सूत्र का समग्र विधान यह प्रमाणित करता है कि साधु-जीवन का मुख्य ध्येय क्या है और उसे क्या करना चाहिए? उस समय के निर्ग्रन्थ आचारसम्पन्न विवेक-सम्पन्न त्यागी तपस्वी और नगर होते थे। उनके जीवन का लक्ष्य जन-सम्पर्क नहीं था एकान्त में रहकर तप-

ध्यान की साधना करना ही था। भगवान् महावीर के समय उत्कृष्ट त्याग तप एव संयम के अनेक जीते-जागते आदर्शों की उपस्थिति में भी कुछ श्रमण तप-त्याग अंगीकार करने के बाद भी उसमें स्थिर दृढ़ एवं कठोर नहीं रह पाते थे। इस प्रकार के अनेक प्रमाण छेदसूत्रों में तथा उनके व्याख्या ग्रंथ नियुक्ति भाष्य एवं चूर्णियों में स्पष्ट रूप में आज भी उपलब्ध हैं। यह एक निश्चित बात है कि निग्रन्थों के उपकरणों की संख्या में निरन्तर धीरे धीरे वृद्धि होती रही है। साधुओं की अपेक्षा साध्वियों के उपकरण और भी अधिक हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि प्राचीन युग से आज तक साधु-जीवन के आचार में आवश्यकता के अनुसार तथा युगानुकूल परिस्थितियों के कारण काफी परिवर्तन होते रहे हैं।

महावीर की परम्परा में श्रुत का महत्त्व

भगवान महावीर ने धर्म के दो भेद बतलाये हैं—श्रुतधर्म और चारित्र धर्म। पाँच ज्ञानों में से एक श्रुतज्ञान है। श्रुतज्ञान का साधक-जीवन में एक महत्त्वपूर्ण स्थान प्राचीन काल से ही रहा है। श्रुतज्ञान के बिना आचार एवं उसका स्वरूप ही नहीं जाना जा सकता। अतः श्रुत धर्म की आराधना के बाद ही चारित्रधर्म की आराधना की जा सकती है। आचारांग सूत्र के दो श्रुतस्कन्धों में से प्रथम श्रुतस्कन्ध में आचार के पाँच भेद प्रतिपादित किये गये हैं—१ ज्ञानाचार २ दर्शनाचार ३ चारित्राचार ४ तपाचार और ५ वीर्याचार। इसके अतिरिक्त अन्य कोई आचार नहीं है। जिनवाणी में प्रतिपादित मूलगुण तथा उत्तरगुण आदि सबका समावेश इन पाँचों में ही हो जाता है। इस पंचविध आचार में भी सर्वप्रथम ज्ञानाचार ही है। ज्ञानाचार को ही आचारांग आदि सूत्रों में मुख्य धर्म कहा गया है। दर्शनाचार ज्ञानाचार से अभिन्न है। वीर्याचार आत्मा की शक्ति का नाम है। शेष रह जाते हैं—दो चारित्राचार और तपाचार। आजकल के अल्पश्रुत महानुभाव इन दो को ही आचार समझ बैठे हैं वास्तव में उनकी यह मान्यता आचार विरुद्ध है। क्योंकि शास्त्रों में स्थान-स्थान पर इस तथ्य का निर्देश है कि ज्ञान के अभाव में जो आचार होता है वह मिथ्याचार है तथा जो तप होता है वह बालतप है। मिथ्याचार एवं बाल-तप मोक्ष के साधन नहीं हो सकते। अतः शास्त्रों में श्रुतधर्म अथवा ज्ञानाचार का महत्त्व सिद्ध हो जाता है। दशवैकालिक सूत्र में भी कहा गया है कि ज्ञान के अभाव में दया अर्थात् चारित्र सम्यक्चारित्र नहीं हो सकता। अतः प्रथम ज्ञान है और फिर दया अर्थात् चारित्र। इसी दशवैकालिक सूत्र में कहा गया है कि अज्ञानी आत्मा संयम को अथवा असंयम को नहीं समझ सकता। पुण्यमार्ग को अथवा पापमार्ग को कल्याण को अथवा अकल्याण को, सुनकर ही जाना जा सकता है। यहाँ पर [illegible] श्रुतधर्म की ही प्रतिपादित की गई है। यही तथ्य [illegible] र तथा निशीथ चूर्णि अर्थ से [illegible]

पूर्व [illegible]

अभाव में एकमात्र आचार प्राप्ति का अन्त भार में कोई सम्भव नहीं है बल्कि उससे दम्भ एवं अहंकार का ही पोषण होगा शुद्धाचार का नहीं।

जैन आचार शास्त्र के ग्रन्थ

जैन आचार का प्रतिपादन करने वाले ग्रन्थ प्राकृत संस्कृत और अपभ्रंश भाषाओं में प्रचुर मात्राओं में लिखे गये हैं। जैन परम्परा के जो आचार ग्रन्थ हैं उनका क्रमिक अध्ययन इस प्रकार से किया जा सकता है—

श्रमणाचार —

अत इस विषय पर प्रस्तुत पुस्तक एक अधिकारिक विशिष्ट ग्रन्थ के रूप में मान्यता प्राप्त कर सकती है इसमें सन्देह नहीं।

इसमें समग्र भारतीय आचार तथा मुस्लिम ईसाई तथा सन्त परम्परा के आचार सम्बन्धी चिन्तन को भी निबद्ध किया गया है। लेखक का दृष्टिकोण विशाल और व्यापक रहा है। अध्ययन भी सर्वतोमुखी है तथा विषय का सचयन एवं सग्रहण काफी श्रम के साथ उदार दृष्टि से किया गया है। इस विषय पर इसके पूर्व भी कुछ पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। डा० मोहनलाल मेहता का 'जैन आचार' तथा सत्य भक्त जी की 'चारित्र मीमांसा' पुस्तक हमारी समाज में बहुत अधिक प्रसिद्ध हो चुकी हैं। किन्तु श्री देवेन्द्र मुनि जी शास्त्री द्वारा लिखित जैन आचार सिद्धांत और स्वरूप' उनसे भिन्न प्रकार की अपने ढग की अनूठी पुस्तक है। इसमें विषय की विविधता विचित्रता तथा व्यापकता अधिक है। अत यह पुस्तक विद्वान लोगों के लिए तथा सामान्य पाठकों के लिए भी बहुत उपयोगी सिद्ध होगी। विशेषत जैन धर्म के जिज्ञासु विद्यार्थी तथा श्रमण-श्रमणी श्रावक श्राविका इससे अच्छा लाभ उठा सकेंगे। लेखक की भाव भाषा और शैली परिमार्जित है। यह पुस्तक पुस्तकालयों में सग्रह करने के योग्य भी है। इसका अध्ययन करके व्यक्ति अपने नैतिक जीवन को भी समुन्नत बना सकता है।

प्रस्तुत पुस्तक पाँच खण्डों में विभक्त है—आचार और विश्लेषण आचार आधार लक्ष्य और विकास क्रम चारित्र विकास और गुण-स्थान व्रत मीमांसा श्रमणाचार श्रावकाचार तथा समाचारी आदि विषयों पर अच्छा प्रकाश डाला गया है। श्रमणाचार पर व्यापक दृष्टिकोण से लेखक ने विचार किया है। पाँच महाव्रत रात्रि भोजन त्याग अष्टप्रवचनमाता षडआवश्यक आदि पर विस्तार से विचार किया है तथा प्राचीन प्रामाणिक ग्रन्थों के आलोक में विषय को स्पष्ट किया गया है।

मेरे विचार में जैन आचार का ऐसा कोई विषय नहीं रहा है जिसमें लेखक ने सक्षेप या विस्तार में न लिखा हो। प्रस्तुत पुस्तक का अध्ययन प्रत्येक श्रावक व श्रमण को करना चाहिए। जैन आचार के साथ-साथ वैदिक आचार और बौद्ध आचार का जो विश्लेषण किया गया है उसने पुस्तक के महत्त्व को और अधिक बढ़ा दिया है। यहूदी ईसाई और पारसी तथा मुस्लिम धर्म का भी सक्षेप में परिचय दिया गया है। इतने विशाल विषय को एक ही ग्रन्थ में प्रस्तुत कर देना लेखक की प्रशसनीय सफलता है। साथ ही इसमें लेखक मुनिश्री की अध्ययनशीलता चिन्तनशीलता और विषय को उचित रूप में प्रस्तुत करने की क्षमता भी स्पष्ट होती है। लेखक ने समाज को यह पुस्तक देकर समाज पर एक बहुत बड़ा स्मरणीय उपकार किया है। जो व्यक्ति संस्कृत और प्राकृत नहीं जानते वे भी इस पुस्तक के माध्यम से भारतीय आचार के मर्म को भली भाँति समझ सकेंगे और जीवन को परिष्कृत कर सकेंगे। शुभ भवतु!

विषयानुक्रमणिका

□□

जैन आचार : सिद्धान्त और स्वरूप

खण्ड १

आचार : विविध दृष्टियाँ

१ आचार : एक विश्लेषण

धर्म का मेरुदण्ड : आचार

व्यक्ति, समाज और राष्ट्र के अभ्युदय का मूल आधार आचार है। आचार के आधार पर विकसित विचार जीवन का नियामक और आदर्श होता है, अत विचार की जन्म भूमि आचार ही है।

अतीत काल मे आचार शब्द बिना किसी विशेषण के भी श्रेष्ठतम आचरण के लिए व्यवहृत हुआ है। शाब्दिक दृष्टि से आचार का अर्थ है—आचर्यते इति आचार जो आचरण किया जाय, वह आचार है। यह सदाचार का द्योतक है। आचार्य मनु[1] आचार्य व्यास[2] प्रभृति विज्ञो ने आचार प्रथमो धर्म कहा है। भगवान महावीर ने द्वादशागी मे आचार को प्रथम स्थान दिया है। श्रुतकेवली भद्रबाहु ने स्पष्ट शब्दो मे कहा है आचार सभी अगो का सार है।[3] महाभारत मे वेदव्यास ने भी यही कहा है कि सभी आगमो मे 'आचार' प्रथम है।[4] ऋषियो ने भी आचार से ही धर्म की उत्पत्ति बताई है— आचार प्रभवो धर्म[5]। आचार्य पाणिनि[6] ने प्रभव का अर्थ 'प्रथम प्रकाशन' किया है। अर्थात आचार ही धर्म का प्रथम प्रकाशन स्थान है। आचार धर्म का मेरुदण्ड है जिसके बिना धर्म टिक नही सकता।

---

१ मनुस्मृति १।२०७

२ महाभारत १ ।१४६

३ अगाण कि सारो ? आयारो !—आचाराग नियुक्ति गा १६

४ सर्वागमानामाचार प्रथम परिकल्पते।

५ हरिभक्ति विलास ।१०

६ प्रभवति प्रथम प्रकाशते वा आचारात। —पाणि० २।३।२९ ५७

१ आचार एक विश्लेषण

धम का मेरुदण्ड आचार

व्यक्ति, समाज और राष्ट्र के अभ्युदय का मूल आधार आचार है। आचार के आधार पर विकसित विचार जीवन का नियामक और आदश होता है, अत विचार की जन्म भूमि आचार ही है।

अतीत काल मे आचार शब्द विना किसी विशेषण के भी श्रेष्ठतम आचरण के लिए व्यवहृत हुआ है। शाब्दिक दृष्टि से आचार का अथ है— आचयते इति आचार जो आचरण किया जाय वह आचार है। यह सदाचार का द्योतक है। आचाय मनु[1] आचाय व्यास[2] प्रभृति विज्ञो ने 'आचार प्रथमो धम' कहा है। भगवान महावीर ने द्वादशांगी म 'आचार' को प्रथम स्थान दिया है। श्रुतकेवली भद्रबाहु ने स्पष्ट शब्दो म कहा है 'आचार सभी अगो का सार है।[3] महाभारत म वेदव्यास ने भी यही कहा है कि सभी आगमो म आचार प्रथम है।[4] ऋषियो ने भी आचार से ही धम की उत्पत्ति बताई है— आचार प्रभवो धम'[5]। आचाय पाणिनि ने प्रभव का अथ 'प्रथम प्रकाशन' किया है। अर्थात आचार ही धम का प्रथम प्रकाशन स्थान है। *आचार धम का मेरुदण्ड है जिसके बिना धम टिक नही सकता।*

---

१ मनुस्मृति १।१०७

२ महाभारत १३।१४६

अगाण कि सारो ? आयारो।—आचाराग निर्युक्ति गा १६

४ सर्वागमानामाचार प्रथम परिकल्प्यते।

५ हरिभक्ति विलास ३।१०

६ प्रभवति प्रथम प्रकाशते वा आचारात। —पाणि० ३।३।१६ ५७

विश्व मे जितने भी प्राणी हैं उन सभी प्राणियो मे मानव श्रेष्ठ है।[1] सभी मानवो मे ज्ञानी श्रेष्ठ है और सभी ज्ञानियो मे आचारज्ञान श्रेष्ठ है। आचार मुक्तिमहल मे प्रवेश करने का भव्यद्वार है।

आचार रहित विचार : कल्चर मोती

आचारहीन मानव को वेद भी पवित्र नही कर सकते। कहा है— आचारहीन न पुनन्ति वेदा[2]। आचाररहित विचार कल्चर मोती के सदृश है जिसकी चमक दमक कृत्रिम है। विचारो की तस्वीर चाहे कितनी भी मन मोहक और चित्ताकर्षक क्यो न हो पर जब तक आचार के फ्रेम मे वह नही मढी जायेगी तब तक जीवन प्रासाद की शोभा नही बनेगी। विचारो की सुन्दर तस्वीर को आचार के फ्रेम मे मढवा दिया जाय तो तस्वीर भी चमक उठेगी और भवन भी खिल उठेगा।

शीशे की आँख स्वय के देखने के लिए नही होती दिखाने के लिए होती है, वैसे ही आचारहीन ज्ञान आत्म दर्शन के लिए नही होता, किन्तु मात्र अहकार के प्रदर्शन के लिए होता है। प्रशसा के गीत गाने मात्र से अमृत किसी को अमर नही बनाता पानी पानी पुकारने से प्यास शान्त नही होती। इसी प्रकार सिर्फ शास्त्रो का ज्ञान बघारने से जीवन मे दिव्यता नही आती।

अमृत पान से अमर बना जाता है पानी पीने से प्यास शान्त होती है आहार करने से क्षुधा मिटती है ताजगी और स्फूर्ति का सचार होता है, वैसे ही शास्त्रीय ज्ञान किंवा सद्गुणो के आचरण से जीवन मे दिव्यता और भव्यता प्रगट होती है। स्मरण रखिए आचारहीन विचार क्रान्ति से विचारो की विशुद्धि नही होती अपितु विकारो की अभिवृद्धि होती है। दूषित वायु के सेवन से स्वास्थ्य की शुद्धि नही होती रोग की वृद्धि होती है। शास्त्रो का गम्भीर अध्ययन करके भी वे लोग मूर्ख रहते है जो शास्त्रो के अनुसार आचरण नही करते। ज्ञान से तत्त्व का स्वरूप समझा जा सकता है

---

१ गुह्यं ब्रह्म तदिदं ब्रवीमि नहि मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किंचित्।

२ (क) महाभारत अनुशासन पर्व १८६।३

(ख) वशिष्ठ धर्मसूत्र ६।३

(ग) देव भागवत ११।२

(घ) कन्यापाना मानवचार ८।३१

पर तत्त्व की उपलब्धि आचरण में ही होती है। आचरण ही ज्ञान को अनुभूति में मंडित करता है।

आचारहीनता से पतन

विराट सम्पत्ति का अधिपति तथा वेद वेदांगों का पारंगत होने पर भी सदाचार रहित होने से रावण 'राक्षस' जैसे घृणापूर्ण सम्बोधन से पुकारा गया। सुयोधन दुर्योधन के रूप में विश्रुत हुआ। आचार का परित्याग करने से बसु राजा होकर भी कसाई कहलाया और दम्भी के रूप में प्रसिद्ध हुआ। जबकि सदाचार को धारण करने से शबरी भीलनी होकर भी भक्त बन गई। वाल्मीकि व्याध से वन्दनीय बन गया। अर्जुनमाली हत्यारे से साधु बन गया।

तप का मूल आचार

आचार की महिमा बताते हुए वैदिक महर्षियों ने कहा—'आचार से विद्या प्राप्त होती है।[1] आयु की अभिवृद्धि होती है, कान्ति और कीर्ति उपलब्ध होती है।[2] ऐसा कौन-सा सद्गुण है जो आचार से प्राप्त न हो। आचार से धर्मरूपी विराट वृक्ष फलता है। आचार से धर्म और धन ये दोनों ही प्राप्त होते हैं। आचार की शुद्धि होने से सत्त्व की शुद्धि होती है, सत्त्व की शुद्धि होने से चित्त एकाग्र बनता है और चित्त एकाग्र होने से साक्षात मुक्ति प्राप्त होती है।[4] सभी प्रकार के तप का मूल आचार है।[5]

आचार और सदाचार

भारतीय साहित्य में प्रारम्भ में आचार शब्द सदाचार का ही द्योतक रहा। बाद में आचार के साथ 'सत्' शब्द का प्रयोग इस तथ्य का प्रमाणित करता है कि जब आचार के नाम पर कुछ गलत प्रवृत्तियाँ पनपने लगी तब

---

१ आचाराल्लभते विद्या।

२ (क) आचाराल्लभते ह्यायुराचाराल्लभते श्रियम।
आचारो लभते कान्ति पुण्य प्रत्य चेह च ॥ —मनुस्मृति ४।१५२

(ख) आचारादायुर्वर्धते कान्तिश्च। —कौटिल्य

३ आचारात् फलते धर्ममाचारात् फलते धनम्।
आचाराच्छ्रियमाप्नोति आचारो हन्त्यलक्षणम् ॥ —महाभारत अनुशासनपर्व

४ आचार शुद्धौ सत्त्व शुद्धि सत्त्व शुद्धौ चित्तैकाग्रता ततः साक्षात्कारः।

५ सर्वस्य तपसो मूलमाचारं जगृहुः परम्। —मनुस्मृति १।१

किया जाता है वह सदाचार है।[1] सदाचार एक ऐसा व्यापक तथा सार्वभौम तत्त्व है जिसे देश, काल की संकीर्ण सीमा आबद्ध नहीं कर सकती। जैसे सहस्ररश्मि सूर्य का चमचमाता हुआ प्रकाश सभी के लिए उपयोगी है वैसे ही सदाचार के मूलभूत नियम सभी के लिए आवश्यक व उपयोगी हैं। कितने ही व्यक्ति अपने कुल, परम्परा से प्राप्त आचार को अत्यधिक महत्त्व देते हैं और समझते हैं कि मैं जो कर रहा हूँ वही सदाचार है पर जो सत् आचरण चाहे वह किसी भी स्रोत से व्यक्त हुआ हो, वह सभी के लिए उपयोगी है।

आचार्य मनु का मन्तव्य है कि साधु का जो आचार है वही हमें आत्म सतुष्टि प्रदान करता है। आत्म-सन्तुष्टि ही सच्चा कर्तव्य है। महाभारतकार[2] का भी यही अभिमत है कि साधुओं का जो आचरण है, वही आचार है। हारित स्मृति[3] में भी कहा है 'वही साधु है जिसके दोष क्षीण हो चुके हैं। दोषों से मुक्त साधु का आचार ही सदाचार है। विष्णपुराण[4] और प्रस्थान त्रयी में भी यही स्वर मुखरित हुआ है। सुष्ठु आचार ही सदाचार है। शास्त्रसम्मत जिस आचरण से मन, वाणी और शरीर सुसंस्कृत बनता है सच्चित रूप परमात्मा की उपलब्धि होती है वह सदाचार है। मीमांसा दर्शनकार ने सदाचार शब्द से ऋषि, मुनि, देवता और मानवों के श्रेष्ठ आचरण को लिया है।

सदाचार दुराचार

सदाचार से व्यक्ति श्रेयस की ओर अग्रसर होता है। सदाचार वह चुम्बक है जिससे अन्यान्य सदगुण स्वतः खिंचे चले आते हैं। दुराचार से व्यक्ति प्रेय की ओर अग्रसर होता है। दुराचार से व्यक्ति के सदगुण उसी तरह नष्ट हो जाते हैं जैसे शीत दाह से कोमल पौधे झुलस जाते है। सदाचारी व्यक्ति यदि दरिद्र भी है तो वह सब के लिए अनुकरणीय है यदि वह दुर्बल

---

१ आचारश्चैव साधूनामात्मनस्तुष्टिरेव च। —मनुस्मृति २।६

२ आचार लक्षणो धर्मः सन्तश्चारित्रलक्षणाः।
साधूनां च यथावृत्तमेतदाचारलक्षणम्॥
—महाभारत अनुशासन पर्व १०४।९

३ साधवः क्षीणदोषा: स्यु सच्छब्दः साधुवाचकः।
तेषामाचरणं यत्तु सदाचारः स उच्यते॥

४ विष्णुपुराण ३।११।३

है तो भी प्रशस्त है क्योंकि वह स्वस्थ है। दुराचारी के पास विराट सम्पत्ति भी है तो भी वह साररहित है।

शोथ से शरीर में स्थूलता आ जाती, शरीर की सुदृढ़ता नहीं कही जा सकती अपितु वह शोथ की स्थूलता शारीरिक दुर्बलता का ही प्रतीक है।[1] सदाचार और सद्गुणों का परस्पर अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। सद्गुणों से सदाचार प्रगट होता है और सदाचार से सद्गुण दृढ़ होते हैं। गगनचुम्बी पर्वतमालाओं से ही निर्झर प्रस्फुटित होते हैं और वे सरस सरिताओं के रूप में प्रवाहित होते हैं वैसे ही उत्कृष्ट सदाचारी के जीवन से ही धर्मरूपी गंगा प्रगट होती है।

जीवन की प्राणशक्ति : सदाचार

सदाचार मानव जीवन का खिला हुआ सहस्र दल कमल है जिसकी सुमधुर सौरभ दिग्दिगन्त में फैलती है और जन जन के मन को मुग्ध करती है। वह जीवन की प्राणशक्ति है। जिन व्यक्तियों के जीवन में आचार का तेज नहीं होता, वे आकाश विद्युत की तरह क्षणिक प्रकाश दिखाकर नष्ट हो जाते हैं, पर जिनके जीवन में आचार की प्रचंड शक्ति है वे ज्योतिस्तंभ की तरह सदा चमकते रहते हैं। उनके विचारों में अपूर्व शक्ति होती है। सदाचारी जो भी कार्य करता है सफलता देवी उसके चरण चूमने के लिए सतत लालायित रहती है। वह अपने निर्मल आचार के बल पर इतिहास की धारा को बदल देता है। यदि मन में सदाचार के प्रति गहरी निष्ठा नहीं है तो व्यक्ति सदाचार का अभिनय कर सकता है पर सदाचारी नहीं बन सकता। सदाचार के अभाव में पवित्रता की आशा करना वैसे ही है जैसे जल के अभाव में शीतलता की आशा करना। जिन विचारों को आचार रस का पोषण नहीं मिलता, वे विचार गुलदस्ते के खिले हुए फूल के समान हैं भले ही वे मन मोहक हों उनकी सौरभ मादक हो पर उन फूलों का सम्बन्ध टहनी से टूट चुका है, पृथ्वी से पोषण बन्द हो चुका है इसलिए कुछ समय तक भले हो चमकें किन्तु पोषण के अभाव में शीघ्र ही मुरझा जायेंगे।

---

१ वरं विभववन्ध्यता सुजनभावभाजां नृणां—
असाधुचरिताजिता न पुनरूर्जिताः सम्पदः।
कृशत्वमपि शोभते सहजमायतौ सुन्दरं
विपाकविरसा न तु श्वयथुसम्भवा स्थूलता॥

—सूक्तिमुक्तावली : आचार्य सोमप्रभसूरि

सदाचार और सच्चरित्र

सदाचार और चरित्र ये दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। एक ही धातु खण्ड के दो टुकड़े हैं, एक ही भाव के दो रूप है। आचार्य शंकर ने शील और सदाचार का अभेद माना है। सदाचार मानव जीवन की श्रेष्ठ पूंजी है। अन्तर आत्मा है। वह श्रेष्ठतम गंध है जो जन-जीवन को सुगंध प्रदान करती है। इसीलिए धम्मपद में शील को सर्वश्रेष्ठ गंध कहा है।[1] रामचरितमानस में शील को पताका के समान कहा है।[2] पताका सदा सर्वदा उच्चतम स्थान पर अवस्थित होकर फहराती है वैसे ही सदाचार भी पताका है, जो अपनी स्वच्छता निर्मलता और पवित्रता के आधार पर फहराती रहती है।

चरित्र को अंग्रेजी में करेक्टर (Character) कहते हैं। मनुष्य का बर्ताव व्यवहार, रहन सहन, जीवन के नैतिक मानदण्ड व आदर्श ये सब करेक्टर या चरित्र के अन्तर्गत आ जाते हैं। इन्हीं सबका संयुक्त रूप जो स्वयं व समाज के समक्ष व्यक्त होता है, वह आचार या सदाचार है। इसलिए सदाचार व सच्चरित्रता को हम अभिन्न भी कह सकते हैं तथा एक दूसरे के सम्पूरक भी।

आचारसम्पन्न व्यक्ति का जीवन एक तेजस्वी जीवन होता है। यदि कोई आचाररहित होकर विद्वान भी है तो उसका कुछ भी अर्थ नहीं है। समग्र शास्त्रों का परिशीलन करने पर भी यदि आचार विशुद्ध नहीं बना है तो जीवन में उसका कुछ भी मूल्य नहीं है।

आचार और नीति

आचार के अर्थ में ही पाश्चात्य मनीषियों ने 'नीति' शब्द का प्रयोग किया है। आचारशास्त्र को उन्होंने नीतिशास्त्र कहा है। नैतिकता के अभाव में मानव पशु से भी गया गुजरा हो जाता है। मानव का क्या कर्तव्य है और क्या अकर्तव्य है इसका निर्णय नीति के आधार से किया जा सकता है। जो नियम नीतिशास्त्र की कसौटी पर खरे उतरते हैं वे उपादेय हैं ग्राह्य हैं और जो नियम नीतिशास्त्र की दृष्टि से अनुचित हैं वे अनुपादेय हैं और अग्राह्य हैं। मानव जिस समाज में जन्म लेता है उस समाज में जो

---

१ सीलगन्धो अनुत्तरो। —धम्मपद ४।१२

२ सौरज धीरज तेहि रथ चाका। सत्य सील दृढ़ ध्वजा पताका।

—रामचरितमानस ६।८०।३

और उत्कृष्ट आचार का प्रतिपादन करता है। [illegible] आचार और विचार [illegible] है। [illegible] में पूर्वमीमांसा आचारप्रधान है [illegible] विचारप्रधान है। योग आचार का [illegible] है [illegible] है। और [illegible] में हीनयान आचार [illegible] विचार प्रधान रहा।

जैन [illegible] आचार [illegible] आचार और विचार [illegible] पर तोलता रहा है। जिस प्रकार [illegible] ही व्यवहार [illegible] उपयोगिता [illegible] है। [illegible] दर्शन देता है तो व्यवहार [illegible] उसे आचरण [illegible] उपयोगी बनाता है। भगवान महावीर ने जहाँ आचारमूलक अहिंसा की आराधना व साधना के लिए श्रावक के बारह व्रत और श्रमण के लिए पाँच महाव्रत, समिति गुप्ति का विधान किया है। वहीं पर [illegible] सत्य की समग्रता के लिए अनेकान्त दृष्टि दी। अहिंसामूलक आचार और अनेकान्तमूलक विचार का प्रतिपादन साथ साथ हुआ है। आचार और विचार, श्रद्धा और मेधा के साथ साथ रहने में किसी तरह का न विरोध है और न किसी प्रकार की विसंगति ही है।

जैन परम्परा में जितना महत्त्व आचार को मिला है उतना ही महत्त्व विचार को मिला है। यही कारण है कि आचार की अपेक्षा जैन परम्परा धर्म है और विचार की अपेक्षा दर्शन है। जैन परम्परा का जितना भी व्यवहार पक्ष है उसका आधार अहिंसा है और जितना भी विचार पक्ष है—उसका आधार अनेकान्त है। अहिंसा और अनेकान्त का मानव जीवन के धरातल पर जब तक समुचित विकास नहीं होगा तब तक आचार और विचार उसके जीवन में किसी भी प्रकार का परिवर्तन करने में सक्षम नहीं हो सकते।

भारत के अनेक दार्शनिक ईश्वर को जगतकर्ता तथा सुख दु:ख फल प्रदाता मानते हैं किन्तु इस सिद्धान्त के आधार पर कार्य व्यवस्था, आचार व नीति के नियम स्थिर नहीं रह सकते। क्योंकि व्यक्ति सोचता है, मैं कैसे भी कर्म करूँ, अन्त में ईश्वर भक्ति, प्रभु उपासना करके उनसे मुक्त हो जाऊँगा। ईश्वर मेरे समस्त अपराधों को क्षमा कर देगा। इस धारणा से मनुष्य के भावों में पराश्रितता स्वेच्छाचारिता स्वच्छन्दता तथा कर्म फल के प्रति अविश्वास पैदा होता है। समाज व्यवस्था में भी शिथिलता आती है तथा

प्रतिनिष्ठाएँ लड़खड़ाने लगती है और व्यक्ति भले-बुरे कर्म की जिम्मेदारी से स्वयं मुक्त रहकर ईश्वर को उत्तरदायी ठहरा देता है।

जैन दर्शन ईश्वर को परम आत्मा के रूप में स्वीकार करके भी व्यक्ति को उसके हाथ की कठपुतली नहीं मानता बल्कि सुख-दुःख भला बुरा का कर्ता आत्मा को ही मानकर[1] व्यक्ति को स्वयं उत्तरदायी ठहराता है। अपने प्रति उत्तरदायित्व की भावना का विकास तथा तथा जैसा कार्य वैसा फल[2] का सिद्धान्त—व्यक्ति को कर्म करने से पहले उसके फल की ओर सोचने को बाध्य करता है और जब व्यक्ति का यह विश्वास होता है कि मैं जैसा कार्य करूँगा उसका वैसा ही परिणाम मुझे स्वयं भुगतना पड़ेगा[3] तो वह धर्म नीति, राज्य के नियम एवं मर्यादाओं के प्रति निष्ठावान, उत्तरदायी और जागरूक होकर चलता है। जैनधर्म का कर्म सिद्धान्त आचार शास्त्र का मूल आधार है। क्योंकि जब व्यक्ति के मन में असत् आचरण का परिणाम—कर्मफल के रूप में उसे अवश्यमेव भुगतना पड़ेगा तब वह ऐसा कर्म नहीं करना चाहेगा, जिसका परिणाम दुःख यातना संत्रास एवं जन्म मरण रूप हो। वह वही आचरण करना चाहेगा, जिससे उसे इस जीवन में सुख वैभव यश, प्रतिष्ठा संतोष शान्ति और मन प्रसन्नता प्राप्त हो, तथा उसका परलोक भी सुखमय निराबाध हो, और आचार के अंतिम फलरूप निर्वाण का परम सुख भी प्राप्त हो।

आचारशास्त्र का आधार कर्म सिद्धान्त

भारतीय आचार शास्त्र का आधार है—कर्म सिद्धान्त जिस आचरण से कर्म-परम्पराएँ नष्ट होती हों, वह आचार आदर्श आचार माना गया है। विभिन्न आचार ग्रन्थों में जो विधि और निषेध के नियम है। उसका मूल आधार कर्मसिद्धान्त ही है। भले ही प्रत्येक दर्शन ने कर्मसिद्धान्त को विभिन्न शब्दावली से व्यक्त किया हो पर सभी का तात्पर्य वही है। किसी ने उसे माया किसी ने अविद्या, किसी ने प्रकृति, किसी ने अपूर्व किसी ने वासना किसी ने आशय किसी ने अदृष्ट और किसी ने संस्कार कहा है। षडदर्शन में एक चार्वाक दर्शन को छोड़कर शेष सभी दर्शनों ने कर्म को स्वीकार किया है। जैसा कि पीछे कहा गया है—ईश्वरवादी दर्शनों का यह अभिमत

---

१ अप्पा कत्ता विकत्ता य दुहाण य सुहाण य।—उत्तराध्ययन २०।३७

२ जहा कडं कम्म तहासि भारे।—सूत्रकृतांग ५।१।२६

३ स्वयं कर्म करोत्यात्मा स्वयं तत्फलमश्नुते।

२ वैदिक धर्म की आचार दृष्टि

जैन धर्म एकान्त निवृत्तिप्रधान होने से उसमें निवृत्तिपरक आचार संहिता का निरूपण हुआ है। श्रावकधर्म और श्रमणधर्म की जो चर्चा है उसमें निवृत्ति का ही स्वर प्रमुख है। गृहस्थ आचार संहिता में भी जो आध्यात्मिक दृष्टि से उत्कर्ष करने वाले नियम व मर्यादाएँ हैं, उन्हीं का मुख्यतः उनमें निरूपण है पर वैदिक परम्परा प्रवृत्तिप्रधान थी, इसलिए उसमें प्रवृत्तिपरक सम्पूर्ण आचार संहिता का विश्लेषण मिलता है। वेद, धर्मसूत्र, स्मृतियाँ आदि ग्रन्थों में विस्तार के साथ एक एक पहलू पर चिन्तन हुआ है। हम यहाँ पर उतने विस्तार में न जाकर संक्षेप में ही उन सभी प्रमुख पहलुओं पर चिन्तन प्रस्तुत करेंगे जिससे कि यह परिज्ञात हो सके कि वैदिक आचार संहिता किस रूप में थी। यह पूर्ण सत्य है कि वैदिक परम्परा की आचार-संहिता में भी समय-समय पर परिवर्तन होता रहा है। कितनी ही बातें ऐसी हैं जिनके सम्बन्ध में वेद मौन हैं पर वेद के पश्चात जो साहित्य सृजन हुआ है उसमें उसका विधान है। कितने ही वैदिककालीन नियम कलिकाल में मानवों के लिए वर्ज्य मान गये और उनके स्थान पर नये नियम निर्माण किये गये। अतः सभी नियमों को वेदकालीन ही मानना सत्य का अपलाप होगा। देश कालानुसार उनमें परिवर्तन-परिवर्धन होते रहे हैं। इस तरह वैदिक साहित्य में आचार का विकास होता रहा है।

वर्ण व्यवस्था

वर्ण के सम्बन्ध में वैदिक साहित्य में अत्यन्त विस्तारपूर्वक वर्णन प्राप्त होता है। ऋग्वेद में[1] वर्ण का अर्थ रंग और प्रकाश भी लिया है

---

१ ऋग्वेद १।७३।७ ,१।९२।१ ; ६।६५।१ ; ९।१०४।४ ; ९।१०५।४ ; १०।१२४।७ ; २।१।१२ ; ३।३४।५ ; १।१७९।६

ऐसा देवता है जिसे हम प्रत्यक्ष देख सकते हैं। शतपथ ब्राह्मण[1] अथववेद म[2] भी उसे श्रेष्ठ कहा गया है। क्षत्रिय का भी गौरवपूण स्थान है। ऋग्वेद म क्षत्रियों के लिए राजन[3] शब्द का प्रयोग हुआ है जिस अथ "महान" "प्रमुख 'राजा' और 'बडा' है। जब उसका राज्याभि होता तो[4] वह सबका अधिपति ब्राह्मण और धम की रक्षा करने वा माना गया है। शतपथ ब्राह्मण[5] म कहीं कहीं पर क्षत्रिय को उत्तम है ता अथववद[6] मे ब्राह्मण का सर्वोच्च कहा है।

वश्य का महत्त्व रहा है किन्तु ब्राह्मण और क्षत्रियों की भ नहीं। तत्तिरीय संहिता[7] मे लिखा है—मनुष्यो म वश्य और पशुओ म ग अन्य लोगो के उपयोग म आती है।' वश्यो की संख्या ब्राह्मण और क्षत्रिय अधिक[8] थी। वे पशुपालन करते थे, कभी यन भी कर लेते थे व ब्राह्मण व क्षत्रियो की आज्ञा का पालन करते थे।

शूद्र का स्थान इन तीनो वर्णों स निम्न माना गया है। शूद्रो नाई[9] बढई[10] वद्य[11] लुहार[12] चमार[13] रथकार[14] कर्मार[15] सूत क्षता[16] संग्रहिता कुलाल कुम्हार पुजिष्ट, निषाद इषुकल प्रवत्र मृगयु (शिकारी) भाट, मागध ये नाम व्यवसाय के प्रतीक हैं।

---

१ शतपथ ब्राह्मण ११।५।७।१
२ अथववेद ४।१९।७।१६
३ ऋग्वेद १०।२२।१ १०।८७।६
४ ऐतरेय ब्राह्मण ८।३६।
५ शतपथ ब्राह्मण ५।४।४।१५
६ अथववेद ५।१८।४ ५।१९।३
७ तत्तिरीय संहिता ७।१।१।५
८ ऐतरेय ब्राह्मण २।५।२
९ ऋग्वेद १ ।१४२।८
१० ऋग्वेद १।६१।४ ८। २।२० ९।११२।१ १०।११९।५
११ ऋग्वेद ९।११२।१
१२ ऋग्वेद १०।७२।२
१३ ऋग्वेद ८।५। ८
१४ अथववेद ३।५।६
१५ अथववेद ३।५।६
१६ अथववेद ३।५।७
१७ तत्तिरीय संहिता ४।५।४।२

अजातशत्रु से, श्वेतकेतु आरुणेय ने[१] प्रवाहण जवली से, पञ्चब्राह्मणों ने[२] केकय राज अश्वपति से ज्ञान प्राप्त किया था। वैदिक ग्रन्थों में वैश्यों ने वेदाध्ययन किया हो इस प्रकार की सूचना प्राप्त नहीं होती। यद्यपि वैश्यों के लिए भी वेदाध्ययन करना अत्यधिक आवश्यक माना गया था।

शूद्रों के अध्ययन के लिए कोई व्यवस्था नहीं थी। वह तो उच्च वर्णों की सेवा करके अपनी आजीविका चलाते थे। वह चित्रकारी, नृत्य संगीत, वेणु वीणा, ढोलक, मृदंग आदि वाद्ययन्त्रों का उपयोग करना आदि कलाओं का स्वतः अध्ययन करते थे। मनु आदि ने शूद्रों को धनसंचय करने के लिए भी निषेध किया है क्योंकि उससे ब्राह्मणों को कष्ट हो सकता है।[३]

ऋग्वेद से यह ज्ञात होता है कि उस युग में शिक्षा पद्धति मौखिक थी। ब्राह्मण ग्रन्थों के काल से लेकर धर्मशास्त्र-काल तक ब्राह्मणों के हाथ में वेदाध्ययन का कार्य था। ब्राह्मण को गुरु का गौरवपूर्ण पद प्राप्त था। वह कलंकरहित पवित्र व्यक्ति से दान भी ग्रहण करता था। ब्राह्मण का जीवन एक आदर्श जीवन था। वह 'सादा जीवन और उच्च विचार' रखने वाला विशिष्ट संस्कारी वृत्ति वाला था। वह किसी को कष्ट न देकर इतना ही धन प्राप्त करता था जिससे कुटुम्ब का भरण पोषण हो सके।

याज्ञवल्क्य,[४] मनु[५] व्यास[६] आदि के ग्रन्थों में ब्राह्मणों को पूर्ण रूप से मार्गीमय जीवन व्यतीत करने की प्रेरणा दी है और उसे सदा धन संग्रह से दूर रहने के लिए आदेश किया है।

अध्ययन अध्यापन के अतिरिक्त ब्राह्मण का सेनापति के रूप में भी

---

१ छान्दोग्य उप० ५।३
२ छान्दोग्य उप० ५
३ मिताक्षरा—याज्ञ० १।१२०
४ याज्ञवल्क्य १।१२९
५ मनु० ४।१२ १५ १७
६ महाभारत अनुशासन पर्व ६१।१९

उल्लेख मिलता है। आपस्तंब[1] गौतम[2] बोधायन,[3] वसिष्ठ,[4] और मनु[5] ने भी इसका उल्लेख किया है। महाभारत[6] में द्रोणाचार्य, अश्वत्थामा, कृपाचार्य श्रेष्ठ योद्धा थे। शल्यपर्व के अनुसार राजा की आज्ञा से ब्राह्मण को युद्ध करना चाहिए। ब्राह्मण अन्नाभाव में खेती आदि भी करता था।[8] वृद्ध हारीत[9] ने कृषि कर्म सभी वर्णों के लिए उचित माना है।

ब्राह्मण आपत्ति के समय वाणिज्य भी कर सकता था किन्तु वस्तु विक्रय के सम्बन्ध में उस पर अनेक नियन्त्रण थे।

गौतम धर्मसूत्र[10] के अनुसार उसके लिए सुगन्धित चन्दन आदि तेल, घृत प्रभृति पदार्थ, पका हुआ भोजन, तिल, पटसन से निर्मित वस्तुएँ, क्षौम सन से बने हुए वस्त्र, मृगचर्म, रंगीन वस्त्र, दूध आदि से बनाई हुई वस्तुएँ, कन्द मूल फल, पुष्प, मद्य मांस, घास, जल, विषैली औषधियाँ (अफीम आदि) पशु मानव (दास दासी के रूप में) वन्ध्या गायें, बछवा बछिया, तम्बाकू, गाय आदि को बेचने का निषेध है।

आपस्तंब[11] बोधायन[12] वसिष्ठ धर्मसूत्र,[13] मनुस्मृति[14] में भी लम्बी सूचियाँ मिलती हैं।

याज्ञवल्क्य[15] मनु[16] विष्णु,[17] प्रभृति ने वर्जित वस्तुओं के बेचने के

---

१ आपस्तंब० १।१०।३।८।७
२ गौतम० ७।६
३ बौधायन० २।२।८०
४ वसिष्ठ० ३।२४
५ मनुस्मृति ८।३४८ ३४९
६ महाभारत
७ महाभारत शल्यपर्व ८५।८२
८ बौधायन धर्मसूत्र १।५।१ १ २।४।८२ ८३
९ हारीतस्मृति ७।१७६ १८२
१० गौतम धर्मसूत्र ७।८ २४
११ आपस्तंब० १।७।२०।१२ १३
१२ बोधायन० २।१।७६ ७८
१३ वसिष्ठ धर्मसूत्र । ४२९
१४ मनुस्मृति १०।८४
१५ याज्ञवल्क्य ३।४०
१६ मनु० ११। २
१७ विष्णु० ५४।१८

लिए प्रायश्चित्त का भी उल्लेख किया है। वर्जित वस्तुओं का विनिमय करना भी वर्जित माना गया।[1] अत्रि[2] ने ब्राह्मणों के दस प्रकार बताये है। अपरार्क ने[3] देवल को उद्धृत करते हुए ब्राह्मणों के आठ प्रकार बताये हैं। शातातप[4] ने ब्राह्मणों के छ प्रकार बताये हैं। अनुशासन पर्व में[5] भी अनेक प्रकार बताये हैं। स्मृति शास्त्र के अनुसार जो ब्राह्मण ब्राह्मणसदृश आचरण नहीं करता है, वह शूद्र है। ब्राह्मण को प्रात और सायं के समय सन्ध्या करनी चाहिए। ब्राह्मण स्वयं कर्त्तव्यनिष्ठ था और अन्य वर्णों के कर्त्तव्य का निर्धारण करता, उन्हें सही आचरण करने के लिए प्रेरणा देता, राजाओं को भी पथ प्रदर्शन आदि करता था। उनके बताये हुए विधान के अनुसार राजा शासन करता था। यह बात वसिष्ठ[6] काठकसंहिता[8] तैत्तिरीय ब्राह्मण[10] एतरेय ब्राह्मण[11] आदि में पायी जाती है। यूनान के महान दार्शनिक प्लेटो ने दार्शनिकों को ही जो सद्गुण सम्पन्न हैं उन्हें राजनीतिज्ञों व विधाताओं के लिए उपयुक्त माना है। प्लेटो ने सर्वोत्तम व्यक्तियों द्वारा निर्मित शासन "अरिस्टोक्रेसी" को आदर्श शासन माना है।

धर्मशास्त्रों के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि ब्राह्मणों को हर प्रकार से छूट दी जाती थी। उसे ब्रह्मसम और देवसम मानते रहे। इसलिए उसके द्वारा अपराध होने पर भी दण्ड विधान में उतनी कठोरता नहीं[12] रखी गई जितनी कि अन्य वर्णों के साथ रखी गयी है। ब्राह्मणों को जितना गौरव मिला है उतना ही अधिक अपमान शूद्रों का किया जाता

---

१ आपस्तम्ब १।७।२०।१४ १४

२ अत्रिस्मृति २७ ३८४

३ अपरार्क—ज्ञानरत्नाकर म भा उद्धृत-वद्यानसंग्रह १।१

४ शातातप० एतरेय ब्राह्मण २।५ का भाष्य

५ महाभारत अनुशासनपर्व ३२।११

६ (क) बौधायन धर्मसूत्र २।४।२० (ख) वसिष्ठ धर्मसूत्र ३।१ २
(ग) मनु० २।१२८ ८।१०२ १०।९२ (घ) पाराशर० ८।२४

७ बौधायन धर्मसूत्र २।४।२

८ (क) वसिष्ठ० १।३६ ४१ (ख) मनु० ७।२३ १०।२

९ काठकसंहिता ६।१६

१० तैत्तिरीय ब्राह्मण २।२।१

११ ऐतरेय ब्राह्मण ३।७।५

१२ गौतम १२ १३

योग्यता प्रदान करती है। 'वीरमित्रोदय' के अनुसार संस्कार एक विलक्षण योग्यता है जो शास्त्रविहित क्रियाओं से उत्पन्न होती है। वर्णों की भाँति संस्कारों के सम्बन्ध में भी बहुत ही विस्तार में विवेचन किया गया गया है। संस्कारों की संख्या के सम्बन्ध में भी स्मृतियों में मतभेद मिलता है। गौतम[1] ने चालीस संस्कारों का वर्णन किया है, वैखानस ने अठारह शारीरिक संस्कारों के नाम गिनाये हैं। अंगिरा ने पच्चीस संस्कार गिनाये हैं। व्यास[2] ने सोलह संस्कार बताये हैं। मनु, याज्ञवल्क्य, विष्णु धर्मसूत्र में संख्या का निर्देश नहीं है। किन्तु इनमें मुख्य रूप से सोलह प्रमुख संस्कार बताये गये हैं—गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, विष्णुबलि, जातकर्म, नामकरण, निष्क्रमण, अन्नप्राशन, चौल, उपनयन, वेदव्रत चतुष्टय, समावर्तन और विवाह। स्मृतिचन्द्रिका के अनुसार १६ संस्कार इस प्रकार हैं—'गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्त, जातकर्म, नामकरण, अन्नप्राशन, चौल, उपनयन, चार व्रत, गोदान, समावर्तन, विवाह एवं अन्त्येष्टि।

जातकर्म से लेकर चूडाकर्म के संस्कारों में तीन्य द्विजातियों के पुरुषों के लिए वैदिक मन्त्र से करने का विधान है। किन्तु महिला वर्ग के लिए बिना वैदिक मन्त्रों के करने का उल्लेख है। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य—इन वर्णों की महिलाओं के विवाह में वैदिक मन्त्रों का प्रयोग होता है।[3] द्विजातियों में गर्भाधान से लेकर उपनयन तक के संस्कार अनिवार्य माने गये, किन्तु समावर्तन स्नान व विवाह के संस्कार अनिवार्य नहीं है। क्योंकि छात्र सीधा संन्यासी भी हो सकता है। शूद्रों के लिए संस्कारों का वर्णन नहीं है। वे बिना वैदिक मन्त्रों के गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, जातकर्म, नामकरण, निष्क्रमण, अन्नप्राशन, चौल, कर्णवेध और विवाह संस्कार कर सकते हैं—ऐसा व्यास का मत है।

अपरार्क[4] की दृष्टि में गर्भाधान से लेकर चौल तक के आठ संस्कार सभी वर्ण वाले कर सकते हैं। ब्रह्मपुराण के अनुसार शूद्र केवल विवाह

---

१ गौतम० ८।१४-२४

२ व्यास० १।१३-१५

३ (क) आश्वलायन गृह्यसूत्र १।१५।१२, १।१६।६, १।१७।१८ (ख) मनु० २।६६ (ग) याज्ञवल्क्य १।१३

४ (क) मनु २।६७ (ख) याज्ञवल्क्य० १।१५

५ याज्ञवल्क्य स्मृति १।११-१२

वैदिक साहित्य के परिशीलन से यह भी पता लगता है कि उस समय नारी की स्थिति अच्छी भी थी और बुरी भी। वहीं पर नारी की गरिमा के गीत गाये गये हैं। बौधायन धर्मसूत्र[1] मनु[2] याज्ञवल्क्य,[3] वशिष्ठ[4] धर्मसूत्र अत्रि[5] महाभारत[6] मार्कण्डेयपुराण[7] कामसूत्र[8] आदि में नारी का महत्त्व प्रतिपादित किया गया है तो वहाँ पर उसके विरोध में उसके दुर्गुणों को प्रकट करने के लिए स्वर बुलन्द किये हैं। मैत्रायणी संहिता[9] में स्त्री को झूठ का अवतार कहा गया है। ऋग्वेद में[10] बताया है नारी का मन दुर्दमनीय है। ऋग्वेद और शतपथ ब्राह्मण[11] में स्पष्ट कहा है स्त्रियों के साथ मित्रता नहीं करनी चाहिए क्योंकि उनका हृदय भेड़िया की तरह कठोर व धोखेबाज होता है। शतपथ ब्राह्मण[12] के अनुसार स्त्री शूद्र कुत्ता और कौआ में असत्य पाप और अंधकार रहता है। इन वर्णनों से यह स्पष्ट है कि स्त्रियों को निम्न दृष्टि से देखा जाता था।

महाभारत[13] मनुस्मृति[14] और अन्य स्मृतियों में भी स्त्रियों पर अनेक लांछन लगाये गये हैं और उनकी भरपूर निन्दा भी की है कि वे धर्मभ्रष्ट हो चुकी हैं। इन सभी से नारी के प्रति सहज आक्रोश भावना व्यक्त होती है। वस्तुतः नारी की निन्दा का जो चित्रण किया गया है वह एकांगी है। पुरुष भी वासना का दास हो सकता है। चाहे पुरुष हो, चाहे नारी

१ बौधायन धर्मसूत्र २।२। ६४
२ मनु ।५५ २
३ याज्ञवल्क्य १।७१ ७४ ७८ ८५
४ वशिष्ठ ८।१९
५ अत्रि १४ १४१ १६ १६८
६ (क) महाभारत आदिपर्व ७४।१४० १५२
(ख) अनुशासन पर्व ४० (ग) शान्तिपर्व १४४ १२ १३
७ मार्कण्डेय पुराण १। ६ ७१
८ कामसूत्र ।
९ मैत्रायणी संहिता १।१०।११
१० ऋग्वेद ८।३३।१७
११ शतपथ ब्राह्मण ११।५।१।६
१२ शतपथ ब्राह्मण १४।१।१। १
१३ महाभारत—अनुशासन पर्व १९। ।१ ९४
१४ मनुस्मृति ९।१४ १५

हा, वासनाए दोनो की दुवलता रही हैं। अत हमारी दृष्टि मे उस दुवलता का कवल नारी पर ही थोपना सवथा अनुचित है।

आह्निक

वदिक महर्षियो ने दनिक जीवन के कायक्रम को व्यवस्थित रूप स प्रस्तुत करते हुए कहा है कि ब्राह्ममुहूत मे उठना चाहिए। यदि ब्रह्मचारी सूर्योदय के पश्चात उठता है तो उस दिन उसे निराहार रहकर गायत्री का जप करना चाहिए तभी वह उस दोष स मुक्त हो सकता है। उठ करक भगवान का स्मरण करना चाहिए। उसके पश्चात मल मूत्र विसजन और उसकी शुद्धि उसके पश्चात शरीर व मन, वाणी का शुद्धीकरण आचमन, (कुल्ला) दन्तधावन, स्नान तपण (सन्ध्या), वस्त्रधारण तिलकधारण होम जप, मगल दशन अमगल वजन आदि का निरूपण किया गया है।

पच महायज्ञ

द्विज के लिए पच महायज्ञो का विधान है। शतपथ ब्राह्मण[1] म भतयज्ञ मनुष्ययज्ञ पितृयज्ञ देवयज्ञ और ब्रह्मयज्ञ का उल्लेख किया है। तत्तिरीयारण्यक[2] के क्रम म भेद है।

भतयज्ञ मे जावो को अन्न प्रदान किया जाता है। मनुष्ययज्ञ म अतिथि को देव मानकर सत्कार किया जाता है। पितृयज्ञ म पितरो को तपण दिया जाता है। दवयज्ञ म अग्नि म आहुति दी जाती है और ब्रह्मयज्ञ म वेदो का अध्ययन अध्यापन निहित है।

इन पच महायज्ञो क सम्बन्ध म भी अत्यधिक विस्तार के साथ चिन्तन किया गया है।

भोजन

वदिक धमशास्त्रो म भोजन सम्बन्धी भी अनक नियम और उपनियम बनाये ह। प्रत्यक गृहस्थ अपन सामथ्य क अनुसार दवो पितरो मानवो और कीट पतगो को भोजन कराने के बाद अवशेष भोजन करे।[3] तत्तिरीय ब्राह्मण[4] एव शतपथ ब्राह्मण[5] के अनुसार भोजन दो बार किया जाता था

---

१ शतपथ ब्राह्मण ११।५।६।१

२ तत्तिरीयारण्यक ११।१०

३ (क) दक्ष० २।५६ एवं ६८ (ख) अपरार्क पृ० १८

४ तत्तिरीय ब्राह्मण १।४।६

५ शतपथ ब्राह्मण २।४।२।६

का जितना आवश्यक हो उतना ही खाना चाहिए। गृहस्थ के लिए कितनी बार भोजन करना, ऐसा कोई निश्चित नियम नहीं था।[1]

अनेक ग्रन्थों में लहसुन, पलाण्डु, पौधों की कोमल पत्तियाँ आदि के खाने का निषेध किया गया है।[2] कन्द मूल का प्रयोग वैदिक परम्परा में संन्यासी भी करते रहे हैं। किन्तु यह स्मरण रखना चाहिए कि प्याज, लहसुन आदि उनके लिए भी वर्ज्य है।

दान

वैदिक परम्परा के ग्रन्थों में बताया है कि यतियों का धर्म है 'शम', वानप्रस्थों का धर्म साधारण रूप से भोजन त्यागना, गृहस्थों का दान देना और ब्रह्मचारियों का सेवा करना तथा आज्ञा पालन करना है। दान में गोदान का अत्यधिक महत्त्व रहा है और उस दान को देने वाला स्वर्ग में उच्च स्थान प्राप्त करता है।[3] तैत्तिरीय संहिता[4] में लिखा है जब व्यक्ति अपने सर्वस्व का दान करता है तो वह भी एक प्रकार की तपस्या है। बृहदारण्यकोपनिषद्[5] के अनुसार तीन गुण हैं—दम, दान और दया। महाभारत के सभी पर्वों में दान के संकेत मिलते हैं। अनुशासनपर्व[6] में विशद रूप से दान की चर्चा है। अग्निपुराण[7] मत्स्यपुराण,[8] वराहपुराण[9] में दान के विषय में विस्तार से चर्चा है।

दक्ष[10] ने लिखा है—माता, पिता गुरु मित्र चरित्रवान व्यक्ति उपकारी दीन असहाय और विशिष्ट गुण वाले व्यक्ति को दान देने से पुण्य होता है। पात्र अपात्र के सम्बन्ध में भी चर्चा की गई है।

---

१ (क) आपस्तम्ब २।८।१९।२ (ख) जैमिनी० ५।१।०

२ (क) आपस्तम्ब० १।५।१७।२५ (ख) गौतम १७।३
(ग) वसिष्ठ० १४।१० (घ) मनु ५।५

३ ऋग्वेद १।१०७।२।७

४ तैत्तिरीय संहिता ६।१।६।३

५ बृहदारण्यकोपनिषद् ५।२।३

६ अनुशासनपर्व दानधर्म

७ अग्निपुराण अ० २१५ और २१७

८ मत्स्यपुराण अ० ८२-९१

९ वराह पुराण ९९-१०२

१० दक्ष ३।१७-१८

वानप्रस्थ को असाध्य रोग होने पर अपनी मृत्यु सन्निकट समझकर वह उत्तर या पूर्वाभिमुख होकर प्रस्थान करे। उसे केवल जल और वायु ही ग्रहण करनी चाहिए। उसे वहाँ तक चलते रहना चाहिए जब तक गिर न पड़े।[1] बौधायन[2] और वृहत् पाराशर ने[3] वानप्रस्थों के अनेक प्रकार बताये हैं।

यों धर्मशास्त्र में आत्महत्या को महापाप माना है। पाराशर स्मृति[4] में स्पष्ट निर्देश है कि जो नारी या पुरुष अभिमान, क्रोध, क्लेश तथा भय के कारण आत्महत्या करता है तो वह साठ हजार वर्ष तक नरकवास करता है। अग्नि पर्व[5] में कहा है आत्महत्या करने वाला कल्याणप्रद लोकों में नहीं जा सकता। किन्तु व्रत उपवास के द्वारा व पवित्र स्थलों पर मरने वाले की आत्महत्या नहीं होती।

वानप्रस्थ के लिए जो आचार संहिता है वह संन्यासी के लिए भी उसी तरह प्राप्त होती है। मनुस्मृति में[6] और आपस्तम्ब धर्मसूत्र[7] में यह सत्य स्वीकार किया है। वानप्रस्थ ही आगे चल करके संन्यासी बनता है। दोनों आश्रमों में ब्रह्मचर्य का पूर्ण पालन करना होता है। इन्द्रियनिग्रह भोजन के नियम, उपनिषदों का अध्ययन और ब्रह्मज्ञान के लिए प्रयास करना होता है। दोनों आश्रमों में अन्तर यह है कि वानप्रस्थ आश्रम में पुरुष स्त्री के साथ भी रह सकता है पर संन्यासाश्रम में नहीं। वानप्रस्थ में अग्नि प्रज्वलित रखना पड़ती है आह्निक और यज्ञ आदि भी करने पड़ते हैं पर संन्यासी अग्नि आदि का त्याग कर देता है। संन्यासी को इन्द्रियों पर संयम रखना और परमतत्त्व का ध्यान करना होता है।[8]

संन्यास—छान्दोग्योपनिषद्[9] के अध्ययन से यह स्पष्ट है कि वहाँ पर

---

1 (क) मनुस्मृति । ? (ख) याज्ञवल्क्य० ।४५ (ग) अपरार्क० पृ० ९४५
2 बौधायन० ।३
3 वृहत्पाराशर ११ पृ० २१०
4 पाराशरस्मृति ४।१-२
5 अग्निपर्व ०३१।
6 मनुस्मृति । ८६ ८८
7 आपस्तम्ब धर्मसूत्र २।९।२१।१०-२०
8 [illegible] (आठवां भाग) ३।८।२
9 छान्दोग्योपनिषद् । ३।१

ब्रह्मचय, गहस्थ और वानप्रस्थ—इन तीन आश्रमा का ही वर्णन है। एसा प्रतीत होता है कि सयास जो चतुथ आश्रम है उसने आश्रम के रूप म उस समय तक स्थान प्राप्त न किया हो। बृहदारण्यक आदि जा प्राचीन उपनिषद माने जाते है उनमें ससार के प्रति मोह त्याग, भिक्षाग्रहण और परब्रह्म का ध्यान करना चाहिए—इस पर अत्यधिक बल दिया गया है किन्तु वहाँ पर सयास आश्रम की कोई भी चर्चा नही है। जाबालोपनिषद[1] म सयास आश्रम को चतुथ आश्रम के रूप मे ग्रहण करना स्वच्छा पर छोड दिया गया है। यदि किसी की इच्छा हो ता वह सयासाश्रम को ग्रहण कर अर्थात् ब्रह्मचर्याश्रम से ही सयासी भी हा सकता है। गहास्थाश्रम से भी सयासी हा सकता है। वानप्रस्थ स ता सयास ग्रहण किया ही जाता है। इस तरह सयासाश्रम को हर व्यक्ति अपनी इच्छा से ग्रहण कर सकता है।

बृहदारण्यकोपनिषद[2] म याज्ञवल्क्य और उनकी पत्नियां मत्रयी और कात्यायनी का अत्यत भावपूण सवाद है। उससे यह स्पष्ट है कि सयासी बनन क लिए गहत्याग, पत्नी व सम्पत्ति आदि का परित्याग भी आवश्यक है। आत्मविद व्यक्ति सतान सम्पत्ति आदि के माह का परित्याग कर एक भिक्षुक का जीवन यापन करता है। जाबालोपनिषद[3] से यह भी स्पष्ट हाता है कि सयासी काषाय वस्त्र धारण कर। उसका सिर मुण्डित हा। सम्पत्ति न रखे। उसका आचरण पवित्र हो। उसका मानस अद्रोही हो। भिक्षावृत्ति करता हुआ वह ब्रह्म म सलग्न रहे।

गौतम धमसूत्र,[4] आपस्तम्ब धमसूत्र[5] बोधायन धमसूत्र[6] वसिष्ठ धमसूत्र[7] प्रभृति सभी प्रमुख धमसूत्रा म सयासधम के सम्बध मे अत्यन्त विस्तार स विश्लेषण किया गया है। उन सभी का सक्षेप म साराश यह है—

(१) सयासी बनने स पूव उसे यज्ञ आदि करके सारी सम्पत्ति का दान कर देना चाहिए।

---

१ जाबालोपनिषद ४
२ बृहदारण्यक २।४।१ ३।५।१
३ जाबालोपनिषद ५
४ गौतम० ३।१० १७
५ आपस्त० २।६।२१।७ २०
६ बोधायन० २।६।२१ २७
७ वसिष्ठ० १०

आदि ने स्पष्ट लिखा है—जो मन, वाणी व शरीर पर नियन्त्रण करता है वह त्रिदण्डी है।[1]

(१८) उसे चलते समय भूमि को देखकर चलना चाहिए, पानी का उपयोग भी छानकर करना चाहिए।

(१९) संन्यासी को सत्य, अस्तेय, निर्लोभ, क्रोध का त्याग, इन्द्रियों का नियन्त्रण आदि गुणों को प्राप्त करने का अधिकाधिक प्रयत्न करना चाहिए और उसके लिए प्राणायाम व योग की साधना करनी चाहिए।[3]

संन्यासियों के चार प्रकार हैं। कुटीचक (जो घर में ही संन्यास धारण करता है और अपने स्वजनों से भिक्षा मांगता है) बहूदक (सात ब्राह्मण घरों से भिक्षा ग्रहण करते हैं) हंस (ग्राम में एक रात्रि और नगर में पाँच रात्रि से अधिक नहीं रुकता। वह गोमूत्र ग्रहण करता है। एक मास का उपवास करता है। सदा चान्द्रायण व्रत करता रहता है।) परमहंस (वृक्ष के नीचे, श्मशान में या ऐसे स्थान में रहते हैं जो किसी के उपयोग में न आता हो। सभी के यहाँ भिक्षा ग्रहण करते हैं। वस्त्र सहित या वस्त्ररहित रहते हैं)। जाबालोपनिषद में[4] परमहंसों के जीवन के सम्बन्ध में विस्तार से निरूपण है। तुरीयातीत भोजन आदि में हाथ का उपयोग नहीं करते और न वस्त्र आदि धारण करते हैं। अवधूत पूर्ण उन्मुक्त जीवन व्यतीत करते हैं। वे किसी भी बन्धन से आबद्ध नहीं होते।

संन्यास किस वर्णवाला ग्रहण कर सकता है, इस सम्बन्ध में मतभेद है। बृहदारण्यकोपनिषद,[5] मुण्डकोपनिषद[6] प्रभृति में बताया है कि केवल ब्राह्मण ही संन्यासी हो सकता है किन्तु सूत्रकार कात्यायन, जाबालोपनिषद[7] याज्ञवल्क्य[8] और कूर्मपुराण[9] प्रभृति ग्रन्थों में ब्राह्मण, क्षत्रिय,

---

१ (अ) मनु० १२।१० (आ) दक्ष० ७।३०
२ (अ) मनु० ६।६६ (आ) याज्ञवल्क्य० ३।६५-६६
(इ) वसिष्ठ० १०।३०
३ मनु० ६।७०-७५ (आ) याज्ञवल्क्य० ३।६२-६४
४ जाबालोपनिषद् ६
५ बृहदारण्यक ४।४।२२ ३।५।१
६ मुण्डकोपनिषद १।२।१२
७ जाबालोपनिषद् ४
८ याज्ञवल्क्य० ३।५२
९ कूर्मपुराण—उत्तरार्द्ध २८।२

वश्य—तीनो वणवाले सयासी बन सकते हैं, किन्तु शूद्र सयास धारण नहा कर सकता। पर कुछ शूद्र व्यक्तियां के द्वारा अपवाद के रूप म सयास ग्रहण करने के उल्लेख मिलत हैं।[1]

शूद्रो की भाति महिलाएँ भी मुख्य रूप से सयास ग्रहण नहीं कर सकती थी। अत्रि[2] के अनुसार महिलाओ के लिए जप तप प्रव्रज्या (सयास) तीथयात्रा मत्रसाधना और देवाराधन वज्य हैं। आचाय पतजलि[3] ने और कवि कुलगुरु कालिदास[4] ने क्रमश शकरा, परिव्राजिका और कौशिकी सयासिनी का वणन किया है। पर विशेष रूप मे स्त्रिया का सयासिनी के रूप म साधना करन का समाज न मायता नही दी।

आचाय मनु[5] के अनुसार सयास के लिए अधा लूला, लगडा और नपुसक अयोग्य हैं। बोधायन धमसूत्र[6] और बधायन गह्य सूत्र[7] व वखानस[8] आदि ने सयास ग्रहण करने की विधि विस्तार मे दी है। सयास धारण करते समय सभी भौतिक सम्बधो का परित्याग करना चाहिए, सिर दाढी और शरीर के सभी अगो के बालो को बनवाकर त्रिदण्ड धारण करना चाहिए तथा एक जल छानने के लिए वस्त्रखण्ड, कमण्डलु और एक भिक्षा पात्र रखना चाहिए। सयासियो को शिखा व यज्ञोपवीत नही धारण करना चाहिए, ऐसा आचाय शकर[9] का मत है।

चाहे गहस्थ आचारनिष्ठ हो चितक हो तो भी सयासी को उसे नमस्कार नहीं करना चाहिए। यदि गहस्थ सयासी को नमस्कार करता है तो सयासी उसे आशीर्वाद न देकर केवल नारायण' कहे। सयासी की मृत्यु हो जाने पर रुदन नही करना चाहिए और न श्राद्ध ही करना चाहिए। उसे जलाना नही किन्तु गाडना चाहिए।

---

१ महाभारत—आश्रमवासिकपव २६।३३
२ अत्रि १३६ १३७
३ पतजलि—महाभाष्य २ प० १०
४ मालविकाग्निमित्र १।१४
५ मनु ६।३६
६ बोधायन० २।१०।११ ३०
७ बोधायन गृह्य सूत्र ४।१६
८ वखानस ६।६ ८
९ बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्य ३।५।१

किसी ने बहुत हल्का पाप किया है तो बिना राजा को सूचित किये भी परिषद उसे प्रायश्चित्त दे सकती है।

आचार्य मनु[1] का मानना है कि किसी ब्राह्मण ने अनजान में महान पापकृत्य का सेवन कर लिया हो तो उसे मध्यम प्रकार का दण्ड देना चाहिए। किन्तु जानबूझकर ब्राह्मण ने महापाप किया है तो उसकी सम्पूर्ण सम्पत्ति के साथ उसे देश से निष्कासित कर देना चाहिए। यदि अन्य वर्ण वाले व्यक्ति ने अनजान में महापातक किया हो तो उसकी सम्पूर्ण सम्पत्ति को छीन लेना चाहिए और यदि जान बूझकर किया है तो उसे मृत्यु दण्ड देना चाहिए।

इस तरह वैदिक परम्परा में दण्ड और प्रायश्चित्त दोनों का उल्लेख है। यदि कोई व्यक्ति प्रायश्चित्त ग्रहण न करे तो उस व्यक्ति को इस प्रकार के चिह्न से अंकित किया जाए जिससे कि यह ज्ञात हो सके कि इसने प्रायश्चित्त नहीं किया है। वैदिक परम्परा के महर्षियों ने प्रायश्चित्त सम्बन्धी विपुल साहित्य का सृजन किया है। गौतम धर्मसूत्र में अट्ठाईस अध्याय हैं। उनमें से १० अध्याय प्रायश्चित्त के सम्बन्ध में हैं। वसिष्ठ धर्मसूत्र में ८ अध्याय के २० २८ में प्रायश्चित्त का वर्णन है। मनुस्मृति में ११वें अध्याय में २२२ श्लोक प्रायश्चित्त के विषय में हैं। याज्ञवल्क्य स्मृति में १२२ श्लोक प्रायश्चित्त के विषय को लेकर लिखे गये हैं। इसी तरह अंगिरा, देवल, वृद्ध, यम प्रभृति स्मृतियों में अग्नि, गरुड़, कूर्म, वराह, ब्रह्माण्ड, विष्णुधर्मोत्तर प्रभृति पुराणों में, मिताक्षरा, अपरार्क, पाराशर माधवीय मदन मदनपारिजात आदि में प्रायश्चित्त का विश्लेषण है। इसके अतिरिक्त अनेक स्वतन्त्र ग्रन्थ प्रायश्चित्त के विषय को स्पष्ट करने के लिए लिखे गये हैं। उनमें से प्रमुख ग्रन्थ हैं—"प्रायश्चित्त प्रकरण', 'प्रायश्चित्त विवेक', 'प्रायश्चित्त तत्त्व', 'स्मृतिमुक्ताफल', 'प्रायश्चित्त सार', 'प्रायश्चित्त मयूख', 'प्रायश्चित्त प्रकाश' आदि। प्रायश्चित्त कब देना चाहिए, किस स्थान पर कौनसा प्रायश्चित्त देना चाहिए, किस बार का कितना प्रायश्चित्त देना, यह भी इन ग्रन्थों में स्पष्ट किया गया है।

उपर्युक्त पंक्तियों में वैदिक परम्परा के आचार और उसकी स्खलना होने पर प्रायश्चित्त की जो व्यवस्था थी उस पर बहुत ही संक्षेप में विचार

---

१ मनु ११।१४९ ८८

प्रस्तुत किय हैं जिससे स्पष्ट होता है कि वदिक परम्परा की आचार स
क्या थी ? वदिक परम्परा न गहस्थाश्रम को महत्त्व दिया जिसके प
स्वरूप गहस्थ-जीवन सम्बन्धी सम्पूर्ण आचार म हना भी उत्थान गे।
श्रमण सस्कृति की दोना धाराएँ - जन और बौद्ध उत्थान गहस्थ जीवन
आचार सहिता पर इतना बल नही दिया। गहस्थ-जीवन म भी जो श्रा
व्रत ग्रहण करता है उसी की आचार सहिता श्रमण साहित्य म है। तुल
त्मक दृष्टि स यदि हम चिन्तन कर तो यह स्पष्ट हुए बिना नहा रहगा
सन्यासियो की जो आचार सहिता है, वह श्रमण सस्कृति के श्रमणा
आचार सहिता से काफी मिलता जुलता है। स यासी भी अपरि
होता है, अनिकेत होता है पूण ब्रह्मचय का पालन करता है धातु अ
के पात्र भी नही रखता और भोजन भी केवल शरीर टिकाने क
आठ कवल मात्र करता है। अपराह्न म एक बार भोजन आदि क
नियम हैं वह जन श्रमणा मे पूण रूप से मिलत हैं। जन श्रमणा की हा न
बौद्ध श्रमणा की आचार सहिता का भी समन्वय की दृष्टि से दखा जाय
काफी मिलती जुलती है जिस पर हम अगल पष्ठो म चिन्तन करग।

३ पुराण साहित्य में आचार-महिमा

कथाओं के माध्यम से

वेद स्मृति प्रभृति साहित्य में जिस तरह सूत्रों के रूप में आचार का सैद्धान्तिक रूप प्रस्तुत हुआ है वहाँ पुराण साहित्य में विभिन्न कथाओं के माध्यम से आचार का निरूपण किया गया है।

वेद वेदों में कर्मकाण्ड उपनिषदों में तत्त्वज्ञान तथा स्मृतियों में ब्राह्मण आदि वर्णों के कर्तव्य कर्म- क्रियाकाण्डों का विशेष वर्णन किया गया है। किन्तु पुराण साहित्य में मानव मात्र के कर्तव्य-सदाचार नीति व धर्म पालन की मुख्य बातों पर विशेष विचार किया गया है। और उनमें पूर्वपुरुषों के चरित्र व रूपक कथाओं के माध्यम से रोचक तथा सहज शैली से आचार की विधियाँ समझाई गई हैं।

महर्षि व्यास ने आचार का जो विश्लेषण किया है वह सहज है सुगम है। श्रीमद्भागवतपुराण में संत का लक्षण बताते हुए कहा है— 'संत कृपालु, अकृतद्रोह तितिक्षु सत्यशील अनवद्यात्मा, सम सर्वोपकारक मृदु शुचि अकिंचन, अनीह मितभुक् शान्त, स्थिर, अप्रमत्त गम्भीरात्मा धृतिमान अमानी मानद कल्प मैत्र कारुणिक, कवि आदि आदि गुणों से युक्त होता है। उसके जीवन में सदाचार का निखरा हुआ रूप होता है। पुराणों में यम की शुद्धि दान की महिमा कर्मफल प्रायश्चित्त अतिथि सेवा योगाचार, शिष्टाचार आदि विविध विषयों का विश्लेषण है।

वृत्त और आचरण

पुराणों में आचार के लिए 'वृत्त' शब्द व्यवहृत हुआ है। सूत्र पुराण आदि में वैदिक होम आदि के अर्थ में आचार शब्द आया है।

(१३) सरलता
(१४) सन्तोष
(१५) समदर्शिता
(१६) महात्माओ की सेवा
(१७) सामारिक भोगो से निवृत्ति
(१८) मनुष्य के अभिमानपूर्ण प्रयत्नो का फल उल्टा होना है—ऐसा विचार
(१९) मौन
(२०) आत्मचिन्तन
(२१) प्राणियों को अन्न आदि का यथा योग्य विभाजन
(२२) अपने आत्मा तथा इष्टदेव का भाव।
(२३) भगवान कृष्ण के नाम गुण लीला आदि का श्रवण
(२४) कीर्त्तन
(२५) उनकी सेवा
(२६) पूजा
(२७) नमस्कार
(२८) उनके प्रति दास्य
(२९) सख्य और
(३०) आत्म-समर्पण[1]

पुराण साहित्य म कथाओ द्वारा बडे ही रोचक ढग स सदाचरण की पवित्र प्ररणाए दी गई हैं।

पाण्डव आचार क प्रतीक

वैदिक मनीषियो ने महाभारत को पञ्चम वेद की सज्ञा प्रदान की है। उसम पाण्डव सम्यग् आचार के प्रतीक हैं तो कौरव कदाचार के प्रतीक है। आरुणि और उपमन्यु की कथाएँ गुरुभक्ति के आदश को उपस्थित करती हैं। ययाति ने अष्टक के प्रश्न का समाधान करते हुए कहा—'स्वर्ग के सात द्वार ह—(१) दान (२) तप, (३) शम (४) दम (५) लज्जा, (६) सरलता और (७) करुणा। मार्कण्डेय ऋषि ने पाण्डवो को शिष्टाचार की शिक्षा देते हुए कहा—'शिष्ट पुरुष यज्ञ,तप दान स्वाध्याय और सत्यभाषण का व्यवहार करता है तथा काम क्रोध लोभ दम्भ और उद्दण्डता प्रभति दुर्गुणो पर विजय वैजयन्ती फहराता है।'

शील का आधार

महाभारत क शान्तिपर्व व अनुशासनपर्व म आचार का सुदर विश्लेषण हुआ है। भीष्म पितामह न युधिष्ठिर को कहा— मन वाणी और शरीर से किसी भी प्राणी से द्रोह न करना, शक्ति क अनुसार दान देना और वह काय करना जिससे सभी प्राणियो का मगल हो। प्रस्तुत पर्व मे ही इन्द्र और प्रह्लाद की कथा के माध्यम से यह बताया है कि धर्म सत्य, सदाचार बल और लक्ष्मी य सभी शील के आधार पर ही आधृत हैं।[2]

---

१ श्रीमद्भागवत ७।११।८ ११
२ महाभारत—शान्तिपर्व १२४।६२

भगवान को प्राप्त करने का मुख्य साधन है।[1] भक्ति से भगवान भक्त के अधीन रहते हैं।[2] आचारहीन व्यक्ति न इस लोक में सुखी होता है और न परलोक में ही। सदाचारयुक्त व्यक्ति ही सौ वर्ष तक जीवित रहता है। पवित्र आचार ही सदाचार है।[3]

धर्म का उद्भव आचार से

पुराणों की दृष्टि में आचार से ही धर्म का उद्भव होता है। जो व्यक्ति आचार का पालन नहीं करते, उन्हें धर्म और अर्थ आनन्द प्रदान नहीं कर सकता। आचार में ही आनन्द प्राप्त होता है।[4] और आचार से ही परमपद मोक्ष प्राप्त होता है।[5] इसलिए मानव को कदाचार का परित्याग करना चाहिये। सदाचार से इस लोक में और परलोक के सारे सुख उपलब्ध हो जाते हैं। इस तरह पुराण साहित्य में भी यत्र तत्र सदाचरण की प्रेरणा दी गई है। व्यास ने तो अष्टादश पुराण का सार ही परोपकार करना बताया है।[8]

श्रीमद्भागवत में देवर्षि नारद ने धर्मराज युधिष्ठिर से कहा— तीस प्रकार का आचरण सभी मानवों के लिये हितावह है। वे तीस लक्षण इस प्रकार हैं—

(१) सत्य
(२) दया
(३) तपस्या
(४) शौच
(५) तितिक्षा
(६) उचित और अनुचित का विचार
(७) मन का संयम
(८) इन्द्रियों का संयम
(९) अहिंसा
(१०) ब्रह्मचर्य
(११) त्याग
(१२) स्वाध्याय

---

१ शिवपुराण [illegible] २३।३८
२ वही २।१६
[illegible]
४ शौचाचार सदाचार
५ ब्रह्माण्डपुराण [illegible] २१
६ वही [illegible]
७ सदाचारेण सिद्ध्यन्त ऐहिकामुष्मिक सुखम्। — श्रीभाग ११।२४।१०
८ अष्टादशपुराणेषु व्यासस्य वचनद्वयम्।
परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम्॥

(१३) सरलता
(१४) सन्तोष
(१५) समदर्शिता
(१६) महात्माओं की सेवा
(१७) सामारिक भोगों से निवृत्ति
(१८) मनुष्य के अभिमानपूर्ण प्रयत्नों का फल उलटा होता है—ऐसा विचार
(१९) मौन
(२०) आत्मचिन्तन
(२१) प्राणियों को अन्न आदि का यथा योग्य विभाजन
(२२) अपने आत्मा तथा इष्टदेव का भाव।
(२३) भगवान कृष्ण के नाम गुण लीला आदि का श्रवण
(२४) कीर्तन
(२५) उनकी सेवा
(२६) पूजा
(२७) नमस्कार
(२८) उनके प्रति दास्य
(२९) सख्य, और
(३०) आत्म-समर्पण[1]

पुराण साहित्य मे कथाओं द्वारा बड़े ही रोचक ढग से सदाचरण की पवित्र प्रेरणाएं दी गई हैं।

पाण्डव आचार के प्रतीक

वैदिक मनीषियों ने महाभारत को पञ्चम वेद की सज्ञा प्रदान की है। उसमे पाण्डव सम्यग् आचार के प्रतीक हैं तो कौरव कदाचार के प्रतीक हैं। आरुणि और उपमन्यु की कथाएँ गुरुभक्ति के आदर्श को उपस्थित करती हैं। ययाति ने अष्टक के प्रश्न का समाधान करते हुए कहा— स्वर्ग के सात द्वार हैं—(१) दान (२) तप, (३) शम (४) दम (५) लज्जा, (६) सरलता और (७) करुणा।' मार्कण्डेय ऋषि ने पाण्डवों को शिष्टाचार की शिक्षा देते हुए कहा— शिष्ट पुरुष यज्ञ तप दान स्वाध्याय और सत्यभाषण का व्यवहार करता है तथा काम क्रोध लोभ दम्भ और उद्दण्डता प्रभृति दुर्गुणों पर विजय वैजयन्ती फहराता है।'

शील का आधार

महाभारत के शान्तिपर्व व अनुशासनपर्व मे आचार का सुन्दर विश्लेषण हुआ है। भीष्म पितामह ने युधिष्ठिर को कहा— मन वाणी और शरीर से किसी भी प्राणी से द्रोह न करना शक्ति के अनुसार दान देना और वह कार्य करना जिससे सभी प्राणियों का मगल हो। प्रस्तुत पर्व मे ही इन्द्र और प्रह्लाद की कथा के माध्यम से यह बताया है कि धर्म सत्य सदाचार बल और लक्ष्मी ये सभी शील के आधार पर ही आधृत हैं।[2]

१ श्रीमद्भागवत ७।११।८ ११
२ महाभारत—शान्तिपर्व १२४।६२

महाभारत में आचार

महाभारत अनुशासनपर्व के अनुसार सदाचार का स्वरूप इस प्रकार है—जो आचारनिष्ठ व्यक्ति है वह सूर्योदय से घण्टे भर पहले उठता है, सूर्योदय के समय वह कभी नहीं सोता। मार्ग में हरे भरे खेत जहाँ लहलहाते हों वहाँ वह मल मूत्र का विसर्जन नहीं करता। वह पूर्व और उत्तर की ओर मुँह करके भोजन करता है। भोजन के समय न भोजन की निंदा करता है और न अन्य व्यक्तियों की ही। वह बाँटकर भोजन करता है और अमृतभोजी होता है।[१] वह न्याय से अपनी जीविका चलाता है। माता पिता और गुरुजनों का आसन, मान, दान देकर उनका सम्मान करता है। वह बड़ों को कभी भी हलके शब्दों से नहीं पुकारता। वह जिस पथ से जा रहा हो यदि उस मार्ग में—ब्राह्मण, गाय, राजा, वृद्ध, गर्भिणी स्त्री, दुर्बल व्यक्ति और भार उठाने वाला व्यक्ति मिल जाय तो स्वयं मार्ग से हटकर प्रथम उन्हें मार्ग दे। किसी की निंदा, चुगली और बदनामी न करे। दूसरों को नीचा दिखाने का प्रयास न करे। अंगहीन, कुरूप, निर्धन और मूर्ख का भूलकर भी उपहास न करे और न किसी से वैर विरोध ही माने। पक्षियों की हिंसा न करे। पुत्रों को श्रेष्ठ विद्या का अध्ययन कराये। मांस भक्षण और मदिरा पान से बढ़कर अन्य कोई पाप नहीं है। अतः इनका भूलकर भी उपयोग न करे।

वृद्ध, मित्र, गरीब और सुजनों को आश्रय प्रदान करे। गृहस्थ को स्वदारानिरत, दान्त, अनिन्दक और जितेन्द्रिय होना चाहिए। उसे चाहिए कि न वह अपने घर के लोगों में और न अनुचरों से क्लेश करे।[३]

इस तरह महाभारत में सभी आश्रमों की आचार संहिता का सुन्दर विश्लेषण हुआ है। शान्तिपर्व के अध्ययन से तो यह ज्ञात होता है कि जै[न] आचार के मूलभूत सिद्धान्त ही इसमें प्रवृत्त हो रहे हैं।

१ वही [illegible]

4 बौद्ध धर्म में आचार का स्वरूप

वन्कि साहित्य—पुराण, स्मृति आदि म संन्यासी की अपेक्षा गहस्थ का वणन अधिक है तथा गृहस्थ अथवा सन्यस्थ व आचार का निरूपण ही विशेष विधि विधाना के साथ किया गया है। किन्तु श्रमण परम्परा—जिसम बौद्ध व जन सस्कृति का समावेश है उसमें त्यागी व श्रमण जीवन पर अधिक बल दिया गया है, यद्यपि श्रमण के साथ गहस्थ उपासक (श्रावक) के कतव्या व आचार नियमा पर भी विचार किया गया है किन्तु उसम भी निवत्ति का स्वर प्रधान है। श्रमण सस्कृति का लक्ष्य 'त्याग' व निवत्ति होने के कारण प्राय विधि विधाना मर्यादाओ म भी निवत्ति भावना ही प्रबल रही है फिर भी प्रवत्ति को सयत व मर्यादायुक्त बनाने की नतिक धारणाए भी वहाँ विकसित हुई है। सक्षप मे हम यहाँ उन सभी पक्षा पर विचार कर रहे हैं।

आचार विनय

तथागत बुद्ध न भी श्रमण जीवन पर अत्यधिक बल दिया। सासारिक स्नह-जाल से मुक्त होने के लिए श्रमण जीवन आवश्यक है। श्रमणा क लिए जो आचार संहिता निर्माण की गई वह विनय के नाम से विश्रुत हुई। विनयपिटक म श्रमणा के विधि विधाना का ही निरूपण है। सबोधि प्राप्त होने के पश्चात बुद्ध न सवप्रथम पचवर्गीय भिक्षुओ को धम का उपदेश दिया। उन्हान उन भिक्षुओ को मध्यममार्ग और चार आयसत्य का परिज्ञान कराया। पचवर्गीय भिक्षुओ ने बुद्ध से प्रव्रज्या और उपसपदा प्रदान करने क लिए निवदन किया।

धम प्रचार

बुद्ध न कहा—भिक्षुओ ! धम सुव्याख्यान है दु खा को क्षय करने के लिए अच्छी तरह से ब्रह्मचय का पालन करो। गहस्था को भी प्रव्रज्या

प्रदान की। उसके पश्चात् वाराणसी में श्रेष्ठि पुत्र यश ने बुद्ध से प्रव्रज्या के लिए प्रार्थना की उसे भी बुद्ध ने दीक्षा दी। जब बुद्ध के संघ में इकसठ (६१) भिक्षु हो गये तब बुद्ध में अन्तर्मानस में धर्म प्रचार की भावना उद्बुद्ध हुई। उन्होंने भिक्षुओं को सम्बोधित कर कहा—'भिक्षुओ! बहुजन के हित के लिए सुख के लिए लोक पर अनुकम्पा करने के लिए देवताओं और मानवों के प्रयोजन के लिए हित के लिए सुख के लिए विचरण करो। एक साथ दो मत जाओ। धर्म का उपदेश दो। परिशुद्ध ब्रह्मचर्य का पालन करो। इस प्रकार धर्म का श्रवण कर वे सभी श्रमण हो गये।'[1]

विनय विकास के बढ़ते चरण

बुद्ध ने प्रव्रज्या और उपसम्पदा का अधिकार देकर भिक्षुओं को विविध दिशाओं में धर्म प्रचारार्थ प्रेषित किया। उपसम्पदा की विधि इस प्रकार थी—प्रथम साधक के सिर और दाढ़ी का मुडन करवाया जाता। उसे काषाय वस्त्र धारण करवाया जाता। वह कंधे पर वस्त्र रख कर भिक्षुओं को पाद वन्दना करता। उकडू आसन से बैठकर अंजलि से नमस्कार करता हुआ तीन बार यह निवेदन करता—'बुद्ध सरणं गच्छामि धम्मं सरणं गच्छामि संघं सरणं गच्छामि' बुद्ध के विनय के विकास का यह द्वितीय चरण था।

धीरे धीरे बुद्ध के संघ में भिक्षुओं की संख्या बढ़ने लगी। जब बुद्ध संघ में १२०० भिक्षु हो गये। बुद्ध ने देखा भिक्षुगण अनुशासनहीन हो रहे हैं तो बुद्ध ने अपने प्रमुख भिक्षुओं को उपाध्याय पद प्रदान किया। विनय पिटक के महावग्ग में उपाध्याय और उनके शिष्यों के क्या कर्तव्य हैं इसका उल्लेख है। उपाध्याय का यह कर्तव्य है कि वह शिष्यों को उपदेश दे पात्र दे चीवर दे वे यदि रोगग्रस्त हो जाय तो उनकी परिचर्या करे। इसी तरह शिष्य भी उपाध्याय के प्रति पूर्ण निष्ठावान रहें। उसमें पाँच गुण होने चाहिए—(१) उपाध्याय के प्रति उसमें प्रेम हो (२) श्रद्धा हो (३) लज्जाशील हो (४) गौरव प्रदान करने वाला हो (५)

---

[1] चरथ भिक्खवे चारिकं बहुजनहिताय बहुजनसुखाय लोकानुकम्पाय अत्थाय हिताय सुखाय देवमनुस्सानं। मा एकेन द्वे अगमित्थ। देसेथ भिक्खवे धम्मं आदिकल्याणं मज्झेकल्याणं परियोसानकल्याणं धम्मस्स अञ्ञातारो—
—महावग्ग, पृ० २३

ध्यान आदि म अधिक रुचि रखने वाला हो। उपाध्याय या कल्याणमित्र गाना है। उसके जीवन के क्षण क्षण म सघ के प्रति कल्याण की भावना होती है। बुद्ध के विनय के विकास का यह तृतीय चरण था।

उपसपदा का विधान

परिस्थितियों म परिवतन होन के कारण बुद्ध को उपसपदा के नियमो मे परिवतन करना पडा। उन्होने 'ज्ञप्ति' 'अनुश्रावण' और धारणा के द्वारा उपसपदा का विधान किया। जिनके अन्तमानस म भिक्षधम धारण करने की भावना अगडाइयाँ ले रही हो वह व्यक्ति सघ को यह ज्ञापित करे—

ज्ञप्ति—भते! सघ मेरी बात का श्रवण कर, मेरा अमुक नाम है मैं अमुक नाम के उपाध्याय स उपसपदा ग्रहण करना चाहता हू यदि सघ मुझे योग्य समझे तो उपाध्याय के श्रीचरणो म उपसपदा की अनुज्ञा प्रदान कर।

अनुश्रावण—भते! उपसपदापेक्षी अमुक व्यक्ति अमुक उपाध्याय के पास उपसपदा ग्रहण करने की अभ्यथना कर रहा है जिन्हे यह बात स्वीकार है वह मौन रह और जिन्हे स्वीकार नहीं है वे स्पष्ट कहें जिससे परिज्ञात हो सके। इस प्रकार वह इसे तीन बार दुहराये।

धारणा—सघ को स्वीकार है एतदथ ही सभी मौन है। यह मेरा स्पष्ट अभिमत है।[1]

जहाँ तक भिक्ष बनने के इच्छुक व्यक्ति उपसपदा के लिए निवेदन न करे वहाँ तक उस व्यक्ति को उपसम्पन्न नही किया जा सकता। उपसपदा प्रदान करने के पूव, उस व्यक्ति को यह स्पष्ट सूचित करना चाहिए कि तुम्हे चार निश्रयो अर्थात जीविका के साधनो का पालन करना होगा। वे ये हैं—

(१) भिक्षा माँगना होगा, और पुरुषाथ करना होगा।

(२) श्मशान आदि मे पडे हुए चीथडो का ग्रहण कर चीवर तयार

---

१ देखिए—बौद्ध संस्कृति का इतिहास पृ० २११ २१२ डा० भागचन्द जन प्रकाशक—आलोक प्रकाशन नागपुर सन् १९७२

हिंसा, तस्कर कृत्य अब्रह्मसेवन असत्यभाषण मद्यपान और बुद्ध संघ की निन्दा करते थे उन्हें भी दण्ड दिया जाता था। उपसम्पदा के लिए पहले जिन व्यक्तियों को अयोग्य माना गया था। उस सूची में अन्य अयोग्य व्यक्तियों के नाम और बढ़ा दिये गये। वे ये हैं—

नपुंसक-पण्डक अन्यतीर्थगामी मातृ पितृ व अर्हत् हन्ता स्त्री और पुरुष इन दोनों ही लिंग वाला पात्ररहित चीवररहित कटे हुए हाथ पैर कान नाक व अंगुलियों वाला कुबड़ा बौना अशुभ लक्षणों वाला लूला लंगड़ा पक्षाघाती ईर्यापथरहित जराग्रस्त, अंधा, बहिरा आदि।

प्रव्रज्या के लिए माता पिता की अनुमति आवश्यक मानी गई। जब उपसम्पदा प्रदान की जाती उस समय उसके उपाध्याय का नाम भी पूछा जाता था। ज्ञप्ति अनुश्रावण धारणा पूर्वक उपसम्पदा कर्म भी किया जाता था।

यह बौद्ध विनय के विकास का पाँचवाँ चरण था। यह स्पष्ट है कि प्रत्येक चरण के अन्तस्तल में घटनाएँ रही हुई हैं। उन्हीं घटनाओं के आधार पर नियमों में परिवर्तन होता रहा। पर भगवान महावीर की आचार संहिता में इस प्रकार घटनाओं को लेकर नियमोपनियमों में परिवर्तन नहीं हुआ है, जैसा कि बुद्ध संघ में हुआ।

उपोसथ

जैन परम्परा में चतुर्दशी पूर्णमासी और अष्टमी आदि को एक स्थान पर एकत्रित होकर उपासक धार्मिक साधना किया करते थे। श्रेणिक बिम्बसार ने तथागत बुद्ध से निवेदन किया जिसके कारण तथागत ने अपने संघ में उपोसथ का प्रचलन किया। उपोसथ के दिन भिक्षुगण एकत्रित होकर पातिमोक्ख—यानी भिक्षु जीवन के विविध नियमों की आवृत्ति करें। महावग्ग ग्रन्थ में अन्य कुशल धर्मों से पातिमोक्ख को अधिक महत्त्व दिया गया है। पातिमोक्ख के लिए किसी विहार, प्रासाद, हर्म्य गुफा आदि को निश्चित किया जाता था, जहाँ पर सभी भिक्षु स्थविर भिक्षु के सन्निकट उपोसथ के लिए आते। उपोसथ के चार कर्म हैं—

(१) संघ के कितने ही भाग का धर्मविरुद्ध उपोसथ कर्म करना।
(२) समग्र संघ का धर्मविरुद्ध उपोसथ करना।
(३) कितने ही भाग का धर्म के अनुकूल उपोसथ करना।
(४) समग्र संघ का धर्म के अनुकूल उपोसथ करना।

इन चार भागों में अन्तिम कर्म विधेय माना गया है।

पातिमोक्ख

पातिमोक्ख और उपोसथ में परस्पर सम्बन्ध है जिसके कारण उपोसथ के दिन पातिमोक्ख किया जाने लगा। पातिमोक्ख में पाँच कर्म थे। वे इस प्रकार हैं—

(१) निदान का पाठ करना।
(२) निदान और पाराजिका का पाठ करना।
(३) निदान पाराजिक और संघादिशेषों का पाठ करना।
(४) निदान पाराजिक संघादिशेष और अनियत धर्मों का पाठ करना।
(५) विस्तार के साथ पातिमोक्ख का पाठ करना।

चोर अग्नि व उदक का उपद्रव होने पर, मानव और मानवेतर हिंसक प्राणियों का संकट उपस्थित होने पर, ब्रह्मचर्य के नष्ट होने की स्थिति होने पर पातिमोक्ख का पाठ अत्यन्त संक्षेप में भी किया जा सकता था। यदि किसी भिक्षु ने भिक्षु मर्यादा के विरुद्ध काम किया हो तो चार पाँच भिक्षु मिलकर उस भिक्षु की भर्त्सना करते और यह कहते कि आपका प्रस्तुत कार्य भिक्षु जीवन की मर्यादा के अनुकूल नहीं है। पातिमोक्ख की आवृत्ति उसी भिक्षु के सामने की जाती जो भिक्षु समर्थ व प्रतिभा सम्पन्न होता। उस परिषद में किसी भी गृहस्थ का प्रवेश वर्जित था।

उपाध्याय की अनुमति

यदि कोई भिक्षु लम्बी यात्रा करना चाहता तो उस भिक्षु को उपाध्याय की अनुमति लेनी आवश्यक थी। यदि किसी स्थान पर बहुश्रुत, आगमधर, धर्मधर, विनयधर, मातृकाधर भिक्षु आये तो उस भिक्षु की सेवा करना वहाँ पर अवस्थित श्रमण का परम कर्तव्य है। सभी भिक्षुओं को उपोसथ या संघकर्म में सम्मिलित होना चाहिए। यदि कोई भिक्षु रुग्ण हो उस भिक्षु के पारिवारिक जन उस भिक्षु को पुनः ले जाना चाहें या राजा, तस्कर आदि कोई भी उसे पकड़कर ले जायें तो उस भिक्षु को चाहिए कि वह अपनी परिशुद्धि संघ के समक्ष प्रस्तुत करे। यदि यह सम्भव न हो तो एक भाग का उपोसथ नहीं करना चाहिए। यदि कोई भिक्षु उन्मत्त हो गया है तो उसके अभाव में भी संघ उपोसथ कर। यह प्रस्ताव पहले आना आवश्यक है और साथ ही वैधानिक है।

उपोसथ कर्म के लिए चार व्यक्ति आवश्यक है पर कारण विशेष से चार व्यक्ति उपस्थित न हो सकें तो दो व्यक्ति भी चल सकते हैं। उन्हें परस्पर 'परिसुद्धो अहं आवुसो, परिसुद्धो तिम धारथ' यह वाक्य तीन बार दुहराना होता। यदि अकेला ही भिक्षु है तो उसे उपोसथ करने का दृढ़ संकल्प करना चाहिए। यदि नियम विरुद्ध किसी भी प्रकार स्खलना हो गई हो तो उसे स्वीकार कर भविष्य में उस दोष की पुनरावृत्ति न करूँगा इस प्रकार दृढ़ प्रतिज्ञा करनी चाहिए। यदि किसी विहार में चार से अधिक भिक्षु हो तो उन्हें उपोसथ के दिन एकत्र होकर पातिमोक्ख का पाठ करना चाहिए। सन्देह, सकोच, कटूक्तिपूर्ण या अनुपस्थिति में बिना जाने किया गया उपोसथ सदोष होता है। उन दोषों का परिहार कर पुन पातिमोक्ख करना चाहिए। उपोसथ के दिन आवास का परित्याग नहीं करना चाहिए, यदि विशेष परिस्थिति में आवास का परित्याग करना हो तो भिक्षुओं को ऐसे स्थान पर जाना चाहिए जहाँ पर स्वधर्मी भिक्षु हो और उसी दिन वहाँ पर पहुँच सके।

'पातिमोक्ख' की आवृत्ति उस परिषद में करनी चाहिए जहा पर भिक्षुणी, शिक्षमाणा, सामणेर, सामणेरी, पाराजिकदोषी, पापदिट्ठीगत, तीर्थिकगत, मातृपितृघातक, अर्हद्घातक भिक्षुणीदूषक, पण्डग, सघभेदक प्रभृति व्यक्ति उपस्थित न हो। उपोसथ की सम्पूर्ण क्रिया एक ही दिन में पूर्ण होना आवश्यक था।

इस तरह उपोसथ और पातिमोक्ख का विधान यह बौद्धविनय के विकास का छठा चरण है।

वर्षावास

जीवों की रक्षा के लिए और यातायात की सुविधा के लिए वर्षावास का विधान बौद्धधर्म में भी किया गया। पहले जैन श्रमणों की तरह बौद्ध भिक्षु एक स्थान पर वर्षावास नहीं करते थे और न हरियाली के स्पर्श से ही बचते थे। बुद्ध के सामने जब यह बात आई तो उन्होंने वर्षावास का विधान किया।[1] वह वर्षावास आषाढ़ी पूर्णिमा (श्रावणी पूर्णिमा) के द्वितीय दिन से प्रारम्भ होता था और भिक्षु तीन माह तक एक स्थान पर अवस्थित रहता। वर्षावास के सम्बन्ध में कुछ अपवाद भी थे। वे ये थे— यदि कहीं पर भिक्षु, भिक्षुणी शिक्षमाणा सामणेर, सामणेरी उपासक उपासिका या विहार आदि के लिए वहीं में दान प्राप्त करने की आशा

१ महावग्ग—विनयपिटक पृष्ठ ५४४

भी प्रवारणा कर सकता है यह अनुमति दी गई। विशेष स्थिति में प्रवारणा बहुत ही समय में और अन्य समय में भी की जा सकती थी। वर्षावास और प्रवारणा के प्रस्तुत विधान को हम बौद्ध विनय के विकास का सप्तम चरण कह सकते हैं।

उपानह

विनयपिटक में यह विधान प्राप्त होता है कि भिक्षु केवल एक तल्ले वाला जूता धारण कर सकता है। पर बाद में चलकर अनेक तल्ले वाले जूते के धारण करने की अनुमति दी गई। बौद्ध विहार में भी भिक्षु उपानह मशाल दीपक, दण्ड आदि रख सकता था। उनके लिए काष्ठ, ताडपत्र बाँस तृण, मूज बल्वज, हिंताल कमल कम्बल आदि से निर्मित पादुकाए होती थी। भिक्षुओं के लिए उन पादुकाओं का निषेध किया गया जिनमें स्वर्ण चाँदी प्रभति विविध धातुओं का उपयोग हो और मोती आदि विविध प्रकार के रत्न लगे हुए हों।

वाहन और आसन

सामान्य रूप से बौद्ध भिक्षुओं के लिए वाहन का उपयोग निषिद्ध था। पर जो भिक्षु रुग्ण होते उन भिक्षुओं के लिए मानव द्वारा उठाए जाने वाली शिविका व पालकी और हस्तीयान के उपयोग की छूट दी गई और अन्य जितने भी प्रकार के वाहन थे उनका निषेध किया। सिंह व्याघ्र, चीते आदि के चर्म से निर्मित वस्तुएँ भिक्षु धारण न करें, यह स्पष्ट आदेश दिया गया, इस आदेश के पीछे प्राणी वध की विचारधारा कार्य कर रही थी। जब भिक्षु सीमान्त प्रदेशों में विहरण करने लगे तो पूर्व के नियमों में शिथिलता आ गई।

भयज्य

बौद्ध भिक्षु प्रातःकाल और सायंकाल घृत, नवनीत, तेल मधु और शक्करा ये पाँचों पदार्थ ग्रहण कर सकते थे। रीछ मछली शूकर गधे आदि की चर्बी से निर्मित पदार्थ तथा नीम कुटज तुलसी आदि जड़ी बूटियों से निर्मित औषधियाँ भी ग्रहण कर सकते थे। एक सप्ताह से अधिक घी मक्खन, मधु, तेल आदि पदार्थ भिक्षु नहीं रख सकते थे। बौद्ध विहार में निर्मित और स्वयं भिक्षु द्वारा तैयार किया हुआ भोजन भिक्षुओं के लिए निषिद्ध था। पर भयंकर दुष्काल में इन नियमों में भी शिथिलताए आ गई। बौद्ध श्रमण मांसाहार का उपयोग करते थे पर मानव का मांस हाथी घोड़ा, कुक्कुर, सर्प, व्याघ्र, भालू, लक्कड़बग्घा प्रभृति पशुओं का मांस

पत्र, पुष्प और फल के रंगो मे रँगते। रँगने के लिए बतन की आवश्यकता हुई अत बतन रखने की भी अनुमति दी गई। अधिक चीवर भिक्षु न रखे इसलिए चीवर की मर्यादा की गई। भिक्षु अधिक से अधिक तीन चीवर रख सकता था। दोहरी सघाटी, एकहरा उत्तरासग एकहरा अन्तरावासक के अतिरिक्त अन्य चीवर विकल्प से रख सकता था। पुराने वस्त्र अधिक भी रखे जा सकते थे। मृगारमाता विशाखा बुद्ध सघ के प्रति अत्यन्त श्रद्धालु थी। वह प्रतिवर्ष भिक्षुओं को साटिका, नवागन्तुक भोजन गमिक भोजन रोगी भोजन रोगी परिचारक भोजन, रोगी भषज यवागु प्रदान करती थी। वह भिक्षुणियों को वह विशेष रूप से उदकसाटी देती थी। अत बुद्ध ने अपने भिक्षु सघ को इन वस्तुओं के ग्रहण की अनुमति दे दी। साथ ही प्रत्यस्तरण (बिछाने का आसन), प्रतिच्छादन (कोपिन) मुख पुञ्छन (रूमाल) और परिष्कारक चोलक रखने की भी अनुमति दी। किन्तु नीले, पीले, लाल, काले, हरे, अत्यन्त लाल, मजीठ रगीय आदि रग बिरगे वस्त्र न रखने का विधान किया गया।[1]

दण्ड विधान

भिक्षु कभी भी निर्दोष भिक्षु को उत्क्षिप्त न करे। यदि प्रमाद से कभी उत्क्षिप्त कर दिया हो तो अपराध को स्वीकार करते। सामान्य रूप से (१) धर्म कर्म (२) वर्ग कर्म (३) समग्र कर्म, (४) धर्मप्रतिरूपक वर्ग कर्म (५) धर्मप्रतिरूपक समग्र कर्म, (६) धर्मसमग्र कर्म—ये प्रकार हैं। बौद्ध भिक्षु सघ पाँच प्रकार का है—चार, पाँच दस, बीस और उससे अधिक भिक्षुओं का सघ। जो चतुर्वर्ग भिक्षु सघ था वह उपसपदा, प्रवारणा और आह्वान का परित्याग कर धर्मसमग्र होकर अन्य सभी कर्म कर सकता था। पचम वर्ग भिक्षुओं का सघ आह्वान और मध्यम जनपदों में उपसम्पदा का त्याग कर देता था। दशवर्ग भिक्षु-सघ आह्वान का परित्याग करता था। बीस वर्ग और उससे अधिक सख्या वाला भिक्षु सघ धर्मसमग्र होकर सभी कर्म कर सकते थे। संघ के बोच, उन्मत्त, तीर्थिक, मातृपितृहन्ता भिक्षुओं को प्रतिसोधन नहीं दिया जाता था किन्तु जो भिक्षु प्रकृतिस्थ होते उन्हें प्रतिसोधन दिया जाता था। भिक्षु को सघ से निष्कासित करने के लिए, सुधारने के लिए नियमोपनियम थे और उन नियमों का भग होने पर क्षमायाचना का भी विधान था।[2]

---

१ विनयपिटक—चीवर स्कन्धक

२ विनयपिटक—चीवर स्कन्धक

वीयमोचन, स्त्री-स्पश, काम वातालाप, मथुन इच्छा, मथुन के लिए दूतीकाय, सघ मे मतभेद डालना आदि म सघादिशेष कुछ समय के लिए दिया जाता था। कितने हा अपराध एसे हैं, जिनका समावेश पाराजिक सघादिशेष और पाचित्यदोषा म से किसी म भी पूण रूप से नहा हो पाता था। उन्हें अनियन कहा जाता है। पातिमोक्ख म इस प्रकार के मथुन सम्बन्धी दो उल्लख प्राप्त हाते हैं। कितन ही अपराध एस होते थे, जिनका प्रतिकार सघ के सामन या बहुत से भिक्षुआ के सामन अथवा एक भिक्षु के सामने स्वीकार करन पर होता था। इस प्रकार के अपराधा को निस्सग्गिय पाचित्तिय कहा जाता था। इस प्रकार के अपराध कठिन चीवर अन्य चीवर आसन, स्वण रजत पसे आदि अठाईस प्रकार के दोषा से सम्बन्धित हैं। पाचित्तिय दोष—जसे भाषण सम्बन्धी चार, सहवास सम्बन्धी दो धर्मोपदेश दिव्य शक्ति प्रदशन अपराध प्रकाशन भमि-खनन वक्ष छेदन सघ के प्रश्न पर मौन रहना निन्दा करना माधिक वस्तुआ के प्रति उपेक्षा रखना बिना छना पानी ग्रहण करना आदि ९२ दोष हैं। पाटिदेसनीय आहारग्रहण सम्बन्धी भिक्षणी सम्बन्धी चार दोष आदि हैं। सेखिय (शिक्षणीय) नियम ७५ थे, जसे—गहस्थो के घर म जाने सम्बन्धी, भिक्षा ग्रहण करन सम्बन्धी व्यक्ति को किसप्रकार उपदेश देना मल मूत्र विसजन सम्बन्धी नियम। अधिकरण समथ म, विवाद शान्ति हतु सात नियम बताये हैं। इस तरह भिक्खु पातिमोक्ख के २२७ नियम है।

भिक्षुणी पातिमोक्ख म मथन, चोरी मनुष्य हत्या दिव्य शक्ति प्रदशन, कामासक्ति से विविध काय करना, सघ से निष्कासित भिक्षु का अनुगमन कामासक्ति से पुरुष का स्पश करना आदि पाराजिक दोष हैं। जिस तरह भिक्षु के लिए २२७ नियम हैं, वसे ही भिक्षणी के लिए ३११ नियम है। भिक्षुणी और भिक्षु के नियमा म विशेष अन्तर नहीं है। जो अन्तर है वह परिस्थिति के कारण है। यह सत्य है कि प्रत्येक नियम के पीछे किसी घटना विशेष का सम्बन्ध रहा है। कितने ही नियम सावकालिक थे तो कितने ही नियम सामयिक थे। एतदथ ही बुद्ध ने स्पष्ट शब्दा मे कहा—सघ मेरे पश्चात् चाहे तो छोटे बड शिक्षापदा को छोड सकता है।[1]

उपासक आचार-संहिता

तथागत बुद्ध ने जितना विस्तार के साथ भिक्षु और भिक्षुणिया को

---

१ दीघनिकाय महापरिनिब्बाण सुत्त।

आचार-संहिता पर चिन्तन किया उतना विस्तार के साथ उपासक की आचार संहिता पर विचार नहीं किया। यही कारण है कि पौर्वात्य और पाश्चात्य विज्ञों में यह भ्रान्ति हो गई है कि बुद्ध ने उपासकों के सम्बन्ध में कोई चिन्तन नहीं किया। पर यह सत्य है बुद्ध ने यह स्पष्ट बताया है कि गृहस्थ का क्या कर्तव्य है? उसकी उन्नति के मूल तथ्य क्या हैं? इस पर उन्होंने प्रकाश डाला है। बुद्ध का यह स्पष्ट अभिमत था कि बिना उपासक के भिक्षु भिक्षुणियाँ नहीं रह सकती। संघ, विहार आदि की व्यवस्था उपासक ही करता है। वही भिक्षु संघ को चीवर दान, पिण्डदान, औषधि दान और शयनासन आदि की पूर्ण व्यवस्था करता है।[1] वह भिक्षु के वैचारिक और आचारिक शैथिल्य को भी दूर करता है। जब उपासकों ने बौद्ध भिक्षुओं को देखा। भिक्षु हरित तृणस्कन्ध को बुरी तरह से कुचल रहे हैं उन्होंने प्रस्तुत दुष्कृत्य की आलोचना करते हुए कहा—'यह प्रथम ही प्राणातिपात है। इस हिंसा से भिक्षु निवृत्त हों।' ऐसे अनेक प्रसंग बौद्ध त्रिपिटक साहित्य में देखे जा सकते हैं।[2] बुद्ध ने यह स्पष्ट कहा—भिक्षुओ! तुम्हें गृहस्थ के प्रति क्रोध नहीं करना चाहिए। यदि कदाचित् क्रोध आ जाय तो प्रतिसारणीय कर्म किया जाय और गृहस्थ उपासक से क्षमा याचना की जाये।[3]

बुद्ध ने उपासकों के लिए (१) प्राणातिपात—हिंसा न करना, (२) अदिन्नादान—चोरी न करना (३) कामेसु मिच्छाचार—स्त्री सम्बन्धी दुराचार न करना (४) मुसावाद—असत्य न बोलना[4] इन चार नियमों का विधान किया। उसके पश्चात् सुरामेरय्य प्रमाद स्थान विरति का विधान किया। देखा जाय तो सभी पाप कृत्यों के मूल में हिंसा रही हुई है। उपासकों का परम कर्तव्य है कि हिंसा से विरत हों एतदर्थ ही तथागत ने प्राणिमात्र के प्रति प्रेम करने के लिए उत्प्रेरित किया। जो शान्ति के इच्छुक हैं, उनका मानस सरल बने, वे स्वभाव से मृदु हों, विनम्र हों, सन्तोषी हों, अनासक्ति वाले इन्द्रिय संयमी और अप्रगल्भ हों। सभी प्राणी सुखी हों सभी का कल्याण हो और सभी सुखपूर्वक रहें।[5] एक-दूसरे की

१ [illegible] अंगुत्तरनिकाय।
बौद्धिक [illegible] विनयपिटक।
३ [illegible] विनयपिटक।
४ [illegible] दीघनिकाय—८।१।८
५ [illegible] सुखितत्ता ॥—मेत्तसुत्त ४।२

प्रवचना न की जाये, अपमान न किया जाये परस्पर वमनस्य के कारण एक दूसरे को दुख देने की भावना न की जाये। जसे माँ स्वय अपनी चिन्ता न कर अपने प्यारे पुत्र के सरक्षण की चिन्ता करती है, वसे ही असीम प्रेम का धनी व्यक्ति भी दूसरो की चिन्ता करता है। उसके मन म वर भाव नही होता, उसमे प्रेम की लहर उछाल मारती है। उपासक के अन्तमानस म प्रतिपल प्रतिक्षण यह स्मृति सतत बनी रहनी चाहिए। इस ही ब्रह्मविहार कहा गया है। ऐसे स्नेहवान व्यक्ति ही विशुद्ध शील का आराधन कर सकते हैं और पुनजन्म की परम्परा का प्रच्छेद कर मुक्त हो सकते है।[1]

सयुत्त निकाय के अहिंसक सुत्त म बुद्ध ने कहा—'जो तन मन और वचन से हिंसा नही करता है और दूसरे प्राणी को नहा सताता है वह अहिंसक है।" प्रस्तुत परिभाषा अहिंसा की साथक परिभाषा है। तथागत ने हिंसक यज्ञों का तीव्र विरोध करते हुए कहा—'अश्वमेध पुरुषमेध, वाजपेय्य प्रभति यज्ञ जिनम पशुओं की अपार हिंसा होती है वे सवथा अनुचित हैं। दान पुण्य करना यही सब से बडा यज्ञ है। विज्ञों का कतव्य है कि वे यही यज्ञ कर।

पचशील व शिक्षापद

तथागत ने उपासकों को हिंसा, चौर्य, असत्यभाषण, मिथ्याचार सुरा, मेरय्य, मद्य प्रभति सभी नशीले पदार्थों से विरत रहने का सदेश दिया। वे उसे पचशील या पचशिक्षापद भी कहते रहे हैं। पचशिक्षापदों के अन्तस्तल म दश उद्देश्य रहे हुए हैं। (१) सघ की भलाई (२) सघ की सुविधा (३) दुष्ट व्यक्तियों का निग्रह, (४) शीलवान भिक्षुओं का सुखपूर्वक विहार (५) आश्रमों का सयमन (६) श्रद्धालुओं म अधिक श्रद्धा की जागति, (७) अश्रद्धालु मे श्रद्धा के प्रति रुचि (८) भावी जन्मों के आश्रवो का प्रतिघात (९) सद्धम की स्थिति (१०) विनय पर अनुग्रह।[2]

पचशिक्षापदों के माध्यम से श्रद्धाबल लज्जाबल, पापभीरुताबल वीर्यबल और प्रज्ञाबल, इन पंचबलों की प्राप्ति होती है, जिससे वह चार आय सत्य भावना चार स्मृति प्रस्थान भावना, चार सम्यक्प्रधान भावना, प्रभति अनेक भावनाओं का अभ्यास करने लगता है। जिससे उपासक

---

१ मेत्तसुत्त—सुत्तनिपात १ १

२ दसकनिपात उपालिसुत्त—अगुत्तरनिकाय।

का अतमानस विशुद्ध और ऋजु होता है। उपासक इन भावनाओं से प्रत्यक्ष सुख की अनुभूति करता है। चनमित ध्यानो को प्राप्त करता है। बुद्धधम और बुद्ध सघ म निश्चल श्रद्धानिष्ठ होता है।

बुद्ध का प्रथम उपासक यश गहपति था जो वाराणसी का रहने वाला था। उसे बुद्ध ने दान शील स्वगकथा कामवासनाओं का दुष्परिणाम निष्काम साधना का महत्त्व और चार आयसत्य का उपदेश दिया था। बुद्ध ने प्रज्ञा की वद्धि के लिय (१) सत्पुरुषों की सेवा ( ) सद्धम श्रवण (३) योग्य विचार और (४) धम के अनुसार आचरण, इन चार वातो पर बल दिया। बुद्ध न जीवन की अवनति के तीन कारण बताये (१) यौवनमद, (२) आरोग्यमद और (३) जीवनमद। इन तीनों के परित्याग पर उ होन बल दिया। बुद्ध का दृष्टिकोण व्यावहारिक था। उन्होंने जीवन के व्यावहारिक पहलुओं पर ही अधिक चितन किया। उ होने कहा— उपासक का कतव्य है कि (१) भिक्षु को दान दे (२) प्रिय वचन उपकार और समानता का व्यवहार रखे (३) पुत्र माता पिता आदि सभी के साथ मधुर सम्बध रखे।[1]

उपासक का कतव्य

महानाम शाक्य न तथागत से जिज्ञासा प्रस्तुत की कि उपासक का प्रथम कतव्य क्या है ? बुद्ध न कहा—धम और सघ की शरण ग्रहण करना प्राणातिपात आदि से विरत होना, प्रज्ञा, श्रद्धाशील समाधि, त्याग प्रभति भावनाओं को स्वय धारण करे, दूसरों को धारण करने के लिये प्रेरित कर उस स्वय आत्महित भी करना चाहिये और साथ ही परहित भी करना चाहिए।[2] मेधावी व्यक्ति का कतव्य है कि बुद्ध के अनुशासन का सम्यक प्रकार स आराधन कर धमदर्शी बने। बुद्ध ने कहा— भौतिक धन से बढ़कर आध्यात्मिक धन है और वह यह है—श्रद्धा शील, लज्जा पाप भीरुता श्रुति त्याग और प्रज्ञा।[3]

बुद्ध न तृष्णाविजय पर अत्यधिक बल दिया। उन्होंने स्पष्ट कहा—तृष्णा स ही आसक्ति होती है आसक्ति से ममत्व, ममत्व से मात्सर्य मात्सय स गुरुओं और गुरुजित पदाथ की लिये खीचातान दण्डप्रयोग

[1] कन्दर्थिवान—अगुत्तरनिकाय।
[illegible]

शस्त्रप्रयोग कलह, विवाद, पैशुन्य, असत्यभाषण, प्रभृति अनेक दोष उत्पन्न होते हैं।[1]

अवनति के कारण

बुद्ध ने उपासकों को कहा—भिक्षुओं को हानि पहुँचाना, उनका अहित करने का प्रयास करना, उनको आवास से हटाना, उन्हें अशिष्ट शब्द कहना, उनमें परस्पर वैमनस्य उत्पन्न करना, धर्म और संघ की निन्दा करना आदि आठ दुर्गुण हैं जिन्हें धारण करने पर अवनति होती है। उन्होंने अन्य रूप में भी अवनति के कारण बताये हैं। धर्म-द्वेष, असत् पुरुष प्रियता, निद्रा, माता पिता की सेवा न करना, मिथ्याभाषण, स्वादिष्ट भोजन, जाति, धन, गोत्र आदि का अहंकार व अन्य व्यक्तियों का अपमान करना, मिथ्याचार और मदिरापान, परस्त्री गमन आदि भी ऐसे ही कारण हैं, जिनसे अवनति होती है।[2]

उपासकों को प्रेरणा

बुद्ध ने उपासकों को यह प्रेरणा प्रदान की कि वे सद्गुणों को अपनायें। अतिथि का अत्यन्त स्नेह के साथ स्वागत करें। बड़ों का अभिवादन करें, उन्हें बैठने के लिए आसन दें, खाने के लिए श्रेष्ठ पदार्थ दें। जो भी वस्तु उन्हें दी जाय वह बहुत ही आदर के साथ दी जाय। उपासक का कर्तव्य है कि वह अन्य मादक मांस, मद्य, विष आदि का व्यापार न करे। वह संयमी बने और धार्मिक स्थान को बराबर जाता रहे।[3] जिससे उसका मलिन मानस निर्मल और पवित्रतम रह सके।

गृहस्थ जीवन को सुखी बनाने का उपाय

एक बार उग्गह ने तथागत से निवेदन किया—भन्ते! मेरी पुत्रियाँ युवा हो चुकी हैं, उनका विवाह होगा और वे ससुराल में जायेंगी। पति के साथ उन्हें किस प्रकार का व्यवहार करना चाहिए इस सम्बन्ध में आप उन्हें शिक्षा प्रदान करें।

बुद्ध ने कहा—बालिकाओ! गृहस्थ जीवन को सुखी बनाने के कुछ नियम हैं, वे मैं तुम्हें बता रहा हूँ—

1 [illegible]
2 [illegible]
3 [illegible]

(१) पत्नी का कर्तव्य है कि वह पति के शयन करने के पश्चात् निद्रा ले और उसके जागने के पहले वह जागे।

(२) पति की आज्ञा का पूर्ण पालन करे।

(३) सदा-सर्वदा सभी के साथ अत्यन्त मधुर व्यवहार रखे और मधुर भाषा का प्रयोग करे।

(४) माता-पिता, श्रमण-ब्राह्मण और अन्य गुरुजनों का सत्कार करे।

(५) पति का जो भी व्यापार हो उस व्यापार में पूर्ण दक्षता प्राप्त करे जिससे कि वह उसके कार्य में हाथ बटा सके।

(६) अप्रमत्त होकर पति का पूर्ण सहयोग दे।

(७) नौकरों की पूर्ण जानकारी रखे।

(८) रुग्ण व्यक्तियों की अच्छी तरह सेवा करे।

(९) पति के धन-धान्य आदि की पूर्ण सुरक्षा रखे।

इस तरह की गृहिणी ही सच्ची गृहिणी होती है।[1]

माता-पिता के प्रति सन्तान का क्या कर्तव्य है इस पर भी बुद्ध ने चिन्तन विश्लेषण करते हुए कहा—माता-पिता पूज्य हैं, अन्न, पानी, वस्त्र, शयन, गन्ध, माल्य, स्नान, पादप्रक्षालन प्रभृति जो भी उनकी सेवा की आवश्यकता है उनकी सेवा करनी चाहिए। क्योंकि इन दो व्यक्तियों का प्रत्युपकार करना अत्यन्त कठिन है। यदि सौ वर्ष तक एक-एक कन्धे पर माता-पिता को रखा जाय, उनको उबटन, मर्दन, स्नान आदि से सेवा की जाय, [illegible] वे कन्धे पर मल-मूत्र विसर्जन करें तो भी पुत्र उनके [illegible] से उऋण नहीं हो सकता पर श्रद्धावान् माता-पिता को श्रद्धा [illegible] दुराचारी माता-पिता को सदाचारी बनाये, [illegible] त्यागमार्ग पर [illegible] माता-पिता के ऋण से मुक्त हो सकता है।[2]

बुद्ध और गृहस्थ

[illegible] बुद्ध ने यह भी बताया वही व्यापार सफल होता है [illegible] [illegible] जिस भाग में अपनी है [illegible]

उसे किस भाव म बचना है। व्यापारी को वस्तु लेने म दक्षता होनी चाहिए और उसे लेन देन मे अधिक स्पष्टता रखनी चाहिये जिससे कि दूसरा मे यह निष्ठा उत्पन्न हो सके कि यह ब्याज सहित धन लौटाने म समर्थ है।[1]

बुद्ध ने इस बात पर भी बल दिया कि चाहे कुबेर भी क्या न हो, उसकी सम्पत्ति इन कारणों स नष्ट हो जाती है (१) नशीले पदार्थों का सेवन, (२) विकाल मे घर म बाहर घूमना (३) नृत्य और तमाशा (४) द्यूत (५) दुष्ट की मित्रता (६) आलस्य ये एस दुर्गुण हैं जिससे व्यक्ति का जीवन दुर्गुणों का शिकार बन जाता है।

बुद्ध ने शृगाल गहपति को कहा—'जो व्यक्ति पर धन को हरने वाला है केवल बात ही बनाने वाला है जो चाटुकार हो, हानिप्रद कार्यों म सहयोग देता हो, एसा मित्र अमित्र है किन्तु जो उपकारी हो, सुख-दुःख म समान रूप से भाग लेता हो, अर्थ की दृष्टि म जो सहयोग देता हो जिस के अन्तर्मानस मे अनुकम्पा हो जो भूल हो जाने पर परिष्कार करने की क्षमता रखता हो गोपनीय बातों को प्रकट न करता हो, आपत्ति-काल म मित्र के लिए प्राण न्योच्छावर करने के लिए तत्पर हो जो मित्र की निंदा न करे और न सुनें किन्तु प्रशंसा दिन रात करे एसा मित्र समित्र है।' उपासक का कर्तव्य है माता पिता, आचार्य, पत्नी मित्र, म त सभी की सेवा कर, सभी का सम्मान करे, वह बुद्ध धर्म और संघ के प्रति पूर्ण निष्ठावान बनकर उन्हें दान दे और अतिथि को, पथिक को, रोगी और दरिद्र को दान दे।[2] दान देने से बहुजनप्रिय सत्संगति, वंश-वृद्धि और गहस्थ धर्म का पालन करता हुआ वह सुगति को प्राप्त होता है।

तथागत बुद्ध ने कहा—अज्ञों की संगति न करना, विज्ञों की संगति करना, पूज्यों की अर्चना करना, यह श्रेष्ठ मंगल[3] है। अनुकूल स्थानों म निवास करना स्वयं को सन्मार्ग पर लगाना, बहुश्रुत होना, शिष्ट होना सुशिक्षित होना, मिष्टभाषी होना माता पिता की सेवा करना, स्त्री-पुत्र का पालन करना निराकुल रहना दान देना, धर्माचरण करना निर्दोष कार्य करना, पाप-कृत्यों का परित्याग करना, मद्यपान न करना, विनम्र रहना, सन्तुष्ट रहना, कृतज्ञ होना, धर्म श्रवण करना, क्षमाशील होना

---

१ अगुत्तरनिकाय—तिकनिपात।
२ अगुत्तरनिकाय—पचकनिपात।
३ सुत्तनिपात—महामगल सुत्त।

प्रिय लोगों का बिछुड़ना, अप्रिय लोगों का मिलना, वस्तु की चाह होने पर भी प्राप्त न होना—ये सभी दुःख हैं।

(२) दुःखसमुदय आर्यसत्य—मानव को जो भी दुःख प्राप्त होते हैं वे किसी न किसी कारण का फल होते हैं। दुःख की उत्पत्ति का एक ही कारण नहीं है अपितु कारणों की एक लम्बी शृंखला है। प्रस्तुत परम्परा की संज्ञा है—द्वादश निदान। द्वादश निदान का अपर नाम प्रतीत्य समुत्पाद (हेतु परम्परा) है। यह बौद्ध परम्परा का मूल सिद्धान्त है इसका तात्पर्य है किसी वस्तु की प्राप्ति होने पर अन्य वस्तु की उत्पत्ति अर्थात् सापेक्ष कार्य कारणवाद। द्वादश निदान ये हैं—[1] (१) जरामरण (२) जाति (३) भव (४) उपादान (५) तृष्णा (६) वेदना (७) स्पर्श (८) षडायतन (९) नामरूप (१०) विज्ञान (११) संस्कार, (१२) अविद्या। इनमें प्रत्येक पूर्व निदान का कारण पर निदान है। निदान का मुख्य कारण तृष्णा है। वह तृष्णा (१) कामतृष्णा (२) भवतृष्णा (३) विभवतृष्णा के रूप में तीन प्रकार की है। इस तरह समस्त दुःखों का मूल कारण तृष्णा है। द्वादश निदानों में मूल रूप में अविद्या रही हुई है। अविद्या से ही समस्त दुःख उत्पन्न होते हैं, द्वादश निदानों के इस चक्र को संज्ञा "भवचक्र" है।[2]

(३) दुःखनिरोध आर्यसत्य—कारण की सत्ता पर ही कार्य की सत्ता अवलम्बित है। यदि कारण परम्परा का निरोध कर दिया जाये तो कार्य का निरोध अपने आप हो जायेगा। दुःखों का कारण अविद्या है। यदि अविद्या का विद्या के द्वारा निरोध कर दिया जाय तो दुःख निरोध स्वतः हो जाता है अर्थात् जिन जिन कारणों से मानवों को दुःख होते हैं उन उन कारणों से मुक्त हो जाने का भाव, यही दुःखनिरोध है।

(४) दुःख निरोध गामिनी प्रतिपद् आर्यसत्य—अर्थात् निर्वाण मार्ग तथागत बुद्ध ने न तो सांसारिक सुखोपभोग में जीवन व्यतीत करने वाले सुख मार्गियों के मार्ग को और न उग्र व्रताचरण से शरीर को अत्यन्त क्लेश करने वाले तापसों के मार्ग को निर्वाण के लिये उपयुक्त माना। उन्होंने सुख और दुःख के उभय छोरों का परित्याग कर 'मध्यम प्रतिपदा' का प्रतिपादन

---

१ (क) दीघनिकाय—महानिदानसुत्त

(ख) मज्झिमनिकाय—महातण्हासंखयसुत्त

२ भारतीय दर्शन बलदेव उपाध्याय पृष्ठ १८०

कितने ही भिक्ष तो केवल एक घर म ही आहार ग्रहण करत थ और आहार म केवल एक मुट्ठी अन्न लेत थे। कितने ही भिक्ष सात घरा म भिक्षा ग्रहण करते और सात मुट्ठी अन्न ग्रहण करत थे। कितने ही भिक्ष एक बार भोजन ग्रहण करते तो कितने ही दो दिना स, तो कितने ही पन्द्रह दिनो से इस प्रकार वे विविध प्रकार का तप करते थे।

बौद्ध साहित्य स यह भी ज्ञात होता है कि अपने लिय निर्मित भोजन को आजीवक भिक्ष ग्रहण नही करते थे। पर जनसूत्र सूत्रकृताग के उल्लेखानुसार वे अपन लिय निर्मित आहार का गहान्तर स स्वीकार करते थे। वहाँ यह भी सूचन है कि कुछ भिक्ष औद्देशिक आहार को द्विगहान्तर से या त्रिगहान्तर मे भी ग्रहण कर लेते थे। भले ही औद्देशिक आहार का जरा सा भी अश हो, एक सहस्र गहान्तरित भी हो जाय और उसको जो ग्रहण करता है वह भिक्ष द्विपक्ष का सेवन करता है।[1] औपपातिक सूत्र में द्विगहान्तरित शब्द आजीवको के विशेषण के रूप म व्यवहृत हुआ।

आजीवक और जन श्रमण

उत्तराध्ययन की प्रस्तावना मे—डाक्टर हमन जेकोबी ने आजीवक और जन श्रमणो के आचार म समानता बतायी है। पर जन श्रमण और आजीवक श्रमणो के आचार मे बहुत अन्तर है। दीघनिकाय, मज्झिम निकाय म जो उनके उग्र साधना का विश्लेषण है सम्भव है वह वणन सभी श्रमणो का न होकर कुछ विशिष्ट श्रमणो का रहा हो। जन निग्रन्थ श्रमण सचित्त वस्तु का किन्चित मात्र भी स्पर्श नही करत। वहाँ पर आजीवक भिक्ष हरी, अग्निपक्व वनस्पति बीज अन शीतल सचित्त जल आदि भी ग्रहण करते थे। वे छत्र आदि भी ग्रहण करते थे, जब कि जन श्रमण के लिय इन सबका निषेध था।

आजीवक उपासक

भगवती सूत्र आदि के अनुसार—आजीवक उपासक के नियम बहुत कठोर नही थ। व इस प्रकार के नियम पालते थे।

(१) माता पिता की सेवा करना।

(२) गूलर, बड बर सत्तर, और पिप्पल इन पांच फलो का त्याग करना।

---

१ ज किंचि पूइकड सड्ढी आगन्तु ईहिय। सहस्सन्तरिय भुज दुपक्ख चेव सवई॥ — सूत्रकृताग १।१।३

(३) प्याज, लहसुन और कन्दमूल भक्षण न करना

(४) बिना नाथे हुए और अलाछित बैलों से आजीविका चलाना अर्थात बैलों के न कान नाक बींधना और न उनको नपुंसक करना।

(५) त्रस जीवों की हिंसा न करना।

इस से यह स्पष्ट है कि जैन श्रावकों की आचार संहिता और आजीवक गृहस्थों की आचार संहिता में अन्तर था। भगवान महावीर ने भी इस तथ्य को स्पष्ट रूप से सूचित किया था। निश्चय ही इस प्रकार श्रमणोपासक होते हैं। पर इस प्रकार आजीवक-उपासक नहीं होते।[1]

नियतिवादी

इस प्रकार आजीवक मत की आचार संहिता का कुछ रूप आज मिलता है। आजीवक नियतिवादी थे तथापि वे तपोनुष्ठान करते थे। वे आत्मा, कर्म व मुक्ति के अस्तित्व को भी मानते थे। क्रिया अक्रिया, सिद्धि असिद्धि, स्वर्ग नरक प्रभृति प्रत्येक अवस्था नियति के ही आधीन मानते थे। सभी क्रियाएँ करते हुए भी उनका श्रेय नियति को देते थे। आजीवकों की आचार-संहिता व साधना पद्धति कठोर थी। किन्तु सैद्धान्तिक दृष्टि से वे नियतिवादी थे। जैन बौद्ध आचार विधियों से काफी मिलता जुलता उनका आचार मार्ग था। ☐

५ विभिन्न धर्मों में आचार-विधान

भारतीय वैदिक एवं श्रमणधर्म—बौद्ध, आजीवक आदि मतों की आचार संहिता का संक्षिप्त परिचय देने के बाद अब हम अन्य भारतीय तथा भारतीयेतर धर्मों में आचार सम्बन्धी नियमोपनियमों का संक्षिप्त में यहाँ वर्णन करना चाहते हैं।

यहूदी धर्म में आचार

ईश्वर का प्रतिनिधि

विश्व के प्राचीनतम धर्मों में यहूदी धर्म भी एक प्रमुख धर्म है। इसका सम्पूर्ण जातीय जीवन ईश्वरार्पित है। 'याहवेह' (जेहोवा) इसके प्रमुख आराध्यदेव हैं जिसने ही अन्य देवों का सृजन किया है। ये एकेश्वरवादी हैं। इनका विश्वास गीता की भाँति अवतारवाद में नहीं है। इनका यह मानना है कि ईश्वर अद्भुत चमत्कार दिखाकर जन मानस को सम्बोध का पवित्र पाठ पढ़ाता है। मानव ईश्वर का प्रतिनिधि है। मानव अपने पवित्र-चरित्र से धरती पर एक महान आदर्श उपस्थित करता है। जिस मानव का आचरण श्रेष्ठ है उसी पर ईश्वर की भी कृपा होती है और वह उस व्यक्ति को हर तरह से सुखी रखता है। जिन मानवों का आचरण श्रेष्ठ नहीं है जो दुष्ट प्रवृत्ति के होते हैं उन पर ईश्वर की कृपा नहीं होती।

प्रथम कर्तव्य सेवा

यहूदी धर्म का आधारभूत बल मानवता पर रहा है। उनका यह स्पष्ट मानना है कि यदि कोई [illegible] भी तुम्हारे द्वार पर आजाये जो [illegible] है यदि वह भूखा प्यासा है तो तुम उस व्यक्ति को भोजन [illegible] तुम्हारा सर्वप्रथम कर्तव्य है। घृणा से घृणा बढ़ती है और [illegible]। तुम्हारे अन्तःकरण में स्नेह की सरस सरिता प्रवाहित

होनी चाहिए जिससे तुम सभी की सेवा या लाभ ले सको। सत्य ईमानदारी, ब्रह्मचर्य, दया आदि सद्गुणों के आचरण करने के लिए प्रबल प्रेरणा दी है। □

पारसी धर्म में आचार

पारसी धर्म के प्रवर्तक जरथुस्त्र थे। उनका यह अभिमत था कि धर्म चाहे कितना भी उत्तम क्यों न हो यदि वह शास्त्र और ग्रन्थों में ही लिखा रहे किन्तु दैनिक व्यवहार में उसका उपयोग नहीं है तो हमारा उससे कल्याण नहीं हो सकता। अतः उन्होंने दैनिक जीवन में आचरण करने योग्य आचरण संहिता इस प्रकार प्रस्तुत की।

सच्चा और अच्छा पारसी

प्रत्येक व्यक्ति को भलाई करनी चाहिए ऐसा कोई भी कार्य न किया जाय जिससे हानि हो दूसरों को कष्ट हो। भलाई का मार्ग ही सच्चा मार्ग है। पारसी धर्म—हुमता, हुक्त हवरश्त अर्थात नेक विचार नेक वचन और नेक कर्म पर आधृत है। जो जन जन के साथ भलाई और अच्छाई का व्यवहार करता है वही सच्चा और अच्छा पारसी है।

स्नेह की शक्ति

पारसी धर्म ने दूसरा सद्गुण—एकता व स्नेह सौहार्दपूर्ण सद्व्यवहार पर बल दिया है। एक दूसरे में परस्पर विवाद और मनक्लेश हो सकता है किन्तु स्नेह व सद्भावना से उस मनक्लेश को मिटाया जा सकता है। विरोध को दूर कर शान्ति स्थापित की जा सकती है। स्नेह में ही वह शक्ति है जो दो विरोधियों को एक बना सकता है।

सहनशीलता

पारसी धर्म ने तीसरा सद्गुण सहनशीलता को अपनाने के लिए प्रेरणा दी। दूसरों के धर्म और विचारों के प्रति प्रत्येक व्यक्ति को सहनशील तथा उदार होना चाहिए।

स्वार्थत्याग समर्पण

पारसी धर्म ने चौथा सद्गुण—स्वार्थत्याग पर बल दिया है। केवल स्वयं के सुख का ही विचार न कर दूसरों के सुख दुख का प्रथम विचार करना चाहिए। हमारे पास जो कुछ भी बुद्धि शक्ति और अर्थ है वह दूसरों को समर्पित करना चाहिये। सुख वही है जिससे दूसरों को सुख हो, एतदर्थ ही पारसी धर्म वाले प्रतिदिन प्रार्थना करते हैं— उस्ता अहमाय उस्त कमाय चीत'। प्र

अ त करण की पवित्रता

पारसी धम म पाचवाँ सद्गुण बताया है— अन्त करण को पवित्र रखा जाय। अन्त करण की शुद्धि सदा और अब म होती है। इसलिये दूसरे के साथ धत्तनापूर्ण व्यवहार न किया जाय।

सेवा करो

पारसी धम म छठा सद्गुण सेवा धम को ग्रहण करने के लिए कहा है। उनका अभिमत है जब परमात्मा हम लोगों की भूख की ओर ध्यान नहा देता और हमारी सभी आवश्यकताओं की पूर्ति करता है तब ही हम किसी के दुगण न देखकर परमाथ का काय करना चाहिए। जो गरीब व असहाय व्यक्ति उनकी सेवा करनी चाहिए।

निष्ठावान बनो

पारसी धम मे सातवाँ सद्गुण—"निष्ठावान बनना चाहिए इस पर बल दिया है। प्रत्येक पारसी का यह कत्तव्य है कि पगम्बर जरथुस्त्र का अपना सही पथप्रदशक माने उनकी आज्ञा का अक्षरश पालन करे धन दौलत हम साथ नहीं लाय थे और न वह हमारे साथ पर लोक म जायगी ही। हम नतिक आचरण से ही स्वग को प्राप्त कर सकते हैं। एतदथ ही पारसी यह प्राथना करता है— ए परवरदिगार! तू हम पवित्र कर सदाचारी बना य सदगुण ही हम स्वग म काम आयग।'

पारसी धम म जीवन की उन्नति के लिए तीन मत्र दिय है। हुमता— सद्विचार हुख्त—सत्कथन और हुवरस्ता सत्काय। इन तीन के पालन म स्वग और मोक्ष की प्राप्ति होती है।

इस तरह पारसीधम म नतिक आचरण के लिए सद्गुणो का धारण करने पर बल दिया गया है।

ईसाई धम में आचार

मानवतावादी धम

ईसाई धम के प्रवतक महात्मा ईसा थे। ईसा मानवतावादी धम के प्रचारक माने जाते हैं। उनके उपदेशों म आचार सहिता बिखरी पडी है। हम यहाँ ईसाई धम के कुछ प्रमुख सिद्धान्त प्रस्तुत कर रहे हैं।

अहंकार विसजन

जिन मानवों के अन्दर दीनभाव उत्पन्न हो गया है वे धन्य हैं क्या

अन्तःकरण की पवित्रता

पारसी धम म पाँचवाँ सद्गुण बताया है— अन्तःकरण को पवित्र रखा जाय । अन्तःकरण की शुद्धि दया और क्षमा से होती है । इसलिये दूसरे के साथ धत्ततापूर्ण व्यवहार न किया जाय ।

सेवा करो

पारसी धम म छठा सद्गुण सेवा धर्म को ग्रहण करने के लिए कहा है । उनका अभिमत है कि परमात्मा हम लोगों की भूल की ओर ध्यान नहीं देता और हमारी सभी आवश्यकताओं की पूर्ति करता है वैसे ही हम किसी के दुगण न देखकर परमार्थ का कार्य करना चाहिए । जो गरीब व असहाय व्यक्ति हैं उनकी सेवा करनी चाहिए ।

निष्ठावान बनो

पारसी धम म सातवाँ सद्गुण—"निष्ठावान बनना चाहिये इस पर बल दिया है । प्रत्येक पारसी का यह कर्तव्य है कि पैगम्बर जरथुस्त्र को अपना सही पथप्रदर्शक मान उनकी आज्ञा का अक्षरशः पालन करे, धन दौलत हम साथ नहीं लाये थे और न वह हमारे साथ परलोक म जायगी हाँ ! हम नैतिक आचरण से ही खुदा को प्राप्त कर सकते हैं । एतदर्थ ही पारसी यह प्राथना करता है— ए परवरदिगार ! तू हमें पवित्र कर, सदाचारी बना ये सदगुण ही हमें स्वर्ग म काम आयगे ।

पारसी धम म जीवन की उन्नति के लिए तीन मन्त्र दिये हैं । हुमता—सद्विचार हुक्त—सत्कथन और हुवरस्ता सत्कार्य । इन तीन के पालन से स्वर्ग और मोक्ष की प्राप्ति होती है ।

इस तरह पारसीधम म नैतिक आचरण के लिए सद्गुणों का धारण करने पर बल दिया गया है ।

ईसाई धम में आचार

मानवतावादी धम

ईसाई धम के प्रवतक महात्मा ईसा थे । ईसा मानवतावादी धम के प्रचारक माने जाते हैं । उनके उपदेशों म आचार-संहिता बिखरी पड़ी है । हम यहाँ ईसाई धम के कुछ प्रमुख सिद्धान्त प्रस्तुत कर रहे हैं ।

अहंकार विसर्जन

जिन मानवों के अन्दर दम्भभाव उत्पन्न हो गया है वे धन्य हैं क्या

कि भगवान का माम्राज्य उन्हीं व्यक्तियों को प्राप्त होगा। इस उपदेश में अहंकार विसर्जन की भावना रही हुई है। जब तक अहंकार रहेगा, वहाँ तक भगवत चेतना के सदर्शन नहीं हो सकते।

पापों से ग्लानि

उनका दूसरा उपदेश है जो आतभाव से रोते हैं वे धन्य हैं क्योंकि उन्हें भगवान की ओर से आश्वासन प्राप्त होगा। यहाँ पर आतभाव से रोने का तात्पर्य है अपने पापों के प्रति पूर्ण रूप से ग्लानि होना। जब तक पापों के प्रति अन्तहृदय से ग्लानि नहीं होती वहाँ तक सहज रूप से अश्रु नहीं आते।

विनय

उनका तीसरा उपदेश है—विनीत पुरुष धन्य हैं क्योंकि वह विनय सद्गुण से विश्व पर विजय प्राप्त कर लेता है।

तीव्र अभिलाषा

चतुर्थ उपदेश है—जिन मानवों में धर्म आचरण की तीव्र अभिलाषा है, वे धन्य हैं। वे ही धर्म की पूर्णता को प्राप्त कर सकते हैं। जब तक तीव्र अभिलाषा नहीं होती वहाँ तक उसकी गति में प्रगति नहीं हो सकती। गति में प्रगति लाने के लिए तीव्र भावना अपेक्षित है।

दया

पाँचवाँ उपदेश है—दयालु व्यक्ति धन्य हैं क्योंकि वे भगवान की दया को प्राप्त कर सकते हैं। जो स्वयं दयालु है वही दूसरों की दया को प्राप्त करने का अधिकारी है।

अन्तःकरण की शुद्धि

उनका छठा उपदेश था—जिसका अन्तःकरण शुद्ध है, वह धन्य है क्योंकि उसी को ईश्वर का साक्षात्कार होता है। जब तक अन्तःकरण शुद्ध नहीं होता उन्हें ईश्वर के दर्शन भी नहीं होते हैं।

शांति

उनका सातवाँ उपदेश था—जो शांति का प्रचार करते हैं वे धन्य हैं क्योंकि शांति का प्रचार करना भगवान का उत्तराधिकारी कहलाना है।

धैर्य व क्षमा

उनका आठवाँ उपदेश था—धर्म पर दृढ़ रहते हुए यदि कष्ट भी आ जाय तो उन्हें सहन करना चाहिए क्योंकि भगवान् के साम्राज्य को प्राप्त करने के वही अधिकारी हैं।

महात्मा ईसा ने नम्रता, क्षमा, दया, त्याग, शान्ति पर विशेष बल दिया। उन्होंने कहा—यदि तुम्हारे दाहिने गाल पर कोई थप्पड़ भी मार दे तो तुम अपना बायाँ गाल उसके सामने कर दो। यदि तुम्हारा कोई कोट छीन ले तो उसे अपना लबादा भी दे दो। तुम अपने शत्रुओं से प्रेम करो। उनसे घृणा नहीं उन पर उपकार करो। यदि तुम्हें कोई सताए तो तुम उसके कल्याण के लिए प्रभु से प्रार्थना करो। दिखावे से दान की अपेक्षा गुप्त देना अधिक हितावह है। अभिमानी व्यक्ति का पतन होता है और जो अपने आपको लघु मानता है उसकी उन्नति होती है। किसी को भी कटु शब्द न कहो। मन में बुरे विचार मत लाओ। तुम दूसरों की आलोचना निन्दा न करो जिससे तुम स्वयं भी दूसरों की आलोचना व निन्दा से बच सकोगे। ब्याज का धन्धा मत करो। गरीब व्यक्ति थोड़ा भी दान देता है तो वह धनवानों के दान से अधिक महत्त्वपूर्ण है।

महात्मा ईसा को जब सूली पर चढ़ाया गया तब उन्होंने प्रभु से प्रार्थना करते हुए कहा—प्रभो! इन लोगों को क्षमा करदो। क्योंकि ये बेचारे नहीं जानते हैं, कि हम क्या कर रहे हैं। इस तरह ईसा के उपदेश में प्रेम स्नेह और सद्भावना आदि सद्गुणों का आचरण करने की प्रबल प्रेरणा दी गई है। □

इस्लाम धर्म में आचार

परोपकार

इस्लाम धर्म के प्रवर्तक हजरत मुहम्मद हैं, उनका अभिमत है कि दयालु व्यक्ति का यह कार्य है कि वह दूसरों की बुराइयाँ और कमियाँ जानने पर भी उन्हें किसी अन्य व्यक्ति के सामने प्रकट नहीं करे। मानव भूल का पुतला है। जिस दिन मानव कोई भी अपराध न करे, वह दिन ईद का दिन है। व्यक्ति को अपने पापों के अतिरिक्त किसी से भयभीत होने की आवश्यकता नहीं है। जो खुदा के मार्ग पर चलता है वही सही मार्ग पर चलता है। जो धन परोपकार के लिए खर्च किया गया है, वही धन तुम्हारा है। शेष धन तुम्हारा नहीं।

बिना फूल का वृक्ष

इस संसार में धैर्य से बढ़कर कोई चीज नहीं है। बिना आचरण का उपदेश बिना फूल का वृक्ष है जिसमें सौरभ और सौन्दर्य नहीं है। जब तुम्हारे में बदला लेने का सामर्थ्य है तो क्षमा करना सीखो और जब बदला लेने की शक्ति न हो तो सहनशील बनो जिससे तुम्हारा क्रोध नष्ट

हो सके। जो तुम्हारे दोषों को निहारता है उसके प्रति तुम रुष्ट न बनो। क्योंकि वही तुम्हें अपनी भूलें सुधारने के लिए उत्प्रेरित करता है।

सद्व्यवहार करो

जो मानव स्वयं के दोषों को निहारता है उसे दूसरों के दोष देखने का अवकाश नहीं होता। निन्दा करने वाला और सुनने वाला—ये दोनों ही समान रूप से पापी हैं। पेट और उपस्थ (जननेन्द्रिय) को हराम से बचाओ। क्योंकि इन्हीं के कारण से हराम के पाप होते हैं। तुम्हारा कर्तव्य है कि जिसने तुम्हारे साथ असद्व्यवहार किया हो उसके साथ तुम सद्व्यवहार करो।

सदाचार का पालन

तुम चमकते-दमकते हुए वस्त्र भूषा को धारण कर अपने आपको स्वच्छ समझते हो, पर सदाचार ही वह पोशाक है जिसको धारण करने पर कुरूप व्यक्ति भी स्वरूप बन जाता है। यदि तुमने किसी के साथ भलाई पूर्ण व्यवहार किया है तो उसे किसी के सामने प्रगट न करो। यदि तुम्हारे साथ किसी ने सद्व्यवहार किया है तो उसे प्रगट करो। श्रेष्ठ व्यक्ति वही है जो सम्यक् आचरण को धारण कर दुराचार का परित्याग करता है। एकान्त में भी कभी भी दुराचार को न अपनाओ क्योंकि खुदा से कोई भी बात गुप्त नहीं है।

श्रीमंत व्यक्ति वह है जिसने इच्छाओं को नष्ट कर दिया है। जिस की इच्छाएँ बढ़ी हुई हैं, वह व्यक्ति अत्यधिक दुःखी है। जो शांति से जीवन व्यतीत करना चाहता है उसे अपनी इच्छाएँ कम करनी चाहिए।

जहाँ तक हो सके सदा दूसरों की भलाई करो। जो भलाई करता है उसका अन्त सदा भला ही होगा।

कुरआन शरीफ में शराब पीने और जूआ खेलने की मनाई है।[1] यतीमों (अनाथ) की भलाई करने की प्रेरणा दी है।[2] रजस्वला काल में स्त्री प्रसंग वर्जित है।[3] नम्रता, संयम, दया, क्षमा आदि को आवश्यक माना

---

१ कुरआन शरीफ—आयत—२३४

२ वही आयत २४६

३ वही, आयत २३८ २४०

सिख धर्म में आचार

सिख धम की जन्म भूमि भारत ही है किन्तु उस काल की परिस्थितियाँ विदेशी प्रभाव से सम्बन्धित थीं। इस्लाम का बढ़ता प्रभाव और भारतीय धर्मों पर होते आक्रमण को रोकने उनकी सुरक्षा करने की विशेष भावनाओं में सिखधर्म का उदय हुआ। इसलिए इसमें सदाचार के साथ ही वीरता बलिदान और इस्लाम के भाईचारा का प्रभाव भी स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है धर्म गुरु नानकदेव के चिन्तन पर भारतीय उपनिषद् के तत्वज्ञान का गहरा प्रभाव है।

सद्गुणों का आचरण

सिखधर्म के आद्य संस्थापक गुरु नानकदेव थे। उन्होंने कहा—सत्य सबसे श्रेष्ठ है। परन्तु सत्य से भी ऊँचा यदि कोई है तो "आचार" है।[१] जब तक सत्य का आचरण नहीं किया जायगा तब तक सत्य केवल वाणी का विलास होगा। इसलिए सत्य आदि सद्गुणों का आचरण करना आवश्यक है। आचरण से ही मानव का सामाजिक और आध्यात्मिक उत्कर्ष हो सकता है। गुरु ग्रन्थ साहिब में गुरु नानकदेव ने स्पष्ट कहा है—परमात्मा पर विश्वास रखने से मानव बुरे कार्य करने से रुकता है। काम क्रोध मोह लोभ अहंकार, प्रभृति दुर्गुणों पर नियन्त्रण करने से चरित्र उन्नत होता है।[२] निम्न सद्गुणों का आचरण प्रत्येक सिख के लिए आवश्यक है।

(१) सत्य संतोष विचार।
(२) दया धर्म, दान।
(३) लगन, सबर, संयम।
(४) क्षमा निर्धनता सेवा।
(५) प्रेम, ज्ञान और कर्म करना।

धर्म और सदाचार

सिख धर्म में स्त्री और पुरुष को यह समान अधिकार है कि वह अपने जीवन का सुधार करें। उस पाठ करना संगत में जाना, तथा जत्थे के

---

१ सच्चा उरे ममसो ऊपर सच्च आचार। —गुरुग्रन्थ साहिब पृ० ६२।
२ काम क्रोध लोभ मोह मिटाय छुटत दुरमति अपनी धारी।
—गुरुग्रन्थ साहिब, पंचम गुरु अर्जुनदेव।

विरुद्ध लड़ना आवश्यक है।' सिख धर्म में संसार को असार मानकर उसे त्यागने पर बल नहीं दिया किन्तु असार संसार में रहकर सदाचार के मार्ग पर चलने की प्रेरणा दी है। सिख मत में धर्म और सदाचार एक दूसरे के पूरक रहे हैं। जैसे धर्म के बिना सदाचार असम्भव है तो सदाचार के बिना धर्म प्राणरहित है।

इस तरह सिख धर्म में आचार पर प्रकाश डाला है और उसे जीवन का मूल मन्त्र कहा है।

संक्षेप में समस्त धर्मों के आचार सम्बन्धी नियमों में ईश्वर उपासना सत्य, दया, परोपकार, ब्रह्मचर्य, दान और सेवा भाव पर ही विविध रूपों में बल दिया गया है। □

१ जैन-आचार : विहगम अवलोकन

मनोवैज्ञानिक विश्लेषण

जन धम भारत का एक प्रमुख धम और दशन है। यह धम मानव मनोविज्ञान के आधार पर चलता है इसलिए इसका चिन्तन व्यापक व जीवनस्पर्शी है। यह दशन के क्षेत्र म जहाँ सूक्ष्मातिसूक्ष्म परमाणु तत्व का विवेचन करता है वहाँ धम आचार के क्षेत्र म जीवन की प्रत्येक गतिविधि, क्रिया, भावना और वत्तियो का विश्लेषण, समीक्षण, सशोधन और उदात्तीकरण करता है। विचार और आचार को समान महत्त्व देकर दोनो म सामजस्य स्थापित करने का माग बताता है, इसीलिए जन धम म आचार और विचार को ज्ञान और क्रिया का समान महत्त्व दिया है। श्रमण भगवान महावीर ने आचार व नतिकता का जो मनोवज्ञानिक विश्लेषण किया है वह बहुत ही अद्भुत व अनुपम है।

आचार के भेद प्रभेद

नवाङ्गी टीकाकार आचाय अभयदेव[1] ने आचार शब्द के तीन अथ किये हैं—(१) आचरण, (२) आसेवन, (३) और व्यवहरण। जन आगमो म आचार के विभिन्न दृष्टियो से भेद प्रभेद किये गये हैं। कही पर श्रुतधम और चारित्रधम के रूप मे उसके दो भेद है।[2] तो कही सम्यग्दशन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र के रूप म तीन भेद है।[3] तो कही ज्ञान, दशन, चारित्र और तप—ये चार भेद माने हैं।[4] तो कही ज्ञानाचार दशना

---

१ (क) आचरणमाचारो व्यवहार । —स्थानाङ्ग वृत्ति पत्र ६०
  (ख) आचरणमाचारो ज्ञानादि विषयासेवेत्यथ । —स्थानाङ्ग वृत्ति पत्र ३०६

२ स्थानाङ्ग २।७२

३ तत्त्वाथसूत्र

४ उत्तराध्ययन २८।२

चार, चारित्राचार, तपाचार और वीर्याचार—ये पाँच भेद किये हैं।[1] हम गहराई से चिन्तन करें तो ज्ञात होगा कि संख्या भेद होने पर भी सैद्धान्तिक दृष्टि से इनमें कुछ भी मौलिक अन्तर नहीं है। विभिन्न प्रकार से समझाने के लिए भेदों की कल्पना है। श्रुतधर्म में सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान का समावेश हो जाता है और चारित्रधर्म में चारित्र का। इसी तरह चारित्र में तप भी समाविष्ट हो जाता है। आचार के जो पाँच भेद किये गये हैं उनमें प्रथम दो का ज्ञान में और अन्तिम तीन का चारित्र में समाहार किया जा सकता है क्योंकि तप और वीर्य ये दोनों चारित्र साधना के ही अंग हैं। इस तरह ज्ञान और क्रिया में, आचार और विचार में सभी भेदों का समावेश हो जाता है।

ज्ञानाचार

आचार मानव का क्रियात्मक पक्ष है। सम्यक् ज्ञान का सार आचार है। आचार के जो पाँच प्रकार हैं उनमें सबसे प्रथम ज्ञानाचार है। ज्ञान के मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्याय और केवल—ये पाँच भेद हैं। पाँच भेदों में केवल श्रुतज्ञान ही आचरण का विषय है, वही ज्ञान व्यवहारात्मक है।[2] निशीथ भाष्य गाथा ८९ में आचार्य सङ्घदासगणी ने ज्ञानाचार के आठ प्रकार बताये हैं, वे इस प्रकार हैं—

(१) काल—जिस काल में जो कार्य निर्दिष्ट है वह कार्य उसी काल में करना।

(२) विनय—ज्ञान प्राप्त करने के लिए विनम्रतापूर्ण सद्-व्यवहार करना।

(३) बहुमान—अन्तर्मानस में ज्ञान के प्रति अनुराग होना।

(४) उपधान—शास्त्र पठन के समय विविध प्रकार के तप का अनुष्ठान करना।

(५) अनिह्नव—जिस गुरु से अध्ययन किया है उस गुरु के नाम को न छिपाना।

(६) व्यञ्जन—सूत्र का वाचन करना।

---

१ स्थानाङ्ग ५।१४७

२ अनुयोगद्वार २

काल विणय बहुमान उवधाने तहा अणिण्हवण ।
वंजण अत्थ तदुभए अट्ठविहो णाणमायारो ॥८॥

(७) अर्थ—अर्थ को समझना।

(८) सूत्रार्थ- सूत्र और अर्थ का साथ में बोध करना।

दर्शनाचार

आचार का द्वितीय भेद दर्शनाचार है जिसका अर्थ है सम्यक्त्व सम्यक् आचरण। सम्यग्दर्शन का अर्थ है सत्य के प्रति दृढ निष्ठा। दर्शनाचार के आठ अंग हैं, वे इस प्रकार हैं—

(१) निःशंकित—शंका का अर्थ सन्देह और भय दोनों ही है।

शास्त्राचार्य ने उत्तराध्ययन बृहद्वृत्ति[1] में आचार्य हरिभद्र ने श्रावक धर्म प्रकरण (वृत्तिपत्र २०) में, आचार्य अभयदेव ने स्थानाङ्ग वृत्ति पत्र १७६) में, आचार्य हेमचन्द्र ने योगशास्त्र (२।१७) में, आचार्य नेमिचन्द्र ने प्रवचनसारोद्धार (पत्र ६६) में, आचार्य समन्तभद्र ने रत्नकरण्ड श्रावकाचार (१।११) में आचार्य शिवकोटि ने मूलाराधना विजयोदया टीका १।४४) में शंका का अर्थ सन्देह किया है। आचार्य कुन्दकुन्द ने समयसार[2] में शंका का अर्थ भय लिया है। आचार्य श्रुतसागर ने तत्त्वार्थवृत्ति (७।२३) में शंका का भय और शंका दोनों अर्थ किये हैं। इस तरह सम्यक् में निःशंकित का अर्थ है जिनभाषित तत्त्व के प्रति असंदिग्ध होना और सात प्रकार के भयों से भयभीत न होकर अभय होना। यही सम्यग्दर्शन का आचार है।

(२) निष्कांक्षित—कांक्षा के दो अर्थ हैं (१) एकान्त दृष्टि वाले दर्शनों को स्वीकार करने की इच्छा करना।[3] (२) धर्माचरण के द्वारा सुख समृद्धि पाने की इच्छा करना।[4] इन दोनों प्रकार की इच्छाओं से रहित निष्कांक्षित है। वही सम्यग्दर्शन का आचार है।

(३) निर्विचिकित्सा—आचार्य नेमिचन्द्र[5] ने विचिकित्सा के दो अर्थ किये हैं—(१) धर्म के फल में सन्देह और (२) जुगुप्सा—घृणा। आचार्य

---

१ भवन शङ्कितं-शङ्कात्मकं तदभावो निःशंकितम्

—उत्तराध्ययन बृहद्वृत्ति पत्र ५६७

२ सम्मद्दिट्ठी जीवा णिस्संका होंति णिब्भया तेण।
सत्तभयविप्पमुक्का जम्हा तम्हा दु णिस्संका॥

—समयसार गाथा २२८

३ पुरुषार्थ सिद्धयुपाय २४

४ तत्त्वार्थ सूत्र ७।२३ वृत्ति

५ प्रवचनसारोद्धार २६८ वृत्ति पत्र ६४

और सम्यक्चारित्र से अपनी आत्मा को प्रभावित करना और जिनशासन की महिमा और गरिमा बढाना, प्रभावना है।[1] आठ प्रकार के व्यक्ति प्रभावक माने गये हैं।[2] वे इस प्रकार है—

(१) प्रवचनी—द्वादशाग का धारण करने वाला, युगप्रधान आगमो का ज्ञाता पुरुष।

(२) धर्मकथी—धर्म कथा कहने मे कुशल।

(३) वादी—वाद विद्या कला म निपुण।

(४) नमित्तिक—निमित्तशास्त्रो का पारगत।

(५) तपस्वी—तप करने म शूर।

(६) विद्याधर—प्रज्ञप्ति आदि विद्याओ मे पारगामी।

(७) सिद्ध—सिद्धिप्राप्त।

(८) कवि—कवित्व शक्ति से युक्त।

आचार्य हरिभद्र ने सिद्ध के स्थान पर अतिशय ऋद्धि सम्पन्न और कवि के स्थान मे राजाओ के द्वारा सम्मत व्यक्ति को प्रभावक माना है।[3]

दर्शनाचार के ये आठो अग सत्य की आस्था के द्योतक है। कोई भी व्यक्ति जब तक शका आदि दोषो से मुक्त नही होता तब तक वह सत्य की आराधना नही कर सकता और न उनके प्रति सही रूप मे आस्थावान ही रह सकता है। स्वय ने जिस धर्म को स्वीकार किया है या साधर्मिको का उपबृहण स्थिरीकरण वात्सल्य और प्रभावना विना किये कोई भी व्यक्ति सत्य की उपासना करने मे दूसरो का सहयोगी नही हो सकता। इस दृष्टि से इन अगो का महत्त्व रहा है।

चारित्राचार

आचार का तृतीय भेद चारित्राचार है। चारित्राचार का अर्थ है समिति-गुप्ति रूप आचरण। समिति का अर्थ है सम्यक् प्रवर्तन। जो प्रवृत्ति अहिंसा से समन्वित है वह समिति है और गुप्ति का अर्थ है निवर्तन। समिति गुप्ति के आठ प्रकार हैं।[4] पाँच समितियाँ और तीन गुप्तियो का

---

१ उत्तराध्ययन बृहद्वृत्ति पत्र ५६७

२ योगशास्त्र २।१६ वृत्ति पत्र ६५

३ श्रावक धर्म विधि प्रकरण श्लोक ६७

४ पणिहाण जोगजुत्तो पचहि समितीहिं तिहिं य गुत्तीहि
एस चरित्ताचारो अट्ठविहो होति णायव्वो॥—निशीथ भाष्य गाथा ३५

की सना दी है। कितना व्यापक दष्टिकोण है महावीर का। यदि ज्ञान और आचार विभक्त हैं, एक दूसरे के पूरक नही है एक दूसरे म समन्वय नहा है ता वह ज्ञान, ज्ञान नही है, आचार भी सही आचार नही है। ज्ञान और आचार ये दोनो एक सिक्के के दो पहलू ह।

जन आचार का आधार

जन आचार क मूल म अहिंसा की उदात्त भावना रही हुई है। अहिंसा के आधार पर ही जैन आचार विकसित हुआ है। आचाराग सूत्र मे श्रमण भगवान महावीर की जो जीवन गाथा दी गई है महावीर न जो साधना-काल मे भयकर कष्ट व उपसग सहन किये उन सभी कष्टो क सहन करन म भी अहिंसा की उदात्त भावना ही निहित रही है। भगवान महावीर की भाति उग्र साधना करना सामान्य साधक के लिए कठिन ही नही, अपितु असम्भवप्राय है। अहिंसा का सम्यग प्रकार स पालन करन क लिए आवश्यक है कि गहस्थाश्रम का त्याग किया जाये। गृहस्थाश्रम म रहकर अहिंसा का पूर्ण पालन नही हो सकता। गहस्थाश्रम को छोड कर श्रमण बनना ही पर्याप्त नही माना गया किन्तु श्रमण-जीवन ग्रहण करने के पश्चात भी एसी आचार सहिता निर्माण की गई जिसस उसक जीवन म अधिकाधिक अहिंसा का पालन हो सके। श्रमण के लिए न अशन का निर्माण किया जाय, न वसन का और न भवन का ही निर्माण किया जाय। यदि श्रमण को यह परिज्ञात हो जाये कि य मेरे लिए निर्मित है, या पुराने म अभिनव सस्कार का नूतन रूप दिया गया है ता उस भिक्षु ग्रहण नहा करता। भिक्षु का जीवन निराला जीवन है। वह उद्दिष्टत्यागी है। जो वस्तु अनुद्दिष्ट है और वह वस्तु उसक उपयोगी है ता उस वह ग्रहण करता है। दशवकालिक[1], प्रश्न व्याकरण (१।१५) सूत्रकृताङ्ग (१ ६ १४) और उत्तराध्ययन (२०।४७) आदि आगम साहित्य म अनक स्थलो पर औद्देशिक आहार आदि ग्रहण करने का निषेध किया गया है। जो श्रमण औद्देशिक आहार की गवषणा करता है वह उद्दिष्ट आहार के निर्माण म होने वाली त्रस-स्थावर जीवो की हिंसा की अनुमोदन करता है। इसलिए उद्दिष्ट आहार हिंसा और सावद्य से युक्त होन से श्रमणो के लिए अग्राह्य है। यही कारण है कि जन श्रमण किसी भी गहस्थ के यहा भोजन व निमत्रण को स्वीकार नही करता। जबकि वदिक परम्परा के सन्त और

---

१ दशवकालिक ३।२ ५।१।५५ ६।४८ ४९ ८।२३ १०।४

बौद्ध परम्परा में भिक्षु निमंत्रण को स्वीकार कर उद्दिष्ट आहार ग्रहण करते थे।

प्राचीन काल में वैदिक परम्परा के ऋषियों के लिए आश्रमों की व्यवस्था थी। बड़े-बड़े आश्रमों के उल्लेख मिलते हैं। भगवान महावीर भी अपने साधनाकाल के प्रथम वर्ष में 'दुइज्जत' तापसों के विशाल आश्रम में ठहरे थे। बौद्ध भिक्षुओं के लिए अनेक विशाल विहार निर्माण किये गये थे। किन्तु जैन श्रमणों के लिए वहाँ भी स्थानक या उपाश्रय नहीं बनाये गये थे, क्योंकि श्रमणों के लिए निर्मित भवनों में श्रमण नहीं ठहरा करते थे।

जैन श्रमण वस्त्रों का उपयोग करते थे, पर विशेष मर्यादा के साथ। अत्यन्त बहुमूल्य, रंग-बिरंगे वस्त्र वे धारण नहीं करते थे, जबकि बौद्ध भिक्षु बहुमूल्य वस्त्र धारण करते थे। उनके वस्त्र खरीदे हुए भी होते थे। भक्त गणों की ओर से भिक्षुओं के लिए वस्त्रदान की व्यवस्था भी थी। किन्तु इस प्रकार जैन श्रमण वस्त्र आदि नहीं लिया करते थे। वे निर्दोष वस्त्र मिलने पर अपनी मर्यादानुसार ही वस्त्र लेते थे। और आवश्यकतानुसार ही उनका उपयोग करते थे। इस तरह जैन श्रमण के प्रत्येक आचरण में अहिंसा की सूक्ष्मातिसूक्ष्म भावना परिलक्षित होती है।

अहिंसा आधार है

अहिंसा महाव्रत से ही विकसित होने वाले सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इन पाँचों महाव्रतों का सम्यग् रूप से पालन करना श्रमण जीवन के लिए अनिवार्य था। रात्रिभोजन का परित्याग भी अहिंसा महाव्रत के पालन के लिए आवश्यक था। और वह महाव्रत की भाँति ही एक व्रत के रूप में श्रमण जीवन का आवश्यक अंग बन गया। जैन श्रमण का जीवन भिक्षा पर अवलम्बित है। पर वह भिक्षा नवकोटि विशुद्ध होनी चाहिए। सभी वस्तुएँ उसे माँगने से ही प्राप्त होती हैं।[1]

श्रमण को भिक्षा में चाहे इष्ट पदार्थ प्राप्त हो चाहे अनिष्ट पदार्थ प्राप्त हो, वह उसका समभावपूर्वक उपयोग करता है। उसमें किंचितमात्र भी आसक्ति और गृद्धि नहीं होनी चाहिए। भगवान् महावीर ने उग्र तप की

---

१ विनयपिटक महावग्ग ६।८।३ पृ० २८
उत्तराध्ययन [illegible] ।२८ — [illegible] होइ नत्थि किंचि अजाइयं ।

नियमोपनियमों का निर्माण किया है। जैन आगमों के सर्वप्रथम संस्कृत टीकाकार आचार्य हरिभद्र ने यह स्पष्ट कहा है कि जो भी नियम संयम साधना में अभिवृद्धि करते हों और असंयम की प्रवृत्ति का निरोध करते हों वे नियम भले ही किसी के द्वारा निर्मित क्यों न हों, ग्राह्य हैं। हमें शब्द-जाल में न उलझ कर भाव को ग्रहण कर मूल सिद्धान्तों का अनुसरण करते हुए विधि निषेधों का परीक्षण करना चाहिए।

आत्मौपम्य दृष्टि

मेरी दृष्टि से जैन आचार का हार्द 'आत्मौपम्य दृष्टि' में रहा हुआ है।[1] इस विराट विश्व में ऐसा कोई भी प्राणी नहीं है जिसे कष्ट पसन्द हो, दुःख की इच्छा करता हो। जब हम स्वयं को कष्ट पसन्द नहीं है तो दूसरों को किस प्रकार कष्ट पसन्द होगा। अतः हमें क्या अधिकार है कि हम दूसरों को कष्ट दें। प्रस्तुत आत्मौपम्य दृष्टि से ही सम्पूर्ण जैन आचार शास्त्र का निर्माण किया गया है। आचारांगसूत्र आदि आगमों में सर्वत्र यही ध्वनि मुखरित हुई है। यह आत्मौपम्य दृष्टि ही सामायिक है। समभाव की साधना है। समभावी साधक ही समभाव की सतत साधना करता हुआ सावद्य प्रवृत्ति का परित्याग करता है। सामायिक चारित्र से ही अन्य चार चारित्र विकसित हुए हैं। सामायिक व्रत का विस्तार ही पाँचों महाव्रत हैं। इस तरह आत्मौपम्य दृष्टि या सामायिक जैन आचार की नींव की ईंट के रूप में है। भले ही वह महाव्रतों की भाँति दिखाई नहीं देती हो, पर उसका अपना महत्त्व है।

जिस साधक में आत्मौपम्य दृष्टि विकसित हो चुकी है वह अपने या दूसरों के स्वार्थ के लिए किसी भी प्राणी को पीड़ा नहीं देता। जैन दृष्टि से सम्पूर्ण लोक में जीव भरे पड़े हैं। ऐसा कोई भी स्थान नहीं जहाँ पर जीव न हों। प्रत्येक व्यक्ति श्वासोच्छ्वास भी ग्रहण करता है। श्वासोच्छ्वास जैसी सामान्य क्रियाओं में भी जीवों को कष्ट होता है। ऐसी स्थिति में आत्मौपम्य दृष्टि वाले साधक को संसार में किस प्रकार रहना, यह ज्वलन्त प्रश्न है। इस प्रश्न का समाधान जैन मनीषियों ने किया है कि साधक जो भी कार्य करे वह विवेक के साथ करे। यतना के साथ करे। यतना के साथ किये गये कार्य से पाप कर्म का अनुबन्ध नहीं होता। यतना का ही अपर नाम 'अप्रमा

---

१ जं इच्छसि अप्पणतो, जं च न इच्छसि अप्पणतो।
तं इच्छ परस्स वि य, एत्तियगं जिणसासणं॥

है। आचारांग में अनेक बार यह कहा गया है कि प्रमाद हिंसा है और अप्रमाद अहिंसा है। अप्रमत्त साधक को सतत सावधान रहना चाहिए। जो सतत सावधान रहता है उससे कभी भी स्खलनाएँ नहीं होती भूल नहीं होती यदि कदाचित् अप्रमत्त स्थिति में किसी जीव को पीड़ा भी हो जाती है तो भी देने की बुद्धि न होने से वह हिंसा नहीं है अपितु अहिंसा ही है। इसलिए आत्मौपम्य दृष्टि के साथ ही अप्रमाद को स्थान दिया गया है। जो प्रतिपल प्रतिक्षण जागरूक है सावधान है, अप्रमत्त है वह आत्मौपम्य दृष्टिसम्पन्न होगा और उसका आचरण सम्यक् आचरण होगा।

समभाव

जैन आचार के मूल में समभाव होने से वह साधक हिंसा से स्वतः ही निवृत्त होता है। उसके जीवन में अहिंसा का विस्तार होता है। कषाय की अत्यधिक अल्पता होने से वह न द्रव्यहिंसा करता है और न भाव हिंसा ही करता है। उसके अन्तर्मानस में अनासक्ति होती है जिससे बाह्य परिग्रह भी उसे प्रभावित नहीं करता। अनासक्ति के कारण वह न स्तेय कृत्य करता है और न कंचन व कान्ता ही उसके मन को मुग्ध करती है। बाह्य प्रवृत्तियाँ में स्वतः ही सकोच होने लगता है और वह निवृत्तिप्रधान जीवन जीने लगता है। यह सत्य है कि पूर्णतया निवृत्ति जिनकल्पी श्रमणों में होती है क्योंकि उन्हें अपनी साधना में ही लगा रहना होता है संघ आदि से उनका कोई सम्बन्ध नहीं होता पर स्थविरकल्पी श्रमणों को संघ समुत्कर्ष के लिए उसके प्रचार प्रसार और उसको सुस्थिर रखने के लिए प्रवृत्ति भी करनी पड़ती है पर प्रवृत्ति उसका लक्ष्य नहीं है उसका लक्ष्य तो प्रवृत्ति का परित्याग करना ही है और निवृत्तिमय जीवन जीना है। जिन विषाक्त तत्त्वों से सामाजिक जीवन कटु बनता है परस्पर संघर्ष व टकराहट पैदा होती है उन सभी जन जीवन की बुराइयों को नष्ट कर वह एक स्वस्थ सामाजिक जीवन का आधार प्रस्तुत करता है।

चरित्रहीन समाज के लिए घातक है

भगवान् महावीर व्यक्ति-सुधार के महान पक्षधर थे। व्यक्ति सुधार की दशा में जब आगे बढ़ता है तब समाज अपने आप सुधरने लगता है। व्यक्ति समाज की प्रथम इकाई है। व्यक्तियों का समूह ही समाज है। समाज को सुधारने के लिए व्यक्ति का पहले सुधरना आवश्यक है। व्यक्तिगत जीवन में जब निवृत्ति का विराट सागर लहराने लगता है तब सामाजिक जन जीवन की प्रवृत्ति विशुद्ध हो जाती है। व्यक्तिगत जीवन की विशुद्धि

के लिए यह आवश्यक ही नहीं अनिवार्य है कि जब राग द्वेष की निवृत्तियाँ से अन्य प्रवृत्तियों में निवृत्ति से जिसका उसका अन्तःकरण परम विशुद्ध होगा। व्यक्ति अपने स्वार्थ और वासनाओं पर नियन्त्रण नहीं कर सकता वह व्यक्ति सामाजिक जीवन जीने का अधिकारी नहीं है। चरित्रहीन व्यक्ति समाज के लिए घातक है। जैन धर्म में जो सामाजिक स्तर के लिए निवृत्ति का स्वर मुखरित हुआ है वह इसलिए हुआ है कि आचारनिष्ठ व्यक्ति ही अपने व्यक्तिगत स्वार्थ से ऊपर उठकर आदर्श समाज का नव्य भव्य निर्माण कर सकता है। वैयक्तिक जीवन की निवृत्ति ही सामाजिक प्रवृत्ति का मूल आधार है। अशुभ से निवृत्त होकर ही व्यक्ति शुभ में प्रवृत्ति कर सकता है। यह स्पष्ट है कि जैन धर्म का निवृत्तिपरक होना सामाजिक विमुखता का द्योतक नहीं है अपितु सामाजिक उन्नति का ही प्रतीक है।

लोकहित की भावना

जैन धर्म और दर्शन का गहराई से अध्ययन करने पर यह भी स्पष्ट होता है कि निवृत्तिप्रधान होने पर भी उसमें लोकहित व लोकमंगल की भव्य भावना अठखेलियाँ कर रही है, तीर्थंकर जो जैन संस्कृति के महान पुरस्कर्ता हैं उनका जीवन लोकमंगल का ज्वलंत उदाहरण है। शक्रेन्द्रस्तव में तीर्थंकर के लिए लोकनाथ, लोकहितकर, लोकप्रदीप प्रभृति विशेषण इस बात के द्योतक हैं कि उनके जीवन के कण-कण में मन के अणु-अणु में लोकमंगलकारी भावना की स्वर लहरियाँ झंकृत हो रही थी। तीर्थंकर सभी प्राणियों के अनुग्रह के लिए अपना पावन प्रवचन करते हैं। लोकहित की उदात्त भावना के कारण ही उनकी पीयूषवर्षी वाणी हजार हजार धारा के रूप में प्रवाहित होती है। सामान्य केवली में और तीर्थंकर में आध्यात्मिक दृष्टि से परिपूर्णता समान है पर लोकहितकारी दृष्टि सामान्य केवली से तीर्थंकर में विशेष होती है जिसके कारण वे अन्य सामान्य केवलियों से श्रेष्ठ और श्रेष्ठ माने गये हैं।

आत्महित और लोकहित

जैन धर्म का यह स्पष्ट मन्तव्य है कि परार्थ के लिए स्वार्थ का त्याग करना सर्वथा उचित है किन्तु आत्मार्थ का नहीं। जन-जन के कल्याण के लिए वैयक्तिक भौतिक उपलब्धियाँ सहर्ष समर्पित की जा सकती हैं और करना भी चाहिए पर आध्यात्मिक विकास व वैयक्तिक सद्गुणों का लोकहित के नाम पर विसर्जन करना सर्वथा अनुचित है।

जो लोकहित व्यक्ति के चारित्रिक समुत्कर्ष को अवरुद्ध करता है उसके पवित्र चरित्र के प्रभापुञ्ज को आच्छादित करता है वह लोकहित उसे स्वीकार नहीं है। लोकहित और आत्महित दोनों में यदि प्राथमिकता किसे दी जाये यह प्रश्न समुत्पन्न होने पर वह पहले आत्महित को प्राथमिकता देता है। आत्महित के साथ ही यथाशक्य लोकहित भी करता है। उसका आत्म हित स्वार्थवाद पर आधृत नहीं है वह तो निष्काम है। आत्मार्थी को भौतिक उपलब्धि की आकांक्षा नहीं होती। वह राग द्वेष की द्वन्द्वात्मक स्थिति से ऊपर उठा हुआ होता है। उसके उदात्त मानस में स्व और पर की भेद रेखा नहीं होती। जहाँ राग की प्रबलता होती है वहाँ पर यह मेरा है और यह पराया है यह भावना पैदा होती है। राग की न्यूनता होने पर अपने और परायेपन की विभेद रेखा धीरे धीरे समाप्त हो जाती है। वहाँ आत्महित ही लोकहित होता है और लोकहित ही आत्महित है। यही कारण है कि आचारांगसूत्र में धर्म की परिभाषा करते हुए समता को ही धर्म कहा है।[1] समता धर्म है और विषमता अधर्म है। समता से सामाजिक व वैयक्तिक जीवन सुखी बनता है और विषमता से सामाजिक व वैयक्तिक जीवन दुखी बनता है।

विषमता का मूल कारण भी राग और द्वेष ही है, जो अधर्म है। लोभवृत्ति के कारण ही संग्रहवृत्ति पनपती है जिससे शोषण अप्रामाणिकता क्रूर व्यवहार प्रभृति विकार पनपते हैं। क्रोध के कारण आवेश, संघर्ष युद्ध व हत्याएँ होती हैं। अभिमान के कारण व्यक्ति अपने आपको महान समझता है और दूसरों के साथ घृणापूर्ण क्रूर व्यवहार करता है। माया के कारण अविश्वास और अमैत्रीपूर्ण व्यवहार किया जाता है। इन चार कषायों से सामाजिक जीवन दूषित होता है। सामाजिक विषमताओं को समाप्त कर सामाजिक जीवन में समत्व की स्थापना करने के लिए ही समता पर बल दिया गया है।

आधुनिक युग में कार्ल मार्क्स ने आर्थिक वैषम्य को मिटाने के लिए साम्यवादी विचारधारा के रूप में जो सिद्धान्त प्रस्तुत किये हैं वे आर्थिक विषमता को मिटाने में सक्षम तो हैं पर उनमें कमी यही है कि वे थोपे जाते हैं अन्तर से उद्बुद्ध नहीं होते। जब तक व्यक्ति की अन्तर् चेतना समत्व के लिए तैयार नहीं होती तब तक समानता के नारे सिर्फ नारे मात्र

---

१ समियाए धम्मे आरिये हिं पवेइए। —आचारांग १।८।३

रहते है। बाह्य दवाव के कारण सही नतिकता प्रकट नहीं हो सकती। कानून ने दवाव से लादा गया आर्थिक साम्य समत्व को पदा नहीं कर सकता। इसलिए जन धम ने अपरिग्रह वत्ति पर बल दिया है और साधकों को सविभाग करने को उत्प्रेरित किया है। जो साधक सविभाग नहीं करता है उसका मोक्ष भी नहीं होता।[1] इसलिए सविभाग की प्रवृत्ति समाज में प्रचलित हो जाये तो आर्थिक वषम्य कुछ समय के लिए भी ठहर नहीं सकता और स्नेह व सदभावना का सरगब्ज बाग लहरा सकता है।

समता और अनेकान्तवाद

समाज में द्रौपदी के दूकुन की तरह जो भ्रष्टाचार पनप रहा है उसका ह्रद भी टटोला जाय तो व्यक्ति के अन्तर्मानस में पनपती हुई असीम सग्रहेच्छा व विस्तीण भोगेच्छा रही हुई है। आवश्यकता नहीं किन्तु तृष्णा इतनी अधिक बढ चुकी है कि उसकी पूर्ति कभी भी सभव नहीं है। इसलिए जन गहस्थ की जो आचार सहिता है उसमें पाँचवाँ, छठा, सातवा और आठवा व्रत में इस बात पर अत्यधिक बल दिया है कि गहस्थ अपने नतिक जीवनोत्कर्ष के लिए इन व्रतों को ग्रहण करे। परिग्रह और उपभोग्य वस्तुओं की सीमा सकुचित करे और साथ ही वैचारिक सघर्ष से मुक्त होने के लिए अनेकान्तवाद के सिद्धान्त को अपनाये जिससे सवत्र समता स्थापित हो सकती है। सच्ची शान्ति और वास्तविक आनन्द प्राप्त हो सकता है।

□

२ जैन आचार का आधार सम्यग्दर्शन

जन आचार का मूलाधार

किसी भी महल या भवन की सुन्दरता विशालता व कलात्मकता को देखकर दर्शक प्राय मुग्ध होकर उसकी प्रशसा करने लगते हैं, पर भवन निर्माण की कला—वास्तुकला का विशेषज्ञ सिर्फ उसकी बाहरी विशालता व रमणीयता पर रीझ कर ही नही रह जाता वह उसके निर्माण के मूलाधार—नींव (फाउन्डेशन) तथा निर्माण म प्रयुक्त सामग्री आदि के विषय म गहराई स देखता है और उसी आधार पर उसकी सराहना करता है।

जन दशन धम व आचार का विशाल भव्यप्रासाद सभी को मुग्ध व प्रभावित करने म समथ है, पर इस विषय का विशेषज्ञ जानना चाहेगा कि इस दशन व धम का आधार क्या है ? किन महत्तत्त्वो के आधार पर यह भव्य प्रासाद टिका है ? यह जिज्ञासा सहज है उपयोगी भी है।

प्रस्तुत जिज्ञासा पर जन मनीषियो ने विभिन्न दष्टियो से चिन्तन किया है। कही पर जन आचार का मूल आधार विनय[1] माना है, कही पर दया[2] को तो कही पर दान को और अ य जितने भी मानवीय सद्गुण हैं उनको भी अपेक्षादष्टि से मूल आधार कहा गया है। अध्यात्म जगत् के एक महान तत्त्वचिन्तक ने कहा है कि जन धम दशन और आचार व संस्कृति

---

१ (क) विणओ धम्मस्स मूलो—दशव ९।२।२ (ख) नाताधमकथा ५

२ जिनसेन महापुराण २१।५।६२

का मूल है "सम्यग्दर्शन" —दसण मूलो धम्मो।[1] जैन आचार का प्राण सम्यग्दर्शन है उसका हृदय श्रद्धा में रहा हुआ है। जितनी हमारी निष्ठा, सद्भावनाएँ पवित्र आचरण के प्रति होगी लक्ष्य के प्रति होगी उतना ही जीवन चमक उठेगा, साधना खिल उठेगी।

सम्यग्दर्शन में सत्य तत्त्व का बोध भी रहता है और उस पर आस्था भी। बोध विचार है विचार परिपक्व होने पर आचार का रूप लेता है, इसलिए सत्योन्मुखी विश्वास को आचार का आधार मानना दर्शन और मनोविज्ञान की दृष्टि से सर्वथा सगत है। आगे हम इसी तथ्य पर चिन्तन करेंगे।

जैन साधना का लक्ष्य

आज का युग वैज्ञानिक युग है। भौतिकवाद की चकाचौंध में मानव सुख शांति और सन्तोष को प्राप्त करने के लिए लक्ष्यहीन व्यक्ति की तरह भटक रहा है। वैभव विलास में अटक रहा है। जैन साधना का लक्ष्य भोग नहीं त्याग है संघर्ष नहीं शांति है विषमता नहीं समता है विषाद नहीं आनन्द है, और वह तभी प्राप्त हो सकता है जब जीवन में विमल विचार हो पवित्र आचार हो। अध्यात्म के अभाव में भौतिक उन्नति वरदान के रूप में न होकर प्रलयकारी अभिशाप बन जाती है। सत्ता और सपत्ति के स्थान पर यदि मानवता से प्रेम किया जाय तो विश्व में अपूर्व शांति हो सकती है।

विश्वास की आवश्यकता

यह सत्य है कि विज्ञान एक महान शक्ति है, पर उसका उपयोग किस तरह से किया जाय इसका समाधान अध्यात्म और दर्शन ही दे सकता है। विज्ञान ने भौतिक तत्त्वों का विश्लेषण तो किया है, किन्तु आन्तरिक सत्य की उपेक्षा की है। अतः वह ज्ञान होते हुए भी सम्यग्ज्ञान नहीं है। जब तक ज्ञान का सम्यग्दर्शन का वरदान प्राप्त न हो, वहाँ तक उसमें परिपूर्णता नहीं आती। सम्यग्दर्शनरहित ज्ञान और विज्ञान अमानवीय पाशविक प्रवृत्तियों को जगाता है घृणा, प्रतिशोध और प्रतिस्पर्धा की भावना को उभारता है। रूढ़िवाद, परम्परावाद और अन्धविश्वास का पोषण करता है। वह अनास्था अनाचार और अशान्ति में जन जीवन को पीड़ित करता

---

1 आचार्य कुन्दकुन्द—दर्शन पाहुड

है। ज्यों ही सम्यग्दर्शन का सम्पर्क होता है त्यों ही ज्ञान ज्ञान के रूप में असदाचार—सदाचार के रूप में और मिथ्याचार सम्यक्आचार के रूप में परिवर्तित हो जाता है।

आज आवश्यकता है आध्यात्मिक सत्य का उजागर करने की। भौतिकवादी अन्धेरे में पथ कुरेदने की जरूरत की। वह कुरेदन इससे ही प्रात होगा कि जीवन क्या है? जगत क्या है? बंध और मुक्ति क्या है? क्या आत्मा इस विराट विश्व में परिभ्रमण कर रहा है? सबसे पहले आवश्यकता है—विश्वास की उसके बाद विचार की और उसके पश्चात आचार की। बिना सम्यग्विश्वास के विचार में निर्मलता व दृढ़ता नहीं आ सकती विचार के निर्मल हुए बिना आचार में पवित्रता नहीं आ सकती। जब स्वयं की आत्मशक्ति पर सर्वप्रथम विश्वास होता है तभी विचार को जीवन की धरती पर उतारा जा सकता है। आचार बनता है विचार से और विचार बनता है विश्वास से। पर विश्वास, विचार और आचार—ये कहीं बाहर से नहीं आते। वे तो आत्मा के निजगुण हैं। उन गुणों का विकास करना जो गुण आच्छन्न हैं उन्हें प्रकाश में लाना ही स्वरूप की उपलब्धि है और जब स्व स्वरूप की उपलब्धि हो जाती है तब साधना सिद्धि में बदल जाती है।

शक्ति की अभिव्यक्ति

भारतीय मूर्धन्य मनीषियों का यह अभिमत है कि आत्मा सूर्य के समान तेजस्वी है किन्तु कर्म की घटाओं से घिरा हुआ है जिससे उसके दिव्य प्रकाश पर आवरण आ गया है। उसका विशुद्ध स्वरूप लुप्त हो गया है। आत्मा केवल आत्मा ही नहीं स्वयं परमात्मा है, परब्रह्म है, ईश्वर है। 'अप्पा सो परमप्पा' 'तत्त्वमसि' और 'सोऽहं' उसी विराट सत्य को व्यक्त कर रहे हैं। विश्व की प्रत्येक आत्मा में शक्ति का अनन्त स्रोत प्रवाहित है। जो आत्माएँ हम दिखाई दे रही हैं वे मूल स्वरूप में वैसी नहीं है। वे बद्ध अवस्था में हैं। पर एक दिन वे मुक्त होंगी क्योंकि मुक्त होने की वे पूर्ण अधिकारी हैं। अधिकारी वह कहलाता है जिसे अपनी शक्ति पर पूर्ण विश्वास हो। भिखारी को अपनी शक्ति पर विश्वास नहीं होता। वह तो दूसरों की करुणा पर पनपता है। वह सतत चिन्तन करता रहता है—मुझे दूसरे से ज्योति प्राप्त होगी। आवश्यकता शक्ति की प्राप्ति की नहीं है जो अनन्त शक्ति हम में छिपी हुई है उसे अभिव्यक्त करने की है। निज शक्ति को अभिव्यक्त करने की कला ही सम्यग्दर्शन है। यह हम

जानते हैं कि एक ा०गे वीज म विराट वक्ष ने रूप म पनपन की शक्ति रही हुई है। उस शक्ति की अभियक्ति के लिए अनुकूल धरती, पानी, पवन और प्रकाश की आवश्यकता है। साधना के क्षेत्र म भी साधक को अपनी आत्मशक्ति व्यक्त करने के लिए अशुभ से शुभ म, शुभ से शुद्ध म जाना होता है। स्व स्वरूप म रमण करने के लिए मूल सत्ता पर उसे विश्वास करना होता है।

सम्यग्दर्शन की परिभाषा

आचाय उमास्वाति ने सम्यग्दशन की परिभाषा करते हुए लिखा है—'तत्त्वार्थश्रद्धान सम्यग्दशनम्'[1] तत्त्वों का सही श्रद्धान सम्यग्दशन है। तत्त्वों की सख्या के सम्बन्ध म आचाय एक मत नहीं है। कही पर नौ पदाथ' बताये गये हैं कही पर सात तत्त्वों का निरूपण है तो कही पर दो तत्त्वों म ही सबका समावेश किया गया है।[2]

विवक्षा की दृष्टि से नौ सात और दो का विभाजन है पर वास्तविक दृष्टि से तत्त्व दो ही हैं—जीव तत्त्व और अजीव तत्त्व। पुण्य पाप आस्रव और बन्ध इन चार तत्त्वों का समावेश अजीव तत्त्व के अन्तगत किया जा सकता है। सवर निजरा और मोक्ष ये जीव तत्त्व के अन्तगत गिने जा सकते हैं। इस प्रकार मुख्य रूप से दो तत्त्व हैं—चेतन और जड। आत्मा के असख्य प्रदेश हैं। उन असख्य प्रदेशों म एक एक प्रदेश पर अनन्तानन्त कर्मों की वगणाएँ लगी हुई है, जो जड है। उन वगणाओं के कारण आत्मा अपने निजस्वरूप को नहीं पहचान पाता। जसे स्फटिक के पास गुलाब का फूल रखने से वह स्फटिक गुलाबी रंग का प्रतीत होता है वैसे ही आत्मा शुद्ध स्फटिक के सदृश निर्मल है। किन्तु कमरूपी फूल के ससग के कारण उसका शुद्ध स्वरूप को पहचान पाना कठिन हो रहा है। प्राणी जड और चेतन के स्वरूप म भेद नहीं कर पा रहा है। वह जड को

१ तत्त्वाथ सूत्र १ २
२ (क) ठाणाग ६ (ख) उत्तराध्ययन २८।१४
(ग) पचास्तिकाय २।१८
३ (क) तत्त्वाथ सूत्र १ ४ (ख) नवतत्त्वप्रकरण— आचाय हेमचन्द्र
४ (क) स्थानाग २ ४ ६५ (ख) समवायाग २ १४६
(ग) न विणा त [illegible] [illegible] य किर वचन।
तम्हा [illegible] [illegible] [illegible] य किर वचन॥ —आचाय अमरचन्द

ही चेतन समय रहा है। जड और चेतन म भेदविज्ञान करना ही सम्यक दशन है। वही तत्त्व का यथाथ श्रद्धान है। स्व और पर का आत्मा और अनात्मा का चतन्य और जड का जब तक भेदविज्ञान नहा होता वहाँ तक स्व स्वरूप की उपलब्धि नही होती। जब स्व स्वरूप की उपलब्धि होती है तभी उसे यह भान होता है कि म शरीर नही हू इन्द्रिया नहा हू, और न मन ही हूँ। य तो सभी भौतिक ह पुद्गल ह और जा पुदगल हैं, वे जड ह। पुदगल अलग है मैं अलग हू। पुद्गल की सत्ता अनन्त काल से रही है वतमान म है भविष्य म भी रहेगी। पर वे अनन्तानन्त पुदगल ममता के अभाव म आत्मा का कुछ भी बिगाड नही सकत और आत्मा एव पुदगल—य दोना ही पृथक ह यह पूण निष्ठा ही सम्यग्दशन है उसका जानना सम्यग्ज्ञान है और उन पुदगल की पर्यायो को आत्मा से पृथक कर दना सम्यक चारित्र है।

सम्यग्दशन अक है

गणितशास्त्र म अक और शून्य ये दो चीजें ह। अकरहित शून्य का कोई मूल्य नही होता, चाहे कितने भी शून्य हो पर अक न होने से उनका महत्त्व नही होता। यदि एक अक भी शून्य के साथ हो तो अक का महत्त्व बढ जाता है और शून्य का भी। दोनो क समन्वय म ही दोनो का गौरव रहा हुआ है। सम्यग्दशन अक है और सम्यकचारित्र शून्य है। सम्यग्दशन से ही सम्यकचारित्र म तेज प्रकट होता है और वह विकास के पथ पर बढता है। सम्यग्दशनरहित चारित्र उस अन्ध व्यक्ति की तरह है जो निरन्तर चलना तो जानता है पर लक्ष्य का पता नहीं है। बिना लक्ष्य वह भटकता है। लक्ष्यस्थान पर नही पहुँचता। यदि मानव के सामने कोई लक्ष्य नहा है तो उसका साधना का कोइ प्रयोजन भी नही है।

परभाव और परभव

सम्यग्दशन का अथ है सम्यक्त्व—सत्यदृष्टि। दूसर शब्दो म कह आत्मविश्वास श्रद्धा आस्था और निष्ठा। निश्चयदृष्टि से मैं शरीर से भिन्न आत्मा हूँ इन्द्रियाँ और मन स भी भिन्न हूँ मैं चिद्रूप हूँ जड रूप नही हूँ। अपन इस विशुद्ध आत्म स्वरूप को समझकर ... उसम स्थिर होता है तब उसे सच्च सुख का अनुभ... ...क्ति व्यापारार्थ विदेश जाता है। वहाँ पर वह अपा... ...उसके जीवन का उद्देश्य विदेश म रहना नही ... जाता है। वहाँ पर ... शाति ... है

कर देता है। सम्यग्दर्शन के अभाव में भव-परम्परा का कभी उच्छेद नहीं हो सकता।

सम्यग्दर्शन प्राप्ति के कारण

सम्यग्दर्शन प्राप्ति के दो कारण हैं—नैसर्गिक और आधिगमिक।[1] निसर्ग का अर्थ स्वभाव है। जब कर्मों की स्थिति न्यून होते होते एक कोटाकोटि सागरोपम से भी कम रहती है और दर्शनमोह की तीव्रता में कमी आ जाती है तब बिना परोपदेश के ही जो तत्त्वरुचि समुत्पन्न होती है यथार्थ दर्शन होता है वह नैसर्गिक सम्यग्दर्शन है। श्रवण, मनन, अध्ययन या परोपदेश से सत्य के प्रति जो निष्ठा जागृत होती है वह आधिगमिक सम्यग्दर्शन है। ये दोनों भेद बाह्य निमित्तविशेष के कारण ही हैं। दर्शनमोह का विलय दोनों प्रकार के सम्यग्दर्शन में अनिवार्य है।

एक यात्री यात्रा के लिए प्रस्थित हुआ। मार्ग भूल गया वह इधर से उधर भटकने लगा अन्त में स्वतः ही पथ पर आ गया, यह नैसर्गिक पथ लाभ हुआ। एक दूसरा यात्री यात्रा के लिए चला, पथभ्रष्ट होकर इधर उधर भटकता रहा। पथ प्रदर्शक से मार्ग पूछकर वह उस पर आरूढ हुआ। यह आधिगमिक पथ लाभ हुआ। ठीक इसी तरह नैसर्गिक और आधिगमिक सम्यग्दर्शन है।

आचार्य जिनसेन के अभिमतानुसार[2] दर्शनार्थलब्धि, काललब्धि—ये सम्यग्दर्शन की उपलब्धि के बहिरंग कारण हैं और करणलब्धि अन्तरंग कारण है। जब दोनों की प्राप्ति होती है तभी भव्य जीव सम्यग्दर्शन को धारण करते हैं।

तीन आत्माएँ

संसार में जितनी आत्माएँ हैं उन्हें तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है—बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा। बहिरात्मा पूर्ण रूप से बहिर्मुखी होता है। मिथ्यात्व मोहनीयकर्म की प्रबलता से वह आत्मदेव के दर्शन नहीं कर पाता। वह पररूप को स्वरूप समझता है। जैसे दिग्भ्रान्त मानव पश्चिम को पूर्व मानकर चलता है और अपनी मंजिल से दूर होता

---

१ तन्निसर्गादधिगमाद्वा। —तत्त्वार्थसूत्र १।३

२ देशनाकाललब्ध्यादि बाह्यकारणसम्पदि।
अन्तःकरण सामग्र्यां भव्यात्मा स्याद् विशुद्धदृक्॥

—महापुराण ११६।८।१६६

आती है किन्तु उन घटाओं का गगन पर असर नहीं पडता। वैसे सम्यग्दृष्टि के मानसरूपी गगन पर अनुकूलता और प्रतिकूलता का प्रभाव नहीं पड़ता। वह उस शिव की तरह होता है जो दुख के जहर को पीकर भी अमर अडोल व अडिग रहता है। वह विष उस पर कोई प्रभाव नहीं डालता। वह कष्टों का अनुभव करते हुए भी यह सोचता है कि ये दुख के काटे मैंने ही बोये हैं, मेरे कर्म का फल है। फिर मैं क्यों घबराता हूँ। जो व्यक्ति सरोवर में गहरी डुबकी लगाता है उस व्यक्ति को उस समय गर्मी का असर नहीं होता। जो साधक सम्यग्दर्शनरूपी सरोवर में अवगाहन करता है उन पर भवताप का असर नहीं होता।

ममता की मुद्रा

जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति में दो नदियों का उल्लेख आता है। एक उन्मग्न जला नदी है और दूसरी निमग्नजला नदी है। उन्मग्नजला नदी अपने पास कुछ भी नहीं रखती। जो कुछ भी वस्तु उसमें गिरती है उसे वह उछाल कर बाहर फेंक देती है। पर निमग्नजला नदी उससे बिल्कुल विपरीत स्वभाव की है। उसमें जो भी वस्तु पड जाती है वह उस वस्तु को अपने में समा लेती है। किनारे पर जो भी वस्तु हो उसे भी खींच लेती है। सम्यग्दृष्टि उन्मग्नजला नदी के सदृश होता है। उसके अन्तर्मानस में जो भी रागात्मक और द्वेषात्मक विकल्प उठते हैं वह उन्हें बाहर निकाल कर फेंक देता है, पर मिथ्यादृष्टि निमग्नजला नदी का साथी है। वह उन्हें ग्रहण कर उन पर ममता की मुद्रा लगा देता है। नौका जल पर चलती है उसके नीचे विराट सागर का अथाह जल रहता है, पर नौका में नहीं। बाहर का जल नौका को कोई क्षति नहीं पहुँचाता। पर यदि जल उस नौका में प्रविष्ट हो जाय तो नौका का डूबना है। जो नौका का उद्धारक था वही संहारक बन जाता है।

[illegible]

रात्रि के सघन अन्धकार में दिया की रश्मि चमकती है तो [illegible] मे अन्धकार नष्ट हो जाता है। [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]

कर देता है। सम्यग्दर्शन के अभाव में भव-परम्परा का कभी उच्छेद नहीं हो सकता।

सम्यग्दर्शन प्राप्ति के कारण

सम्यग्दर्शन प्राप्ति के दो कारण हैं—नैसर्गिक और आधिगमिक।[1] निसर्ग का अर्थ स्वभाव है। जब कर्मों की स्थिति न्यून होते होते एक कोटाकोटि सागरोपम से भी कम रहती है और दर्शनमोह की तीव्रता में कमी आ जाती है तब बिना परोपदेश के ही जो तत्त्वरुचि समुत्पन्न होती है यथार्थ दर्शन होता है वह नैसर्गिक सम्यग्दर्शन है। श्रवण मनन, अध्ययन या परोपदेश से सत्य के प्रति जो निष्ठा जागृत होती है वह आधिगमिक सम्यग्दर्शन है। ये दोनों भेद बाह्य निमित्तविशेष के कारण ही हैं। दर्शनमोह का विलय दोनों प्रकार के सम्यग्दर्शन में अनिवार्य है।

एक यात्री यात्रा के लिए प्रस्थित हुआ। मार्ग भूल गया वह इधर से उधर भटकने लगा अन्त में स्वतः ही पथ पर आ गया, यह नैसर्गिक पथ लाभ हुआ। एक दूसरा यात्री यात्रा के लिए चला पथभ्रष्ट होकर इधर उधर भटकता रहा। पथ प्रदर्शक से मार्ग पूछकर वह उस पर आरूढ़ हुआ। वह आधिगमिक पथ लाभ हुआ। ठीक इसी तरह नैसर्गिक और आधिगमिक सम्यग्दर्शन है।

आचार्य जिनसेन के अभिमतानुसार[2] देशनालब्धि, काललब्धि—ये सम्यग्दर्शन की उपलब्धि के बहिरंग कारण हैं और करणलब्धि अंतरंग कारण है। जब दोनों की प्राप्ति होती है तभी भव्य जीव सम्यग्दर्शन को धारण करते हैं।

तीन आत्माएं

संसार में जितनी आत्माएँ हैं उन्हें तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है—बहिरात्मा अन्तरात्मा और परमात्मा। बहिरात्मा पूर्ण रूप से बहिर्मुखी होता है। मिथ्यात्व मोहनीयकर्म की प्रबलता से वह आत्मदेव के दर्शन नहीं कर पाता। वह पररूप को स्वरूप समझता है। जैसे दिग्भ्रान्त मानव पश्चिम को पूर्व मानकर चलता है और अपनी मंजिल से दूर होता

---

१ तन्निसर्गादधिगमाद्वा। —तत्त्वार्थसूत्र १।३

२ देशनाकाललब्ध्यादि बाह्यकारणसम्पदि।
अन्तःकरण सामग्र्यां भव्यात्मा स्याद् विशुद्धिदृक्॥

—महापुराण ११६।६।११६

चला जाता है वैसे ही भ्रमग्रस्त बहिरात्मा भी सुख प्राप्ति के स्थान पर दुःख के दलदल में फँसता चला जाता है। सभी बहिरात्माओं में मोह की मात्रा एक सदृश नहीं होती। उसमें अनेक प्रकार का तारतम्य होता है। इस विराट विश्व में परिभ्रमण करते हुए भयानक कष्टों को सहन करते हुए कभी ऐसा अवसर आता है जिसमें मोह का आवरण शिथिल हो जाता है अकाम निर्जरा से अन्य कर्मों की स्थिति भी न्यून हो जाती है। ज्ञानावरण दर्शनावरण वेदनीय और अन्तराय की उत्कृष्टस्थिति तीस कोटाकोटि सागरोपम की है। नाम और गोत्र कर्म की उत्कृष्ट स्थिति बीस कोटाकोटि सागरोपम की है। आयु कर्म की स्थिति तैंतीस सागरोपम की है। और मोहनीय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति सत्तर कोटाकोटि सागरोपम की है।

तीन करण

आयु कर्म को छोड़कर शेष सात कर्मों की स्थिति जब एक कोटाकोटि सागरोपम से भी कुछ न्यून रह जाती है तब आत्मा में एक सहज वीर्य शक्ति उल्लसित होती है। ऐसे अवसर पर आत्मा में जो विशिष्ट परिणाम उत्पन्न होता है वह यथाप्रवृत्तिकरण है।

उपाध्याय विनयविजय जी[1] ने करण शब्द पर चिन्तन करते हुए कहा है—जीव का परिणाम ही करण है।

यथाप्रवृत्तिकरण के दो भेद हैं—सामान्य यथाप्रवृत्तिकरण और विशिष्ट यथाप्रवृत्तिकरण। सामान्य यथाप्रवृत्तिकरण अभव्य जीव को भी हो सकता है किन्तु विशिष्ट यथाप्रवृत्तिकरण भव्य को ही होता है। जब राग द्वेष का बन्धन शिथिल हो जाता है तब ऐसा विशुद्ध परिणाम पहले कभी प्राप्त नहीं हुआ वह प्राप्त होता है। इसलिए इसे अपूर्वकरण कहते हैं। राग द्वेष के अत्यन्त मलिन परिणाम ग्रन्थि कहलाते हैं। उस ग्रन्थि का भेद अपूर्वकरण के बिना नहीं होता। आचार्य जिनभद्र गणि क्षमाश्रमण[2] ने कहा है—सघन राग द्वेष रूप आत्म-परिणाम ही ग्रन्थि है। प्रस्तुत ग्रन्थि अत्यन्त कठिनाई से भेदी जा सकती है। गुप्त बाँस की ग्रन्थि के समान इस ग्रन्थि का भेदन करना सरल नहीं है। अपूर्वकरण के द्वारा ही ग्रन्थि भेदन होता है। ग्रन्थि के भेदन होने से भ्रान्ति का सघन कुहासा छिन्न भिन्न हो

---

१ परिणामविशेषोऽत्र करणं प्राणिनां मतम्॥ —लोकप्रकाश

२ गंठि त्ति सुदुब्भेओ कक्खडघणरूढगूढगंठि व्व।
जीवस्स कम्मजणिओ घणरागद्दोसपरिणामो॥ —विशेषावश्यकभाष्य

जाता है और अनिर्वचनीय अननुभूत भावान्तर निर्मलता व्याप्त होती है। वह अनिवृत्तिकरण है।[1] यही सम्यक्त्व प्राप्ति का द्वार है।

सम्यग्दर्शन के पाँच लक्षण

सम्यग्दर्शन की ज्यों ही उपलब्धि होती है त्यों ही उस आत्मा में नवीन आलोक उत्पन्न होता है। जिससे उसके जीवन और व्यवहार में भी आमूलचूल परिवर्तन हो जाता है। मनीषियों ने सम्यग्दर्शन की पहिचान कराने वाले पाँच लक्षण बताये हैं। वे हैं—प्रशम, संवेग, निर्वेद, अनुकम्पा और आस्तिक्य।

प्रशम—अनादि काल से आत्मा में कषाय की आग धधक रही है। मिथ्यात्व स्थिति में कषाय तीव्रतम होता है पर मिथ्यात्व का अन्त होते ही अनन्तानुबन्धी कषायों का भी अन्त हो जाता है और उसके द्वारा उत्पन्न संताप भी नष्ट हो जाता है। आत्मा में अनिर्वचनीय शान्ति की अनुभूति होती है। तत्त्वों के असत पक्षपात से होने वाला कदाग्रह प्रभृति दोषों का उपशमन ही प्रशम है।

संवेग—सांसारिक बन्धनों का भय संवेग है। सम्यक्त्वी जीव में किसी भी प्रकार का भय नहीं होता। उसके रग रग में निर्भयता होती है निर्द्वन्द्वता होती है। यों कभी भी उसके कदम लड़खड़ाते नहीं पर पापकारी प्रवृत्ति करते समय वह हिचकिचाता है, भयभीत होता है। सम्यग्दर्शन से जो सात्त्विकता उत्पन्न हुई है उससे उसके वेग में परिवर्तन हो जाता है। पहले जो वेग सांसारिक पदार्थों को प्राप्त करने की ओर था वह मोक्ष मार्ग की ओर हो जाता है, वही संवेग है।

निर्वेद—विषयों में आसक्ति का न्यून होना निर्वेद है। सम्यग्दृष्टि का आत्मस्वरूप में आनन्द होना है। चक्रवर्ती का साम्राज्य और इन्द्रों के कमनीय भोगों को भी वह काक बीट के समान समझता है। इसीलिए कवि ने कहा है—

> चक्रवर्ती की सम्पदा इन्द्र सरीखा भोग।
> काक बीट सम गिनत हैं सम्यग्दर्शी लोग॥

---

१ (क) आवश्यक मलयगिरि गाथा १०६, १०७ टीका (ख) विशेषावश्यक भाष्य गाथा १२०२ से १२१८ तक। (ग) प्रवचनसारोद्धार—२२४ गाथा १३०२ टीका (घ) कर्मग्रन्थ द्वितीय भाग गाथा

भ्रमर सुगन्धित सुमनों पर मंडराता है, उनका रसास्वादन करता है, मगर वह फूलों का नहीं होता। जब भी उसकी उड़ने की इच्छा होती है वह उड़ जाता है। उसके लिए कोई बंधन नहीं होता। सम्यग्दृष्टि भी भ्रमर के समान होता है। एतदर्थ ही वह पाप से लिप्त नहीं होता।

सम्मत्तदंसी न करेइ पावं। —आचारांग सूत्र

सम्यग्दृष्टि जीव अनन्तानुबन्धी कषाय से प्रेरित पाप नहीं करता और न उसकी आन्तरिक रुचि ही पापाचरण की ओर होती है। वह अन्तर में निर्लिप्त रहता है। यही उसका निर्वेद भाव है।

अनुकम्पा—दुःखी प्राणियों के दुःख दूर करने की इच्छा अनुकम्पा है। सम्यग्दृष्टि का चित्त इतना सात्त्विक और कोमल होता है कि वह किसी दुःखी को देखकर आँख मूंद नहीं सकता। वह उसे दूर करने का प्रयास करता है। 'मेत्ति मे सव्व भूएसु' और 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का उदात्त स्वर उसके अन्तर्मानस में झंकृत होता है। वह किसी भी प्राणी को कष्ट में देखकर आकुल-व्याकुल हो जाता है और उसके कष्ट को निवारण करने के लिए पूर्ण रूप से समर्पित हो जाता है। जिसके हृदय में अनुकम्पा की भावना अठखेलियाँ करता है—वह संकटग्रस्त प्राणियों के संकट को दूर करने का प्रयास करता है वही अनुकम्पा है।

आस्तिक्य—सम्यग्दर्शन का पाँचवाँ लक्षण आस्तिक्य है। आत्मा आदि परोक्ष तत्त्वों पर युक्ति प्रमाण से सिद्ध पदार्थों का स्वीकार करना। आस्तिक व नास्तिक शब्द के प्रयोग के अर्थ के सम्बन्ध में दार्शनिकों में मतभेद रहा है। संस्कृत व्याकरण के प्रौढ़ आचार्य पाणिनि ने अष्टाध्यायी ग्रन्थ में 'अस्ति-नास्ति दिष्टं मतिः'[1]—लिखा है। भट्टोजि दीक्षित ने सिद्धान्त कौमुदी में इसका अर्थ किया है— 'अस्ति परलोक इत्येवं मतिर्यस्य स आस्तिकः। नास्तीति मतिर्यस्य स नास्तिकः'।—जो निश्चित रूप से परलोक व पुनर्जन्म स्वीकार करता है वह आस्तिक है और जो उसे स्वीकार नहीं करता वह नास्तिक है। [illegible] [illegible] है। [illegible] पुण्य और आत्मा के [illegible] करता है वह [illegible] है। आस्तिक वर्तमान दृष्ट [illegible] है वह [illegible] है।

---

[1] [illegible]
[illegible]

सम्यग्दृष्टि आत्मा में आस्तिकता का गहरा भाव होता है। वह केवल वर्तमान दृष्टि पर ही केन्द्रित नहीं होता अपितु त्रैकालिक अखण्ड सत्ता का अनुभव करता है। सम्यग्दर्शन की उपलब्धि के साथ ही ये पाँच लक्षण स्वतः प्रकट हो जाते हैं।

सम्यग्दर्शन के आठ अंग

सम्यग्दर्शन के आठ अंग हैं जिन्हें 'आचार' भी कहा जाता है। जिन आचार के कारण सम्यग्दर्शन का पालन, संरक्षण और संवर्द्धन होता है वे आठ आचार ये हैं[1]—(१) निश्शंकता (२) निष्कांक्षता (३) निर्विचिकित्सा (४) अमूढदृष्टित्व (५) उपबृंहण (६) स्थिरीकरण (७) वात्सल्य और (८) प्रभावना।

जैसे मानव शरीर में आठ अंग प्रमुख होते हैं वैसे ही सम्यग्दर्शन के ये आठ अंग या आचार प्रमुख हैं।

(१) **निश्शंकता**—सर्वज्ञ और वीतराग द्वारा प्ररूपित सत्य तथ्य के सम्बन्ध में शंका न करना निश्शंकता है। आचार्य मानविजयजी ने लिखा है—जिनोक्त[2] तत्त्वों पर दृढ़ निष्ठा होना श्रद्धा है और श्रद्धा ही सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दर्शन अन्धश्रद्धा नहीं किन्तु प्रज्ञायुक्त श्रद्धा होती है जिसमें किसी भी प्रकार का आन्तरिक विकार नहीं होता। जो सर्वज्ञ हैं उनके वचनों पर दृढ़ आस्था स्थापित करना चाहे कैसा भी प्रलोभन आये किन्तु वह किंचित मात्र भी विचलित नहीं होता। उसका यह दृढ़ मन्तव्य है—वही सत्य है वही असंदिग्ध है जो जिनेश्वर देव ने कहा है। जिस श्रद्धा में प्रज्ञा का प्रकाश नहीं है वह अन्धश्रद्धा है वह नवीन स्फूर्ति व चेतना प्रदान नहीं कर सकती। श्रद्धा विवेक की सुपुत्री है। विवेक की छाया में ही श्रद्धा परिपुष्ट होती है। विवेकयुक्त निश्शंकता ही सम्यग्दर्शन का प्रथम अंग है और आचार है।

(२) **निष्कांक्षता**—भौतिक वैभव की चकाचौंध में कितनी ही बार सही मार्ग को मानव विस्मृत हो जाता है। सांसारिक सुख, सौन्दर्य वैभव के लोभ का संवरण नहीं कर पाता जिससे वह आत्मधर्म को भूलकर उन्हें

---

१ निस्संकिय निक्कंखिय निव्वितिगिच्छा अमूढदिट्ठी य।
उववूह थिरीकरणे वच्छल्ल-पभावणे अट्ठ। —उत्तराध्ययन २८।३१

२ जिनोक्तानि तत्त्वेषु रुचिः श्रद्धा सम्यक्त्वमुच्यते ॥ —धर्मसंग्रह

है। वह देवमूढ़ता, (यानी काम-क्रोध से ग्रसित अदेव को देव मानना) लोकमूढ़ता (नदी, सागर आदि में स्नान करने से आत्म शुद्धि मानना धर्म समझकर पर्वत से गिरकर प्राण विसर्जन करना अग्नि में जलकर या पानी में डूबकर मरना आदि) समयमूढ़ता (शास्त्र व धर्म के सम्बन्ध में होने वाली बुद्धि की भ्रान्ति)। इन सभी मूढ़ताओं से सम्यग्दृष्टि विमुक्त होता है। उसका मस्तिष्क सुलझा हुआ होता है उसमें विवेक जागृत रहता है। इसलिए वह यथार्थ निर्णय करता है। वह किसी भी प्रकार की रूढ़ि परम्परा तथा गलत राह पर नहीं चलता। उसका निर्णय सत्य पर अवलम्बित होता है।

(५) उपबृंहण—'उपबृंहण' यह संस्कृत शब्द उपबृंहण है। बृंह धातु के साथ 'उप' उपसर्ग लगने से यह शब्द निष्पन्न होता है जिसका अर्थ है वृद्धि करना, बढ़ाना, पोषण करना। अन्य व्यक्तियों के सम्यक्-ज्ञान चारित्र के गुणों में वृद्धि करना, प्रशंसा करके उन गुणों को बढ़ावा देना उपबृंहण है। सत्पुरुष वह है जो स्वयं गुणों का धनी पर दूसरे के गुणों का उत्कीर्तन करता है। उनका बहुमान सम्मान और अनुराग प्रदर्शित कर स्वयं के गुणों को भी बढ़ाता है। सद्गुणों के प्रति उत्कृष्ट अनुराग होने से साधक की आत्मा में आध्यात्मिक शक्ति का अभ्युदय होता है उसके अशुभ संस्कार क्षीण होते हैं और उसमें शुभ संस्कारों के बीज वपन होते हैं।

(६) स्थिरीकरण—जीवन में जब आपत्तियाँ उमड़ घुमड़ कर आती हैं तब मानव की बौद्धिक शक्ति कुण्ठित हो जाती है। वह निर्णय नहीं कर पाता कि सही मार्ग कौनसा है। कदाचित् वह निर्णय भी कर लेता है किन्तु सही राह पर वह चल नहीं पाता। बाह्य कठिनाइयों और आन्तरिक दुर्बलता के कारण वह असत् मार्ग पर चलने के लिए बाध्य हो जाता है। सम्यग्दृष्टि साधक दूसरे व्यक्तियों को पतनोन्मुख जानकर भी स्वयं में स्थिर रहता है। जो सम्यग्दर्शन से पतित होता है उसको तत्त्व का वास्तविक बोध प्रदान कर उसका स्थिरीकरण करता है। यदि कोई चारित्र से स्खलित हो रहा हो तो उसके कारण की अन्वेषणा कर संयम में स्थिर करता है। जैसे राजमती ने रथनेमि मुनि को स्थिर किया था। जो साधक आध्यात्मिक जीवन की महत्ता को विस्मृत होकर उससे पतित होने की ओर उन्मुख हो रहा हो, उसे समता दिलाकर धर्म मार्ग में स्थिर करना स्थिरीकरण है। यह कार्य स्वयं के लिए और दूसरों के लिए भी समान उपकारक है।

क्योकि क्षायोपशमिक सम्यक्त्व की अवस्था मे कर्म पुद्गलो का प्रदेशानुभव होता है पर क्षायिक और औपशमिक सम्यक्त्व मे न प्रदेशानुभव होता है न विपाकानुभव ही।

निसर्गज और अधिगमज सम्यक्त्व के सम्बन्ध मे पूर्व प्रकाश डाला जा चुका है।

अपेक्षा भेद से सम्यक्त्व के तीन भेद और भी होते हैं—कारक सम्यक्त्व, रोचक सम्यक्त्व और दीपक सम्यक्त्व।

कारक सम्यक्त्व—इस सम्यक्त्व की प्राप्ति होने पर जीव सम्यक्-चारित्र के प्रति विशेष रुचिवान बनता है। स्वय भी चारित्र का पालन करता है और दूसरो से भी चारित्र का पालन करवाता है। उसमे ज्ञान और क्रिया का सुमेल होता है।

रोचक सम्यक्त्व—जिस सम्यक्त्व के प्राप्त होने के पश्चात प्राणी सयम पालन मे रुचि तो रखता है पर चारित्रमोह के उदय से रुचि के अनुरूप चारित्र का पालन नहीं कर सकता। जसे—एक रुग्ण व्यक्ति अपनी बीमारी को जानता है, उस बीमारी की औषधि भी जानता है, वह अपनी बीमारी से मुक्त होना भी चाहता है तथापि वह औषधि ग्रहण नही कर पाता वसे ही रोचक सम्यक्त्व वाला ससार के वास्तविक स्वरूप को जानता है उससे मुक्त होना चाहता है उसे मोक्ष मार्ग का परिज्ञान भी है तथापि सम्यक्चारित्र का पालन नही कर पाता। उस साधक की स्थिति वसी है जसी महाभारत म दुर्योधन की थी जो धर्म को जानता था पर उसका आच रण नही कर पाता था और अधर्म को जानकर भी छोड नही पाता था।

दीपक सम्यक्त्व—जिस जीव की रुचि सम्यक नही होती, पर वह अपने उपदेश से दूसरो म रुचि उत्पन्न करता है। उसकी परिणति दीपक की तरह होती है। यह सम्यक्त्व दूसरो के सम्यग्दर्शन का कारण होने से सम्यक्त्व कहलाता है। यह सम्यक्दर्शन केवल उपचार मात्र है। अनेक जीव ऐसे होते है जो दूसरो को तो तार देते हैं पर स्वय नही तिरते।

सम्यक्त्व की दस रुचि

उत्तराध्ययन सूत्र (२८।१६) मे सम्यक्त्व की दस रुचि का वर्णन है। वह इस प्रकार है—

क्योंकि क्षायोपशमिक सम्यक्त्व की अवस्था मे कर्म पुद्गलो का प्रदेशानुभव होता है, पर क्षायिक और औपशमिक सम्यक्त्व म न प्रदेशानुभव होता है न विपाकानुभव ही।

निसर्गज और अधिगमज सम्यक्त्व के सम्बन्ध में पूर्व प्रकाश डाला जा चुका है।

अपेक्षा भेद से सम्यक्त्व के तीन भेद और भी होते हैं—कारक सम्यक्त्व, रोचक सम्यक्त्व और दीपक सम्यक्त्व।

कारक सम्यक्त्व— इस सम्यक्त्व की प्राप्ति होने पर जीव सम्यक्चारित्र के प्रति विशेष रुचिवान बनता है। स्वय भी चारित्र का पालन करता है और दूसरो से भी चारित्र का पालन करवाता है। उसमे ज्ञान और क्रिया का सुमेल होता है।

रोचक सम्यक्त्व—जिस सम्यक्त्व के प्राप्त होने के पश्चात प्राणी सयम पालन मे रुचि तो रखता है पर चारित्रमोह के उदय से रुचि के अनुरूप चारित्र का पालन नही कर सकता। जैसे—एक रुग्ण व्यक्ति अपनी बीमारी को जानता है उस बीमारी की औषधि भी जानता है, वह अपनी बीमारी से मुक्त होना भी चाहता है तथापि वह औषधि ग्रहण नही कर पाता वसे ही रोचक सम्यक्त्व वाला ससार के वास्तविक स्वरूप को जानता है उससे मुक्त होना चाहता है उसे मोक्ष मार्ग का परिज्ञान भी है तथापि सम्यक्चारित्र का पालन नही कर पाता। उस साधक की स्थिति वसी है जसी महाभारत म दुर्योधन की थी जो धर्म को जानता था पर उसका आचरण नही कर पाता था और अधर्म को जानकर भी छोड नही पाता था।

दीपक सम्यक्त्व— जिस जीव की रुचि सम्यक् नहीं होती पर वह अपने उपदेश से दूसरो म रुचि उत्पन्न करता है। उसकी परिणति दीपक की तरह होती है। यह सम्यक्त्व दूसरों म सम्यग्दर्शन का कारण होने से सम्यक्त्व कहलाता है। यह सम्यक्ज्ञान केवल उपचार मात्र है। अनेक जीव ऐसे होते हैं जो दूसरो को तो तार देते हैं पर स्वय नही तिरते।

सम्यक्त्व की दस रुचि

उत्तराध्ययन सूत्र (२८।१६) म सम्यक्त्व की दस रुचि का वर्णन है। वह इस प्रकार है—

(१) निसर्ग रुचि—परोपदेश के बिना ही सम्यक्त्व आवरण करने वाले कर्मों की विशिष्ट निर्जरा होने से समुत्पन्न होने वाली तत्त्वार्थ श्रद्धा।

(२) उपदेश रुचि—अरिहन्त के अद्भुत अतिशय को देखकर और उनके अनुगामी श्रमणों के पावन उपदेश का श्रवण कर उत्पन्न होने वाली तत्त्व रुचि।

(३) आज्ञा रुचि—अरिहन्त भगवान की आज्ञा की आराधना करने से उत्पन्न होने वाली तत्त्व रुचि।

(४) सूत्र रुचि—द्वादशांग रूप श्रुत का अभ्यास करते करते उत्पन्न होने वाली रुचि या ज्ञान रस सरोवर में आत्मा को निमग्न करने की रुचि।

(५) बीज रुचि—बीज से विशाल वटवृक्ष उत्पन्न होता है और तैल बिन्दु जल में पड़ने पर फैल जाता है वैसे ही एक शास्त्रीय पद का अनेक पदों के रूप में परिणत हो जाना।

(६) अभिगम रुचि—अंगोपांगों के अर्थरूप ज्ञान की विशेष शुद्धि होने से और अध्याय का ज्ञानाभ्यास कराने में होने वाली रुचि।

(७) विस्तार रुचि—षट् द्रव्य, नौ तत्त्व, द्रव्य, गुण, पर्याय, प्रमाण, नय, निक्षेप आदि का विस्तारपूर्वक अभ्यास करने से उत्पन्न होने वाली रुचि।

(८) क्रिया रुचि—विशेष रूप से क्रिया करने से उत्पन्न होने वाली रुचि।

(९) संक्षेप रुचि—स्वल्प ज्ञान से उत्पन्न होने वाली रुचि।

(१०) धर्म रुचि—वीतरागप्ररूपित धर्म श्रवण करने से होने वाली रुचि।

सम्यक्त्व रूप विराट् वृक्ष की अनेक शाखाएँ प्रशाखाएँ हैं। किन्तु यहाँ पर संक्षेप में ही उल्लेख किया गया है।

सम्यक्त्व के आभूषण

जैसे मणि मुक्ताओं से स्वर्णमण्डित आभूषणों की शोभा होती है और उन आभूषणों को धारण करने पर सामान्य व्यक्ति का व्यक्तित्व निखर उठता है, वैसे ही सम्यक्त्व के भी कुछ एक विशिष्ट आभूषण हैं जिनको धारण करने से सम्यक्त्व में नया निखार आ जाता है। आचार्यों ने वे आभूषण निम्न प्रकार बताये हैं—

(१) स्थिरता—स्वयं जिनशासन में स्थिर होना और दूसरों को स्थिर करने का प्रयास करना।

(२) प्रभावना—जिनशासन के सम्बन्ध में फैले हुए अपवाद का निवारण करना और सम्यग्दर्शन के गौरव और सदाचार माहात्म्य को प्रकाशित करना।

(३) भक्ति—गुरुजनों की भक्ति करना, विनय वैयावृत्य करना। ज्ञान में जो ज्ञान-दर्शन-चारित्र में श्रेष्ठ हैं उनका सम्मान करना।

(४) कौशल—श्रमण के सिद्धान्तों को समझाने में कुशल होना। उनके बाह्य गाम्भीर्य रूप में न उलझकर धर्म के मर्म को समझना। जो भी धार्मिक विधि विधान हैं उनके होने की सार्थकता और उनके रहस्य को स्पष्ट करना।

(५) तीर्थसेवा—श्रमण श्रमणी श्रावक श्राविका इस चतुर्विध संघ की यथानुरूप सेवा करना।

इन ५ आभूषणों से सम्यक्त्व में अपूर्व चमक-दमक आ जाती है।

सम्यक्त्व की भावनाएं

सम्यग्दर्शन को परिपुष्ट बनाने के लिए आंतरिक क्षमता को विकसित करने के लिए आचार्यों ने भावनाओं के महत्त्व को भी उजागर किया है। भावना में एक ही विचार पर पुनः पुनः चिन्तन होता है। उससे विचारों में दृढ़ता आती है और उसी अनुसार व्यवहार करने की भी प्रेरणा उद्बुद्ध होती है। अहिंसा आदि पाँच महाव्रतों की पाँच पाँच भावनाएं बताई गई हैं किन्तु सम्यग्दर्शन की छः भावनाएं हैं। वे इस प्रकार हैं—

(१) धर्म एक विराट वृक्ष है तो सम्यक्त्व उसका मूल है। मूल के अभाव में वृक्ष चिरस्थायी नहीं रह सकता, आँधी और तूफान में वह धराशायी हो जाता है वैसे ही सम्यग्दर्शन के अभाव में धर्म की स्थिति है। यदि सम्यग्दर्शन रूपी मूल सुस्थिर है तो कितनी भी विघ्न बाधाएँ आयें, उसे गिरा नहीं सकतीं। उस मूल के सुरक्षित होने से सुरभित सुमन खिल सकते हैं सद्भावनारूपी फल विकसित हो सकते हैं और मोक्ष भी प्राप्त हो सकता है—इस प्रकार का चिन्तन।

(२) सम्यक्त्व धर्मरूपी विराट नगर का विशाल प्राकार है। प्राकार से नगर सुरक्षित रहता है। शत्रु उस पर हमला नहीं कर सकते। यदि सम्यक्त्वरूपी प्राकार सुरक्षित है तो किसी भी दुर्गुणरूपी शत्रु की

रक्षन की आवश्यकता है। जो साधक विशिष्ट हैं, वे अपने दिव्य प्रभाव से बुरे व्यक्तियों को भी अच्छे व्यक्ति बना सकते हैं। उनके लिए यह अनिचार नहीं है। पर जो प्राथमिक स्थिति में है, उन साधकों को इन पाचों अनिचारों से बचना चाहिए। ये पाच अतिचार ज्ञातव्य हैं पर आचरण करने योग्य नहीं है। जब तक साधक इन्हें न जानेगा और उनके दुष्परिणाम से परिचित न होगा तब तक वह उन्हें त्याग भी नहीं सकता। इसीलिए अतिचारों को जानना चाहिए पर आचरण नहीं करना चाहिए।

साधना का प्राण तत्त्व

इस प्रकार हम देखते हैं सम्यग्दशन जन साधना का प्राण तत्त्व है। किन्तु हा चिन्तकों ने 'दशन श' को ज्ञान से पृथक करते हुए दशन का अर्थ अन्तर्बोध किया है। नैतिक जीवन की दृष्टि से दशन शब्द का अर्थ दृष्टिकोण भी है। 'दशन शब्द के स्थान पर 'दृष्टि' शब्द का व्यवहार दृष्टिकोण वाले अर्थ को पुष्ट करता है। दशन' का अर्थ 'तत्त्वश्रद्धा' भी है। साथ ही देव गुरु धर्म के प्रति निष्ठा व भक्ति' के अर्थ में भी दशन शब्द व्यवहृत हुआ है। यो सम्यग्दशन तत्त्व साक्षात्कार, आत्म साक्षात्कार अन्तर्बोध दृष्टिकोण, श्रद्धा, भक्ति प्रभृति विभिन्न अर्थ अपने आप में समेटे हुए है। बौद्ध दशन की भाषा में सम्यग्दशन को समाधि कह सकते हैं और श्रद्धा भी। उपनिषदों में वह श्रवण है और गीता की भाषा में श्रद्धा और प्रणिपात है। पाश्चात्य चिन्तकों ने सम्यग्दशन को एवसेप्ट दाइसेल्फ (आत्म-स्वीकृति) कहा है।

सत्य का साक्षात्कार

जब सम्यग्दशन उत्पन्न होता है तो अनन्तकाल से रहा हुआ अज्ञान उसी क्षण ज्ञान में परिवर्तित हो जाता है। उस अज्ञान में से आग्रह बुद्धि निकल जाता है जिससे उसे यथार्थ ज्ञान हो जाता है और परम सत्य का उसे साक्षात्कार हो जाता है। जो अज्ञान वचारिक आग्रह से आध्यात्मिक विकास को कुंठित करता था और सामाजिक जीवन में विग्रह और वमनस्य के बीज वपन करता था, पर सम्यग्दशन होते ही उसका ज्ञान अनाग्रही हो जाता है। अज्ञानी स्वय के मत की प्रशंसा करता है और दूसरे के मत की निंदा करने में अपना पाण्डित्य प्रदर्शित करता है।[१] किन्तु सम्यग्ज्ञानी वीतराग मार्ग को उपलब्ध करने के लिए वचारिक आग्रह का परित्याग कर

---

१ सूत्रकृताङ्ग १।१।२।२३

रखने की आवश्यकता है। जो साधक विशिष्ट है, वे अपने दिव्य प्रभाव से बुरे व्यक्तियों को भी अच्छे व्यक्ति बना सकते हैं। उनके लिए यह अतिचार नहीं है। पर जो प्राथमिक स्थिति में है, उन साधकों को इन पाँचों अतिचारों से बचना चाहिए। ये पाँच अतिचार ज्ञातव्य हैं पर आचरण करने योग्य नहीं है। जब तक साधक इन्हें न जानेगा और उनके दुष्परिणाम से परिचित न होगा तब तक वह उन्हें त्याग भी नहीं सकता। इसीलिए अतिचारों को जानना चाहिए पर आचरण नहीं करना चाहिए।

साधना का प्राण तत्त्व

इस प्रकार हम देखते हैं, सम्यग्दर्शन जैन साधना का प्राण तत्त्व है। कितने ही चिन्तकों ने दर्शन' शब्द को ज्ञान से पृथक् करते हुए दर्शन का अर्थ अन्तर्बोध' किया है। नैतिक जीवन की दृष्टि से दर्शन शब्द का अर्थ दृष्टिकोण भी है। 'दर्शन शब्द' के स्थान पर 'दृष्टि शब्द' का व्यवहार दृष्टिकोण वाले अर्थ को पुष्ट करता है। दर्शन' का अर्थ तत्त्वश्रद्धा' भी है। साथ ही देव गुरु धर्म के प्रति निष्ठा व भक्ति' के अर्थ में भी दर्शन शब्द व्यवहृत हुआ है। यों सम्यग्दर्शन तत्त्व साक्षात्कार आत्म साक्षात्कार अन्तर्बोध दृष्टिकोण, श्रद्धा, भक्ति प्रभृति विभिन्न अर्थ अपने आप में समेटे हुए है। बौद्ध दर्शन की भाषा में सम्यग्दर्शन को समाधि कह सकते हैं और श्रद्धा भी। उपनिषदों में वह श्रवण है और गीता की भाषा में श्रद्धा और प्रणिपात है। पाश्चात्य चिन्तकों ने सम्यग्दर्शन को एक्सप्ट दाइसैल्फ (आत्म-स्वीकृति) कहा है।

सत्य का साक्षात्कार

जब सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है तो अनन्तकाल से रहा हुआ अज्ञान उसी क्षण ज्ञान में परिवर्तित हो जाता है। उस अज्ञान में से आग्रह बुद्धि निकल जाता है जिससे उसे यथार्थ ज्ञान हो जाता है और परम सत्य का उसे साक्षात्कार हो जाता है। जो अज्ञान वैचारिक आग्रह से आध्यात्मिक विकास को कुंठित करता था और सामाजिक जीवन में विग्रह और वैमनस्य के बीज वपन करता था, पर सम्यग्दर्शन होते ही उसका ज्ञान अनाग्रही हो जाता है। अज्ञानी स्वयं के मत की प्रशंसा करता है और दूसरे के मत की निंदा करने में अपना पाण्डित्य प्रदर्शित करता है।[1] किन्तु सम्यग्ज्ञानी वीतराग मार्ग को उपलब्ध करने के लिए वैचारिक आग्रह का परित्याग कर

---

१ सूत्रकृताङ्ग १।१।२।२३

रखने की आवश्यकता है। जो साधक विशिष्ट हैं, वे अपने दिव्य प्रभाव से बुरे व्यक्तियों को भी अच्छे व्यक्ति बना सकते हैं। उनके लिए यह अतिचार नहीं है। पर जो प्राथमिक स्थिति में है, उन साधकों को इन पाँचों अतिचारों से बचना चाहिए। ये पाँच अतिचार ज्ञातव्य हैं, पर आचरण करने योग्य नहीं है। जब तक साधक इन्हें न जानेगा और उनके दुष्परिणाम से परिचित न होगा तब तक वह उन्हें त्याग भी नहीं सकता। इसीलिए अतिचारों को जानना चाहिए पर आचरण नहीं करना चाहिए।

साधना का प्राण तत्त्व

इस प्रकार हम देखते हैं, सम्यग्दर्शन जैन साधना का प्राण तत्त्व है। कितने ही चिन्तकों ने 'दर्शन शब्द' का ज्ञान से पृथक करते हुए दर्शन का अर्थ अन्तर्बोध किया है। नैतिक जीवन की दृष्टि से दर्शन शब्द का अर्थ दृष्टिकोण भी है। 'दर्शन शब्द के स्थान पर 'दृष्टि शब्द' का व्यवहार दृष्टिकोण वाले अर्थ को पुष्ट करता है। दर्शन' का अर्थ 'तत्त्वश्रद्धा' भी है। *साथ ही देव गुरु धर्म के प्रति निष्ठा व भक्ति' के अर्थ में भी दर्शन शब्द* व्यवहृत हुआ है। यों सम्यग्दर्शन तत्त्व साक्षात्कार आत्म साक्षात्कार अन्तर्बोध दृष्टिकोण, श्रद्धा, भक्ति प्रभृति विभिन्न अर्थ अपने आप में समेटे हुए है। बौद्ध दर्शन की भाषा में सम्यग्दर्शन को समाधि कह सकते हैं और श्रद्धा भी। उपनिषदों में वह श्रवण है और गीता की भाषा में श्रद्धा और प्रणिपात है। पाश्चात्य चिन्तकों ने सम्यग्दर्शन को एक्सेप्ट दाइसेल्फ (आत्म-स्वीकृति) कहा है।

सत्य का साक्षात्कार

जब सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है तो अनन्तकाल से रहा हुआ अज्ञान उसी क्षण ज्ञान में परिवर्तित हो जाता है। उस अज्ञान में से आग्रह बुद्धि निकल जाता है जिससे उसे यथार्थ ज्ञान हो जाता है और परम सत्य का उसे साक्षात्कार हो जाता है। जो अज्ञान वैचारिक आग्रह से आध्यात्मिक विकास को कुंठित करता था और सामाजिक जीवन में विग्रह और वैमनस्य के बीज वपन करता था, पर सम्यग्दर्शन होते ही उसका ज्ञान अनाग्रही हो जाता है। अज्ञानी स्वयं के मत की प्रशंसा करता है और दूसरे के मत की निंदा करने में अपना पाण्डित्य प्रदर्शित करता है।[1] किन्तु सम्यग्ज्ञानी वीतराग मार्ग को उपलब्ध करने के लिए वैचारिक आग्रह का परित्याग कर

---

१ सूत्रकृताङ्ग १।१।२।२३

रखने की आवश्यकता है। जो साधक विशिष्ट हैं, वे अपने दिव्य प्रभाव से बुरे व्यक्तियों को भी अच्छे व्यक्ति बना सकते हैं। उनके लिए यह अतिचार नहीं है। पर जो प्राथमिक स्थिति में है, उन साधकों को इन पाँचों अतिचारों से बचना चाहिए। ये पाँच अतिचार जानने योग्य हैं पर आचरण करने योग्य नहीं है। जब तक साधक इन्हें न जानेगा और उनके दुष्परिणाम से परिचित न होगा तब तक वह उन्हें त्याग भी नहीं सकता। इसीलिए अतिचारों को जानना चाहिए पर आचरण नहीं करना चाहिए।

साधना का प्राण तत्त्व

इस प्रकार हम देखते हैं, सम्यग्दर्शन जैन साधना का प्राण तत्त्व है। विभिन्न चिन्तकों ने 'दर्शन' शब्द का ज्ञान से पृथक करते हुए दर्शन का अर्थ अन्तर्बोध किया है। नैतिक जीवन की दृष्टि से दर्शन शब्द का अर्थ दृष्टिकोण भी है। 'दर्शन' शब्द के स्थान पर 'दृष्टि' शब्द का व्यवहार दृष्टिकोण वाले अर्थ को पुष्ट करता है। दर्शन का अर्थ तत्त्व-श्रद्धा भी है। साथ ही देव गुरु धर्म के प्रति निष्ठा व भक्ति' के अर्थ में भी दर्शन शब्द व्यवहृत हुआ है। यों सम्यग्दर्शन तत्त्व साक्षात्कार, आत्म साक्षात्कार, अन्तर्बोध, दृष्टिकोण, श्रद्धा, भक्ति प्रभृति विभिन्न अर्थ अपने आप में समेटे हुए है। बौद्ध दर्शन की भाषा में सम्यग्दर्शन को समाधि कह सकते हैं और श्रद्धा भी। उपनिषदों में वह श्रवण है और गीता की भाषा में श्रद्धा और प्रणिपात है। पाश्चात्य चिन्तकों ने सम्यग्दर्शन को एक्सेप्ट दाइसेल्फ (आत्म स्वीकृति) कहा है।

सत्य का साक्षात्कार

जब सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है तो अनन्तकाल से रहा हुआ अज्ञान उसी क्षण ज्ञान में परिवर्तित हो जाता है। उस अज्ञान में से आग्रह बुद्धि निकल जाती है जिससे उसे यथार्थ ज्ञान हो जाता है और परम सत्य का उसे साक्षात्कार हो जाता है। जो अज्ञान वैचारिक आग्रह से आध्यात्मिक विकास को कुण्ठित करता था और सामाजिक जीवन में विग्रह और वैमनस्य के बीज वपन करता था, पर सम्यग्दर्शन होते ही उसका ज्ञान अनाग्रही हो जाता है। अज्ञानी स्वयं के मत की प्रशंसा करता है और दूसरे के मत की निंदा करने में अपना पाण्डित्य प्रदर्शित करता है।[1] किन्तु सम्यग्ज्ञानी वीतराग मार्ग को उपलब्ध करने के लिए वैचारिक आग्रह का परित्याग कर

---

१ सूत्रकृताङ्ग १।१।२।२३

रखने की आवश्यकता है। जो साधक विशिष्ट है, वे अपने निज प्रभाव से बुरे व्यक्तियों को भी अच्छे व्यक्ति बना सकते हैं। उनके लिए यह अतिचार नहीं है। पर जो प्राथमिक स्थिति में है, उन साधकों को इन पाँचों अतिचारों से बचना चाहिए। ये पाँच अतिचार ज्ञातव्य हैं, पर आचरण करने योग्य नहीं है। जब तक साधक इन्हें जानेगा और उनके दुष्परिणाम से परिचित न होगा तब तक वह उन्हें त्याग भी नहीं सकता। इसलिए अतिचारों को जानना चाहिए पर आचरण नहीं करना चाहिए।

साधना का प्राण तत्त्व

इस प्रकार हम देखते हैं, सम्यग्दर्शन जैन साधना का प्राण तत्त्व है। कितने ही चिन्तकों ने 'दर्शन शब्द' का ज्ञान से पृथक करते हुए दर्शन का अर्थ अन्तर्बोध किया है। नैतिक जीवन की दृष्टि से दर्शन' शब्द का अर्थ दृष्टिकोण' भी है। 'दर्शन शब्द' के स्थान पर 'दृष्टि' शब्द का व्यवहार दृष्टिकोण वाले अर्थ को पुष्ट करता है। दर्शन' का अर्थ 'तत्त्वश्रद्धा' भी है। साथ ही देव गुरु धर्म के प्रति निष्ठा व भक्ति के अर्थ में भी दर्शन शब्द व्यवहृत हुआ है। तो सम्यग्दर्शन तत्त्व साक्षात्कार, आत्म साक्षात्कार, अन्तर्बोध, दृष्टिकोण श्रद्धा, भक्ति प्रभृति विभिन्न अर्थ अपने आप में समेटे हुए है। बौद्ध दर्शन की भाषा में सम्यग्दर्शन को समाधि कह सकते हैं और श्रद्धा भी। उपनिषदों में वह श्रवण है और गीता की भाषा में श्रद्धा और प्रणिपात है। पाश्चात्य चिन्तकों ने सम्यग्दर्शन को एवसप्ट दाइसल्फ (आत्म-स्वीकृति) कहा है।

सत्य का साक्षात्कार

जब सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है तो अनन्तकाल से रहा हुआ अज्ञान उसी क्षण ज्ञान में परिवर्तित हो जाता है। उस अज्ञान में से आग्रह बुद्धि निकल जाता है जिससे उसे यथार्थ ज्ञान हो जाता है और परम सत्य का उसे साक्षात्कार हो जाता है। जो अज्ञान वैचारिक आग्रह से आध्यात्मिक विकास को कुंठित करता था और सामाजिक जीवन में विग्रह और वैमनस्य के बीज वपन करता था, पर सम्यग्दर्शन होते ही उसका ज्ञान अनाग्रही हो जाता है। अज्ञानी स्वयं के मत की प्रशंसा करता है और दूसरे के मत की निंदा करने में अपना पाण्डित्य प्रदर्शित करता है।[1] किन्तु सम्यग्ज्ञानी वीतराग मार्ग को उपलब्ध करने के लिए वैचारिक आग्रह का परित्याग कर

---

१ सूत्रकृताङ्ग १।१।२।२३

अनावश्यक होता है। जैन दर्शन के अनुसार सम्यग्ज्ञान में आत्मा और अनात्मा का विवेक है। जब ज्ञान आचरण के रूप में आता है तभी वह फलवान होता है। ज्ञान का फल विरति है।[1] उससे मन, वचन और आचरण में शुद्धि होती है। उसे व्यवहार चारित्र कहा है। निश्चयदृष्टि से सम्यक्त्व के कारण जीवन में समत्व उत्पन्न होता है। वह आत्म भाव में रमण करता है। जब राग द्वेष विषय व कषाय की अग्नि पूरी शान्त हो जाती है तब साधक के जीवन में स्वतः ही सही आचरण आता है और वह चारित्र है।

दर्शन और ज्ञान

ज्ञान पहले है या दर्शन पहले है ? इस प्रश्न पर जैन दार्शनिक अतीत काल से ही चिन्तन करते रहे हैं। कितने ही आचार्यों ने दर्शन को प्राथमिकता दी तो कितने ही आचार्यों ने ज्ञान को तो कितने ही आचार्यों ने दर्शन और ज्ञान को युगपत माना। आचार मीमांसा की दृष्टि से सर्वप्रथम दर्शन है क्योंकि दर्शन के बिना ज्ञान नहीं होता। यहाँ पर ज्ञान की अपेक्षा दर्शन को प्राथमिकता दी है। आचार्य उमास्वाति ने तत्त्वार्थसूत्र में पहले सूत्र में ज्ञान और चारित्र के पहले दर्शन को स्थान दिया है। आचार्य कुन्दकुन्द ने भी दर्शनपाहुड (गाथा २) में दर्शन को ही प्रधानता दी है।

आगम साहित्य में ऐसे अनेक सन्दर्भ हैं जिनमें ज्ञान को प्राथमिकता दी गई है। उत्तराध्ययन में 'मोक्ष मार्ग' का विवेचन करते हुए ज्ञान को प्रथम स्थान दिया है। हम इस सम्बन्ध में परस्पर दार्शनिक विवाद में न उलझकर यह समझना है कि दर्शन का अर्थ है यथार्थ दृष्टिकोण और श्रद्धा। बिना यथार्थ दृष्टिकोण के न ज्ञान सम्यक् हो सकता है न चारित्र। यथार्थ दृष्टिकोण के अभाव में न वह सत्य का ज्ञान सकता है, न सत्य का आचरण ही कर सकता है। वह तो मिथ्यात्व व्यक्ति की तरह होता है। यदि हम दर्शन का अर्थ केवल श्रद्धा लेते हैं तो उसे ज्ञान के बाद में भी स्थान दे सकते हैं। क्योंकि बिना ज्ञान के श्रद्धा अन्धश्रद्धा होगी। उत्तराध्ययन में भी श्रद्धापरक अर्थ में ज्ञान के बाद ही दर्शन को स्थान दिया है। पहले ज्ञान से पदार्थ के स्वरूप को जानो फिर दर्शन के द्वारा उस पर श्रद्धा करो।

जिनेश्वरदेव के वचनों पर भी सही श्रद्धा तभी होगी जब साधक तार्किक बुद्धि से उसे समझेगा। आचरण की विशुद्धि के लिए श्रद्धा एवं

१ ज्ञानस्य फलं विरतिः।

अनिवाय तत्त्व ह और वह श्रद्धा ज्ञान स समुत्पन्न हानी चाहिए। इस दष्टि से दशन से पहले ज्ञान को ले सकत हैं।

प्रज्ञा और श्रद्धा

जन दर्शन की भांति बौद्ध दशन म भी श्रद्धा को महत्त्वपूण स्थान दिया ह। सुत्तनिपात मे आलवक यक्ष के प्रति बुद्ध कहते है— मनुष्य का सवश्रेष्ठ धन श्रद्धा ह।[1]

यदि हम बुद्ध की श्रद्धा का आस्था के अथ म लत ह ता बुद्ध के चिंतन के अनुसार प्रज्ञा प्रथम है और श्रद्धा का स्थान दूसरा है। क्याकि सयुक्तनिकाय म बुद्ध कहते ह—श्रद्धा पुरुष का साथी है और प्रज्ञा उस पर नियत्रण करती है।[2] इस तरह बुद्ध ने भी श्रद्धा पर विवक को स्वीकृत किया है और सयुक्तनिकाय म श्रद्धा स ज्ञान का बडा माना है।[3]

साराश यह है कि तथागत बुद्ध ज्ञानविहीन श्रद्धा को उचित नही मानत, वह अधश्रद्धा मानव का स्वविवेक रूपी चक्षु प्रदान नहा कर सकती और श्रद्धाविहीन ज्ञान तक की कटीली झाडी म उलझ जाता है। इसलिए विसुद्धिमग्गा म स्पष्ट कहा—जिसकी श्रद्धा बलवता है पर प्रज्ञा मद है वह हर किसी बात पर विश्वास कर लेता है किन्तु जिसकी प्रज्ञा बलवता है और श्रद्धा मन्द है वह कुतार्किक बन जाता है। विसुद्धिमग्गा के अनुसार जस ओषधि स समुत्पन्न राग का चिकित्सा कठिनतर हाती है वस ही मन्द श्रद्धा क अभाव म बलवती प्रज्ञा से व्यक्ति धूत बन जाता ह। अत प्रज्ञा और श्रद्धा दाना म समन्वय अपेक्षित है।

श्रीमद्भगवदगीता म ज्ञान का भी अत्यधिक महत्व दिया ह न हि ज्ञानेन सदृश पवित्रमिहविद्यते कहकर ज्ञान का सब स पवित्र माना है पर वहाँ साथ ही यह भी बता दिया है कि वह ज्ञान उसी का प्राप्त होता है जा श्रद्धावान ह— श्रद्धावान लभते ज्ञानम्।

इस प्रकार श्रद्धा और ज्ञान दोना को ही गीताकार न महत्त्व दिया है। गीताकार की दृष्टि से श्रद्धा इतनी महान है कि वह उपासक के हृदय म ज्ञान की दिव्य ज्याति प्रकट करती है।

श्रद्धा और क्रिया

जिस प्रकार ज्ञान और दशन क पूर्वापर का लकर चिंतका मे मतभेद

---

१ सुत्तनिपात १०।२
२ सयुक्तनिकाय १।१।५६
३ सयुक्त निकाय ४।४१।८

रहा वगा मनभ ज्ञान और चारित्र को अथवा दर्शन और चारित्र को लेकर नहीं है। यह स्पष्ट है कि सम्यग्दर्शन के बिना सम्यक्चारित्र नहीं होता। जो साधक दर्शन से भ्रष्ट है वह वास्तविक भ्रष्ट है। किन्तु जो चारित्र से भ्रष्ट है पर दर्शन से युक्त है तो उसका उद्धार हो सकता है। दर्शन से भ्रष्ट व्यक्ति कभी मुक्त नहीं हो सकता। क्योंकि दर्शन ही ज्ञान और चारित्र को सही मार्गदर्शन देता है। जो सम्यग्दृष्टि है उसी का तप वास्तविक तप है उसी का ज्ञान सही ज्ञान है और उसी का आचरण सम्यक्आचरण है। आनन्दघनजी ने भी दर्शन की महत्ता प्रतिपादित करते हुए कहा—बिना दर्शन जो क्रियाएँ हैं वह राख (भस्म) पर लेपन के सदृश है।

ज्ञान और चारित्र

चारित्र का स्थान ज्ञान के पश्चात् है। जो जीव अजीव को नहीं जानता वह धर्म की साधना सम्यक् प्रकार से नहीं कर सकता उसका आचरण विशुद्ध नहीं हो सकता। नाणेण विणा न हुंति चरण गुणा—बिना सम्यग्ज्ञान के सम्यक्चारित्र नहीं होता। आचार्य अमृतचन्द्र ने समयसार टीका (१५३) में ज्ञान को अत्यधिक महत्त्व प्रतिपादित की और ज्ञान को मोक्ष का हेतु माना है। उन्होंने लिखा है—ज्ञान के अभाव में अज्ञानियों में अन्तरंग व्रत, नियम, सदाचरण तप आदि होते हुए भी मोक्ष नहीं क्योंकि अज्ञान ही बंध का हेतु है। पर जैन आगम साहित्य का पर्यवेक्षण करने पर यह स्पष्ट है कि ज्ञान के साथ आचरण को भी उतना ही महत्त्व दिया है जितना दर्शन को। यह स्पष्ट कहा गया है केवल शास्त्रों का ज्ञान शरणभूत नहीं होता जो दुराचरण में अनुरक्त है और अपने आपको पण्डित मानता है वह वस्तुतः मूर्ख है। आचरणविहीन अनेक शास्त्रों का मनन किया भी संसार समुद्र से पार नहीं हो सकता। जैसे एक चक्र से रथ नहीं चल सकता एक पंख से पक्षी अनन्त आकाश में उड़ नहीं सकता वैसे ही केवल ज्ञान से मुक्ति नहीं मिल सकती। मुक्ति के लिए ज्ञान और क्रिया दोनों की आवश्यकता है।

सम्यग्दर्शन की पूर्णता चतुर्थ गुणस्थान में हो सकती है किन्तु सम्यग्ज्ञान की पूर्णता तेरहवें गुणस्थान में और सम्यक्चारित्र की पूर्णता चौदहवें गुणस्थान में होती है। जब सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र में पूर्णता आती है तो उसी क्षण मुक्ति हो जाती है। □

री, छार पर लीपणु तेह जाणो।

३ चारित्रिक विकास की सीढ़ियाँ
गुणस्थान

चारित्रिक विकास की पृष्ठभूमि के रूप में सम्यग्दर्शन का वर्णन पिछले प्रकरण में किया जा चुका है। सम्यग्दर्शन से आत्मा के गुणों का विकास होता है और आत्म गुणों का प्रतिबिम्ब प्राणी के चरित्र पर अवश्य पड़ता है। प्रत्येक प्राणी में चारित्रिक विकास की समान स्थिति नहीं रहती। जिस आत्मा में मोह की विकार व कषायों की प्रबलता रहती है, उसके आत्म गुण आच्छादित रहते हैं और तदनुसार उसका चारित्रिक विकास बहुत अल्प अल्पतर रहता है। जैसे जैसे मोह की सघनता कम होती है, वैसे-वैसे सम्यग्दर्शन का विकास होता है और चारित्रिक गुणों का प्रकाश चमकने लगता है।

जैन सिद्धान्त में आत्मा के चारित्रिक गुणों के विकास की तरतमता को बताने के लिए गुणस्थान शब्द व्यवहृत हुआ है। यह एक प्रकार का थर्मामीटर है जिससे आत्मा के विकास की स्थिति व मोह की तरतमता का निदर्शन होता है। यहाँ चारित्रिक विकास को समझने के लिए 'गुणस्थान' का विवेचन प्रस्तुत किया जा रहा है।

जीवस्थान : गुणस्थान

प्राचीन श्वेताम्बर आगम साहित्य में कहीं भी गुणस्थान शब्द का प्रयोग नहीं मिलता। समवायांग (१४) में गुणस्थान के स्थान पर जीवस्थान शब्द आता है। सर्वप्रथम गुणस्थान शब्द का प्रयोग आचार्य कुन्दकुन्द के 'समयसार'[1] तथा 'प्राकृत पंचसंग्रह' (१।३ ५) व 'कर्मग्रन्थ' (४।१)

---

१ ... गुण ठाणा य जीवस्स । —समयसार गाथा ५८

में मिलता है। आचार्य नेमिचन्द्र ने गोम्मटसार[1] में जीवों को गुण कहा है। उनके अभिमतानुसार चौदह जीवस्थान कर्मों के उदय, उपशम क्षय, क्षयोपशम आदि की भावाभावजनित अवस्थाओं से निष्पन्न होते हैं। परिणाम और परिणामी का अभेदोपचार करने से जीवस्थान को गुणस्थान कहा है। गोम्मटसार में गुणस्थान को जीव समास भी कहा है।[2] षट्खण्डागम की धवलावृत्ति के अनुसार जीव गुणों में रहते हैं एतदर्थ उन्हें जीव समास कहा है। कर्म के उदय से जो गुण उत्पन्न होते हैं वे औदयिक हैं। कर्म के उपशम से जो गुण उत्पन्न होते हैं वे औपशमिक हैं। कर्म के क्षयोपशम से जो गुण उत्पन्न होते हैं, वे क्षायोपशमिक हैं। कर्म के क्षय से जो गुण उत्पन्न होते हैं वे क्षायिक है। कर्म के उदय, उपशम, क्षय, क्षयोपशम के बिना जो गुण स्वभावतः पाया जाता है वह पारिणामिक है। इन गुणों के कारण जीव को भी गुण कहा जाता है।[3] जीवस्थान को पश्चातवर्ती साहित्य में इसी दृष्टि से गुणस्थान कहा गया है।

नेमिचन्द्र ने संक्षेप और ओघ ये दो गुणस्थान के पर्यायवाची माने हैं।[4]

कर्मग्रन्थ (४।२) में जिन्हें चौदह जीवस्थान बताया है[5] उन्हें ही समवायांग सूत्र (१४) में चौदह भूतग्राम की संज्ञा प्रदान की गयी है। जिन्हें कर्मग्रन्थ में गुणस्थान कहा गया है उन्हें समवायांग में जीवस्थान कहा है। इस प्रकार कर्मग्रन्थ और समवायांग में सिर्फ संज्ञाभेद है।

---

१ जेहिं दु लक्खिज्जंते उदयादिसु सम्भवेहिं भावेहिं।
जीवा ते गुणसण्णा णिद्दिट्ठा सव्वदरिसीहिं॥ —गोम्मटसार गाथा ८

२ [illegible] जीवसमासा [illegible] णिद्दिट्ठा य [illegible]। —गोम्मटसार गाथा १०

३ जीवसमास इति किम्? जीवाः समस्यन्ते एष्विति जीवसमासाः। क्व समस्यन्ते? गुणेषु। के गुणाः? औदयिकौपशमिकक्षायिकक्षायोपशमिकपारिणामिका इति गुणाः। अस्य गमनिका, कर्मणामुदयादुत्पन्नो गुणः औदयिकः, तदुपशमादौपशमिकः, क्षयात्क्षायिकः, तत्क्षयोपशमात्क्षायोपशमिकः, कर्मोदयोपशमक्षयक्षयोपशममन्तरेणोत्पन्नः पारिणामिकः। गुणसहचरितत्वादात्मापि गुणसंज्ञां प्रतिलभते। —षट्खण्डागम धवलावृत्ति प्रथम खण्ड १।१।[illegible]

४ संखेओ ओघो त्ति य गुणसण्णा सा च मोहजोगभवा। —गोम्मटसार, गाथा ३

५ इह सुहुमबायरेगिंदिबितिचउअसन्निसन्निपंचिंदी।
अपजत्ता पज्जत्ता कमेण चउदस जियट्ठाणा॥ —कर्मग्रन्थ ४।२

गुणस्थान का आधार

समवायांग में जीवस्थानों की रचना का आधार कर्मविशुद्धि बताया गया है।[1] टीकाकार आचार्य अभयदेव ने भी गुणस्थानों को ज्ञानावरण प्रभृति कर्मों की विशुद्धि से निष्पन्न बताया है।[2] दिगंबराचार्य नेमिचन्द्र का अभिमत है कि प्रथम चार गुणस्थान दर्शन मोह के उदय आदि से होते हैं और आगे के आठ गुणस्थान चारित्र मोह के क्षयोपशम आदि से निष्पन्न होते हैं।[3]

जैनदर्शन का मन्तव्य है कि आत्मा का सही स्वरूप शुद्ध ज्ञानमय और परिपूर्ण सुखमय है। आत्मा अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख और अनन्तवीर्य युक्त है। कर्मों ने उसके स्वरूप को विकृत या आवृत कर दिया है। जब कर्मावरण की घनघोर घटाएँ गहरी छा जाती हैं तब आत्म-ज्योति मन्द और मन्दतम हो जाती है, पर ज्यों-ज्यों कर्मों का आवरण छँटता है अथवा उसका बन्धन शिथिल होता है त्यों-त्यों आत्मा की शक्ति प्रकट होने लगती है। प्रथम गुणस्थान में आत्म शक्ति का प्रकाश अत्यन्त मन्द होता है। आगे गुणस्थानों में वह प्रकाश अभिवृद्धि को प्राप्त होता है और अन्त में चौदहवें गुणस्थान में आत्मा विशुद्ध अवस्था में पहुँच जाता है।

ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय—ये आत्म शक्ति को आच्छादित करने वाले आवरण हैं। इन चार प्रकार के आवरणों में मोहनीय रूप आवरण मुख्य है। मोह की तीव्रता और मन्दता पर अन्य आवरणों की तीव्रता और मन्दता अवलम्बित है। एतदर्थ ही गुणस्थानों की व्यवस्थाओं में मोह की तीव्रता और मन्दता पर अधिक ध्यान दिया गया है।

मोहनीयकर्म के दो मुख्य भेद हैं—दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय। दर्शनमोहनीय के उदय से आत्मा यथार्थश्रद्धान नहीं कर पाता। उसका विचार

---

१ कम्मविसोहिमग्गणं पडुच्च चउद्दस जीवट्ठाणा पण्णत्ता। —समवायाङ्ग १४।१

२ कर्मविशोधिमार्गणां प्रतीत्य—ज्ञानावरणादिकर्मविशुद्धि गवेषणामाश्रित्य।

—समवायाङ्ग वृत्ति पत्र ६

३ एदे भावा णियमा दंसणमोहं पडुच्च भणिदा हु।
चारित्तं णत्थि जदो अविरद अन्तेसु ठाणेसु॥
देसविरदे पमत्ते इदरे य खओवसमियभावो दु।
सो खलु चरित्तमोहं पडुच्च भणियं तहा उवरिं॥ —गोम्मटसार, गाथा १२-१३

स्वीकार कर दूसरा का खण्डन करना यह आभिग्रहिक मिथ्यात्व है। जो साधक स्वयं परीक्षा करने में असमर्थ है किन्तु परीक्षक की आज्ञा में रहकर तत्त्व का स्वीकार करते है जिस प्रकार माषतुष मुनि उनको आभिग्रहिक मिथ्यात्व नहीं लगता।

अनाभिग्रहिक—बिना गुण दोष की परीक्षा किये ही सभी मतों या को एक ही समान समझना अनाभिग्रहिक मिथ्यात्व है। यह मिथ्यात्व उन जीवों में होता है जो परीक्षा करने में असमर्थ तथा मन्दबुद्धि है, जिससे वे किसी भी मार्ग में स्थिर नहीं रह सकते।

आभिनिवेशिक—अपने पक्ष को असत्य समझ करके भी उस असत्य से चिपका रहना आभिनिवेशिक मिथ्यात्व है। इसी का अपर नाम एकान्त मिथ्यात्व भी है।

संशय—देव गुरु और धर्म के तत्त्व के स्वरूप में संशय रखना संशय मिथ्यात्व है। आगमों के गूढ़-गम्भीर रहस्यों को समझने में कभी कभी गीतार्थ श्रमण भी यह विचारने के लिए बाध्य हो जाते हैं कि यह समीचीन है या वह समीचीन है ? किन्तु अन्त में निर्णायक स्थिति न होती तो जिनेश्वरदेव ने जो कहा है वही पूर्ण सत्य है यह विचार कर जिन प्ररूपित तत्त्वों पर पूर्ण श्रद्धा रखते हैं। केवल संशय या शंका हो जाना संशय मिथ्यात्व नहीं है। किन्तु जो तत्त्व अतत्त्व आदि के सम्बन्ध में डांवाडोल चित्त रखते हैं उन्हें संशय मिथ्यात्वी कहा है।

अनाभोगिक—विचार और विशेष ज्ञान का अभाव अर्थात् मोह की प्रबलतम अवस्था यह अनाभोगिक मिथ्यात्व है। यह मिथ्यात्व एकेन्द्रिय आदि जीवों में होता है।

इन पाँच प्रकार के मिथ्यात्वों में एक अनाभोगिक मिथ्यात्व अव्यक्त है शेष चारों मिथ्यात्व व्यक्त हैं।[1]

अपेक्षा दृष्टि से मिथ्यात्व के दस भेद[2] भी बनते हैं। वे इस प्रकार हैं—

---

१ अत्रापि अन्त्यमनाभोगिक मिथ्यात्वं तदव्यक्तं शेषमिथ्यात्वचतुष्टयं तु व्यक्तमेव।

— गुणस्थान क्रमारोह० स्वोपज्ञ वृत्ति ६

२ दसविहे मिच्छत्ते पन्नत्ते तं जहा—अधम्मे धम्मसन्ना धम्मे अधम्मसन्ना उम्मग्गे

(क्रमश)

स्थान में होता है। जो अनादि मिथ्यादृष्टि है उनके सम्यक्त्वप्रकृति सम्यक्त्व मिथ्यात्वप्रकृति के बिना एक सौ छियालीस कर्मप्रकृतियों की सत्ता रहती है और सादि मिथ्यादृष्टि के उक्त दोनों का सद्भाव हो जाने के कारण उसमें एक सौ अड़तालीस कर्मप्रकृतियों की सत्ता होती है।

करण के तीन प्रकार

उक्त मिथ्यादृष्टि जीव के उदय में आने वाली कर्मप्रकृतियों में से जब तक मिथ्यात्वमोहनीय का सतत उदय रहता है तब तक उस जीव का आकर्षण आत्म-स्वरूप की प्राप्ति की ओर नहीं होता। जब उसका मन्दोदय होता है उसके साथ ही ज्ञानावरण, दर्शनावरण आदि शेष कर्मों का भी मन्दोदय होता है और सभी कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति न्यून होकर एक कोटाकोटि सागरोपम के अन्तर्गत होती है तथा इसी अन्तःकोटाकोटि सागरोपम प्रमाण वाले नवीन कर्म का बन्ध होता है तब वह जीव आत्म-स्वरूप को पाने के लिए उत्सुक होता है। उस समय में जीव के जो विशुद्ध परिणाम होते हैं उन्हें शास्त्रीय भाषा में करण कहा है।[1] करण के तीन प्रकार हैं—(१) यथाप्रवृत्तिकरण (अधःप्रवृत्तिकरण) (२) अपूर्वकरण और (३) अनिवृत्तिकरण।

यथाप्रवृत्तिकरण से जीव राग-द्वेष की ऐसी गाँठ, जो कर्कश, दृढ़ और रेशम की गाँठ के समान है[2] जिसका भेदन सहज नहीं है, वहाँ तक आता है किन्तु उस गाँठ का भेद नहीं सकता। इसी को जैन कर्मसाहित्य में ग्रन्थिदेश की प्राप्ति कहा है। अभव्य जीव भी यथाप्रवृत्तिकरण से ग्रन्थिदेश की प्राप्ति कर सकता है। अर्थात् कर्मों की बहुत लम्बी स्थिति को न्यून कर अन्तःकोटाकोटि सागरोपम प्रमाण कर सकता है। किन्तु वह राग-द्वेष की दुर्भेद्य ग्रन्थि का भेदन कदापि नहीं कर सकता।[3]

भव्य जीव के यह यथाप्रवृत्तिकरण एक अन्तर्मुहूर्त काल तक रहता है और प्रतिसमय वह उत्तरोत्तर विशुद्धि को प्राप्त होता है। उसके पश्चात् वह अपूर्वकरण अर्थात् विशुद्धि के अनन्तगुणित क्रम से बढ़ने पर उन

---

१ परिणाम विशेषोऽत्र करणं प्राणिनां मतम्। —लोकप्रकाश—उपा० विनयविजय

२ गंठि त्ति सुदुब्भेओ कक्खडघणरूढ गूढ गंठि व्व।
जीवस्स कम्मजणिओ घणरागद्दोस परिणामो। —विशेषावश्यकभाष्य

३ (क) विशेष विवरण के लिए देखिए—विशेषावश्यकभाष्य १२०२ से १२१८
(ख) प्रवचनसारोद्धार द्वार २२४, गा० १३०२ टीका
(ग) कर्मग्रन्थ भाग २, गाथा २

अपूर्व परिणामों को प्राप्त करता है जो इसके पूर्व संसारी अवस्था में कभी भी प्राप्त नहीं हुए थे। इस करण का काल भी अन्तर्मुहूर्त है। उस समय में जीव प्रतिसमय उत्तरोत्तर अल्पस्थितिवाले कर्मों का बंध करता है और कर्मों की उत्तरोत्तर असंख्यातगुणित क्रम से निर्जरा करता है। इस समय आत्मा में [illegible] और भी अनेक सूक्ष्म क्रियाएँ प्रारम्भ होती हैं। जिनके द्वारा जीव उत्तरोत्तर विशुद्ध एवं कर्म भार से हलका होता जाता है। इसके पश्चात् अनिवृत्तिकरण का प्रारम्भ होता है। इस करण के समय जीव के विशुद्ध परिणाम अपूर्वकरण से भी अत्यधिक मात्रा में प्रगट होते हैं। इस करण का काल भी अन्तर्मुहूर्त है।

द्वितीय स्थिति कह सकते हैं। जिस समय में अंतरकरण क्रिया प्रारम्भ होती है अर्थात् उदय योग्य दलिकों का निरन्तर व्यवधान किया जाता है उस समय से अनिवृत्तिकरण के अंतिम समय तक पूर्व बताये हुए दो भागों में से प्रथम भाग का उदय रहता है। अनिवृत्तिकरण के अंतिम समय पूर्ण हो जाने पर मिथ्यात्व का किसी भी प्रकार का उदय नहीं रहता चूंकि उस समय जिन दलिकों के उदय की सम्भावना है वे सभी दलिक अंतरकरण क्रिया से आगे पीछे उदय में आने योग्य कर दिये जाते हैं। अनिवृत्तिकरण के अंतिम समय तक मिथ्यात्व का उदय रहता है। इसीलिए उस समय तक जीव मिथ्यात्वी कहलाता है।

अनिवृत्तिकरण का समय पूर्ण होने पर जीव को औपशमिक सम्यक्त्व उपलब्ध होता है। उस समय मिथ्यात्वमोहनीयकर्म का विपाक और प्रदेश दोनों प्रकार का उदय नहीं होता जिससे जीव का स्वाभाविक सम्यक्त्व गुण प्रगट होता है और वह औपशमिक सम्यक्त्वी कहलाता है। औपशमिक सम्यक्त्व अंतर्मुहूर्तपर्यन्त रहता है। जिस प्रकार एक जन्मान्ध व्यक्ति को नेत्रज्योति प्राप्त होने पर उसे अपूर्व आनन्द की उपलब्धि होती है वैसे ही जीव को औपशमिक सम्यक्त्व प्राप्त होने पर अपूर्व आनन्द प्राप्त होता है। औपशमिक सम्यक्त्व का काल उपशान्ताद्धा या अंतरकरण काल कहलाता है। प्रथम स्थिति के अन्तिम समय में अर्थात् उपशान्ताद्धा के पूर्व समय में जीव विशुद्ध परिणाम से उस मिथ्यात्व के तीन पुन्ज करता है जो उपशान्ताद्धा के पूर्ण हो जाने के पश्चात् उदय में आने वाला है। जैसे—कोद्रव नामक धान्य विशेष प्रकार की औषधि से साफ करने पर उसका एक भाग इतना निर्मल हो जाता है कि उसके खाने वाले को उसका नशा नहीं आता, दूसरा भाग कुछ साफ होता है कुछ साफ नहीं होता वह अर्धशुद्ध कहलाता है और कोद्रव का कुछ भाग बिलकुल ही अशुद्ध रह जाता है जिसका खाने से नशा आ जाता है। इसी तरह द्वितीय स्थितिगत मिथ्यात्वमोहनीय कर्म के तीन पुन्जों में से एक पुन्ज तो इतना विशुद्ध हो जाता है कि उसमें सम्यक्त्वघातक रस का अभाव हो जाता है। द्वितीय पुन्ज अर्धशुद्ध होता है और तृतीय पुन्ज अशुद्ध होता है। उपशान्ताद्धा पूर्ण हो जाने के पश्चात् उपर्युक्त तीन पुन्जों में से कोई एक पुन्ज जीव के परिणाम के अनुसार उदय में आता है। यदि जीव विशुद्ध परिणामी ही रहे तो शुद्ध पुन्ज उदय में आता है। शुद्ध पुन्ज के उदय होने से सम्यक्त्व का घात तो नहीं होता किन्तु उस समय जो सम्यक्त्व उपलब्ध होता है वह क्षायोप

शमिक कहलाता है। यदि जीव का परिणाम पूर्ण शुद्ध नहीं रहा और न अशुद्ध ही रहा उस मिश्रस्थिति में अर्धविशुद्ध पुञ्ज का उदय होता है। उस समय जीव तृतीय गुणस्थानवर्ती कहलाता है। यदि परिणाम पूर्ण अशुद्ध ही रहा तो अशुद्ध पुञ्ज उदय में आयगा। अशुद्ध पुञ्ज के उदय होने पर जीव पुनः मिथ्यादृष्टि हो जाता है।

अन्तर्मुहूर्त प्रमाण उपशान्तद्धा जिसमें जीव निमल स्थिति में होता है उसका काल जघन्य एक समय और उत्कृष्ट छह आवलिकाएँ जब शेष रह जाती हैं तब किसी किसी औपशमिक सम्यक्त्वी जीव का विघ्न उपस्थित होता है उसकी निर्मल अवस्था में बाधा उत्पन्न होती है, क्योंकि उस समय अनन्तानुबन्धी कषाय का उदय हो जाता है। अनन्तानुबन्धी कषाय के उदय होने पर जीव सम्यक्त्व परिणाम का परित्याग कर मिथ्यात्व की ओर बढ़ता है। जब तक वह मिथ्यात्व को नहीं पा लेता तब तक वह सासादनभाव का अनुभव करता है। इसलिए उस जीव को सास्वादन सम्यक्‌दृष्टि कहते हैं। औपशमिक सम्यक्त्व के काल में जितना काल शेष रहने पर किसी एक अनन्तानुबन्धी कषाय के उदय से वह उपशमसम्यक्त्व से गिरता है उतने ही (एक समय से लेकर छह आवलिका) समय तक वह सासादनसम्यक्‌दृष्टि नामक दूसरे गुणस्थान में रहता है। उक्त काल के पूर्ण होते ही मिथ्यात्व कर्म का उदय हो जाता है और वह प्रथम गुणस्थान को प्राप्त होकर मिथ्यादृष्टि बन जाता है।[1]

२ सास्वादन सम्यक्‌दृष्टि

द्वितीय गुणस्थान का नाम सास्वादनसम्यग्दृष्टि है। प्राकृत भाषा में "सासायण" शब्द है। उसके संस्कृत में दो रूप मिलते हैं—सास्वादन और

---

१ (क) सह यत्तत्त्वश्रद्धानं रसास्वादनेन वर्तते इति सास्वादनं घण्टालालान्यायेन प्रायः परित्यक्तसम्यक्त्वं तदुत्तरकालं षडावलिकं तथा चोक्तम्—

उवसमसम्मत्ताओ चयओ मिच्छं अपावमाणस्स ।
सासायणसम्मत्तं तदन्तरालम्मि छावलियं ॥१॥
इति सास्वादनस्यासौ सम्यग्दृष्टिश्चेति विग्रहः ।

—समवायांग वृत्ति पत्र २६

(ख) समयादावलीषट्कं यावन्मिथ्यात्वभूतम् ।
नासादयति जीवोऽयं तावत्सास्वादनो भवेत् ॥

—गुणस्थान क्रमारोह १२

चतुर्थ गुणस्थान का स्पर्श करता है और चतुर्थ गुणस्थान में यथार्थ का आस्वाद कर पुनः पतित होकर प्रथम गुणस्थान को प्राप्त करता है उस समय [illegible] काल में, जीव [illegible] का आस्वाद कर लेता है और जिस आत्मा ने एक बार चतुर्थ गुणस्थान का स्पर्श किया है और पुनः मिथ्यात्व को प्राप्त हो गया है वह आत्मा प्रथम गुणस्थान से निकलकर चतुर्थ गुणस्थान का स्पर्श करने की स्थिति में आता है तो तृतीय गुणस्थान का स्पर्श करता है। क्योंकि उसने एक बार सत्य का आस्वादन किया है; जिसने यथार्थता का कुछ अनुभव किया है। यह एक अनिश्चय की अवस्था है जिसमें साधक यथार्थता के बारे में पश्चात् संशयात्मकता को प्राप्त होता है। वह सत्य और असत्य के बीच झूलता रहता है। वह सत्य और असत्य में से किसी एक का चुनाव न करके अनिर्णय की अवस्था में रहता है।

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से तृतीय गुणस्थान — आधुनिक मनोवैज्ञानिक भाषा से तृतीय गुणस्थान की स्थिति का चित्रण हम इस प्रकार कर सकते हैं। प्रस्तुत अवस्था पाशविक एवं वासनात्मक जीवन का प्रतिनिधित्व करने वाला अबोधात्मा तथा आदर्श एवं मूल्यात्मक जीवन का प्रतिनिधित्व करने वाला नैतिक मन (आदर्शात्मा) के मध्य संघर्ष की अवस्था है जिसमें बोधात्मा निर्णय नहीं ले पाता और निर्णय को कुछ समय के लिए स्थगित कर देता है। यदि बोधात्मा (Ego) वासना का पक्ष लेता है तो व्यक्ति भोगमय जीवन को अपनाता है अर्थात् मिथ्यादृष्टि हो जाता है। यदि चेतन मन आदर्श एवं नैतिक मूल्यों का पक्ष लेता है तो व्यक्ति आदर्श की ओर झुकता है अर्थात् सम्यग्दृष्टि हो जाता है। यह मिश्र गुणस्थान जीवन के संघर्ष की अवस्था का द्योतक है जिसमें मानव की पाशविक वृत्ति एवं आध्यात्मिक वृत्ति के बीच संघर्ष चलता है। यदि आध्यात्मिक वृत्ति की जीत हुई तो व्यक्ति आध्यात्मिक विकास करके यथार्थ दृष्टिकोण को प्राप्त कर लेता है। यदि पाशविक वृत्ति विजयी हुई तो व्यक्ति वासनाओं के प्रबल आवेगों के कारण यथार्थ दृष्टिकोण से वंचित होकर पतित होता है और प्रथम मिथ्यात्व गुणस्थान में चला जाता है। नैतिक प्रगति की दृष्टि से देखा जाय तो तो यह तीसरा गुणस्थान भी अविकास की अवस्था ही है क्योंकि जब तक यथार्थबोध या सम्यक् विवेक जागृत नहीं होता तब तक व्यक्ति नैतिक शुभाचरण नहीं कर पाता। तीसरे गुणस्थान में शुभ अशुभ के बारे में अनिश्चितता या सन्देहशीलता की स्थिति होती है अतः इसमें नैतिक शुभाचरण की सम्भावना नहीं है। गीता में भी वीर अर्जुन

में अंतर्मानस में जब संशयात्मक स्थिति समुत्पन्न हुई तो श्रीकृष्ण ने उस स्थिति के निराकरण हेतु उसे उपदेश दिया कि यह संशयात्मक स्थिति उचित नहीं है।

प्रस्तुत गुणस्थान में ७४ कर्मप्रकृतियों का बन्ध होता है। (१) तीर्थंकर नामकर्म (२) आहारक शरीर (३) आहारक अंगोपांग (४) नरकत्रिक (५) तिर्यञ्चत्रिक (६) चार जाति (७) स्थावर (८) सूक्ष्म (९) अपर्याप्त (१०) साधारण (११) समचतुरस्र संस्थान को छोड़कर पांच संस्थान (१२) वज्रऋषभनाराच संहनन को छोड़कर शेष पांच संहनन (१३) आतप (१४) उद्योत (१५) स्त्रीवेद (१६) नपुंसकवेद (१७) मिथ्यात्व मोहनीय (१८) अनन्तानुबन्धी चतुष्क (१९) स्त्यानर्द्धित्रिक (२०) दुर्भगत्रिक (२१) नीच गोत्र (२२) अशुभविहायोगति (२३) मनुष्य आयु (२४) देवायु। इस प्रकार ४६ प्रकृतियों को छोड़कर एक सौ बीस प्रकृतियों में से ७४ प्रकृतियों को इस गुणस्थान वाला जीव बांधता है।[1]

४ अविरति सम्यग्दृष्टि

सम्यक्दर्शन प्राप्त होने पर आत्मा में विवेक की ज्योति जागृत हो जाती है। वह आत्मा और अनात्मा के अंतर को समझने लगता है। अभी तक पर रूप में जो स्वरूप की भ्रांति थी, वह दूर हो जाती है। उसकी गति अतथ्य से तथ्य की ओर, असत्य से सत्य की ओर, अबोधि से बोधि की ओर, अमार्ग से मार्ग की ओर हो जाती है। उसका संस्कार ऊर्ध्वमुखी और आत्मलक्ष्यी हो जाता है।

सम्यग्दर्शन की उपलब्धि दर्शनमोह के परमाणुओं के विलय होने से होती है। दर्शनमोह के परमाणुओं का विलय ही इस दृष्टि की प्राप्ति का हेतु है। वह विलय निसर्गजन्य और आधिगमिक (ज्ञान जन्य) दोनों प्रकार से होता है। नैसर्गिक सम्यग्दर्शन बाहरी किसी भी प्रकार के कारण के बिना अन्तरंग में दर्शनमोहनीय के उपशमादि से होने वाले सम्यक्त्व को कहते हैं। आधिगमिक सम्यग्दर्शन अंतरंग में दर्शनमोह के उपशमादि होने पर बाहरी अध्ययन, पठन श्रवण तथा उपदेश से जो सत्य के प्रति आकर्षण पैदा होता है, वह है। दोनों में दर्शनमोह का विलय मुख्य रूप से रहा हुआ है। यह भेद केवल बाहरी प्रक्रिया से है।

---

१ (क) कर्मग्रन्थ भाग २ गा० ४५ (ख) गुणस्थान क्रमारोह गाथा १७

सम्यग्दर्शन प्राप्त होने के तीन कारण हैं—

१ दर्शन मोह के परमाणुओं का पूर्ण रूप से उपशमन होना।
२ दर्शन मोह के परमाणुओं का अपूर्ण विलय होना।
३ दर्शन मोह के परमाणुओं का पूर्ण विलय होना।

इन तीन कारणों म से प्रथम कारण से उत्पन्न होने वाला सम्यग्दर्शन औपशमिक है दूसरे कारण से उत्पन्न होने वाला क्षायोपशमिक है और तीसरे कारण से उत्पन्न होने वाला क्षायिक सम्यग्दर्शन है।

सम्यग्दर्शन के भेद—औपशमिक सम्यग्दर्शन अन्तमुहूर्त की स्थिति वाला होता है। जिस प्रकार दबा हुआ रोग पुन उभर आता है, इसी प्रकार अन्तमुहूर्त के लिए निरुद्धोदय किये हुए दर्शन मोह के परमाणु काल मर्यादा समाप्त होते ही पुन सक्रिय हो जाते हैं। किंचित समय के लिए जो सम्यग्दर्शनी बना वह पुन मिथ्यादर्शनी बन जाता है। बीमारी के कीटाणुओं को निर्मूल नष्ट करने वाला सदा के लिए पूर्ण स्वस्थ बन जाता है। उन कीटाणुओं का शोधन करने वाला भी उनसे ग्रस्त नहीं होता किन्तु उन कीटाणुओं को दबाने वाला प्रतिक्षण खतरे में रहता है। औपशमिक सम्यग्ज्ञानी भी तृतीय कोटि के समान है।

औपशमिक और क्षायोपशमिक सम्यक्त्व की अवस्था म साधक कभी सम्यक मार्ग से पराङमुख भी हो सकता है। इसकी तुलना बौद्ध स्थविरवादी श्रोतापन्न अवस्था से की जा सकती है। श्रोतापन्न साधक भी औपशमिक और क्षायोपशमिक सम्यक्त्व की तरह मार्ग से च्युत और पराङमुख हो सकता है। महायानी बौद्ध वाङ्मय में इस अवस्था की तुलना बोधि प्रणिधिचित्त से कर सकते हैं। जैसे सम्यग्दृष्टि आत्मा यथार्थ को जानता है और उस पर चलने की भी भावना भी रखता है किन्तु उस पर चल नहीं सकता वैसे ही बोधिप्रणिधिचित्त म भी यथार्थ मार्ग और लोक-परित्राण की भावना होती है के बावजूद भी वह मार्ग में प्रवृत्त नहीं होता। योगबिन्दु म आचार्य हरिभद्र ने सम्यग्दृष्टि प्राप्त साधक की तुलना महायान के बोधिसत्व से भी की है।[1] बोधिसत्व का सामान्य अर्थ है ज्ञान प्राप्ति का जिज्ञासु साधक।[2] इस दृष्टि से उस

तुलना सम्यग्दृष्टि के साथ हो सकती है। यदि बोधिसत्व का विशिष्ट अर्थ जीव कल्याण की मंगलमय भावना से रखकर तुलना करें तो भी हो सकती है, क्योंकि चतुर्थ गुणस्थान वाला साधक तीर्थंकर नामकर्म का भी उपार्जन कर सकता है।[1]

चतुर्थ गुणस्थानवर्ती जीव देव गुरु संघ की सद्भक्ति करता है शासन की उन्नति करता है अतः वह शासन प्रभावक श्रावक कहा जाता है।[2]

कर्मग्रन्थ (भाग २ गाथा ६) के अनुसार चतुर्थ गुणस्थान में ७७ कर्मप्रकृतियों का बन्ध होता है। तृतीय गुणस्थान में जो ४६ कर्म प्रकृतियाँ नहीं बाँधता है उनमें से मनुष्यायु देवायु तीर्थंकर नामकर्म इन कर्म प्रकृतियों का बन्ध होने लगता। अर्थात् ४३ प्रकृतियों का बन्ध नहीं करता है। शेष ७७ प्रकृतियों का बन्ध होता है।

जिसकी दृष्टि सम्यक् होती है पर जिसमें व्रत की योग्यता प्राप्त नहीं होती उसे अविरतसम्यग्दृष्टि कहा गया है। दिगम्बर आचार्य भूतबलि व नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती ने अविरतसम्यग्दृष्टि के स्थान पर असंयतसम्यग्दृष्टि असंयतसम्यग्दृष्टि शब्द का प्रयोग किया है।[3]

चतुर्थ गुणस्थान में रहे हुए जीव का दृष्टिकोण समीचीन होता है किन्तु चारित्रमोह के उदय के कारण वह इन्द्रिय आदि विषयों से और हिंसा आदि पापों से विरत नहीं हो पाता।

५ देशविरत

देशविरतसम्यग्दृष्टि नामक पाँचवें गुणस्थान में व्यक्ति की आंशिक और विरति होती है। यह गृहस्थ ऐसा सम्यक्चारित्र की आराधना नहीं कर पाता किन्तु आंशिक रूप से उसका पालन अवश्य करता है।

६ प्रमत्तसंयत

छठे गुणस्थान में साधक कुछ और आगे बढ़ता है। वह देशविरत से सर्वविरत हो जाता है। वह पूर्णरूप से सम्यक्चारित्र की आराधना प्रारम्भ कर देता है। अतः उसका व्रत अणुव्रत नहीं, किन्तु महाव्रत है। उसका हिंसा का त्याग अपूर्ण नहीं पूर्ण होता है। अणु नहीं महान होता है। इतना होने पर भी यह नहीं कहा जा सकता कि इस अवस्था में रहे हुए साधक का चारित्र पूर्ण विशुद्ध होता ही है। यहाँ पर प्रमाद की सत्ता रहती है। अतएव इस गुणस्थान का नाम प्रमत्तसंयत रखा गया है। गोम्मटसार में प्रमाद के पन्द्रह भेद बताये हैं।[1] (१-४) चार विकथा—स्त्रीकथा, भक्तकथा, देशकथा, राजकथा, (५-८) चार कषाय—क्रोध मान, माया लोभ, (९-१३) पाँच इन्द्रियाँ—स्पर्शन रसन, घ्राण चक्षु और श्रोत्र (१४) निद्रा और (१५) प्रणय—स्नेह।

साधक अपनी आध्यात्मिक परिस्थिति के अनुसार इस भूमिका से नीचे भी गिर सकता है और ऊपर भी चढ़ सकता है।

छठे गुणस्थान में तिरेसठ (६३) कर्मप्रकृतियों का बन्ध होता है। पाँचवें गुणस्थान में जो सड़सठ (६७) कर्मप्रकृतियों का बन्ध होता है उनमें से प्रत्याख्यानीचतुष्क का इस गुणस्थान में बन्ध नहीं होता।[2]

प्रमत्तसंयत गुणस्थान की स्थिति कर्मस्तव योगशास्त्र[3] गुणस्थान क्रमारोह[4] सर्वार्थसिद्धि[5] आदि ग्रन्थों में जघन्य एक समय और उत्कृष्ट

१ विकहा तहा कसाया इंदिय णिद्दा तहेव पणयो य।
चदु चदु पणमेगेगं होंति पमादा हु पण्णरस॥ —गोम्मटसार गा० ३४
कर्मकाण्ड गाथा ७

[illegible] ॥
[illegible] ।
[illegible] ॥ —योगशास्त्र प्रथम प्रकाश [illegible]

४ [illegible]

—[illegible]

५ [illegible]

अन्तमुहूर्त लिखी है। अन्तमुहूर्त के पश्चात प्रमत्तसंयमी एक बार अप्रमत्तसंयत गुणस्थान मे पहुँचता है और वहाँ भी अधिक से अधिक अन्तमुहूर्त पर्यन्त रहकर पुन प्रमत्तसंयत गुणस्थान म आ जाता है। यह चढ़ाव और उतार देशोनकोटिपूर्व तक होता रह सकता है अतएव छठे और सातवें गुणस्थान की स्थिति मिलाकर देशोन करोड़ पूर्व की है।[1]

भगवती सूत्र म मंडितपुत्र ने जिज्ञासा प्रस्तुत की कि भगवन प्रमत्तसंयत मे रहता हुआ सम्पूर्ण प्रमत्तकाल कितना होता है? जिज्ञासा का समाधान करते हुए भगवान ने कहा—एक जीव की अपेक्षा म जघन्य एक समय, उत्कृष्ट देशन्यून करोड पूर्व और सभी जीवो की अपेक्षा से सर्वकाल है।[2]

इसी प्रकार अप्रमत्तसंयत के सम्बन्ध मे प्रश्न करने पर भगवान ने कहा—एक जीव की अपेक्षा से जघन्य अन्तमुहूर्त है और उत्कृष्ट देशन्यून करोड़ पूर्व है।

यहाँ पर प्रश्न मे "सव्वावि ण पमत्तद्धा" शब्द का प्रयोग हुआ है जो इस बात का सूचक है कि प्रमत्तसंयत काल सम्पूर्ण कितना है अतः प्रमत्तसंयत और अप्रमत्तसंयत इन दोनो गुणस्थानो मे एक जीव आते-जाते सम्पूर्ण काल मिलाकर कितना रहता है? तो उत्तर म देशन्यून करोड पूर्व बताया है। आचार्य अभयदेव ने प्रस्तुत सूत्र की वृत्ति म इस बात को स्पष्ट किया है।[3]

मोक्षमार्ग ग्रन्थ[4] म श्री रतनलाल दोशी ने तथा अन्य अनेक लेखकों ने एवं स्तोक संग्रह म प्रमत्तसंयत गुणस्थान की उत्कृष्ट स्थिति देशोन करोड पूर्व की लिखी है पर यह भ्रम है चूँकि उपर्युक्त सभी श्वेताम्बर और

---

१ पमत्तसंजयस्स णं भंते! पमत्तसंजये वट्टमाणस्स सव्वावि य णं पमत्तद्धा कालओ केवच्चिरं होइ?
मंडियपुत्ता! एगजीवं पडुच्च जहन्नेणं एक्कं समयं उक्कोसेणं देसूणा पुव्वकोडी णाणा जीवे पडुच्च सव्वद्धा। —भगवती ३।४।१५४, सुत्तागमे पृ० ४५८

२ भगवती ३।४।१५५

३ भगवती अभयदेव वृत्ति श० ३ उ० ३ सू० १५४ पृ० १८५ आगमोदय समिति।

४ (क) मोक्षमार्ग पृ० ८१ जैन संस्कृति रक्षक संघ सैलाना।
(ख) मोक्षमार्ग—डॉ० एन० के० गोधा पृ० ६० श्यामजी वेलजी बाराई राजकोट।

दिगम्बर ग्रन्थो के हमने जो प्रमाण दिये हैं उससे यही स्पष्ट है कि छठे और सातवें दोनो गुणस्थानो म उतार चढाव को मिलाकर देशोन करोड पूर्व की स्थिति कही है न कि यह केवल छठे गुणस्थान की ही स्थिति है।

७ अप्रमत्तसयत

इस गुणस्थान म अवस्थित साधक प्रमाद से रहित होकर आत्म साधना मे लीन रहता है इसलिए इसे अप्रमत्तसयत गुणस्थान कहा गया है। यहाँ पर यह स्मरण रखना चाहिए कि छठे और सातवें गुणस्थान का परिवर्तन पुन पुन होता रहता है। जब साधक म आत्म तल्लीनता होती है तब वह सातवें गुणस्थान म चढता है और प्रमाद का उदय आने पर छठे गुणस्थान में चला जाता है।

वर्तमान काल म कोई भी साधु सातवें गुणस्थान मे ऊपर के गुणस्थानो म चढ नही सकता। चूँकि ऊपर के गुणस्थानो मे चढने के लिए जो उत्तम सहनन तथा पात्रता चाहिए उसका वर्तमान काल म अभाव है। सातवें गुणस्थान से लेकर बारहवें गुणस्थान तक का काल परम समाधि का काल है। यह परम समाधि की दशा छद्मस्थ जीव को अन्तर्मुहूर्त काल से अधिक नही रह सकती। अत सातवें आठवें आदि एक-एक गुणस्थान का काल भी अन्तर्मुहूर्त है और सभी का सामूहिक काल भी अन्तर्मुहूर्त है।

सातवे गुणस्थान के दो भेद हैं—(१) स्वस्थान अप्रमत्त (२) सातिशय अप्रमत्त। सातवें गुणस्थान से छठे गुणस्थान मे और छठे गुणस्थान से सातवें गुणस्थान मे आना जाना स्वस्थान अप्रमत्तसयत म होता है किन्तु जो श्रमण मोहनीयकर्म का उपशमन या क्षपण करने को उद्यत होते हैं वे सातिशय अप्रमत्त हैं। उस समय ध्यानावस्था मे चारित्र मोहनीय कर्म के उपशमन या क्षपण के कारणभूत अध करण अपूर्वकरण और अनिवृत्ति करणनाम वाले एक विशिष्ट जाति के परिणाम जीव म प्रकट होते हैं जिनके द्वारा वह जीव चारित्रमोहनीयकर्म का उपशमन या क्षय करने मे समर्थ होता है। इनम से अध करण रूप विशिष्ट परिणाम सातिशय अप्रमत्त सयत म प्रकट होते हैं। इन परिणामों से वह सयत मोहकर्म के उपशमन या क्षपण के लिए उत्साहित होता है।

सातवे गुणस्थान म आहारकद्विक का बन्ध होने लगता है। अत छठे गुणस्थान में बँधने वाली ५७ मे इन दो के मिला देने पर ५८ प्रकृतिया

का बंध होता है। कुछ आचार्यों की यह मान्यता है कि जिस जीव ने छठे गुणस्थान में देवायु का बंध प्रारम्भ कर दिया है, उसकी अपेक्षा से सातवें में देवायु का बंध होने पर ५९ प्रकृतियों का बंध होता है। किन्तु जिसने छठे गुणस्थान में देवायु का बंध प्रारम्भ नहीं किया है — सातवें में चढ़ने पर देवायु का बंध नहीं होता। अतः ऐसे जीव की अपेक्षा ५८ प्रकृतियों का ही बंध होता है। उक्त दोनों विवक्षाओं से इस गुणस्थान में ५८ या ५९ कर्मप्रकृतियों का बंध होता है।

इस गुणस्थान की स्थिति जघन्य एक समय और उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त है।

८ निवृत्तिबादर—(अपूर्वकरण)

इस गुणस्थान में जो निवृत्ति शब्द आया है उसका अर्थ 'भेद' है। निवृत्तिबादर गुणस्थान की स्थिति अन्तर्मुहूर्त की है। उसमें असंख्यात समय है। इसमें भिन्न समयवर्ती जीवों की परिणामविशुद्धि तो एक समान नहीं होती, किन्तु एक समयवर्ती जीवों के अध्यवसायों में भी असंख्यात गुणी न्यूनाधिक विशुद्धि होती है।[1] एतदर्थ यह विसदृश परिणाम निवृत्ति का गुणस्थान है।[3]

निवृत्तिबादर का दूसरा नाम अपूर्वकरण भी है। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि जिन यथाप्रवृत्तिकरण आदि तीन करण परिणामों का निर्देश सम्यक्त्व की उत्पत्ति के समय कर आये हैं वे ही तीनों करण चारित्रमोहनीय के उपशमन एवं क्षपण के समय भी होते हैं। उनमें से प्रथम यथाप्रवृत्तिकरण सातिशय अप्रमत्तसंयत में होता है और दूसरा करण आठवें गुणस्थान में होता है। इसी कारण इस गुणस्थान का नाम अपूर्वकरण भी है। तीसरा करण नौवें गुणस्थान में होता है। अतः इसकी अपेक्षा इस गुणस्थान का नाम अनिवृत्तिकरण रखा है। आचार्य हरिभद्र ने इसे द्वितीय अपूर्वकरण कहा है।[4] इस गुणस्थान में अपूर्व विशुद्धि, पूर्व गुणस्थानों में जो परिणा[illegible]

1 निर्भेद वृत्ति निवृत्ति —षट्खण्डागम प्रथम भाग, धवला वृत्ति [illegible]

2 निवृत्ति—तद्गुणस्थानक समकालप्रतिपन्नानां जीवानामध्यवसायभेद [illegible] बादरा बादरसम्परायाः निवृत्ति बादर । —समवायाङ्ग वृत्ति [illegible]

3 भिन्नसमयट्ठिएहिं दु जीवेहिं ण होदि सव्वदा सरिसो।
करणेहिं एक्क समयट्ठिएहिं सरिसो विसरिसो वा ॥ —गोम्मटसार [illegible]

4 द्वितीयापूर्वकरणे प्रथमस्तात्त्विको भवेत् ।
आयोज्य करणादूर्ध्वं द्वितीया इति तद्विदः ॥ —योगदृष्टि समुच्चय

अभी तक प्राप्त नहीं हुए, ऐसे विशुद्ध परिणाम होते हैं। एतदर्थ इसका नाम अपूर्वकरण है।

इस गुणस्थान में पहले कभी न आया हो वैसा विशुद्ध भाव आता है जिससे आत्मा गुणश्रेणी पर आरूढ होने की तैयारी करने लगता है। आरोह की दो श्रेणियाँ हैं—(१) उपशम और (२) क्षपक। मोह का उपशान्त कर आगे बढ़ने वाला जीव ११वें गुणस्थान तक मोह का सर्वथा उपशम कर वीतराग बन जाता है। उपशम अल्पकालीन होता है इसलिए मोह के उभरने पर वह पुनः नीचे की भूमिकाओं में आ जाता है। क्षपकश्रेणी प्रतिपन्न जीव मोह को खपाकर दसवें गुणस्थान से सीधा बारहवें गुणस्थान में चला जाता है और वीतराग बन जाता है। क्षीणमोह का अवरोह नहीं होता।

आठवें गुणस्थान के सात भाग हैं। उनमें प्रथम भाग में सातवें गुणस्थान वाला ५९ प्रकृतियों में से देवायु को घटा देने पर शेष ५८ प्रकृतियाँ बँधती हैं। द्वितीय भाग से लेकर छठे भाग तक ५६ प्रकृतियाँ बँधती हैं। क्योंकि वहाँ निद्रा और प्रचला ये दो प्रकृतियाँ नहीं बँधती हैं।

सातवें भाग में २६ प्रकृतियाँ बँधती हैं। पूर्व की प्रकृतियों में से (१) देवगति (२) देवानुपूर्वी, (३) पंचेन्द्रिय जाति (४) शुभ विहायोगति, (५) त्रस, (६) बादर (७) पर्याप्त, (८) प्रत्येक (९) स्थिर, (१०) शुभ (११) सुभग, (१२) सुस्वर, (१३) आदेय, (१४) वैक्रियशरीर (१५) आहारकशरीर, (१६) तैजस शरीर, (१७) कार्मणशरीर, (१८) समचतुरस्र संस्थान, (१९) वैक्रिय अंगोपांग (२०) आहारक अंगोपांग (२१) निर्माण नाम, (२२) तीर्थंकर (जिन) नाम (२३) वर्ण (२४) गन्ध, (२५) रस (२६) स्पर्श, (२७) अगुरुलघु (२८) उपघात (२९) पराघात (३०) श्वासोच्छ्वास, इस प्रकार ३० कर्मप्रकृतियाँ कम करने से २६ कर्मप्रकृतियों का बन्ध होता है।[1]

९ अनिवृत्तिबादर

अनिवृत्ति का अर्थ अभेद है। अनिवृत्तिबादर गुणस्थान के एक समयवर्ती जीवों की परिणामविशुद्धि सदृश ही होती है। इसलिए यह सदृश परिणाम विशुद्धि का गुणस्थान है। इस कारण इस गुणस्थान का नाम अनिवृत्तिबादर गुणस्थान है। इसे अनिवृत्तिबादर सम्पराय अथवा बादर सम्पराय (कषाय) भी कहते हैं।

---

१ कर्मग्रन्थ भाग २ गा० ९-१

पूर्व पूर्ववर्ती गुणस्थानों की अपेक्षा से उत्तर उत्तरवर्ती गुणस्थानों म कषाय के अंश कम होते जाते है, वैसे वैसे परिणामों की विशुद्धि भी बढती जाती है। आठवें गुणस्थान के परिणामों की विशुद्धि की अपेक्षा नौवें गुणस्थान में परिणामों की विशुद्धि अनन्तगुणी अधिक है। इस गुणस्थान में होने वाले परिणामों द्वारा आयुकर्म को छोडकर शेष सात कर्मों का गुणश्रेणी निजरा, गुणसक्रमण, स्थिति खण्डन होता है। अभी तक करोडों सागर की स्थिति वाले कर्म बँधते थे उनका स्थितिबन्ध उत्तरोत्तर कम होता जाता है। यहाँ तक कि इस गुणस्थान के अन्तिम समय मे पहुँचने पर मोहनीय कर्म की जो जघन्य अन्तमुहूर्त स्थिति बतायी गयी है तत्प्रमाण स्थिति का बन्ध होता है। कर्मों के सत्त्व का भी अत्यधिक परिमाण में ह्रास होता है। प्रति समय कर्म प्रदेशों की निर्जरा भी असख्यात गुणी बढती जाती है। स्थिति खण्डन आठवें गुणस्थान में ही प्रारम्भ हो जाता है और इस गुणस्थान में उसकी मात्रा पहले से अधिक बढ़ जाती है। इस गुणस्थान में उपशमश्रेणी वाला जीव मोहकर्म की एक सूक्ष्म लोभवृत्ति को छोड़कर शेष सब प्रकृतियों का उपशमन कर लेता है और क्षपकश्रेणी वाला उन प्रकृतियों का क्षय करता है। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि क्षपकश्रेणी वाला मोहनीयकर्म की प्रकृतियों के साथ अन्य कर्मों की भी अनेक प्रकृतियों का क्षय करता है।

नौवें गुणस्थान के पाँच भाग हैं। उनमें से प्रथम भाग में २२ कर्म प्रकृतियों का बन्ध होता है। आठवें गुणस्थान में जो २६ कर्मप्रकृतियों का बन्ध होता है उनमें से हास्य, रति, जुगुप्सा, भय ये चार कर्मप्रकृतियाँ कम करने से शेष २२ का बन्ध होता है।

द्वितीय भाग में २१ प्रकृतियाँ बँधती हैं यहाँ पूर्व प्रकृतियों में से पुरुषवेद कम करना चाहिए।

तृतीय भाग में २० का बन्ध होता है, सज्वलन क्रोध कम करना चाहिए।

चतुर्थ भाग में १९ प्रकृतियाँ बँधती हैं सज्वलन मान कम करना चाहिए।

पंचम भाग में १८ प्रकृतियाँ बँधती हैं। उपरोक्त में से सज्वलन माया कम करना चाहिए।

१ [illegible]

[illegible] गुणस्थान में मध्य से मध्यम कषाय का ही उदय रहता है। [illegible]

कषाया का उपशम या क्षय हो जाता है। जैसे धुले हुए कुसुमी रंग के वस्त्र में लालिमा की सूक्ष्म आभा रह जाती है। इसी प्रकार इस गुणस्थान में लोभ कषाय सूक्ष्म रूप से रह जाता है। इसी कारण इस गुणस्थान का सूक्ष्म साम्पराय (कषाय) गुणस्थान कहा है। दसवें गुणस्थान के प्रारम्भ में १७ कर्मप्रकृतियों का बन्ध होता है किन्तु उसके अन्त में पाँच ज्ञानावरण, चार दर्शनावरण, पाँच अन्तराय, उच्च गोत्र और यश कीर्ति इन सोलह प्रकृतियों का बन्ध रुक जाता है। अतः ग्यारहवें, बारहवें, तेरहवें गुणस्थान में केवल एक सातावेदनीय का ही बन्ध होता है। चूँकि इन गुणस्थानों में कषाय का अभाव रहता है इसलिये सातावेदनीय की स्थिति अधिक नहीं बँधती। किन्तु योग का सद्भाव होने से एक समय की स्थिति वाला ही सातावेदनीय कर्म का बन्ध होता है। कुछ आचार्य दो समय की स्थिति का बन्ध मानते हैं। उनके मतानुसार प्रथम समय में सातावेदनीय कर्म के परमाणु आते हैं और दूसरे समय में निर्जीर्ण हो जाते हैं।

११ उपशान्तमोह

दसवें गुणस्थान के अन्त में सूक्ष्म लोभ का उपशमन होते ही वह जीव ग्यारहवें गुणस्थान में आता है। जैसे गँदले जल में कतक फल या फिटकरी आदि फिराने पर उसका मल भाग नीचे बैठ जाता है और स्वच्छ जल ऊपर रह जाता है वैसे ही उपशमश्रेणी में शुक्लध्यान से मोहनीय कर्म जघन्य एक समय और उत्कृष्ट एक अन्तर्मुहूर्त के लिए उपशान्त कर दिया जाता है जिससे कि जीव के परिणामों में एकदम वीतरागता, निर्मलता और पवित्रता आ जाती है। एतदर्थ इसे उपशान्तमोह या उपशान्तकषाय गुणस्थान कहते हैं।[1]

इस गुणस्थान में वीतरागता तो आ जाती है किन्तु ज्ञान का आवरण करने वाले कर्म विद्यमान रहते हैं। अतः वीतरागी बन जाने पर भी वह जीव छद्मस्थ या अल्पज्ञ है सर्वज्ञ नहीं।

मोहकर्म का उपशमन एक अन्तर्मुहूर्त काल के लिए होता है। उस काल के समाप्त होने पर राख में दबी हुई अग्नि की भाँति वह पुनः अपना प्रभाव दिखाता है। परिणामतः आत्मा का पतन होता और वह जिस क्रम से ऊपर चढ़ता है उसी क्रम से नीचे के गुणस्थानों में आ जाता है।

---

१ गोम्मटसार गा ६१ ६२

यहाँ तक कि इस गुणस्थान से गिरने वाला आत्मा कभी-कभी प्रथम गुणस्थान तक पहुँच जाता है। इस प्रकार का आत्मा पुनः प्रयास कर प्रगति पथ पर बढ़ सकता है।

इस सम्बन्ध में गीता का अभिमत है कि दमन के द्वारा विषय-रस का निवर्तन तो हो जाता है किन्तु उसके पीछे रहे हुए अन्तर्मानस की विषय सम्बन्धी भावनाएँ नष्ट नहीं होती जिससे समय पाकर वे पुनः उद्बुद्ध हो जाती है। अतः दमन द्वारा उन्नततम स्थिति पर पहुँचा हुआ साधक पुनः पतित हो जाता है।

ग्यारहवें गुणस्थान में मृत्यु प्राप्त करने वाला मुनि अनुत्तर विमान में उत्पन्न होता है।

१२. क्षीण मोह

इस भूमिका में मोह सर्वथा क्षीण हो जाता है। कषायों का नाश कर आगे बढ़ने वाला साधक दसवें गुणस्थान के अन्त में लोभ के अंतिम अवशेष को नष्ट कर मोह से सर्वथा मुक्ति पा लेता है। इस अवस्था का नाम क्षीणमोह, क्षीणमोह वीतराग या क्षीणकषाय है।[1] इस गुणस्थान को प्राप्त करने वाले व्यक्ति का पतन नहीं होता।

भगवान ने कहा—कर्म का मूल मोह है। सेनापति के भाग जाने पर सेना स्वतः भाग जाती है। वैसे ही मोह के नष्ट होने पर एकत्व वितर्क शुक्लध्यान के बल से एक अन्तर्मुहूर्त में ही ज्ञान और दर्शन के आवरण तथा अन्तराय—ये तीनों कर्म बन्धन टूट जाते हैं और साधक अनन्तज्ञान, अनन्त दर्शन और अनन्तशक्ति से युक्त हो जाता है।

१३. सयोगी केवली

चार घातिक कर्मों—ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय के क्षय होने पर जिसके शरीर आदि की प्रवृत्ति शेष रहती है उसे सयोगी केवली कहा जाता है। अर्थात् जो विशुद्ध ज्ञानी होने पर भी यौगिक प्रवृत्तियों से मुक्त नहीं होता वह सयोगी कहलाता है। घातीकर्मों के नष्ट होने पर जीव समस्त चराचर तत्त्वों को हस्तामलकवत् देखता है। वह विश्वतत्त्वज्ञ और सर्वदर्शी बन जाता है। इस अवस्था में जघन्य कम से कम एक अन्तर्मुहूर्त और अधिक से अधिक एक करोड़ पूर्व वर्ष तक रहता है। वह सर्वज्ञ और केवली कहलाता है और उसे ही वेदान्त ने 'जीवन्मुक्ति' अथवा 'सद्यः मुक्ति' की अवस्था कहा है।

जब तेरहवें गुणस्थान के काल में एक अन्तर्मुहूर्त समय अवशेष रहता है उस समय यदि आयुकर्म की स्थिति कम और शेष तीन अघातिया कर्मों की स्थिति अधिक रहती है तो उसकी स्थिति के समीकरण के लिए केवली समुद्घात करते हैं अर्थात मूल शरीर को छोड़े बिना ही अपने आत्म प्रदेशों को बाहर निकाल देते हैं। प्रथम समय में चौदह रज्जू प्रमाण लम्बे दण्डाकार आत्म प्रदेश फैलते हैं। उन आत्म प्रदेशों का आकार दण्ड जैसा होता है। ऊँचाई में लोक के ऊपर से नीचे तक होता है किन्तु उसकी मोटाई शरीर के बराबर होती है। दूसरे समय में जो दण्ड के समान आकृति थी उसे पूर्व-पश्चिम या उत्तर दक्षिण में फैलाकर उसका आकार कपाट (किवाड़) के सदृश बनाया जाता है। तीसरे समय में कपाट के आकार वाले उन आत्म प्रदेशों को मथाकार बनाया जाता है। अर्थात पूर्व-पश्चिम उत्तर और दक्षिण दोनों तरफ आत्म प्रदेशों को फैलाने से उनका आकार मथनी के जैसा हो जाता है। चौथे समय में विदिशाओं में आत्म प्रदेशों को पूर्ण करके सम्पूर्ण लोकाकाश में व्याप्त हो जाते हैं। इसे आचार्य ने लोकपूरण समुद्घात कहा है। इसी प्रकार चार समयों में आत्म प्रदेश पुनः संकुचित होते हुए पहले आकारों को धारण करते हुए शरीर में प्रविष्ट हो जाते हैं। इसे केवली समुद्घात कहते हैं। इस क्रिया से जिस प्रकार गीले वस्त्र को फैलाने से उसकी आर्द्रता शीघ्र नष्ट हो जाती है उसी प्रकार आत्म प्रदेशों को फैलाने से उनमें संसक्त कर्म प्रदेशों की स्थिति व अनुभागांश क्षीण होकर आयु प्रमाण हो जाते हैं।

केवली-समुद्घात में आत्मा की व्यापकता का प्रतिपादन किया गया है। उसकी तुलना श्वेताश्वतरोपनिषद[1] भगवद्गीता[2] में जो आत्मा की व्यापकता का विवरण है, उससे की जा सकती है।

जिस प्रकार जैन साहित्य में वेदनीय आदि कर्मों को शीघ्र भोगने के लिए समुद्घात क्रिया का उल्लेख है वैसे ही योग-दर्शन में[3] बहुकाय-

---

१ विश्वतश्च क्षुरुत विश्वतो मुखो विश्वतो बाहुरुत विश्वतस्पात्।

—श्वेताश्वतरोपनिषद् ३, ११ १५

२ सर्वत पाणिपादं तत् सर्वतो ऽक्षिशिरोमुखम्।

सर्वत श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति॥ —भगवद्गीता १३, १३

पातञ्जल योगदर्शन पाद ३, सूत्र २२ का भाष्य और वृत्ति तथा पाद ४ सूत्र ४ का भाष्य और वृत्ति।

साधक का लक्ष्य है। यदि साधक उतनी उत्कृष्ट साधना नहीं कर पाता है तो वह गृहस्थाश्रम में रहकर व्रतों का पालन कर सकता है। वैदिक परम्परा की तरह जैनधर्म ने गृहस्थधर्म को प्रमुख धर्म नहीं माना बल्कि श्रमणधर्म की ओर बढ़ने का लक्ष्य लिए एक मध्य विश्राम मात्र माना है। आनन्द श्रावक ने व्रत ग्रहण करते समय श्रमण भगवान महावीर से कहा—भगवन्! मुझे निर्ग्रन्थधर्म पर अपार श्रद्धा है। आपश्री के पावन उपदेश को श्रवण कर अनेक राजा, युवराजा, इभ्यसेठ, सेनापति, सार्थवाह मुण्डित होकर गृहस्थाश्रम का परित्याग कर श्रमण बने हैं पर मैं श्रमण बनने में समर्थ नहीं हूँ। अतः गृहस्थधर्म को स्वीकार करता हूँ।[1] तात्पर्य यह है कि जैन श्रमणोपासक गृहस्थाश्रम में रहना अपनी कमजोरी मानता है न कि वैदिक परम्परा की तरह आदर्श नहीं मानता। यही कारण है कि श्रमण संस्कृति का रुझान श्रमणधर्म की ओर विशेष रहा है तथापि आगम साहित्य में अनेक स्थलों पर कहीं संक्षेप में और कहीं विस्तार से उपासकों के जीवन से सम्बन्ध में चिन्तन किया गया है। वह चिन्तन इतना महत्त्वपूर्ण है कि उसके पश्चात् निर्मित ग्रन्थों में उस पर विस्तार से विश्लेषण हुआ है। हम सर्वप्रथम आगम साहित्य में यत्र-तत्र आये हुए श्रावकधर्म के सम्बन्ध में चिन्तन को प्रस्तुत करेंगे और उसके पश्चात् उसी चिन्तन पर आधृत स्वतन्त्र ग्रन्थों का परिचय देंगे।

आगम साहित्य में श्रावकाचार

आचारांगसूत्र—आगम साहित्य में इसका स्थान प्रथम है। इस आगम में आचार का जो विश्लेषण हुआ वह श्रमण जीवन को लक्ष्य में रखकर हुआ है, गृहस्थ जीवन से सम्बन्ध में प्रकाश नहीं के समान है। इसी तरह सूत्रकृतांग में भी श्रमणों से सम्बन्धित विषयों पर ही चिन्तन किया गया है। कहीं-कहीं श्रावकों के व्रतों पर भी चिन्तन हुआ है। लेप श्रावक के लिए अभिगम जीवाजीव विशेषण प्रयुक्त हुआ है। इसके द्वितीय श्रुतस्कन्ध के सप्तम अध्ययन 'नालंदीय' में श्रावक के प्रत्याख्यान आदि विषयों पर महत्त्वपूर्ण चिन्तन किया गया है।

स्थानांगसूत्र—यह सूत्र किसी एक विषय पर नहीं लिखा हुआ है। यह ज्ञान-राशि में लिखा हुआ आगमरत्न है। इस आगम में अनेक स्थलों पर श्रावकधर्म के सम्बन्ध में चिन्तन-सूत्र बिखरे पड़े हैं। सर्वप्रथम ...

---

1 उपासकदशांग १।१४ (श्रमणा विद्यालय प्रकाशन)

धर्म पर चिन्तन किया गया है, वहाँ पर धर्म[1] को दो भागों में विभक्त किया गया है—१ आगारधर्म और २ अनगारधर्म। आगारधर्म गृहस्थों का है श्रमणोपासकों का है। श्रमणोपासक तीन मनोरथों[2] का चिंतन करता है—

(१) कब मैं अल्प या बहुत परिग्रह का परित्याग करूँगा ?

(२) कब मैं मुण्डित होकर आगार से अनागारत्व में प्रव्रजित होऊँगा ?

(३) कब मैं अपश्चिम मारणांतिक संलेखना की आराधना से युक्त होकर, भक्तपान का परित्याग कर प्रायोपगमन अनशन कर मृत्यु की आकांक्षा नहीं करता हुआ विहरण करूँगा ?

श्रमणोपासक के चार प्रकार[3] बताये हैं। वे इस प्रकार हैं—

(१) कुछ रात्निक श्रमणोपासक महाकर्मा महाक्रिय अनातापी (अतपस्वी) और असमित होने के कारण धर्म की सम्यक् आराधना करने वाले नहीं होते।

(२) कुछ रात्निक श्रमणोपासक अल्पकर्मा, अल्पक्रिय, आतापी और समित होने के कारण धर्म की सम्यक् आराधना करने वाले होते हैं।

(३) कुछ अवमरात्निक श्रमणोपासक महाकर्मा महाक्रिय अनातापी और असमित होने के कारण धर्म की सम्यक् आराधना करने वाले नहीं होते।

(४) कुछ अवमरात्निक श्रमणोपासक अल्पकर्मा अल्पक्रिय, आतापी और समित होने के कारण धर्म की सम्यक् आराधना करने वाले होते हैं।

इसी प्रकार श्रमणोपासिका के सम्बन्ध में भी चार बातें बताई गई हैं।

आगे चलकर श्रद्धा और वृत्ति के आधार पर श्रमणोपासकों के चार प्रकार बताये हैं। जिन श्रमणोपासकों के अन्तर्मानस में श्रमणों के प्रति अत्यन्त वात्सल्य होता है उन श्रमणोपासकों की तुलना माता पिता के साथ की गई है। वे तत्त्व चर्चा और जीवन निर्वाह आदि के प्रसंगों में माता पिता के समान वात्सल्य का परिचय देते हैं। जिन श्रमणोपासकों के अन्तर्मानस में वात्सल्य और उग्रता दोनों होती हैं उनकी तुलना भाई के साथ की गई है। वे श्रमणोपासक तत्त्व चर्चा आदि के प्रसंगों में कठोरतापूर्ण व्यवहार भी

---

१ स्थानांग ३।७२

२ स्थानांग ३।४।२१०

३ स्थानांग ४।३२८

करते हैं, पर जीवन निर्वाह का प्रसंग आने पर उनके हृदय में वात्सल्य का पयोधि उछालें मारने लगता है। जिन श्रमणोपासकों के अन्तर्मानस में श्रमणों के प्रति सापेक्ष प्रीति होती है उनकी तुलना सामान्य मित्र से की गई है। यदि सामान्य मित्र से किसी कारणवश प्रीति नष्ट हो जाय तो वे मित्र जो अनुकूलता के समय वात्सल्य का प्रदर्शन करते थे वही प्रतिकूल स्थिति में श्रमणों की उपेक्षा करते हैं। कितने ही श्रमणोपासकों के अन्तर्मानस में ईर्ष्या की आग जलती रहती है वे ईर्ष्या के वशीभूत होकर श्रमणों के दोष ही देखते रहते हैं। उनकी तुलना सौत से की गई है। वे किसी भी प्रकार से श्रमणों का हित चिंतन नहीं करते।[1]

श्रमणोपासकों की योग्यता और अयोग्यता का सन्दर्भ में रखकर श्रमणोपासकों के चार विभाग किये हैं। कितने ही श्रमणोपासक दर्पण के समान निर्मल होते हैं, वे श्रमण के द्वारा प्रतिपादित तत्त्वनिरूपण को यथार्थ रूप से ग्रहण करते हैं उनमें उन तत्त्वों का यथार्थ प्रतिबिम्ब गिरता है। कितने ही श्रमणोपासकों का तत्त्वबोध अनवस्थित होता है वे किसी भी निश्चित विचारबिन्दु पर अवस्थित नहीं होते। उनकी तुलना ध्वजा से की गई है। कितने ही श्रमणोपासकों का अन्तर्मानस शुष्क और नीरस होता है, उनमें किसी भी प्रकार का लचीलापन नहीं होता उनमें एक प्रकार का आग्रह होता है वे किसी के सत्य तथ्य को स्वीकार नहीं कर सकते। उनकी तुलना स्थाणु से की गई है। वे स्थाणु की तरह होते हैं उनमें सरसता का अभाव होता है। कितने ही श्रमणोपासकों का अन्तर्मानस कदाग्रह से ग्रस्त होता है। यदि श्रमण हितबुद्धि से उसके कदाग्रह को छुड़वाने का उपक्रम करते हैं तो वह उपक्रम करने वाले श्रमण को ही दुर्वचन कहता है। उसकी तुलना कांटे से की गई है। जैसे—कांटा जिस वस्त्र से लगता है उस वस्त्र को फाड़ देता है जो कांटे को निकालता है उस हाथ को भी बींध देता है वैसे ही वह श्रमणोपासक होता है।[2]

---

१ चत्तारि समणोवासगा पण्णत्ता तं जहा—
अम्मापिइसमाणे भाइसमाणे मित्तसमाणे सवत्तिसमाणे।
—स्थानांग० ४।३।३२१

२ चत्तारि समणोवासगा पण्णत्ता तं जहा—
अद्दागसमाणे पडागसमाणे खाणुसमाणे खरकंटसमाणे।
स्थानांग ४।३।३२१

भगवतीसूत्र में ही कार्तिक श्रेष्ठी के द्वारा एक सौ बार पाँचवी प्रतिमा धारण करने का वर्णन आया है।

इस तरह भगवती में प्रसंगानुसार श्रावक-जीवन पर चिन्तन किया गया है। उनका आदर्श जीवन जन-जन के लिए प्रेरणादायी है। पर श्रावकों के व्रत और प्रतिमाओं पर स्वतन्त्र रूप से चिंतन प्राप्त नहीं होता।

ज्ञाताधर्म में कथाओं के माध्यम से जीवन और दर्शन के गंभीर रहस्य सुलझाये गये हैं। किन्तु उसमें भी पृथक रूप से श्रावकधर्म के सम्बन्ध में विश्लेषण नहीं किया गया है।

उपासकदशांगसूत्र में भगवान महावीरकालीन दस श्रावकों का वर्णन है। वे ये हैं—आनन्द, कामदेव, चुलिनीपिता, सुरादेव, चुल्लशतक, कुण्डकौलिक, शकडालपुत्र, महाशतक, नन्दिनीपिता और शालिनीपिता। इनमें सर्वप्रथम आनन्द श्रावक है। उन्होंने भगवान महावीर के पावन प्रवचनों को सुनकर श्रावक के बारह व्रत ग्रहण किये। बारह व्रतों के नाम उनके अतिचारों के नाम ११ प्रतिमाओं का उल्लेख और जीवन की सान्ध्यवेला में संलेखना करने का वर्णन है।[1] प्रस्तुत आगम में श्रमणोपासकों की कठोर परीक्षाएँ भी बताई गई हैं और वे उन सभी परीक्षाओं में खरे उतरे हैं।

अन्तकृद्दशांगसूत्र (अध्ययन ३) में सुदर्शन श्रेष्ठी का वर्णन है। वह श्रमणोपासक था। जीवाजीव का परिज्ञाता था। उसके व्रत ग्रहण करने का उल्लेख प्रस्तुत आगम में नहीं है तथापि एक श्रावक की जिनधर्म के प्रति कितनी गहरी निष्ठा है, इसका सजीव चित्रण इसमें है। भगवान महावीर राजगृह नगर के बाहर पधारे हुए हैं। अर्जुनमाली महाकाल के रूप में नगर के बाहर घूम रहा है। किन्तु मृत्यु से भी भयभीत न होकर सुदर्शन भगवान के दर्शन के लिए चल पड़ता है। सुदर्शन की गहरी निष्ठा का इसमें चित्रण हुआ है।

प्रश्नव्याकरणसूत्र में श्रावकधर्म की दृष्टि से कोई वर्णन नहीं है। तथापि हिंसा असत्य स्तेय अब्रह्मचर्य परिग्रह पर चिन्तन कर अहिंसा सत्य अस्तेय, ब्रह्मचर्य अपरिग्रह के महत्त्व का प्रतिपादन किया है। श्रावकों के अणुव्रतों के सही स्वरूप को समझने के लिए प्रस्तुत वर्णन सर्चलाइट के समान उपयोगी है।

---

१ उपासकदशांगसूत्र, अ० १ सूत्र १४ से ७५ (प्रकाशक श्रमणी विद्यापीठ, घाटकोपर बम्बई)

सम्यग्दर्शन के आठ अंगों का स्वरूप बताकर आठ मदों का निरूपण किया है। उसके पश्चात बारह व्रतों का विश्लेषण करते हुए उनके अतिचारों पर चिंतन किया है। श्वेताम्बर परम्परा में पाँच अणुव्रतों का स्थान मूलगुण में है और शेष सात व्रत उत्तरगुण के रूप में हैं। किन्तु दिगम्बर परम्परा में श्रावकों के मूलगुण आठ माने हैं और उत्तरगुण बारह माने हैं। स्वामी समंतभद्र ने पाँच अणुव्रतों के साथ मद्य, मांस और मधु के परित्याग को मूलगुण माना है।[1] उन्होंने मूलगुणों के आठ प्रकार बताये हैं पर उत्तर गुणों की संख्या का निर्देश नहीं किया है। यशस्तिलक चम्पू आदि में गुणों की संख्या बारह बताई है।[2] समन्तभद्र ने प्रस्तुत ग्रन्थ में देशावकाशिक व्रत को गुणव्रत न मानकर शिक्षाव्रत माना है। पर स्वामी कार्तिकेय की तरह देशावकाशिक को चतुर्थ शिक्षाव्रत न मानकर प्रथम माना है। उनका मन्तव्य है सामायिक और प्रोषधोपवास के पूर्व ही देशावकाशिक का स्थान चाहिए, क्योंकि उन दोनों की अपेक्षा इस व्रत की काल मर्यादा अधिक है। उन्होंने आचार्य कुन्दकुन्द की तरह सलेखना को शिक्षाव्रत नहीं माना है। उनका अभिमत है कि मृत्यु के समय की जाने वाली संलेखना का जीवन भर अभ्यास किये जाने वाले शिक्षाव्रतों में स्थान कैसे हो सकता है? अतः उन्होंने सलेखना के स्थान पर वैयावृत्य को शिक्षाव्रत कहा है। अतिथि संविभाग के स्थान पर उन्होंने वैयावृत्य का प्रयोग किया है। इसके अतिरिक्त उन्होंने अतिचारों के विषय में भी कुछ परिवर्तन किया है—जैसे भोगोपभोगपरिमाण व्रत के जो अतिचार हैं वे भोग पर घटित होते हैं अतः उन्होंने अन्य पाँच स्वतन्त्र अतिचारों का भी वर्णन किया है।[3] इसी तरह ब्रह्मचर्य के अतिचारों में भी इत्वरिकापरिगृहीतागमन और इत्वरिका अपरिगृहीतागमन में प्रथम को रखकर द्वितीय को विटत्व नामक अतिचार की स्वतन्त्र कल्पना की है।[4] व्रतों के पश्चात् उन्होंने ११ प्रतिमाओं का भी वर्णन किया है।

---

१ मद्यमांसमधुत्यागैः सहाणुव्रतपञ्चकम्।
अष्टौ मूलगुणानाहुर्गृहिणां श्रमणोत्तमाः॥ —रत्नकरण्ड श्रावकाचार ६६

२ अणुव्रतानि पञ्चैव त्रिप्रकारं गुणव्रतम्।
शिक्षाव्रतानि चत्वारि गुणाः स्युर्द्वादशोत्तरे॥ —यशस्ति० आश्वास ७

३ विषयविषतोऽनुपेक्षानुस्मृतिरतिलौल्यमतितृषानुभवौ।
भोगोपभोगपरिमाणव्यतिक्रमाः पञ्च कथ्यन्ते॥ —रत्नकरण्ड ९०

४ अन्यविवाहकरणानङ्गक्रीडाविटत्वविपुलतृषः।
इत्वरिकागमनं चास्मरस्य पञ्च व्यतीचाराः॥ —रत्नकरण्ड० [illegible]

आचार्य जिनसेन ने आदि पुराण (१४५) मे ब्राह्मण वर्ण की उत्पत्ति की चर्चा की है। वहाँ पर उन्होने पक्ष, चर्या और साधन रूप से श्रावक-धर्म का प्रतिपादन किया है। विज्ञो का मानना है कि उनके सामने कोई उपासक सूत्र रहा होगा और उसी के आधार पर उन्होने यह प्रतिपादन किया। उन्होंने १२ व्रतो के नामो मे किसी भी प्रकार का परिवर्तन नही किया है पर आठ मूल गुणो मे मधु के स्थान पर उन्होंने द्यूतत्याग को आवश्यक माना है। यदि द्यूत को अन्य व्यसनो का उपलक्षण माना जाय तो पाक्षिक श्रावक को कम से कम ७ व्यसनो का परित्याग और आठ मूल गुणो को धारण करना होगा। यही कारण है कि बाद मे प० आशाधर जी आदि ने पाक्षिक श्रावक के लिये उक्त कर्तव्य बताये हैं।

जिनसेन ने हरिवंश पुराण (५८।७७) मे भी श्रावकाचार के सम्बन्ध में ७७ श्लोकों मे प्रकाश डाला है। उसमे बारह व्रत सल्लेखना आदि के अतिचारो का वर्णन किया है।

आचार्य सोमदेव के यशस्तिलकचम्पू" के छठवें सातवें व आठवें आश्वासो मे श्रावकधर्म पर विस्तार से चिन्तन किया गया है। उनका मूल आधार रत्नकरंड श्रावकाचार' है। उन्होंने छठे आश्वास मे अन्य दर्शनों के मन्तव्यो की चर्चा कर उनके द्वारा प्रतिपादित मोक्ष के स्वरूप पर चिंतन किया और अन्त मे उन सभी का निरसन कर जैन दर्शन द्वारा निरूपित मोक्ष का स्वरूप बताया। उस मोक्ष का मार्ग सम्यग्दर्शन ज्ञान-चारित्र हैं। आप्त के स्वरूप की विस्तार के साथ मीमांसा की और सम्यक्त्व के आठ अंगो का नवीन शैली से प्रतिपादन किया। सम्यक्त्व के विभिन्न प्रकार, उनके दोषो का वर्णन कर सम्यक्त्व की महत्ता पर प्रकाश डाला। सम्यक्त्व से श्रेष्ठ गति, ज्ञान से कीर्ति और चारित्र से पूजा, तथा इन तीनो (सम्यकदर्शन ज्ञान चारित्र) के सम्यक आचरण से मुक्ति प्राप्त होती है।[1] उसके पश्चात मद्य, मांस मधु और पाँच उदंबर फलो के त्याग को अष्ट मूलगुण बताया है।[2]

आचार्य जिनसेन ने मूल गुणो मे पाँच अणुव्रतो को और सोमदेव ने

---

१ सम्यक्त्वात्सुगतिः प्रोक्ता ज्ञानात्कीर्तिरुदाहृता।
वृत्तात्पूजामवाप्नोति त्रयाच्च लभते शिवम्॥

२ मद्यमांसमधुत्याग
अष्टावेते गृहस्थानामुक्ता

पाँच उदुम्बर फलों के त्याग को महत्त्व दिया है और भगवान के वचन की पुष्टि के लिए 'उपासकाध्ययन'[1] का उल्लेख किया है। पर वह कौन सा उपासकाध्ययन था जिसके आधार पर उन्होंने अपने विचार व्यक्त किये, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता।

आचार्य सोमदेव ने मद्य आदि का उपभोग करना सर्वथा अनुचित माना है। वह महापाप है उन्होंने उसके परित्याग पर अत्यधिक बल दिया। उन्होंने लिखा—जो मांस का भक्षण करते हैं उनमें दया का अभाव होता है। मद्यपान करने वाले में सत्य का अभाव होता है। मधु और उदुम्बर फल का सेवन करने वाले में नृशंसता का भाव अधिक होता है।[2]

आचार्य सोमदेव ने आठ मूल गुणों के पश्चात् उत्तरगुणों का वर्णन किया है। पाँच अणुव्रतों का वर्णन करते हुए अहिंसा व्रत की रक्षा के लिए रात्रिभोजन और अभक्ष्य वस्तुओं के सेवन के परित्याग पर बल दिया है। मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ भावनाओं का वर्णन कर पुण्य और पाप का कारण तथा परिणाम भी बताया है। व्रतों का विस्तार से वर्णन कर श्रावक की ११ प्रतिमाओं का वर्णन किया है।

दिगम्बर परम्परा के अन्य ग्रन्थों में सचित्त त्याग को पाँचवीं प्रतिमा कृषि आदि आरम्भ के त्याग को आठवीं प्रतिमा माना है। पर प्रस्तुत ग्रन्थ में आरम्भ त्याग के स्थान पर सचित्त त्याग और सचित्त-त्याग के स्थान पर आरम्भ-त्याग प्रतिमा का वर्णन किया है। श्वेताम्बर आचार्य हरिभद्र ने भी सचित्त त्याग को आठवीं प्रतिमा माना है। पर सोमदेव के क्रम का यह रूप अन्य दिगम्बर साहित्य में नहीं मिलता।

आचार्य देवसेन ने "भावसंग्रह" नामक अपने ग्रन्थ में श्रावकधर्म का निरूपण किया है। उन्होंने पाँच उदुम्बर, मद्य मांस मधु के परित्याग को आठ मूल गुण माना है।[3] अणुव्रत गुणव्रत और शिक्षाव्रत का वर्णन एक एक गाथा में किया है केवल उनके नाम गिनाये हैं। इस ग्रन्थ में न श्रावकों के बारह व्रतों के अतिचारों का वर्णन है न सप्त व्यसन का ही

---

१ (क) यशस्तिलक०, आश्वास ५। (ख) आदिपुराण पर्व ४० २१३

२ मांसादिषु दया नास्ति न सत्यं मद्यपायिषु।
आनृशंस्यं न मर्त्येषु मधूदुम्बरसेविषु॥ —यशस्ति० आश्वास ७

३ महुमज्जमंसविरई चाओ पुण उंबराण पंचण्हं।
अट्ठेदे मूलगुणा हवंति फुडु देसविरयम्मि॥ —भावसंग्रह ३५६

और न ग्यारह प्रतिमाओं का ही निरूपण हुआ है। इन्होंने श्रावक के लिए पुण्य उपार्जन करना अतीव आवश्यक माना है और उस पर अधिक बल दिया है।

आचार्य अमितगति ने 'उपासकाध्ययन' नामक एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ की रचना की है। यह 'अमितगति श्रावकाचार' के नाम से विश्रुत है। इसमें १४ परिच्छेदों में श्रावकधर्म का विस्तार से वर्णन है। पूर्व आचार्यों द्वारा लिखे हुए विषय को इस ग्रन्थ में पल्लवित और पुष्पित किया गया है।

उन्होंने प्रथम धर्म का महत्त्व, सम्यक्त्व की महिमा, सप्ततत्त्व, आत्मा की सिद्धि, विश्वसृष्टिकर्तृत्व-खण्डन आदि विषयों का वर्णन किया है।[1] उसके पश्चात् तीन सप्त व्यसनत्यागों का वर्णन है। षडावश्यक के पश्चात् बारह व्रतों का निरूपण किया और ग्यारह प्रतिमाओं का बहुत संक्षेप में वर्णन किया है।

आचार्य अमृतचन्द्र ने अपने ग्रन्थ 'पुरुषार्थसिद्ध्युपाय' में सर्वप्रथम सम्यग्दर्शन का सुन्दर विवेचन किया है। उसके पश्चात् सम्यग्ज्ञान की आराधना पर बल दिया है और तदनन्तर सम्यक्चारित्र की व्याख्या करते हुए हिंसादि पापों की निवृत्ति पर प्रकाश डाला है। उन्होंने अहिंसा का अनूठा वर्णन किया है। सभी पापों का मूल हिंसा है अतः विविध विकल्पों के द्वारा हिंसा और अहिंसा का विवेचन किया है। इन्होंने पाँच उदुम्बर फल मद्य, मांस और मधु के त्याग को आवश्यक माना है। जो व्यक्ति इनका परित्याग नहीं करता उसे महान् हिंसक कहा है। उनका मन्तव्य है कि जब तक व्यक्ति इनका त्याग नहीं करता तब तक जिनधर्म को ग्रहण करने योग्य नहीं बन सकता।[2] आचार्य ने धर्म, देवता या अतिथि के नाम पर होने वाली हिंसा को जो लोग हिंसा नहीं मानते हैं उनका अकाट्य तर्कों से खण्डन किया है। उन्होंने अतिचारयुक्त अणुव्रत, गुणव्रत और शिक्षाव्रतों का वर्णन किया है।

आचार्य वसुनन्दि ने 'श्रावकाचार' ग्रन्थ की रचना की। इस ग्रन्थ की

---

१ (क) अमितगति श्रावकाचार प्रथम परि० श्लो० १८ से ८१।
(ख) द्वितीय से चतुर्थ परिच्छेद।

२ अष्टावनिष्टदुस्तरदुरितायतनान्यमूनि परिवर्ज्य।
जिनधर्मदेशनाया भवन्ति पात्राणि शुद्धधियः॥ —पुरुषार्थ० ७४

भाषा प्राकृत है। श्वेताम्बर आगम साहित्य मे दिगम्बर परम्परा की तरह आठ मूलगुण का कहीं भी वर्णन नहीं है। वैसे ही वसुनन्दि के श्रावकाचार मे भी इन आठ मूल गुणो का उल्लेख व वर्णन नहीं किया गया है। वसुनन्दि ने बारह व्रतों के अतिचारों का भी वर्णन नहीं किया है। उन्होंने ११ प्रतिमाओं को आधार बनाकर श्रावकधर्म का प्रतिपादन किया है। सर्वप्रथम दार्शनिक श्रावक को सप्तव्यसन[1] का त्याग आवश्यक माना है। उन्होंने सप्त व्यसनों के त्याग पर अत्यधिक बल दिया है। १२ व्रत और ११ प्रतिमाओं का वर्णन प्राचीन परम्परा के अनुसार ही किया है।

पं० आशाधरजी के सागारधर्मामृत पर आचार्य हरिभद्र के 'श्रावक प्रज्ञप्ति' का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है। अतिचारों के वर्णन के लिये उन्होंने श्वेताम्बर साहित्य का उपयोग किया है। प्रस्तुत ग्रन्थ मे ही सर्वप्रथम सप्त व्यसनों के अतिचारों का वर्णन किया गया है। श्रावक की दिनचर्या और उसकी समाधि का सुन्दर चित्रण हुआ है।

'सावयधम्म दोहा' ग्रन्थ मे मानव भव की दुर्लभता देव गुरु तथा दर्शन प्रतिमा का स्वरूप अष्ट मूलगुण की प्रेरणा देते हुए सप्त व्यसनों के दोष बताकर उनके त्याग पर बल दिया है। व्रत प्रतिमा और दान की चर्चा की गई है। इसमे अणुव्रत, गुणव्रत शिक्षाव्रतों का उल्लेख है। उनको धारण करने से जीवन में किस प्रकार निर्मलता आती है, उसका भी प्रतिपादन है।[2] प्रस्तुत ग्रन्थ के रचयिता कौन हैं यह अभी तक निर्णित नहीं कर सके हैं। एक स्थान पर 'देवसेन' का नाम आया है।[3]

मेधावी विरचित 'धर्मसंग्रह श्रावकाचार' के प्रथम अधिकार मे अठारह दोष रहित को देव माना है। उसके पश्चात आगार और अनगार धर्म का निरूपण करते हुए ग्यारह प्रतिमाओं के नामों का उल्लेख किया है। मिथ्यात्व के भेद प्रभेद सम्यक्त्व के पच्चीस दोषों और सम्यक्त्व का विस्तार से महत्त्व प्रतिपादित किया है। द्वितीय अधिकार में श्रावक के

---

१ अट्ठ मयट्ठ ममयमा पार[illegible] चार[illegible] ।
[illegible] [illegible] ॥ —वसुनन्दि श्रावकाचार [illegible]

२ [illegible] धर्म [illegible] [illegible] [illegible] मुनि ।
[illegible] [illegible] [illegible] णिव्वाणहु णिति ॥ —सावय० [illegible]

३ [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] ।
[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] ॥
—[illegible] भाग [illegible]

पाक्षिक नष्ठिक और साधक—य तीन भेद किये हैं ततीय अधिकार मे व्रतो के नाम निर्देश और उनका विस्तार से सातव अधिकार तक निरूपण है।

आचाय सकलकीर्ति विरचित 'प्रश्नोत्तर श्रावकाचार' ग्रथ मे २४ परिच्छेद हैं। इस ग्रथ मे २४ तीथकरो के वणन के साथ व्रता का विस्तार पूवक वणन है। भाषा की दृष्टि से यह सस्कृत श्लोको मे निवद्ध है।

गुणभूषण के 'श्रावकाचार' मे तीन उद्देशकों म श्रावक जावन पर प्रकाश डाला गया है।

नेमिदत्त के 'धर्मोपदेश पीयूष वष" नामक श्रावकाचार म पाँचवें अधिकार म सम्यक्त्व से लेकर श्रावका के व्रतो का निरूपण किया है। रात्रि-भोजन के दोषा पर प्रकाश डाला गया है। मौन का महत्त्व वता कर सात स्थाना पर मौन रहन की प्रेरणा दी गई है। श्रावक की ग्यारह प्रतिमाओ का भी वणन है और सलेखना के स्वरूप पर चिन्तन किया गया है।

'लाटी सहिता' के छ सर्गो म धम के स्वरूप को वताते हुए विस्तार से प्रकाश डाला है। मलेखना और ११ प्रतिमाओ का भी निरूपण किया है। प्रस्तुत ग्रथ की भाषा सस्कृत है। इस ग्रथ के लेखक के सम्बध मे विनगण अभी तक निश्चित नही कर सके हैं।

पूज्यपाद कृत श्रावकाचार" एक महत्त्वपूण कृति है। इसमे सम्यक्त्व के स्वरूप का वणन करते हुए अष्ट मूलगुण पच अणुव्रत सप्त व्यसनो के त्याग, कद मूल आदि अभक्ष्य पदार्थों का त्याग मौन धारण करना तथा पव दिना मे उपवास आदि पर वल दिया है। इस ग्रथ म १०३ श्लोक हैं।

पद्मनदि विरचित श्रावकाचार' मे केवल २१ श्लोका मे श्रावक-धम का प्रतिपादन किया है।

व्रतसार श्रावकाचार" मे २२ श्लोक हैं। उसमे बहुत ही सक्षप मे श्रावकघम पर चिन्तन किया है। इसके लखक का नाम विनो को ज्ञात नही हो सका है।

अभ्रदेव विरचित व्रतोद्योतन श्रावकाचार' मे ५४२ श्लोका मे श्रावक-धम का प्रतिपादन किया है। इसम श्रावक के व्रतो के सम्बध मे चिन्तन करने के साथ ही इन्द्रिय और मन के निरोध पर बल दिया है। विस्तार से सम्यक्त्व के स्वरूप पर भी चिन्तन किया है।

श्री आचाय प्रभाचन्द्र के शिष्य पद्मनंदि कृत श्रावकाचारसारोद्धार ग्रथ दो परिच्छेदा मे है। ग्रन्थ म राजा श्रेणिक के द्वारा जिज्ञासा प्रस्तुत करने पर गणधर गौतम के द्वारा धम पर चिन्तन करते हुए विस्तार के साथ

परम्परा म 'श्रमणभूत' प्रतिमा ह उसे ही दिगम्बर परम्परा मे 'उद्दिष्ट त्याग प्रतिमा कहा ह क्योकि इसमे श्रावक का आचार श्रमण अथवा साधु के समान होता ह।

दशाश्रुतस्कध के अनुसार जो गृहस्थ सम्यग्दशनयुक्त ह किन्तु व्रत नियम ग्रहण नही कर पाता तथापि जिनशासन की उन्नति के लिए सदा तत्पर रहता ह और चतुर्विध सघ की भक्ति भाव से विभोर होकर सेवा करता ह उस अविरतसम्यग्दृष्टि को 'प्रभावक'[1] कहा गया है और जो व्रतो को धारण करते हैं प्रतिमाओ की आराधना करते हैं वे "पचम गुणस्थानवर्ती श्रावक कहलाते हैं।

श्रावकाचार सम्बन्धी साहित्य के पयवेक्षण से यह स्पष्ट ज्ञात होता ह कि श्रावको को हम जघन्य, मध्यम उत्कृष्ट इन तीन विभागा मे विभक्त कर सकते हैं—

(१) "जघन्य श्रावक' म तीन बातें आवश्यक हैं—

(क) मारने की भावना से उत्प्रेरित होकर किसी तरह की जीव हत्या नही करता ह।

(ख) मद्य मास का पूण त्यागी होता है।

(ग) नमस्कार महाम त्र पर उसकी पूण निष्ठा होती है।[2]

(२) मध्यम श्रावक के लिए निम्न विशेषताए आवश्यक हैं—

(क) वह दव गुरु, घम पर पूण निष्ठा रखता हुआ स्थूल हिंसा से निवृत्त होता है।

(ख) मद्य, मास आदि अभक्ष्य पदार्थों का परित्याग कर धम योग्य लज्जा दया गम्भीरता, सहिष्णुता प्रभृति सदगुणो से उसका जीवन जग मगाता है।

(ग) वह प्रतिदिन षटकम[3] की साधना करता है। वे षटकम इस प्रकार हैं—

---

१ जा अविरआवि सघे भत्तिनित्युन्नइ सया कुणई।
अविरयसम्मद्दिट्ठी पभावगो सावगो सोवि॥

२ आउट्टि थूलहिंसाई मज्ज मसाई चाओ।
जहन्नओ सावगो होइ जो नमुक्कारधारओ॥

३ देवार्चागुरुशुश्रूषा स्वाध्याय सयमस्तप।
दान चेति गृहस्थाना षट्कर्माणि दिने दिने॥

(अ) देव भक्ति—वीतराग सर्वज्ञ अरिहन्त को वह अपना आराध्य देव मानता है। उस अरिहन्त देव में अठारह दूषणों का अभाव होता है—अज्ञान निद्रा, मिथ्यात्व अविरति, राग, द्वेष हास्य रति अरति भय, शोक, जुगुप्सा काम, दानान्तराय, लाभान्तराय भोगान्तराय और वीर्यान्तराय। और वे देव बारह गुणयुक्त होते हैं—अनन्तज्ञान अनन्त दर्शन अनन्तचारित्र अनन्तबलवीर्य, अनन्त सुख दिव्यध्वनि भामण्डल स्फटिक सिंहासन अशोक वृक्ष पुष्पवृष्टि देवदुन्दुभि और छत्र चामर। उस देव को वह अपना आराध्यदेव मानकर उसकी उपासना करता है।

(आ) गुरु-सेवा—जिनके जीवन में अहिंसा, सत्य अस्तेय अपरिग्रह ब्रह्मचर्य का साम्राज्य है जो कनक-कान्ता का त्यागी है, ऐसे सुसाधु को गुरु मानकर उन्हें अशन पान, खादिम स्वादिम वस्त्र पात्र कम्बल, पाद प्रोंछन पीठ फलक शय्या संस्तारक औषध और भेषज प्रदान कर उनकी शुश्रूषा करता है।

(इ) स्वाध्याय—वह स्वाध्याय के द्वारा आत्म भाव में स्थिर होता है।

(ई) संयम—वह प्रतिदिन कुछ समय असंयम से निवृत्त होकर कषायों का शमन करता हुआ संयम में रहता है।

(उ) तप—वह प्रतिदिन कुछ न कुछ तप की आराधना करता है। ऊनोदरी, रस-परित्याग आदि से अपने जीवन को निखारता है।

(ऊ) दान—वह अपने न्यायोपार्जित वित्त में से प्रतिदिन यथाशक्ति दान करता है।

इस प्रकार मध्यम श्रावक षट्कर्म की साधना करता है और द्वादश व्रतों का पालन करता है।

( ) उत्कृष्ट श्रावक प्रतिमाधारी होता है। श्रावक की ग्यारह प्रतिमाएँ हैं।[१] जीवन की सान्ध्य वेला में उत्कृष्ट श्रावक मारणांतिक संलेखना-संथारा कर अपने जीवन का समाधिपूर्वक व्यतीत करता हुआ देह विसर्जन करता है।

इस प्रकार श्रावकों के तीन रूप प्राप्त होते हैं।

श्रावकाचार सम्बन्धी उपलब्ध जैन साहित्य का अनुशीलन करने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि जैन मनीषियों ने श्रावक को एक विशिष्ट

---

१ (क) दसण-वय-सामाइय-पोसह पडिमा-अबम सच्चित्ते।
आरम्भ-पेस उद्दिट्ठवज्जए-समणभूए य॥ —दशा नियुक्ति गाथा ११

(ख) आयारदशा छठी प्रतिमा—दशा० सूत्र २

२ श्रावक एक लक्ष्य, अनेक नाम

जनधर्म म श्रावक और श्रमण दोनो की साधना का विस्तार म निरूपण ह। श्रावकधम को मयतामयत देशविरति और दशचारित्र कहा ह। वह गृहस्थाश्रम म रहकर गृहस्थ के कत्तव्या का पालन करता हुआ अणुव्रतरूप एकदेशीय व्रता का पालन करता ह।

श्रावक शब्द की परिभाषा

जन साहित्य म श्रावक शब्द क दो अथ प्राप्त होते हैं। प्रथम श्रु धातु से बना है जिस का अर्थ ह—सुनना। जो श्रमणा से श्रद्धापूवक निर्ग्रन्थ प्रवचन को श्रवण करता ह तदनुसार यथाशक्ति उस पर आचरण करने का प्रयास करता ह वह श्रावक ह।[1] श्रावक शब्द म प्राय यही अथ ग्रहण किया जाता ह।

श्रावक शब्द का दूसरा अथ श्रा—पाके धातु के आधार मे किया जाता है। प्रस्तुत धातु से सस्कृत रूप श्रापक बनता ह। पर श्रापक शब्द की अथसगति श्रावक शब्द क साथ नही बठती ह। सभव ह श्रावक से यह तात्पय रहा हो—जो भोजन पकाता ह। श्रमण भिक्षा स अपना जीवन निर्वाह करत हैं, किन्तु श्रावक गृहस्थाश्रमी होने स भोजन आदि पकाता है।

अक्षरों के आलोक में

एक आचाय ने श्रावक शब्द के तीनो अक्षरा पर गहराई से चितन करते हुए लिखा ह कि ये तीनो अक्षर श्रावक के पथक पथक कतव्य का बोध कराते हैं[2]।

---

१ सम्मत्तदसणाइ पइदिअह जइजणा सुणेइ य।
सामायारी परम जो खलु त सावग विति॥ —समणसुत्त गाथा ३०१

२ श्रद्धालुता श्राति शृणोति शासनम। दान वपत्याशु वृणोति दशनम॥
कृतत्यपुण्यानि करोति सयमम्। त श्रावक प्राहुरमी विचक्षणा॥

वीतराग श्रमण है तो सामान्य श्रमण छद्मस्थ है। किन्तु सामान्य छद्मस्थ श्रमण की साधना भी श्रमणोपासक की साधना से कई गुणी उच्चकोटि की है। श्रमण का साक्षात् उपासक होने से वह श्रमणोपासक कहलाता है। सम्यक्त्व स्वीकार करते समय व्यवहार की दृष्टि से श्रमण ही उसका गुरु है। अरिहंत तो देव हैं।

आचार्य भद्रबाहु ने आवश्यकनियुक्ति में श्रमण के सम्बन्ध में बहुत ही सुन्दर समाधान करते हुए कहा है—श्रमण के सम्बन्ध में तुम क्या पूछ रहे हो? उनके तप का नियम का और ब्रह्मचर्य को देखो। केवल वेश और क्रियाकाण्ड को मत देखो।[1] राजस्थानी में भी एक सन्त कवि ने कहा है—

भव देख भूलो मती ओलखो आचार।

अम्मापिउ समाणा—यह भी जिज्ञासा हो सकती है कि श्रमणोपासक श्रमण की किस प्रकार उपासना करे? समाधान है—श्रावक मन वचन-तन आदि अपने साधनों से साधु मर्यादा के अनुसार श्रमण की सेवा कर सकता है।

उदाहरण के रूप में श्रावक श्रमण-श्रमणियों को निर्दोष आहार पानी प्रदान करता है। वह इस प्रकार का विवेक रखता है जिससे स्वयं भी अचित्त आदि पदार्थों का उपयोग करता है। या तो उसके लिए गुठली सहित आम आदि का उपयोग करने का निषेध नहीं है पर बीज आदि से रहित उपयोग करने पर अचित्त फल आदि को बहराने का लाभ भी प्राप्त हो सकता है। सहज रूप में अतिथि संविभागव्रत की आराधना भी हो सकती है।

जहाँ पर जैन समाज के घर न हों, और वहाँ पर यदि श्रमण श्रमणियाँ विचरण कर रहे हों, तो वह श्रावक इनको निर्दोष आहार पानी दिलाकर श्रमण जीवन की कठोर चर्या बताकर धर्म दलाली कर सकता है। जैसे श्रमण श्रमणोपासक की आचार विशुद्धि का ध्यान रखता है, वैसे ही श्रमणोपासक भी श्रमणों का आचार विशुद्ध बना रहे उनका तप संयम अभिवृद्धित बना रहे। इसलिए वह उनकी महती सेवा करता है। ऐसा श्रावक 'अम्मापिउ समाणा' का विरुद निभाता है।

अणुव्रती आदि अन्य नाम

श्रावक के लिए अणुव्रतों का पालन करना आवश्यक है। इसलिए

---

१ किं तुम्भेहि साहूणं तवं च नियमं च बंभचेरं च। —आवश्यकनियुक्ति

वह अणुव्रती भी कहलाता है। किन्तु पूर्ण रूप से व्रतों का पालन न करने से वह व्रताव्रती विरताविरति, देशविरति, देशसंयति और संयमासंयमी भी कहलाता है। आगार यानी घर में रहने के कारण वह सागारी भी कहलाता है और गृहस्थधर्म का पालन करने से वह गृहस्थधर्मी के नाम से भी विश्रुत है। उपासना करने के कारण वह उपासक भी कहलाता है। उसमें श्रद्धा की प्रमुखता होती है इसलिए वह श्राद्ध भी कहलाता है।

रत्न पिटारा

कितने ही चिन्तकों की यह भ्रान्त धारणा है कि श्रावक पूर्ण रूप से अव्रती, असंयमी अविरति है। वह जहर से भरे हुए प्याले के सदृश है। उस श्रावक की सेवा करना उसे दान देना और उसके प्रति दया करना, अव्रत का पोषण करना है। उन चिन्तकों को यह स्मरण रखना होगा कि *आगम-साहित्य में कहीं भी यह बात नहीं कही गई है श्रावक के जो पर्याय-*वाची नाम आये हैं वे भी इस बात के ज्वलन्त प्रतीक हैं कि वह सर्वथा अविरति और असंयमी नहीं किन्तु व्रताव्रती और संयमासंयमी है। यही कारण है कि दिगम्बर परम्परा के समर्थ आचार्य समन्तभद्र ने श्रावक को रत्न करण्डक अर्थात् रत्नों का पिटारा कहा है। सूत्रकृतांग में स्पष्ट उल्लेख है कि जिन्होंने हिंसा और अहिंसा आदि के बन्धन कुछ अंशों में नष्ट कर दिये हैं और हिंसा आदि बन्धनों का पूर्णतया नष्ट करने की जिनकी निर्मल भावना है और जो क्रमशः नष्ट करने का प्रयास करते हैं वे गृहस्थ श्रावक भी आर्य हैं। उनका मार्ग भी मोक्ष का मार्ग है। श्रमण के समान श्रावक भी आर्य की भूमिका पर प्रतिष्ठित हैं। इसके विपरीत जो मिथ्यात्वी हैं, हिंसा आदि में जो रत हैं वे अनार्य हैं।[१]

उपरोक्त पंक्तियों में श्रावक की जो विशिष्ट भूमिका है, उसके पर्यायवाची शब्दों के पीछे जो रहा हुआ रहस्य है उसे हमने स्पष्ट किया है। एक श्रावक की भूमिका कितनी महान है यह भी इससे स्पष्ट है। व्रती श्रावक किस रूप में व्रतों को स्वीकार करता है और उन व्रतों की क्या क्या मर्यादाएँ हैं? इन सभी पहलुओं पर हम अगले अध्यायों में विचार करेंगे। □

---

१ एस ठाणे आरिए जाव सव्वदुक्खप्पहीणमग्गे एगंतसम्मे साहू।

—सूत्रकृतांग सूत्र

यदि मकान के एक कोने में गन्दगी का ढेर लगा हुआ हो उसकी भयंकर दुर्गन्ध आती हो और उस समय कोई व्यक्ति उस दुर्गन्ध से बचने के लिए अगरबत्तियाँ जलाये और चाहे कि मधुर सुगन्ध से सारा वातावरण महक उठे तो यह कदापि सम्भव नहीं है। यही स्थिति जीवन की है। मन विषय-कषायों से कलुषित है विकारों की गन्दगी से सम्पृक्त है तो धर्म जीवन को पवित्र नहीं बना सकता। उस जीवन में धर्म का दिव्य तेज प्रगट नहीं हो सकता। एतदर्थ ही आचार्यों ने सर्वप्रथम सद्गुणों के आचरण पर बल दिया है।

आत्मा की पांच श्रेणियाँ

भारत के तत्त्व महर्षियों ने आत्मा के सम्बन्ध में विभिन्न दृष्टियों से चिन्तन किया है। आध्यात्मिक उन्नति और आत्मिक उत्थान की क्षमता की दृष्टि से उन्होंने आत्मा की पाँच श्रेणियाँ प्रतिपादित की हैं। वे इस प्रकार हैं—(१) प्रसुप्त आत्मा (२) सुप्त आत्मा (३) जागृत आत्मा (४) उत्थित आत्मा (५) समुत्थित आत्मा।

(१) **प्रसुप्त आत्मा**—जो आत्मा मोह की गाढ़ निद्रा में सोया हुआ है, वह प्रसुप्तात्मा कहलाता है। मोह के सघन आवरण को नष्ट करने में वह आत्मा कभी भी सक्षम नहीं होता। अभव्य आत्मा इसी कोटि के अन्तर्गत है जो व्यवहार दृष्टि से उग्र तपश्चरण करने पर भी मोह का विलय न कर सकने के कारण तीन काल में भी मोक्ष प्राप्त नहीं कर पाता।

(२) **सुप्त आत्मा**—अभव्य आत्मा की भाँति मोह का अत्यन्त सघन और कभी भी न टूट सकने वाला आवरण इस आत्मा पर नहीं होता। प्रयत्न करने पर वह आत्मा जागृत भी हो सकती है। किन्तु इस आत्मा में इतनी सुषुप्ति होती है कि सत्य को समझने की भावना ही उसमें उद्बुद्ध नहीं होती। यह स्थिति प्रथम गुणस्थानवर्ती भव्य आत्मा की होती है।

(३) **जागृत आत्मा**—यह वह आत्मा है जिस पर अनन्त काल से चढ़ी हुई मिथ्यात्व की परतें टूटने लगती हैं, अज्ञान की दुर्भेद्य ग्रन्थियाँ खुलने लगती हैं जिससे जीवन में सत्य के सद्दर्शन होते हैं। आत्मानुभव का अपूर्व आह्लाद जगमगाने लगता है। यह अवस्था चतुर्थ गुणस्थानवर्ती अव्रती सम्यग्दृष्टि जीव की होती है।

(४) **उत्थित आत्मा**—जगने के पश्चात प्रमाद का परिहार कर धर्माचरण की ओर इस श्रेणी के आत्मा की गति और प्रगति होती है। वह प्रबल पराक्रम कर श्रावक के अणुव्रत, गुणव्रत, शिक्षाव्रत तथा एकादश

प्रतिमाओ को धारण करता है। यह अवस्था पचम गुणस्थानवर्ती देशविरत श्रावक की होती है।

(५) समुत्थित आत्मा—यह आत्मा पूर्णरूप से जागृत होकर दृढ सकल्प के साथ साधना के महापथ पर बढता है। चाहे कितनी भी विघ्न और बाधाएँ आय उनसे जूझता हुआ आगे बढता है उसके कदम पीछे नही हटते, यह भूमिका छठे और सातवे गुणस्थानवर्ती श्रमण साधक की होती है।

प्रसुप्त और सुप्त आत्मा म मानवता का अभाव होता है। जागृत आत्मा ही मानवता के पथ पर अपने कदम बढाती है। वही मार्गानुसारी गुणो को अपनाती है। मार्गानुसारी के पतीस गुणो म सवप्रथम गुण है न्यायसम्पन्न विभवता अर्थात न्याय से उपार्जित धन से आजीविका करना।

(१) न्यायसम्पन्न विभव

एक सदगृहस्थ श्रमण की तरह भिक्षा माग कर जीवन निर्वाह नही करता वह न्याय और नीतिपूर्वक अर्थ का उपार्जन करता है। आचार्य हरिभद्र[1] ने आचाय हेमचन्द्र[2] ने और पण्डित आशाधर[3] ने एक स्वर से इस बात का समर्थन किया है कि गृहस्थ न्याय और नीति पूर्वक ही अर्थोपार्जन करे। आगम साहित्य म भी गृहस्थ का विशेषण 'धम्माजीवी' आया है। न्याय और नीतिपूर्वक वह आजीविका चलाता है। तथागत बुद्ध ने भी अष्टाङ्गिक मार्ग म पाँचवा मार्ग सम्यग आजीव बताया है। अन्याय और अनीति से जो धन कमाया जाता है वह धन धर्मयुक्त नही है। जैसे जहरीले भोजन से जीवन के लिए खतरा पैदा हो जाता है वैसे ही अन्याय और अनीति से प्राप्त धन भी शान्ति प्रदान नही करता। सम्पत्ति का अर्थ है—सम्यग प्रतिपत्ति—सम्पत्ति। जो न्यायपूर्ण शुद्ध और सम्यक प्रकार से प्राप्त होती है वह सम्पत्ति है। अन्याय और गलत तरीके से प्राप्त सम्पत्ति सम्पत्ति नहीं विपत्ति है।

(२) शिष्टाचार प्रशसक

मार्गानुसारी का द्वितीय गुण शिष्टाचार प्रशसक है, श्रेष्ठ आचार की प्रशसा करना है। शिष्ट शब्द का अर्थ व्याकरण की दृष्टि से अनुशासित है। जो गुरुजनो के अनुशासन मे रहता है वह शिष्ट है। शिष्ट की

---

१ न्यायोपात्त हि वित्तमुभयलोकहितायेति। —धर्मबिन्दु प्रकरण १

२ न्यायसम्पन्नविभव। —योगशास्त्र १/४७

३ न्यायोपात्त धनार्जन गुणगुरुन सद्गीस्त्रिवर्गभजन। —सागारधर्मामृत

यदि मकान के एक कोने में गन्दगी का ढेर लगा हुआ हो, उसकी भयंकर दुर्गन्ध चारों ओर व्याप्त हो। उस समय कोई व्यक्ति उस दुर्गन्ध से बचने के लिए अगरबत्तियाँ जला दे और चाहे कि मधुर सुगन्ध से सारा वातावरण महक उठे तो यह कदापि सम्भव नहीं है। यही स्थिति जीवन की है। मन विषय कषायों से कलुषित है विकारों की गन्दगी से सना है तो धर्म जीवन को पवित्र नहीं बना सकता। उस जीवन में धर्म का दिव्य तेज प्रगट नहीं हो सकता। एतदर्थ ही आचार्यों ने सर्वप्रथम सदाचरण के आचरण पर बल दिया है।

आत्मा की पाँच श्रेणियाँ

भारत के तत्त्व महर्षियों ने आत्मा के सम्बन्ध में विभिन्न दृष्टियों से चिन्तन किया है। आध्यात्मिक उन्नति और आत्मिक उत्थान की क्षमता की दृष्टि से उन्होंने आत्मा की पाँच श्रेणियाँ प्रतिपादित की हैं। वे इस प्रकार हैं—(१) प्रसुप्त आत्मा (२) सुप्त आत्मा (३) जागृत आत्मा (४) उत्थित आत्मा (५) समुत्थित आत्मा।

(१) **प्रसुप्त आत्मा**—जो आत्मा मोह की गाढ निद्रा में सोया हुआ है वह प्रसुप्तात्मा कहलाता है। मोह के सघन आवरण को नष्ट करने में वह आत्मा कभी भी सक्षम नहीं होता। अभव्य आत्मा इसी कोटि के अन्तर्गत है जो व्यवहार दृष्टि से उग्र तपश्चरण करने पर भी मोह का विलय न कर सकने के कारण तीन काल में भी मोक्ष प्राप्त नहीं कर पाता।

(२) **सुप्त आत्मा**—अभव्य आत्मा की भाँति मोह का अत्यन्त सघन और कभी भी न टूट सकने वाला आवरण इस आत्मा पर नहीं होता प्रयत्न करने पर वह आत्मा जागृत भी हो सकती है। किन्तु इस आत्मा में इतनी सुषुप्ति होती है कि सत्य को समझने की भावना ही उसमें उद्बुद्ध नहीं होती। यह स्थिति प्रथम गुणस्थानवर्ती भव्य आत्मा की होती है।

(३) **जागृत आत्मा**—यह वह आत्मा है जिस पर अनन्त काल से पड़ी हुई मिथ्यात्व की परतें टूटने लगती हैं, अज्ञान की दुर्भेद्य ग्रन्थियाँ खुलने लगती हैं जिससे जीवन में सत्य के दर्शन होते हैं। आत्मानुभव का अपूर्व आह्लाद जगमगाने लगता है। यह अवस्था चतुर्थ गुणस्थानवर्ती सम्यग्दृष्टि जीव की होती है।

(४) **उत्थित आत्मा**—जगने के पश्चात् प्रमाद का परिहार कर धर्माचरण की ओर इस श्रेणी के आत्मा की गति और प्रगति होती है। वह प्रबल पराक्रम कर श्रावक के अणुव्रत, गुणव्रत, शिक्षाव्रत तथा एकादश

अतिथि साधु एवं दीन व्यक्तियों की सेवा में करता है। उनका योग्य स्वागत व सत्कार करता है। अतीत काल में आचार्य शिष्य को अपने दीक्षान्त भाषण में यह शिक्षा प्रदान करते हुए कहता था—वत्स ! तू गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने जा रहा है वहाँ पर अतिथि भी आयगा उनकी देवता की तरह अर्चना करना।[1] अतिथि का अर्थ है—जो आया और चला गया और पूरी तिथि अर्थात् रात्रि भर घर में नहीं रुकता। आचार्य मनु ने भी अतिथि की परिभाषा करते हुए लिखा है[2]—जिसका रुकना अनिश्चित है वह अतिथि है। सद्गृहस्थ का कर्तव्य है कि उसके घर पर चाहे परिचित आये चाहे अपरिचित आये वह उसका यथायोग्य स्वागत करे। व्यास ने कहा है[3]—जैसे वृक्ष जल सींचने वाले को भी छाया प्रदान करता है और काटने वाले को भी वैसे ही सद्गृहस्थ घर पर आये हुए अतिथि का स्वागत करता है भले ही उसका कोई शत्रु ही क्या न हो। ब्रह्मपुराण में लिखा है[4] कि यदि किसी के घर से अतिथि निराश होकर लौटता है तो वह अपने सभी पाप गृहस्थ के सिर पर डालकर और उसके पुण्य लेकर चला जाता है। आपस्तम्ब धर्मसूत्र[5] में लिखा है कि अतिथि की पूजा करने से मन को शान्ति प्राप्त होती है और परलोक में स्वर्ग मिलता है।

अतिथि-सत्कार में गृहस्थ की उदात्त भावना परिलक्षित होती है। जो भी द्वार पर आया है उसकी वह समानरूप से सेवा करता है। वायु-पुराण[6] में कहा गया है कि मानवों के कल्याण के लिए योगी और सिद्ध पुरुष विभिन्न रूप धारण कर विचरण करते हैं। अतिथि-सत्कार करने वाला यह नहीं देखता कि मैं जिसका सत्कार कर रहा हूँ वह कैसा है? उसकी तो यही भावना रहती है कि घर पर जो भी आ जाय उसका यथोचित सत्कार किया जाय। वृहत् पराशर स्मृति[7] में और महाकवि तुलसीदास जी ने[8] भी इस बात का समर्थन किया है।

---

१ अतिथि देवो भव —तैत्तरीय उपनिषद् १।११।२
२ अनित्यास्यस्थितिर्यस्मात् तस्मादतिथिरुच्यते।
३ महाभारत—शान्तिपर्व १४६।५
४ ब्रह्मपुराण ११४। ६
५ आपस्तम्ब धर्मसूत्र २। ३।६।६
६ वायुपुराण ७१।१।६४
७ वृहत् पाराशरस्मृति पृष्ठ ६६
८ ना जाने किस वेश में नारायण मिल जाय।

आगम साहित्य के अध्ययन से स्पष्ट है कि जब गृहस्थ के घर कोई अतिथि पहुँचता तो गृहस्थ हर्ष से फूल उठता। वह आसन से उठकर सात आठ कदम सामने जाता, उसका मधुर शब्दों से स्वागत करता और कहता कि मुझे अनुगृहीत कीजिये। जब अतिथि कुछ ग्रहण कर लेता, तब वह अपनी भव्य भावना इस रूप में व्यक्त करता कि मैं आज धन्य हूँ, कृतपुण्य हूँ। और अतिथि के लौटने पर वह उसे पहुँचाने के लिये जाता। यह थी अतिथि सत्कार की पावन परम्परा। इसीलिये मार्गानुसारी के गुणों में अतिथि-सत्कार को एक गुण माना है।

(२०) दुराग्रह के वशीभूत न हो[2]

नशे में चूर व्यक्ति को भान नहीं रहता कौन सा कार्य कृत्य है और कौन सा अकृत्य है। इसी प्रकार दुराग्रही व्यक्ति में भी एक प्रकार का उन्माद होता है जिससे उसके विवेक पर पर्दा गिर जाता है। दुराग्रह कई प्रकार का होता है। सम्प्रदायगत कदाग्रह में व्यक्ति यह मानता है कि मेरी ही सम्प्रदाय सर्वश्रेष्ठ है। इस कदाग्रह के वशीभूत होकर कुछ कट्टर मुस्लिम धर्मान्धों ने हजारों लोगों को कत्ल करा दिया था। उनका यह अभिमत था कि संसार में केवल कुरान की ही आवश्यकता है अन्य किसी भी धर्मग्रन्थ की नहीं। जो कुछ भी सत्य है वह इसी में ही है। जो इसमें नहीं है उसकी हमें आवश्यकता नहीं। कुछ कट्टर मुसलमान एक हाथ में कुरान और दूसरे हाथ में तलवार लेकर आक्रमण करते थे। अपने धर्म और धर्म ग्रन्थों के प्रति यह स्पष्ट दुराग्रह था।

धर्म और सम्प्रदाय की तरह जाति का भी दुराग्रह होता है। मेरी जाति महान् है और दूसरों की जाति हीन है। काले गोरे के संघर्ष में भी यही भावना काम कर रही है।

सभी भी प्रकार के दुराग्रह से गृहस्थ को मुक्त होना चाहिये।

(२१) गुणानुरागी बनें[3]

यदि हम किसी फूलों के बगीचे में पहुँचें तो वहाँ मन को मुग्ध करने वाली सौरभ मिलेगी। किन्तु रंग बिरंगे फूल जहाँ दृष्टिगोचर होते हैं वहाँ काँटे भी टहनी पर लगे हुए दिखाई देंगे। वैसे ही प्रत्येक व्यक्ति के जीवन

---

१ विपाक सूत्र सुबाहुकुमार।

२ योगशास्त्र १।५३

३ योगशास्त्र १।५३

मे सद्गुणो के फूल भी होते है और दुर्गुणो के कांटे भी। मक्खी गन्दगी पर बैठती है वह मिठाई को छोडकर भी गन्दगी पर बैठना पसन्द करती है। वैसे ही कितने ही व्यक्ति मक्खी के साथी होते हैं। वे सद्गुणो को छोडकर दुर्गुणो को ग्रहण करते है। इसीलिए आचार्यश्री ने कहा है—गुणग्राही बनो। जहाँ भी गुण दिखाई दे उसे ग्रहण करो। शत्रोरपि गुणा वाच्या' यदि किसी शत्रु मे सद्गुण हो तो उसकी भी प्रशसा करनी चाहिये। उसके गुणो को देखकर मन मे प्रफुल्लित और आनन्दित होना चाहिये। यदि परमाणु जितना भी दूसरे मे गुण हो तो पर्वताकार के रूप मे उसकी प्रशसा करनी चाहिए। ऐसे व्यक्ति का हृदय सद्गुणो का ग्रहण करने मे समर्थ होता है।

(२२) देश कालोचित आचरण[1]

सद्गृहस्थ की जीवन चर्या देश और काल के अनुसार होती है। वह भावावेश मे आकर अन्धानुकरण नही करता। वह ऐसा कोई कार्य नही करता जिससे सामाजिक नियम भग होते हो, व्यावहारिक जीवन विकृत होता हो और गलत परम्पराए पनपती हो तथा गलत उदाहरण प्रस्तुत किये जाते हो। जो इस प्रकार परम्पराओ को तोडता है वह अविवेकी और स्वच्छन्द आचारी कहलाता है।

आचार्यों ने स्वच्छन्दता का निषेध किया है। जो परम्पराएँ शुद्ध हैं, उनको अपनाना और जो परम्पराएँ शास्त्रविरुद्ध हैं उन्हे ग्रहण न करना सद्गृहस्थ का कर्तव्य है। देश और काल के योग्य उचित कार्य करता हुआ सद्गृहस्थ कभी दुखी नही होता।

(२३) शक्ति के अनुसार कार्य करे

देश और काल के परिज्ञान के साथ ही सद्गृहस्थ को अपने सामर्थ्य के अनुसार कार्य करना चाहिए। यदि स्वय मे उस कार्य को करने के सामर्थ्य का अभाव है तो कोई चाहे कितनी ही प्रेरणा क्या न दे उस कार्य मे हाथ नही डालना चाहिए। कार्य प्रारम्भ करके पश्चात बीच मे ही छोड देना सर्वथा अनुचित और अपयश का कारण है। नीतिकारो ने भी कहा है— ते ते पाँव पसारिए जेती लांबी सोड़ जितनी अपनी शक्ति है, उतना ही कार्य करना चाहिए। घर फूँककर तमाशा दिखाना अनुचित है। सद्गृहस्थ अपना सामर्थ्य देखकर ही प्रत्येक कार्य करता है।

---

१ योगशास्त्र १।५४

(२४) व्रती और ज्ञानी जनों की सेवा करे

सद्गृहस्थ व्रतधारियों का आदर करता है। प्राचीन युग म की भारत म प्रधानता थी। चक्रवर्ती सम्राटों के सिर भी ... म नत होते थे। आज ऋषियों के स्थान पर ऋद्धि और सिद्धि का ... बढ रही है। पर व्रता को ग्रहण करना अत्यधिक कठिन है जो मर्द आत्मबली साधक होते हैं, वे ही इस अग्निपथ पर कदम बढा सकते हैं। व्रतियों की सेवा करना त्याग की भावना को बढावा देना है। दूसरा ... यह भी है कि व्रतियों की सेवा करने से सातावेदनीयकर्म का बन्ध होता है जिससे इस जन्म म भी और अगले जन्म म भी साता ... है। पर उस सेवा म भावना की प्रमुखता होनी चाहिए। जितनी भा... की प्रमुखता होगी उतना ही पुण्य का बध और निर्जरा होगी।

प्रस्तुत गुण में व्रतियों के साथ ज्ञानवृद्ध का भी लिया गया है। शारीरिक दृष्टि से बहुत से वृद्ध हो सकते हैं पर ज्ञानवृद्ध होना अधिक महत्त्वपूर्ण है। जन परम्परा म भी ज्ञानस्थविर कहा है। उसमें अवस्था का कोई नियम नहीं होता। एक दिन का दीक्षित भी ... विशिष्ट ज्ञान से ज्ञानस्थविर हो सकता है। जिसमें ज्ञान की वृद्धि ... हो चुकी हो वह ज्ञानवृद्ध है। उन ज्ञानियों का सत्कार करना उनके ... ध्यान के प्रति मन में आदर रखना गृहस्थ का कर्तव्य है क्योंकि ... प्राप्त करने के लिये उनका विनय अपेक्षित है। यही इस गुण का ... है।

(२५) उत्तरदायित्व निभाना

गृहस्थ पर परिवार समाज और राष्ट्र की महान जिम्मेदारी होती है। वह उन सभी जिम्मेदारियों का सम्यक प्रकार से वहन करता है। उसका जीवन घटाटोप और छायादार वृक्ष की भाँति होता है जिसके ... शताधिक पक्षीगण विश्राम लेते हैं। उसी प्रकार गृहस्थ के आश्रित ... आश्रम रहे हुए होते हैं। वह स्वयं भी अपना विकास करता है और अपने आश्रित जो भी हैं उनका भी वह विकास करता है। जैसे विराट सागर ... बहते हुए प्राणी को द्वीप सहारा देता है वैसे ही दुःख के सागर में निमग्न व्यक्तियों को सद्गृहस्थ सहारा देता है। वह अपने उत्तरदायित्व को टालने का प्रयास नहीं करता। इसीलिए मार्गानुसारी के गुणों में इसे स्थान दिया गया है।

(दीर्घदर्शी

सद्गृहस्थ ... बुद्धि का धनी होता है वह अपनी प्रतिभा द्वारा

सम्पूर्ण सामर्थ्य उसी कार्य में लग जाता है। वह उसकी रक्षा और सेवा के लिये तत्पर हो जाता है।

सम्यक्त्व के लक्षण में अनुकम्पा एक मुख्य लक्षण है। जिसका हृदय दयालु है उसी में सम्यक्त्वरूपी पुष्प खिल सकता है।

(३२) सौम्यता

सद्गृहस्थ के जीवन मे शान्ति शीतलता और शालीनता होती है। जिस सरोवर में जल भरा हुआ है उसके किनारे पर हमेशा शीतलता रहती है। जिसके हृदय मे दया है, उसके मन और वाणी मे सौम्यता होती है। वह महादेव की भांति संकटों के गरल को भी पीकर मुस्कराता है। मन मे हजार गम हों, मगर शिकन न हो चेहरे पर। और वह तभी सभव है जब आपके मन में धर्म ममता और सौम्यता हो चेहरा। हृदय का दर्पण है। मुंह के आईने में हृदय की तस्वीर झलकती है। जिसकी प्रकृति तमो गुण प्रधान है उसकी आकृति भी डरावनी होगी किन्तु जिसका हृदय सौम्य है, उसकी आकृति भी सौम्य होगी। इसीलिए आचार्य ने कहा कि सदगृहस्थ के चेहरे पर शांति और प्रसन्नता झलकनी चाहिए।

(३३) परोपकारी

गृहस्थ अपने सुख दुःख की चिन्ता न कर दूसरे के सुख दुःख की चिन्ता करता है। वह अपना बलिदान करके भी दूसरों की भलाई करना चाहता है। अपना पेट तो सभी भर लते है पर दूसरों का जो पेट भरता है वह इंसान है। सदगृहस्थ के मानस मे यह उमंग होती है—कब मुझे ऐसा सुनहरा अवसर प्राप्त हो कि मैं दूसरों के लिए कुछ कर सकूं। वह दूसरों का उपकार करके भूल जाता है, किन्तु यदि उस पर कोई उपकार करता है तो वह उसे जीवन भर स्मरण रखता है। उसमें प्रतिफल की कामना नहीं होती और न अहंकार ही होता है। केवल कर्तव्य भावना ही प्रमुख होती है।

(३४) षड्रिपुओं को जीतने वाला

शत्रु दो प्रकार के हैं—एक बाह्य और दूसरा अन्तरंग। अन्तरंग शत्रुओं से ही बाह्य शत्रु पैदा होते हैं। अन्तरंग शत्रु छह हैं—काम क्रोध लोभ मोह मद और मात्सर्य। ये ही मुख्य शत्रु हैं। जो विजय का इच्छुक है जिसके अन्तर्मानस में विजय की भावना लहरा रही है उसे इन अन्तरंग शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने का प्रयास करना चाहिये।

काम यह दुर्जेय शत्रु है। यह शत्रु मन में रहता है जिससे व्यक्ति

प्यारा वनाओ। मेरे से कोई भी ईर्ष्या द्वेष और प्यार न करे। मैं ममार
मधु से भी अधिक मीठा वनकर रहूँ। मेरा सर्वत्र सम्मान हो। आदर हो।

लेकिन लोकप्रियता केवल स्तुति और प्रार्थना करने से प्राप्त नहीं
होती। उसके लिए तो प्रयत्न करना पडता है। प्रयत्न से ही व्यक्ति लोकप्रि
वनता है। राम के लिए प्रियदर्शन और सम्राट अशोक के लिए प्रियदर्शी
शब्द व्यवहृत हुआ है। जब व्यक्ति सद्गुणो से मण्डित होता है तभी उसे
लोकप्रियता प्राप्त होती है।

लोकप्रिय वनने के लिए सेवा सहयोग, मधुर व्यवहार, नम्रता
आदि अपेक्षित है। लोकप्रियता न पैसो से खरीदी जा सकती है और न
सत्ता से ही प्राप्त होती है। किन्तु वह सदगुणो से और समर्पण से प्राप्त
होती है।

(३०) लज्जाशील

लज्जा एक प्रकार का मानसिक सकोच है। किसी व्यक्ति का जीवन
परम्परा, कुल आदि अत्यन्त गौरवपूर्ण रहा हो वह व्यक्ति कभी कोई
अनुचित कार्य करने के लिए तत्पर होता है, उस समय उसके अन्तर्मानस
मे ये विचार लहरियाँ उदबुद्ध होती हैं कि यह कार्य मेरे गौरव के प्रतिकूल
है। इस प्रकार दुष्कर्म अथवा पापकृत्य करते समय उसे लज्जा आती है।

भगवान महावीर ने यह स्पष्ट कहा है—श्रमण वेश धारण कर
धर्म के नाम पर हिंसा करते हैं, जीवो की विराधना करते है, उन्हें देखकर
हमारे मन मे लज्जा आती है। देखो! यह धर्म के नाम पर किस प्रकार
जीवो की विराधना कर रहा है।

लज्जा जिसे लाज भी कहा जाता है, वह बुरे कार्यों से होनी
चाहिए। जिसकी आँख मे लाज है वह कभी भी बुरे कार्य नही करता।
बेशर्म निर्लज्ज व्यक्ति घृणा की दृष्टि से देखा जाता है। 'लाज सुधारे
काज' जो कहावत है वह बडी ही महत्त्वपूर्ण है।

(३१) दयावान

जो सद्गृहस्थ लज्जावान् होगा उसके हृदय मे दया की भावना भी
होगी। सन्त तुलसीदास जी ने दया को धर्म का मूल कहा है। दयारूपी
नदी के किनारे ही धर्मरूपी वृक्ष लहलहाते हैं। दयालु व्यक्ति किसी दुखी
पुरुष को देखकर सोचता है—जैसी पीडा इसे हो रही है, वैसी ही मुझे भी
होती है। इसलिए मैं दूसरो को क्या कष्ट दूँ। सद्गृहस्थ दूसरे को दुखी
देखकर काँप उठता है। वह स्वय आकुल व्याकुल हो जाता है। उसका

सत्कर्म की ओर अग्रसर नहीं हो पाता। काम शूल की तरह चुभने वाला तथा विष की तरह मारने वाला है और आशीविष की तरह क्षणमात्र में भस्म करने वाला है।[1] थेरीगाथा ग्रन्थ में लिखा है कि विष-बुझ बाण के सदृश और तीखे भालों के सदृश कोई पीड़ादायक वस्तु है तो काम है। काम ऐसा भस्म रोग है जिससे कभी भी तृप्ति नहीं होती। जिसने काम पर विजय की है उसने अन्तरंग शत्रु पर विजय की है।

काम से ही द्वितीय अन्तरंग शत्रु क्रोध उत्पन्न होता है। काम अन्दर ही अन्दर जलाता है तो क्रोध अन्दर और बाहर दोनों को जलाता है। क्रोधी व्यक्ति स्वयं की शान्ति को तो नष्ट करता ही है किन्तु परिवार, समाज और राष्ट्र की शान्ति को भी नष्ट करता है। क्रोध में विवेक नष्ट हो जाता है जिससे वह निर्णय नहीं कर पाता। क्रोधी की शक्ति और प्रतिभा अग्नि पर पड़े हुए नमक की तरह चर चर कर के जलती है।[3] क्रोध मन का धुँआ है। क्रोध से मोह की भी उत्पत्ति होती है। गीताकार ने भी कहा है—क्रोधाद् भवति संमोहः। मोह बुद्धि पर आवरण डाल देता है। उससे स्मृति विभ्रम हो जाता है। स्मृति विभ्रम से बुद्धि का नाश होता है। मानव पतित हो जाता है। आचार्य अक्षपाद ने भी न्याय दर्शन में कहा है—राग-द्वेष आदि विकारों में मोह अधिक दुष्ट और हानिकारक है। मोह के पश्चात् लोभ है। लोभ को पाप का बाप बताया है। लोभ के कारण व्यक्ति जग में बड़े दुष्कृत्य करता है। कुछ पैसों के लाभ से ही कसाई निरपराधी पशुओं को मार देता है। इसलिए लोभरूपी अन्तरंग शत्रु पर विजय प्राप्त करने का प्रयास किया जाता है। लोभ की तरह मद यानि अहंकार भी पतन का कारण है। अहंकार पुण्य के रस को सोख लेता है। अहंकार के लिए जो साधना की जाती है वह साधना राख में घी डालने के सदृश है।

इसी अन्तरंग शत्रु मात्सर्य है। मात्सर्य का अर्थ ईर्ष्या है। दूसरे की अभिवृद्धि को निहार कर मन में आनन्द होना चाहिए पर उसके स्थान पर होता है मन में ईर्ष्या और डाह।

सद्गृहस्थ इन षड्रिपुओं पर विजय प्राप्त करता है।

---

1. [illegible] कामा विस कामा कामा [illegible]। —[illegible]
   [illegible]। —[illegible]
3. [illegible]

है। सद्गृहस्थ में मानवता के गुण होते हैं और चतुर्थ गुणस्थानवर्ती सम्यग्-दृष्टि में सम्यक्त्व का दिव्य आलोक होता है। पंचम गुणस्थानवर्ती श्रावक में देशरूप से व्रतों का आचरण होता है और षष्ठ गुणस्थान में तथा अगले गुणस्थानों में महाव्रतों का पूर्णरूप से पालन होता है।

श्राद्ध विधि आदि ग्रन्थों में मार्गानुसारी के पैंतीस गुणों के स्थान पर संक्षेप में इक्कीस गुण भी बताये हैं। वे इस प्रकार हैं—(१) उदार हृदयी (२) यशवन्त, (३) सौम्य प्रकृति वाला (४) लोकप्रिय (५) अक्रूर प्रकृति वाला (६) पापभीरु (७) धर्म के प्रति श्रद्धावान, (८) चतुर (९) लज्जावान (१०) दयाशील (११) मध्यस्थ वृत्ति वाला, (१२) गम्भीर (१३) गुणानुरागी, (१४) धर्मोपदेशक (१५) न्यायी (१६) शुद्ध विचारक (१७) मर्यादायुक्त व्यवहार करने वाला (१८) विनयशील (१९) कृतज्ञ (२०) परोपकारी (२१) सत्कार्य में दक्ष।

इन गुणों का धारक श्रावक निश्चित रूप से अपने जीवन निर्माण के साथ समाज और राष्ट्र का भी उत्थान करता है।

४ व्यसनमुक्त-जीवन

राष्ट्र की अमूल्य निधि

स्वाधीनता प्राप्ति के पश्चात भारतीयो का उत्तरदायित्व अ यधिक बढ़ गया है। देश के सामन अनेक विकट समस्याएँ हैं। उन सभी समस्याओ मे सबसे बडी समस्या है राष्ट्र की नतिक चारित्रिक दृष्टि स रक्षा करना। वही राष्ट्र की अमूल निधि है। राष्ट्र का सामूहिक विकास इसी आदर्शोंमुखा उत्कर्ष पर निभर है। पवित्र चरित्र का निर्माण करना और उसकी सुरक्षा करना सनिक रक्षा से भी अधिक आवश्यक है। भौतिक रक्षा की अपक्षा आध्यात्मिक परम्परा का रक्षण सावकालिक महत्त्व को लिए हुए है। आर्थिक दृष्टि से अत्यन्त समुन्नत राष्ट्र भी नतिकता व चारित्रिक उत्कर्ष क अभाव म वास्तविक सुख शान्ति का अनुभव नही कर सकता। अथमूलक उन्नति से वयक्तिक जीवन का भौतिक समृद्धि की दृष्टि म समाज म भल ही उच्चतम स्थान प्राप्त हो किन्तु जन-जीवन उन्नत-समुन्नत नही हो सकता।

भौतिक उन्नति स वास्तविक सुख शान्ति नहीं

भारत म अतीत काल से ही मानवता का शाश्वत मूल्य रहा है। समाजमूलक, आध्यात्मिक परम्परा के प्रबुद्ध तत्त्व चिन्तको ने मानवा का वराग्यमूलक त्यागपूर्ण जीवन व्यतीत करन की प्रबल प्ररणा दी जिसस मानवता की लहलहाती लता विश्व मण्डप पर प्रसरित होकर राष्ट्रीय विमल विचारा के तथा पवित्र चरित्र के सुमन खिला सके और उन सुमना की सुमधुर सौरभ जन जीवन म ताजगी स्फुरणा और अभिनव जागति का सचार कर सके।

राजनतिक श्रम से अर्जित स्वाधीनता की रक्षा धम नीति सभ्यता सस्कृति और आत्मलक्ष्यी सस्कारा को जीवन म मूतरूप दन स ही हो सकती है। केवल नव निर्माण के नाम पर विशाल बाँध, जल से पूरित

सरोवर, लम्बे चौड़े राजमार्ग और सभी सुख सुविधा सम्पन्न भवनों का निर्माण करना अपर्याप्त है और न केवल व्यसनों को प्रोत्साहन देना ही पर्याप्त है। जब तक जीवन व्यसनों से पूर्ण से मुक्त नहीं होगा तब तक राष्ट्र का और जीवन का सच्चा व अच्छा निर्माण नहीं हो सकता। एतदर्थ ही गीर्वाण गिरा के एक यशस्वी कवि ने कहा है—

मृत्यु और व्यसन इन दोनों में से व्यसन अधिक हानिप्रद है। क्योंकि मृत्यु एक बार ही कष्ट देती है पर व्यसनी व्यक्ति जीवन भर कष्ट पाता है और मरने के पश्चात् भी वह नरक आदि में विभिन्न प्रकार के कष्टों का उपभोग करता है। जबकि अव्यसनी जीते जी भी यहाँ पर सुख के सागर पर तैरता है और मरने के पश्चात् स्वर्ग के रंगीन सुखों का उपभोग करता है।[1]

व्यसन की परिभाषा

व्यसन शब्द संस्कृत भाषा का है जिसका तात्पर्य है 'कष्ट'। यहाँ हेतु में परिणाम का उपचार किया गया है। जिन प्रवृत्तियों का परिणाम कष्टकर हो उन प्रवृत्तियों को व्यसन कहा गया है। व्यसन एक ऐसी आदत है जिसके बिना व्यक्ति रह नहीं सकता। व्यसनों की प्रवृत्ति अचानक नहीं होती। पहले व्यक्ति आकर्षण से करता है फिर उसे करने का मन होता है। एक ही कार्य को अनेक बार दोहराने पर वह व्यसन बन जाता है।

व्यसन बिना बोये हुए ऐसे विष वृक्ष है जो मानवीय गुणों के गौरव को रौरव में मिला देते हैं। ये विष वृक्ष जिस जीवन भूमि पर पैदा होते हैं उसमें सदाचार के सुमन खिल ही नहीं सकते। मानव में ज्यों ज्यों व्यसनों की अभिवृद्धि होती है त्यों त्यों उसमें सात्त्विकता नष्ट होने लगती है। जैसे अमरबेल अपने आश्रयदाता वृक्ष के सत्त्व को चूसकर उसे सुखा देती है वैसे ही व्यसन अपने आश्रयदाता (व्यसनी) को नष्ट कर देते हैं। नदी में तेज बाढ़ आने से उसकी तेज धारा से किनारे नष्ट हो जाते हैं, वैसे ही व्यसन जीवन के तटों को काट देते हैं। व्यसनी व्यक्तियों का जीवन नीरस हो जाता है पारिवारिक जीवन संघर्षमय हो जाता है और सामाजिक जीवन में उसकी प्रतिष्ठा धूमिल हो जाती है।

---

१ व्यसनस्य मृत्योश्च व्यसनं कष्टमुच्यते।
व्यसन्यधोऽधो व्रजति स्वर्यात्यव्यसनी मृतः ॥

व्यसनों की तुलना

व्यसनों की तुलना हम उस दलदलयुक्त गहरे गर्त से कर सकते हैं जिसमें ऊपर हरियाली लहलहा रही हो, फूल खिल रहे हों, पर ज्यों ही व्यक्ति उस हरियाली और फूलों से आकर्षित होकर उन्हें प्राप्त करने के लिए आगे बढ़ता है त्यों ही वह दल दल में फँस जाता है। व्यसन भी इसी तरह व्यक्तियों को अपनी ओर आकर्षित करते हैं, अपने चित्ताकर्षक रूप से मुग्ध करते हैं, पर व्यक्ति के जीवन को दलदल में फँसा देते हैं। व्यसन व्यक्ति की बुद्धिमत्ता, कुलीनता सभी सद्गुणों को नष्ट करने वाला है।

व्यसनों के अठारह प्रकार

यों तो व्यसनों की संख्या का कोई पार नहीं है। वैदिक ग्रन्थों में व्यसनों की संख्या अठारह बताई है।[1] उन अठारह में दस व्यसन कामज हैं और आठ व्यसन क्रोधज हैं। कामज व्यसन हैं—(१) मृगया (शिकार) (२) अक्ष (जुआ), (३) दिन का शयन (४) परनिन्दा (५) परस्त्री-सेवन (६) मद (७) नृत्य सभा (८) गीत-सभा, (९) वाद्य की महफिल, (१०) व्यर्थ भटकना।

आठ क्रोधज व्यसन हैं—(१) चुगली खाना, (२) अति साहस करना, (३) द्रोह करना (४) ईर्ष्या (५) असूया (६) अर्थ दोष (७) वाणी से दण्ड, और (८) कठोर वचन।

व्यसन के सात प्रकार

जैनाचार्यों ने व्यसन के मुख्य सात प्रकार[2] बताये हैं—(१) जुआ (२) मांसाहार (३) मद्यपान, (४) वेश्यागमन, (५) शिकार (६) चोरी, (७) परस्त्री गमन। इन सातों व्यसनों में अन्य जितने भी व्यसन हैं उन सभी का अन्तर्भाव हो जाता है।

---

१ दश कामसमुत्थानि तथाऽष्टौ क्रोधजानि च।
व्यसनानि दुरन्तानि यत्नेन परिवर्जयेत्॥
मृगयाक्षो दिवास्वप्नः परिवादः स्त्रियो मदः।
तौर्यत्रिकं वृथाट्या च कामजो दशको गणः॥
पैशुन्यं साहसं द्रोह ईर्ष्यासूयार्थ दूषणम्।
वाग्दण्डजं च पारुष्यं क्रोधजोऽपि गणोऽष्टकः॥

२. द्यूतं च मांसं च सुरा च वेश्या पापर्द्धि चौर्य परदारसेवा।
एतानि सप्तव्यसनानि लोके घोरातिघोरं नरकं नयन्ति॥

कुछ सज्जन यह कुतर्क देते हैं कि हम स्वयं पशुओं को नहीं मारते हैं किन्तु हम तो बाजार से खरीद कर मांस लाकर खाते हैं इसलिए हमें पाप नहीं लगता। किन्तु आचार्य मनु ने कहा है—'जो मांसाहार का अनुमोदन करता है, मृत पशुओं के अंगों का छेदन भेदन करता है, मारने वाला, मांस आदि खरीदने वाला, बेचने वाला, मांस पकाने वाला, मांस परोसने वाला और मांस खाने वाला—ये सभी घातक हैं।[1] वे सभी प्राणवध के भागी हैं। यदि मांसाहारी न हों तो मूक जीवों की हिंसा कौन करेगा? मांसाहारी मानवों ने ही परमात्मा या देवी देवताओं के नाम पर हिंसाएं प्रारम्भ कीं। पर उन्हें सोचना चाहिए जैसे हम अपना जीवन प्यारा है वैसे ही अन्य प्राणियों को भी प्यारा है।

एक बार वैज्ञानिकों का सम्मेलन लन्दन में हुआ। सम्मेलन में एक वैज्ञानिक ने यह प्रस्ताव रखा कि जिस प्राणी को हम बना नहीं सकते उसे नष्ट या बिगाड़ने का हमें अधिकार नहीं है। इस पर अन्य वैज्ञानिकों ने अपने तर्क प्रस्तुत किये। उत्तर में उस वैज्ञानिक ने कहा—आप एक मक्खी पर प्रयोग कर देखिए। सभी के सामने एक मक्खी की एक पांख तोड़ दी गई जिससे वह मक्खी उड़ न सकी। वैज्ञानिकों ने अपनी प्रतिभा का चमत्कार दिखाया और नकली पांख बनाकर मक्खी को चिपका दिया गया तथापि लाख प्रयास करने पर भी वह उड़ न सकी। अन्त में सभी ने एक स्वर से प्रस्ताव पारित किया कि जब हमारे अन्दर में किसी प्राणी को बनाने की शक्ति नहीं है तो उसे बिगाड़ने या मारने का अधिकार भी नहीं है। ऐसा करने पर हम स्वतः अपराधी बनते हैं।

शाकाहार और मांसाहार

कुछ लोग यह समझते हैं कि मांस खाने से शरीर में शक्ति का संचार होता है, यह भ्रम है। सत्य तो यह है कि मांस खाने से शक्ति का संचार नहीं होता। प्रारम्भ में कुछ जोश-सा प्रतीत होता है किन्तु वह शीघ्र नष्ट हो जाता है उसमें शक्ति का अभाव होता है। शाकाहार से जितनी शक्ति प्राप्त होती है उतनी मांसाहार से कभी नहीं हो सकती।

सन् १९[illegible] में [illegible] और [illegible] की कान्फ्रेंस हुई। उसमें

---

1 अनुमन्ता विशसिता निहन्ता क्रयविक्रयी।
संस्कर्ता चोपहर्ता च खादकश्चेति घातकाः॥ —मनुस्मृति [illegible]

खाना तो दूर रहा, मांस लाना भी अपराध माना गया है। इसलिए आचार्य वसुनन्दी ने[1] तो मांस को विष्टा के समान गन्दा, छोटे छोटे कीड़ों से युक्त दुर्गन्धवाला माना है।

मांसाहार से हानि

यू० एस० ए० के कोनगट यूनिवर्सिटी के वैज्ञानिक ल्याड ने लिखा है—मांसाहार में कैल्शियम और कार्बोहाइड्रेटस नहीं होते एतदर्थ मांस खाने वाले चिड़चिड़े, क्रोधी, निराशावादी और असहिष्णु होते हैं। शाकाहार में ये दोनों तत्त्व अधिक मात्रा में होते हैं जिससे शाकाहारी प्रसन्नचित्त, शान्तिप्रिय, आशावादी और कष्टसहिष्णु होते हैं। हैग ने लिखा है—इन [illegible] का मुकाबला फुर्ती, सहनशक्ति आदि में बहुत ही कम लोग कर सकते हैं, क्योंकि उनका गुजारा दूध और खजूर पर है।

डा० हेग का मन्तव्य है—मांस और शराब के सेवन से मानव के स्नायु इतने अधिक कमजोर हो जाते हैं कि वह जीवन से निराश होकर आत्महत्या करने को भी उतारू हो जाता है।

सभी धर्म प्रवर्तकों ने नैतिक दृष्टि से मांसाहार को निन्दनीय और हिंसाकारक माना है। मांसाहार करने वाले को जघन्य दृष्टि से देखा है। सामाजिक, नैतिक, धार्मिक व स्वास्थ्य की दृष्टि से भी मांसाहार हानिकर है। आध्यात्मिक दृष्टि से ही नहीं, आर्थिक दृष्टि से भी मांसाहार अनुपयुक्त है। मांसाहार घोर तामसिक आहार है जो जीवन में अनेक विकृतियाँ पैदा करता है। इसलिए मांसाहार की परिगणना व्यसनों में की गई है।

(३) मद्यपान

जितने भी पेय पदार्थ जिनमें मादकता है विवेक-बुद्धि को नष्ट करते हैं या विवेक बुद्धि पर परदा डाल देते हैं[2] वे सभी मद्य के अन्तर्गत आ जाते हैं। मदिरा अनेक प्रकार से बनाई जाती है। इसलिए भंग, गांजा, चरस, अफीम, चुरुट, सिगरेट, बीड़ी, तम्बाकू, खाने किमाम [illegible] [illegible] कम पाए विवेक [illegible] और विवेकी मद्य हैं, वे सभी मद्य [illegible]

---

१ [illegible] ।
[illegible] भाग ॥ —वसुनन्दी श्रावकाचार [illegible]
२ [illegible] ।

पान म ही आते हैं। मदिरापान ऐसा तीक्ष्ण तीर है कि जिस किसी को लग जाता है उसका वह सवस्व नष्ट कर देना है। मदिरा की एक एक बूद जहर की बूद के सदृश है। मानव प्रारम्भ म चिन्ता को कम करने के लिए मदिरापान करता है पर धीरे धीरे वह स्वय ही समाप्त हो जाता है। नगर या गाँव बिजली का तार है। जिसे तन स धन स और जीवन के आनन्द से बरबाद होना हो उसके लिए मदिरा की एक बोतल ही पर्याप्त है। मदिरा की प्रथम घूट मानव को मूर्ख बनाती है द्वितीय घूंट पागल बनाती है तृतीय घूंट से वह दानव का तरह कार्य करने लगता है और चौथी घूंट स वह मुर्दे की तरह भूमि पर लुढ़क पड़ता है। आज तक विराटकाय समुद्र ने भी जितने मानवों को नहा निगला है, उतने मानव मदिरा ने निगल दिये हैं। मदिरापान स नकली प्रसन्नता प्राप्त होना है और वह असली उदासी स भी खराब है।

मदीरालय दिवालिया बैंक

एक पाश्चात्य चिन्तक ने मदिरालय की तुलना दीवालिया बैंक से की है। मदिरालय एक ऐसे दीवालिया बैंक क सदृश है जहाँ तुम अपना धन जमा करा देते हो और खो देते हो। तुम्हारा समय तुम्हारा चरित्र भी नष्ट हो जाना है। तुम्हारा स्वतन्त्रता समाप्त हो जाती है। तुम्हारे घर का आनन्द समाप्त हो जाता है। साथ ही अपनी आत्मा का भी सव नाश कर देते हो।[1]

मदिरा एक ऐसा पदार्थ है जो किसी भी दृष्टि स पेय नहीं है। वह सड़ा हुआ पदार्थ है। शकरायुक्त पदार्थ जसे अंगूर महुआ जौ गेहूँ मक्का गुड आदि वस्तुओं को सडाकर निर्माण किया जाता है। मदिरा का सत्त्व 'आल्कोहल' तथा सडा हुआ पदार्थ वाश कहलाता है। उसे भट्टी म उबालने से स्पिरिट की तरह तेज मदिरा बनती है। मदिरा को ही शराब कहते हैं जो वस्तुत सडाव=सड़ा हुआ पानी है। शराब का साड खमीर पैदा करने के लिए उपयोग म लिया जाता है जिस मे अत्यन्त दुर्गन्ध आती

---

१ The bar room as a bankrupt bank you deposit your money and lose it your time and lose it your character and lose it your manly independence and lose it your home comfort and lose it your self-control and lose it your children s happiness and lose it your own soul and lose it

है। उस सड़ांध में शरीर के कीड़े कुलबुलाते रहते हैं और उन कीड़ों का अर्क मदिरा है। एतदर्थ ही आचार्य मनु ने[1] कहा—मदिरा किसी मानव के पान योग्य नहीं है।

मदिरा पोषक नहीं शोषक

शरीर को निर्माण के लिए आहार की आवश्यकता है। किन्तु मदिरा में ऐसा कोई पोषक तत्त्व नहीं है जो शरीर के लिए आवश्यक हो। अपितु उसमें सड़ाने से ऐसे जहरीले तत्त्व प्रविष्ट हो जाते हैं जिनसे शरीर पर घातक प्रभाव पड़ता है। मदिरा में आल्कोहल होता है। वह इतना तेज होता है कि सौ बूंद पानी में एक बूंद आल्कोहाल मिला हो और उसमें एक छोटा सा कीड़ा गिर जाए तो शीघ्र ही मर जाता है।

डा० सफनकी का अभिमत है कि मानव के रक्त की हजार बूंदों में मदिरा की दो बूंद मिलते ही उसकी बोली बन्द होने लगती है। यदि हजार बूंदों में केवल छह बूंद आल्कोहल हो तो आदमी मर जाता है। बैजनाथ का अभिमत है—मदिरा की एक घूंट मुंह में लेकर कुछ समय तक रखते ही उस व्यक्ति की जीभ और मुंह चरचराने लगेंगे और मुंह का सारा भीतरी हिस्सा सफेद हो जाएगा। उसके पश्चात कोई भी पदार्थ खाने पर उसके स्वाद का किंचित भी पता न लगेगा।

मदिरा टानिक नहीं

कितने ही लोगों की यह भ्रान्त धारणा है कि मदिरा एक टानिक है जो शारीरिक थकान को दूर करती है, सुस्ती मिटाकर शरीर में चुस्ती पैदा करती है। इस प्रकार के मिथ्या विज्ञापन से लोगों को मदिरा पीने के लिए प्रेरणा दी जाती है। किन्तु वस्तुतः मदिरा पीने वालों में प्रारम्भ में जोश आता है पर वे बहुत ही शीघ्र थक जाते हैं। उनकी शारीरिक शक्ति कम हो जाती है। क्योंकि मदिरा चाहे किसी भी किस्म की हो उसमें किसी भी प्रकार का पोषक पदार्थ नहीं है। वरन लिबिग का मानना है कि बियर, वाइन या अन्य मदिरा शरीर में जाकर रक्त का रूप ग्रहण नहीं कर सकती, स्नायुओं को किसी भी प्रकार का सहारा नहीं दे सकती।

मदिरा से उत्तेजना

किन्हीं स्मृतियों का यह मन्तव्य है कि भोजन से पूर्व मदिरा का

1 [illegible] मद्यं मांसं [illegible]।
[illegible] ब्राह्मणेन [illegible] ॥ —मनुस्मृति अ० ११।[illegible]

पान कर लिया जाय तो भूख मिट जाता है। पर सत्य तथ्य यह है कि मदिरापान से पेट की ज्ञानवाही और क्रियावाही नाडियाँ निश्चेष्टित हो जाती हैं जिसके कारण उस भूख का भान नहीं रहता। लाभ की अपेक्षा हानि अधिक होती है। मदिरा सेवन करने वाले का पाचन सस्थान विकृत हो जाता है। मदिरा से शरीर पुष्ट नहीं होता। किन्तु शरीर म उष्मा बढ जाता है। आहार का शरीर म पाचन होता है पर मदिरा का पाचन नहीं होता, वह ज्यो की त्यो निकल जाती है। आहार से रक्त शुद्ध होता है और मदिरा से विकृत होता है। मदिरा पान स क्षणिक उत्तेजना होती है। जैसे कोई व्यक्ति चल रहा हो और उसे यह ज्ञान हो कि पीछे से पागल कुत्ता दौडा हुआ आ रहा है तो वह दौडने लगेगा। पर उसका दौडना क्षणिक उत्तेजनायुक्त होगा। जब उसे ज्ञान हो जाएगा कि कुत्ता इधर नहीं आ रहा है तो वह स्थिर हो जाएगा। वैसे ही नशीले पदार्थों के सेवन स उत्तेजना आती पर ज्यो ही नशा कम होता है त्यो ही उसके समस्त अगोपाग शिथिल हो जाते हैं।

मदिरा पान सन्निपात के समान

भल्लट नामक विद्वान ने मदिरा पान करने वाले की तुलना सन्निपात स ग्रसित व्यक्ति से की है। जैसे उसमे विकलता होती है वह भूमि पर लुढक पडता है, अनुचित बोलता है, सन्निपात के सभी लक्षण मदिरापान करने वाले मे पाये जाते हैं।[1]

मदिरा के नशे म व्यक्ति की दशा पागल व्यक्ति की तरह होती है। वह पागल की तरह हसता है गाता है नाचता है नाचता है घूमता है, दौडता है और मूर्च्छित हो जाता है। कभी वह विलाप करता है कभी रोता है कभी अस्पष्ट गुनगुनाने लगता है कभी चीखता है कभी मस्तक धुनने लगता है। इस तरह नानाविध क्रियाए वह पागलो की तरह करने लगता है।[2] इसीलिए कहा है—मद्यपान स मानव की बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है। एक पाश्चात्य चिन्तक ने भी लिखा है—जब मानव म मद्यपान का दुर्व्यसन प्रविष्ट होता है तो उसकी बुद्धि उससे विदा ले लेती है।[3]

---

१ वैकल्यं धरणीपातमयथोचितजल्पनम्।
सन्निपातस्य चिह्नानि मद्यं सर्वाणि दर्शयेत्॥

२ हसति, नृत्यति गायति वल्गति भ्रमति धावति मूर्च्छति, शोचते।
पतति रोदिति जल्पति गद्गदं धमति धाम्यति मद्यमदातुर॥

३ When drink enters wisdom departs

मदिरा के दोष

आचार्य हरिभद्र ने[1] मद्यपान करने वाले व्यक्ति में सोलह दोषों का उल्लेख किया है। वे दोष इस प्रकार हैं—(१) शरीर विद्रूप होना (२) शरीर विविध रोगों का आश्रयस्थान होना (३) परिवार से तिरस्कृत होना (४) समय पर कार्य करने की क्षमता का न रहना (५) अन्तर्मानस में द्वेष पैदा होना (६) ज्ञान-तन्तुओं का धुंधला हो जाना (७) स्मृति का लोप हो जाना (८) बुद्धि भ्रष्ट होना (९) सज्जनों से सम्पर्क समाप्त हो जाना (१०) वाणी में कठोरता आना (११) नीच कुलोत्पन्न व्यक्तियों से सम्पर्क (१२) कुलहीनता (१३) शक्ति ह्रास (१४) धर्म (१५) अर्थ (१६) काम—तीनों का नाश होना।

महाकवि कालिदास ने एक मदिरा बेचने वाले से पूछा—तुम्हारे पात्र में क्या है? मदिरा बेचने वाला महान् दार्शनिक था। उसने दार्शनिक शब्दावली में कहा—कविवर! मेरे प्रस्तुत पात्र में आठ दुर्गुण हैं—(१) मस्ती (२) पागलपन (३) कलह (४) धृष्टता (५) बुद्धि का नाश (६) सच्चाई और योग्यता से नफरत (७) खुशी का नाश और (८) नरक का मार्ग।

एक मनोवैज्ञानिक ने बताया है कि मदिरापान से असन्तुष्ट व्यक्ति सुख प्राप्त करने का प्रयास करता है, निरुत्साही व्यक्ति साहस, ढुलमुल मनोवृत्ति वाला आत्मविश्वास और इसी तरह उदास व्यक्ति सुख की खोज करता है किन्तु सभी को मिलता है इसके विपरीत। उनका सब कुछ नष्ट हो जाता है।[2]

जितने भी दुर्गुण हैं वे मदिरापान से अपने आप चले आते हैं। ऐसा कोई दुर्गुण और अपराध नहीं है जो मदिरापान से उत्पन्न न होता हो।[3]

महात्मा गांधी ने कहा—मैं मदिरापान को तस्कर कृत्य और वेश्या

---

१ हरिभद्रीय अष्टक १८।१५।१६

२ 'In the bottle discontent seeks for comfort, cowardice for courage, bashful for confidence, sad for joy and all find ruin.'

३ Habitual intoxication is the epitome of every crime.

—Gerrold.

पतित से भी अधिक निकृष्ट मानता हूँ क्योंकि मैं दोनों पुरुषों का पैसा करने वाला मानता हूँ।

मदिरापान और शुद्धि

मदिरा के सेवन से स्वास्थ्य चौपट होता है। मन मस्तिष्क और बुद्धि का विनाश होता है। मदिरापान से उन्मत्त होकर मानव निकृष्ट कार्यों को करता है जिससे उसका मनोभाव और व्यवहार सभी विकृत हो जाते हैं। आचार्य मनु ने मदिरा को अन्न का मल कहा है। मल को पाप भी कहा है। मल मूत्र जैसे अपवित्र पदार्थ हैं वैसे ब्राह्मणों के लिए अखाद्य है, वैसे ही मदिरा भी है।[1] व्यास ने कहा है—मदिरा का जो मानव सेवन करता है वह पापी है। यदि वह पाप से मुक्त होना चाहता है तो मदिरा को तेज गरम करके पिये जिससे उसका सारा शरीर जल करके नष्ट हो जाएगा।[2]

ब्राह्मण के लिए यह निर्देश है कि यदि ब्राह्मण मदिरा सेवन करने वाले व्यक्ति की गंध ले ले तो उसे शुद्ध होने के लिए तीन दिन तक गरम जल पीना चाहिए उसके बाद तीन दिन गरम दूध का सेवन करे और उसके बाद तीन दिन तक केवल वायु का सेवन करे तब वह शुद्ध होगा।[3]

बौद्ध साहित्य में

बौद्ध जातकों[4] में मदिरा को विषैले सर्प के सदृश माना है। जैसे विषैले सर्प से लोग दूर भागते हैं वैसे ही मदिरा से दूर भागना चाहिए। सुरापान के दुष्परिणाम के बारे में जातक[5] में वर्णन है कि कुछ बौद्ध श्रमण जहाँ मदिरापान चल रहा था वहाँ पर पहुँच गये। उन्होंने मदिरा को ग्रहण कर लिया जिसके परिणामस्वरूप वे उन्मत्त होकर नाचने लगे। श्रमणचर्या का

---

१ सुरा वै मलमन्नानां पाप्मा च मलमुच्यते।
तस्माद् ब्राह्मणराजन्यौ वैश्यश्च न सुरां पिबेत्॥

—मनुस्मृति ११।९३

२ महाभारत शान्तिपर्व १६५।८७ ८८
द्रष्टव्य—याज्ञवल्क्य स्मृति प्रायश्चित्ताध्याय १६५।८७ ४८

३ महाभारत शान्ति पर्व १६५।७६ ७७

४ जातक पंचम खण्ड गा० ५६ पृ० १०७

५ जातक, प्रथम खण्ड, पृ० ४७१

विस्मित हो गये। जब उन्हें होश आया तब वे मन ही मन अत्यन्त व्यथित हुए—अरे हमने यह अनुचित कार्य किया। वे दुखी होकर रोने लगे।[1]

सुरापान प्रत्येक दृष्टि से निन्दनीय है। कुम्भ जातक में उल्लेख है—देवराज इन्द्र ने मदिरा के घड़े को हाथ में लिया और घड़े का परिचय देते हुए कहा—इसमें वह अद्भुत वस्तु है जिसको पीने से पथ्य पर लड़खड़ाते हैं, गड्ढे में, तालाब में और गन्दे स्थान पर गिरने पर भी मन में आह्लाद का अनुभव किया जाय जिसके कारण अभक्ष्य वस्तु खाये जाय उस पेय का नाम है मदिरा। तुम इसे ग्रहण करो। इसका पान कर मानव धधकती हुई ज्वाला में गिर पड़ते हैं। इस प्रकार वे बेमौत मरते हैं। शृगाल उसे चीरकर खा जाते हैं। सम्पत्ति नष्ट हो जाती है। अतः इसे ग्रहण करो।

इससे स्पष्ट है कि मदिरा सामाजिक जीवन को अस्त-व्यस्त बनाने वाली है। बौद्ध जातक से यह भी ज्ञात होता है कि बुद्ध युग में मदिरापान का सामूहिक प्रचार था। एक बार बुद्ध संघ की प्रमुख श्राविका विशाखा की पाँच सौ सखियों[3] ने मदिरा का पान किया। विशाखा उन सभी सखियों के साथ तथागत के दर्शन करने पहुँची। मदिरा से उन्मत्त बनी हुई सखियाँ कुछ नाचने लगी परस्पर झगड़ने लगी अभद्र व्यवहार करने लगी। जिससे विशाखा का सिर लज्जा से नत हो गया।

जातक में यह भी लिखा है—जो मदिरापान करते हैं उनकी स्थिति अत्यन्त दयनीय हो जाती है। वे गलियों में घूमने वाले बैल की भाँति इधर-उधर कुछ भी खाते फिरते हैं। अनियन्त्रित होकर नाचते गाते हैं। नि [illegible] म [illegible] हैं। और मूढ़ होकर

[illegible], हैं तो [illegible]

पागल बनकर एक दूसरे के साथ जसा अमानवीय व्यवहार करते हैं उसे देखकर किसे खिन्नता नहीं होती ? कुम्भ[1] जातक म बताया है कि हजारो व्यक्ति, जिनके पास सम्पत्तियाँ अठखेलियाँ कर रही थी व भी मदिरा के नशे म उन्मत्त होकर दरिद्र बन गय। व बरबाद हो गय। जो व्यक्ति कसी भी परिस्थिति हो धम से विमुख नहीं हो सकता, कर्तव्य स च्युत नहीं हो सकता नीति का परित्याग नहीं कर सकता यदि उस व्यक्ति को मदिरा पिला दी जाय तो वह धम का भी परित्याग कर देता है कर्तव्य को भी विस्मृत हो जाता है और नीति का भी छोड देता है। ऐसा कौन सा अकाय है जिस मदिरा पीने वाला न करे।[2]

मदिरा न पियो

मदिरापान एक भीषण दुर्व्यसन है। मानव सोचता है कि इसम रस है इसलिए वह उसका पान करता है पर वह ऐसा रस है कि जीवन के समग्र रस का निचोड लेता है इसलिए भ० महावीर ने कहा 'रस न पीओ।[3] तथागत बुद्ध ने पचशील म मज्ज न पातब्ब मद्यपान न करो—यह सन्देश दिया है। ऋग्वेद के ऋषि ने कहा—मदिरा पीने वाला पापी बन जाता है। इस्लाम धम के पैगम्बर हजरत मुहम्मद ने कहा है—अल्लाह न शराब पर शराब पीने वाला पर पिलाने वाले और किसी तरह उसमे सहयोग देने वालो पर लानत फरमाई है।' महात्मा गाधी न अपने रचनात्मक कार्यों की सूची म नशाबन्दी को भी रखा था।

मदिरापान महान पाप

डा० हावड न लिखा है—यह अत्यन्त मिथ्या धारणा है कि शराब औषधि है और उससे शारीरिक शक्ति प्राप्त होती है वस्तुत शराब किसी रोग की दवा नहीं है चिकित्सा म उसका कोई स्थान नहीं है। शक्स पीयर ने लिखा है मद्य का एक प्याला बुद्धिहीन दूसरा प्याला पागल और तीसरा प्याला मूर्च्छित कर देता है। सेनका ने कहा—शराब पीना कुछ नहीं है स्वेच्छा स पागल बनना है—यह महान् दुर्गुण है महापाप है। इग्लण्ड के प्रधानमन्त्री लायड जाज न कहा—शराब न देश को इतनी हानि पहुँचाई है जितनी हानि दुश्मनो की हजारो पनडुब्बिया न भी नहीं

---

१ कुम्भ जातक जातक पचम खड गा० ४५ पृ० १ ४

२ कुम्भ जातक जातक पचम खड गा ५१ पृ

३ दशवकालिक ५।२।३६

दूर किया जाता है। यह भी द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से चोरी आती है। वस्त्रिया धरोहर को वस्त्रिया कहना, नया को पुराना और पुराना को नई कहना।

कूटसाक्षी

झूठी साक्षी देना भी स्थूल असत्य का पाँचवाँ प्रकार है। किसी प्रलोभन, भय, स्वार्थ या आवेश के कारण किसी दूसरे के लाभ के लिए या स्वयं के लाभ के लिए या दूसरों की हानि के लिये न्यायाधीश या पंच के समक्ष मिथ्या बयान देना, मिथ्या गवाही देना या मिथ्या प्रमाण प्रस्तुत करना। कूट साक्षी में सभी प्रकार की प्रवंचना जो मिथ्या है वह आ जाती है। कूट साक्षी की आचार्य मनु ने निन्दा करते हुए कहा है—वह साक्षी जो पुराना है। वह या तो न्यूनाधिक कहेगा या विकृत हो नरक जायगा, इस तरह वह साक्षी नष्ट होता है। भारतीय मनीषियों ने उसे घृणित और घोरातिघोर पाप कहा है। जो गति ब्राह्मण, स्त्री, बालक के हत्यारे की होती है वही गति कूट साक्षी देने वाले की होती है। श्रावक इस प्रकार के स्थूल मृषावाद से अपने आपको पूर्णतया बचाता है।

स्थूल मृषावाद के पाँच अतिचार

पूर्ण रूप से सावधानी रखने पर भी प्रस्तुत व्रत में जिन दोषों के लगने की सम्भावना रहती है वे मुख्य रूप से पाँच हैं—

१ सहसा अभ्याख्यान—सहसा—बिना किसी कारण के तथा सत्यासत्य का निर्णय किये बिना कषाय से उत्प्रेरित होकर किसी व्यक्ति पर दोषारोपण करना, किसी के प्रति गलत धारणा पैदा करना, सज्जन को दुर्जन, गुणी को अवगुणी, ज्ञानी को अज्ञानी, ब्रह्मचारी को व्यभिचारी कहना आदि।

कितनी ही बार आँखों देखी घटना भी असत्य होती है। फिर सुनी सुनाई बात पर बिना किसी प्रकार का निर्णय किये शीघ्र ही किसी पर कलंक लगा देना सर्वथा अनुचित है। सत्याणुव्रतधारी श्रावक को इस दोष से मुक्त रहना चाहिये।

२ रहस्याभ्याख्यान—किसी की गुह्य बात को किसी के सामने प्रगट कर देना। जब कोई व्यक्ति एकान्त शान्त स्थान में किसी गम्भीर विषय पर चिन्तन कर रहा हो उस समय कल्पना से या अटकलबाजी लगाकर यह ढिंढोरा पीटना कि अमुक विषय पर अमुक प्रकार की मन्त्रणा की जा रही है। केवल अनुमान से ही लोग गलत धारणा बना लेते हैं और उनसे

उमास्वाति ने सहसाभ्याख्यान के स्थान पर न्यासापहार अतिचार लिखा है। अन्य दिगम्बर आचार्यों ने भी उन्ही का अनुसरण किया है। न्यासापहार का अर्थ है—किसी की धरोहर को रखकर इन्कार हो जाना। श्रावक को इन सभी अतिचारों से बचकर सम्यक प्रकार से सत्य का पालन करना चाहिये।

(३) स्थूल अदत्तादान विरमण व्रत

श्रावक का तृतीय व्रत स्थूल अदत्तादान विरमण है। श्रमण के लिये बिना अनुमति के दन्तशोधनार्थ तृण आदि ग्रहण करना भी वर्ज्य माना गया है। किन्तु प्रत्येक व्यक्ति के लिये यह सम्भव नही कि सम्पूर्ण प्रकार की चोरी का मन-वचन काया से त्याग कर दे।

गृहस्थ श्रावक स्थूल अदत्तादान का त्याग करता है। वह यह प्रतिज्ञा ग्रहण करता है कि चाहे सचित्त वस्तु हो चाहे अचित्त वस्तु हो[1] वह दुष्ट अध्यवसायपूर्वक अपने अधिकार से बाहर की अथवा दूसरे के अधिकार की वस्तु को उस वस्तु के अधिकारी की आज्ञा के बिना ग्रहण नही करेगा, क्योंकि ऐसा करना स्थूल अदत्तादान है।

जिसे समाज मे चोरी कहा जाता है जिसके करने से समाज मे व्यक्ति चोर बेईमान या तस्कर कहलाता है जिसे लोग घृणा की दृष्टि से निहारते हैं जो वस्तु सार्वजनिक है जिस वस्तु पर उसका स्वयं का अधिकार नहीं है उस वस्तु को लेकर उसका उपभोग करना स्थूल अदत्तादान है।

स्थूल अदत्तादानविरमण व्रत स्थूल मृषावाद की भाँति दो करण (करूँ नही कराऊँ नही) और तीन योग (मन वचन और काया) पूर्वक होता है।[2]

स्थूल चोरी का परित्याग करने पर श्रावक का जीवन लोक-व्यवहार की दृष्टि से विश्वस्त और प्रामाणिक बन जाता है उसका चारित्रिक बल

---

१ थूलग अदिन्नादाणं समणोवासओ पच्चक्खाइ से अदिन्नादाणे दुविहे पन्नत्ते त जहा—सचित्तादत्तादाण अचित्तादत्तादाण य। —आवश्यकसूत्र तीसरा पाठ

२ तयाणतर च थूलग अदिन्नादाण पच्चक्खाइ दुविह तिविहेण न करेमि न कारवेमि मणसा वयसा कायसा।

—उपासकदशा १। अभयदेववृत्ति पृ० ११ १२

[illegible] जाता है और किसी भी [illegible]
होगी।

किसी की [illegible] है कि [illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]

चोरी के बाह्य कारण

चोरी का प्रथम कारण भोगों के प्रति आसक्ति है। जब मानव इन्द्रियों के भोग भोगना चाहता, अभाव किंवा आर्थिक हीनता उसे सताती है तो वह चोरी की ओर प्रवृत्त होता है। किसी के पास कोई बढ़िया वस्तु देखकर उसे प्राप्त करने के लिए मन मचल उठता है और उसी के लिए व्यक्ति निम्न कोटि के कार्य करने के लिए उत्प्रेरित होता है। सबसे पहले मन में चोरी की भावना उद्बुद्ध होती है फिर वाचिक और कायिक प्रवृत्तियाँ प्रारम्भ होती हैं।

अस्तेय व्रत की सुरक्षा के लिए यह आवश्यक है कि अनावश्यक आवश्यकताएँ कम की जायें अनुचित व गलत उपायों से धन प्राप्त करने की कामनाएँ न की जायें। अधिकांश चोरियाँ आसक्ति और लालसा से प्रेरित होकर की जाती हैं। दूसरा कारण भुखमरी और बेकारी है। तीसरा कारण फिजूलखर्ची है चौथा कारण यश कीर्ति व प्रतिष्ठा की भूख है। पाँचवा कारण स्वभाव है। अशिक्षा और कुसंगति के कारण भी व्यक्ति चोरी करने के लिए विवश होता है।

श्रावक स्थूल चोरी का त्याग करता है।

स्थूल चोरी के प्रकार

स्थूल चोरी के कुछ प्रकार इस तरह हैं—किसी दूसरे के घर में सेंध लगाना, किसी की जेब काटना किसी के घर का ताला तोड़ना या अपनी चाबी लगाना या बिना पूछे किसी दूसरे की गाँठ खोलकर वस्तु निकाल लेना किसी का गड़ा हुआ धन निकाल लेना डाका डालना, ठगना चौर्य बुद्धि से किसी की वस्तु को उठा लेना, और उसे अपने पास रख लेना आदि।

अस्तेय व्रत के अतिचार

अस्तेय व्रत का सम्यक् प्रकार से प्रतिपालन करते हुए भी कभी

प्रमाद या असावधानी से जो दोष लग जाते हैं उन्हें अतिचार[1] कहा है। वे मुख्य रूप से पाँच प्रकार के हैं।

(१) स्तेनाहृत—जानकारी के अभाव में या यह समझकर कि चोरी करने में पाप है पर चोर के द्वारा लायी गयी चोरी की वस्तु खरीदने या घर में रखने में क्या हर्ज है श्रावक चोरी की वस्तु खरीद लेता है पर यह स्मरण रखना चाहिए कि यह अतिचार है।

कितने ही व्यक्तियों की यह भ्रान्त धारणा भी है कि हम मुफ्त में तो कोई वस्तु ले नहीं रहे हैं दाम देकर वस्तु को खरीद रहे हैं उसमें चोरी जैसी क्या बात है। पर उन्हें यह स्मरण रखना होगा कि जो वस्तु चोरी से लायी जाती है वह वस्तु सस्ती बेची जाती है। इसलिए श्रावक को विवेकपूर्वक जाँच करके ही कोई वस्तु लेनी चाहिए। चोरी की वस्तु खरीदने वाला व्यक्ति भी चोर के समान ही दण्डनीय होता है।

यह जिज्ञासा हो सकती है कि सस्ते दामों में मिलने वाली सभी वस्तुएँ चोरी की कैसे हो सकती हैं? किसी व्यक्ति को धन की अत्यधिक आवश्यकता हो तो वह भी सस्ते दामों में अपनी वस्तु बेचता है।

समाधान है कि वह वस्तु सस्ती हो सकती है पर चोरी की वस्तु की तरह अत्यधिक सस्ती नहीं होती। चोरी की वस्तु को बेचते समय बेचने वाले के मन में भय रहता है। वह लुक छिपकर बेचता है। अतः इन सभी बातों में विवेक रखने की आवश्यकता है।

चुराई हुई वस्तु को अपने घर में रखना, चोर डाकू आदि को अपने घर में आश्रय देना यह भी अपराध है। श्रावक इस अतिचार से अपने आप को बचाता है।

(२) तस्करप्रयोग—तस्करों को तस्कर कृत्य करने के लिए प्रेरणा और प्रोत्साहन देना, उस कार्य की प्रशंसा करके उस कार्य को उत्तेजना देना तस्कर प्रयोग है। जैसे—एक वकील एक व्यक्ति को जानता है कि यह तस्कर है तथापि अपने पारिश्रमिक के लिए उसे निर्दोष सिद्ध करने का प्रयास करता है। यह एक प्रकार से चोर को सहायता देकर चोरी करा

1 पुनर[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]—[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]। —[illegible] ११ [illegible] पृ० ११ ११

करता है—चारों दिशाओं में व ऊपर नीचे (यानी छहों दिशाओं में तथा उपलक्षण से चारों विदिशाओं में अर्थात् दसों दिशाओं में) निश्चित मर्यादा से आगे बढ़कर मैं किञ्चित मात्र भी स्वार्थमूलक प्रवृत्ति नहीं करूँगा।

श्रमण के लिए क्षेत्र की मर्यादा का विधान नहीं है क्योंकि उसकी कोई भी प्रवृत्ति स्वार्थमूलक या हिंसात्मक नहीं होती। वह किसी भी प्राणी को बिना कष्ट पहुँचाये जन जन के अभ्युत्थान के लिए विहार करता है। वह घुमक्कड़ है। चरैवेति चरैवेति उसकी साधना का लक्ष्य है। पर श्रावक की प्रवृत्ति हिंसात्मक भी होती है। अतः उसे मर्यादा करना आवश्यक है।

वर्तमान युग में इस व्रत का महत्त्व अत्यधिक है। प्रत्येक राष्ट्र अपनी अपनी राजनीतिक और आर्थिक सीमाएँ निश्चित कर लें तो बहुत से संघर्ष स्वतः मिट जायेंगे। भारत के भूतपूर्व प्रधानमन्त्री पं० जवाहरलाल नेहरू ने राष्ट्रों में परस्पर व्यवहार के लिए पंचशील के रूप में जो आचार संहिता निर्मित की थी उसमें इस पर अधिक बल दिया गया था कि एक राज्य दूसरे राज्य में हस्तक्षेप न करे।

गमनागमन की मर्यादायें

आचार्य हेमचन्द्र ने कहा है कि जिस मानव ने दिग्व्रत को धारण कर लिया है उसने जगत पर आक्रमण करने वाले अभिवृद्ध लोभरूपी समुद्र को आगे बढ़ने से रोक दिया है।[1]

विदेश यात्रा करने के मुख्य तीन कारण हैं—(१) अधिकाधिक लोभ के वशीभूत होकर व्यापार की अभिवृद्धि के लिए, (२) आमोद प्रमोद हेतु सपाटे और वैषयिक सुखों के आस्वादन के लिए, (३) किसी आध्यात्मिक महापुरुषों के दर्शन के लिए। प्रथम दो कारणों में अर्थ और काम की प्रधानता रहती है अतः श्रावक को उन कारणों से बचना चाहिए।[2] जैसे तपे हुए लोहे के गोले को कहीं पर भी रखने से जीवों की हिंसा होती है वैसे मानव के गमनागमन से त्रस और स्थावर जीवों की हिंसा होती है। प्रस्तुत व्रत के ग्रहण से आवागमन की मर्यादा स्थिर हो जाती है।[3] हिंसा, तृष्णा और लोभ को घटाने के लिए इस व्रत की आवश्यकता है।

---

१ जगदाक्रममाणस्य प्रसरल्लोभवारिधेः।
स्खलनं विदधे तेन येन दिग्विरतिः कृता ॥ —योगशास्त्र ३/३

२ श्रावक धर्म दर्शन पृ० ३१० उपाध्याय पुष्कर मुनि जी

चराचराणां जीवानां विमर्दननिवर्तनात्।
तप्तायोगोलकल्पस्य सद्वृत्तं गृहिणोऽप्यदः ॥ —योगशास्त्र ३/२

प्रस्तुत व्रत में दिशाओं की मर्यादा निश्चित की जाती है। मुख्य रूप से दिशाएँ तीन हैं—ऊर्ध्वदिशा, अधोदिशा और तिर्यक्दिशा। इन तीन दिशाओं में तिर्यक्दिशा के आठ भेद हैं—(१) पूर्व (२) पश्चिम (३) उत्तर (४) दक्षिण और चार विदिशाएँ (५) ईशान (६) आग्नेय (७) नैऋत्य, (८) वायव्य। इनके अतिरिक्त (९) सिर की ओर ऊर्ध्वदिशा (१०) पैर के नीचे की ओर अधोदिशा है।

मर्यादाएँ अपनी इच्छा से ग्रहण की जाती हैं

प्रस्तुत व्रत ग्रहण करने वाला श्रावक किसी एक स्थान (उदाहरणार्थ निवास स्थान आदि) को केन्द्र बनाता है और उस केन्द्रस्थान से प्रत्येक दिशा के लिए मर्यादा स्थिर करता है कि मैं अमुक केन्द्र स्थान से इतनी दिशाओं में इतनी दूर तक जाऊँगा। इस प्रकार स्वेच्छा से गमनागमन के क्षेत्र को सीमित करता है। यह मर्यादा कोस, मील, किलोमीटर, फर्लांग, हाथ आदि किसी भी प्रमाण में निर्धारित की जा सकती है। केन्द्रस्थल किस को मानना यह आवश्यकता व इच्छा पर निर्भर है। किस दिशा में अधिक किस दिशा में कम मर्यादा रखनी, यह भी उसकी इच्छा पर अवलम्बित है। हाँ, एक बार मर्यादा निश्चित करने के पश्चात उसमें परिवर्तन करना, संकल्प को तोड़ना सर्वथा अनुचित है। सन्तोषपूर्वक जीवन निर्वाह करने को गमनागमन आदि क्रियाओं के लिए जितना क्षेत्र आवश्यक है उतने की मर्यादा रखनी चाहिए। आवश्यकता से अधिक क्षेत्र की मर्यादा रखना उचित नहीं है।

दिशा-परिमाण व्रत की मर्यादा जीवन भर के लिए होती है। केवल दिन रात या उससे भी कम समय के लिये जो मर्यादा होती है वह देशावकाशिक व्रत में होती है जो दसवाँ व्रत है।

दिशा-परिमाण के अतिचार

जिस साधक ने दिक्परिमाण व्रत ग्रहण कर लिया है उसे उस मर्यादा का अतिक्रमण नहीं करना चाहिये। दिक्परिमाण व्रत के पाँच अतिचार बताये गये हैं[1], वे इस प्रकार हैं—

(१) ऊर्ध्वदिशापरिमाणातिक्रम—ऊर्ध्वदिशा में गमनागमन के लिए जो क्षेत्र-मर्यादा निश्चित कर रखी है उस सीमा का अनजान में उल्लंघन कर जाना।

---

१ उपासकदशांग १।६ अभयदेववृत्ति पृ १०

कि अमुक पदार्थ मेरे शरीर धारण करने के लिए उपयोगी है या केवल स्वाद अथवा फैशन के लिये मैं इसका उपयोग कर रहा हूँ? आजकल सभ्यता संस्कृति और फैशन के नाम पर इन्द्रियों के पोषण हेतु मनुष्य ऐसे पदार्थों का उपभोग करने में आनन्द की अनुभूति करते हैं जो स्वास्थ्य के लिये भी हानिप्रद होते हैं तथा रोगों को उत्पन्न करते हैं। श्रावक उन सभी पदार्थों का त्याग करता है। वह जीवन निर्वाह के लिये ऐसे पदार्थों का उपयोग करता है जो जीवन के लिए उपयोगी और स्वास्थ्यवर्द्धक हों।

जो पदार्थ एक बार सेवन करने के पश्चात् पुनः वह पदार्थ सेवन नहीं किया जा सके वह उपभोग है जैसे—भोजन पानी अंग विलेपन आदि। इसके अतिरिक्त जो वस्तु एक से अधिक बार सेवन की जा सके, वह परिभोग है जैसे—आसन शय्या वस्त्र[1] आदि।

रत्नकरण्ड श्रावकाचार में उपभोग-परिभोग के स्थान पर भोग और उपभोग यह नाम प्राप्त होता है किन्तु अर्थ की दृष्टि से इन दोनों में कोई अन्तर नहीं है।[2]

उपभोग-परिभोग की एक अन्य व्याख्या भी शास्त्रों में उपलब्ध होती है। जो पदार्थ शरीर के आन्तरिक भाग से भोगे जाते हैं वे उपभोग हैं और जो पदार्थ शरीर के बाह्य भाग से भोगे जाते हैं वे परिभोग हैं।

अतः उपभोग और परिभोग पदार्थों के सम्बन्ध में श्रावक यह मर्यादा करता है कि मैं अमुक अमुक पदार्थों के अतिरिक्त शेष पदार्थों का उपभोग परिभोग नहीं करूँगा। इस प्रकार श्रावक अपने शरीर को पूर्ण स्वस्थ सशक्त और कार्यक्षम बनाये रखने के लिये उन शरीर और इन्द्रियों से सम्बन्धित आवश्यक पदार्थों की मर्यादा करता है।

छब्बीस बोल

शास्त्रकारों ने प्रस्तुत व्रत की सुविधा की दृष्टि से छब्बीस प्रकार के पदार्थों की एक सूची दी है। वह इस प्रकार है—

---

१ उपभोगः सकृद्भोगः स चाशनपानानुलेपनादीनाम्।
परिभोगस्तु पुनःपुनः भोगः स च वासनवसनशयन वनितादीनाम्॥
—आवश्यकवृत्ति

२ भुक्त्वा परिहातव्यो भोगो भुक्त्वा पुनश्च भोक्तव्यः।
उपभोगोऽशनवसनप्रभृति पञ्चेन्द्रियो विषयः॥
—रत्नकरण्ड श्रावकाचार ८३

(१) शरीर आदि पोछने का अंगोछा या तोलिया आदि। (२) दाँत साफ करने के लिये मंजन आदि। प्राचीन काल में बबूल, नीम, मुलहठी आदि की लकडी से दतौन करते थे। वर्तमान में टूथ पेस्ट दन्त मंजन आदि व दतौन करते है। (३) फल (४) मालिश के लिए तेल, (५) उबटन के लिए लेप आदि। (६) स्नान के लिए जल। (७) पहनने के लिए वस्त्र। (८) विलेपन के लिये चन्दन आदि। (९) फूल, पुष्पों की मर्यादा करना। (१०) आभरण अर्थात आभूषण आदि। (११) धूप दीप—वायु शुद्धि के लिए धूप आदि का उपयोग।

ये जो ग्यारह पदार्थ बताये हैं उन पदार्थों से शरीर की रक्षा होती है तथा उसमें स्फूर्ति व स्वस्थता का सचार होता है।

आगे वह सूची दी जा रही है जिससे शरीर में पुष्टि व शक्ति की अभिवृद्धि होती है।

(१२) पेय पदार्थ दूध, शर्बत मट्ठा आदि। (१३) भक्ष्य—भोजन के पूर्व नाश्ते के रूप में जो पदार्थ खाये जाते हैं। (१४) ओदन—ओदन में उन द्रव्यों को लिया गया है, जो विधिपूर्वक अग्नि पर पकाकर खाये जाते हैं। जैसे चावल, थूलि आदि। (१५) सूपदार—सूप में उन तरल खाद्य पदार्थों का समावेश होता है जैसे दाल, सूप आदि जिससे लगाकर रोटी, भात आदि खाये जाते है। (१६) घृत आदि विगय—जो भोजन को सुस्वादु और पौष्टिक बनाते है। दूध दही घी तेल और मीठा ये पाँचों विगय हैं। मधु और मक्खन की गणना महाविगयों में की गई है किन्तु विशेष परिस्थिति में औषधि के रूप में ये लिए जा सकते है, सामान्य परिस्थिति में इनका उपभोग नहीं किया जा सकता। किन्तु मद्य और मांस जो महाविगय है वे तो सर्वथा त्याज्य हैं। (१७) शाक—भोजन के साथ व्यञ्जन रूप में खाये जाने वाले पदार्थ शाक या साग कहलाते हैं। (१८) माधुरक मेवा मधुर—हरे फलों में आम, केला जामुन नारंगी सेव अनार आदि। सूखे फलों में बादाम, पिस्ता किशमिश आदि। (१९) जमन भोजन—जो पदार्थ क्षुधा निवारणार्थ खाये जाते है। जैसे रोटी, बाटी, पुड़ी आदि। (२०) पीने का पानी—विविध प्रकार के उष्णोदक शीतोदक, गंधोदक खारा मीठा आदि पेय पदार्थ। (२१) मुखवास—सुपारी पान आदि। (२२) वाहन—हाथी घोड़ा बस आदि। (२३) उपानत—जूते बूट, चप्पल आदि (२४) शय्यासन—पलंग पाट गद्दा तकिया आदि। (२५) सचित्त वस्तु की मर्यादा करना (२६) खाने के द्रव्य—स्वाद की भिन्नता की दृष्टि से जितने

वस्तुएँ पथक पथक द्रव्या के सयोग के साथ मुँह मे डाली जाती है पथक-पथक द्रव्य हैं।

पाँच बातो से बचो

उपभोग-परिभोग व्रत म वस्तुओ का उपभोग करते समय गृहस्थ को इन पाँच बातो से बचना आवश्यक है। (१) त्रसवध—जिन वस्तुओ म त्रस जीवो का वध होता हो उनका सवथा त्याग करना चाहिय। जसे—रेशमी वस्त्र कॉडलिवर आइल हेमोग्लोबिन आदि। (२) बहुवध—जिन पदार्थों के तैयार करने मे त्रस जीवा का सहार तो नही होता। किन्तु तयार होन पर त्रस जीव पदा हो जाते हैं अथवा असख्य स्थावर जीवा की हिंसा होती है। जसे—मदिरा त्रस जीवो के वध से निर्मित नही होती किन्तु उसके निर्माण करन म पदाथ को सडना पडता है जिससे उसम असख्य त्रस जीव पदा हो जाते हैं। इसीलिए मदिरा बहुवध होने से वर्ज्य है। (३) प्रमाद—जिस वस्तु के सेवन करने से प्रमाद की अभिवद्धि होती हो वसे गरिष्ठ और तामसिक भोजन अतिमात्रा म विकृतियो (विगइया) का सेवन अत्यन्त गुदगुदा और लचीला आसन आदि भी त्याज्य है। (४) अनिष्ट—जिन वस्तुओ के सेवन मे स्वास्थ्य बिगडता हो। जसे—अधपकी हुई चलित रस वस्तुए। (५) अनुपसेव्य—जिस वस्तु का सेवन शिष्टसम्मत नही है घणित और अनुपसेव्य है। जसे—बिना जाने हुए फल व मास मछली अण्ड आदि।

उपभोग परिभोग व्रत के अतिचार

इस व्रत के पाच अतिचार हैं। इन अतिचारो म अस्वादवत्ति पर अधिक बल दिया गया हा। स्वादवत्ति आसक्ति और उच्छृखलता को प्रश्रय देने स मर्यादा का स्पष्ट रूप से भग होता है। अत श्रावक को सतत सतक रहकर इन अतिचारा से बचना चाहिए। वे अतिचार इस प्रकार हैं[1]—

(१) सचित्ताहार—जो सचित्त वस्तु मर्यादा मे नही है उस का भूल स आहार करने पर सचित्ताहार दोष लगता है।

(२) सचित्त प्रतिबद्धाहार—जिस सचित्त वस्तु का त्याग कर रखा है उस सचित्त वस्तु से जो अचित्त वस्तु लगी हुई है उसका भूल से उपभोग

---

१ सचित्ताहार सचित्तपडिबद्धाहारे अप्पोलिओसहिभक्खणया दुप्पोलिओसहि भक्खणया तुच्छोसहिभक्खणया।

कर लेना वह सचित्त प्रतिबद्धाहार है। जैसे—वृक्ष म लगा हुआ गोंद खजूर, गुठली सहित आम आदि खाना।

(३) अपक्वाहार—सचित्त वस्तु का त्याग होने पर बिना अग्नि के पके, कच्चे शाक, बिना पके फल आदि का सेवन करना।

(४) दुष्पक्वाहार—जो वस्तु अध पकी हो, उसका आहार करना।

(५) तुच्छौषधिभक्षण—जो वस्तु कम खायी जाये और अधिक मात्रा मे बाहर डाली जाये ऐसी वस्तु का सेवन करना जसे सीताफल आदि।

इन पाँच अतिचारो म मुख्य रूप स भोजन को लिया गया है। किन्तु उपलक्षण स शरीर रक्षा के लिए अन्य पदार्थ जसे वस्त्र दतौन फल स्नान विलेपन आदि भी समझ लेने चाहिए।

आचार्य समन्तभद्र ने उपभोग-परिभोग परिमाण व्रत के अतिचार[1] अन्य रूप से भी बताये है। वे ये है—

(१) विषय रूपी विष के प्रति आदर रखना (२) बार-बार भोग्य पदार्थों को स्मरण करना (३) पदार्थों के प्रति अत्यधिक लोलुपता रखना (४) भविष्य के भोगो की अत्यन्त लालसा रखना (५) भोगो में अत्यधिक तल्लीन होना।

श्रावक उपभोग परिभोग व्रत के प्रति सदा जागरूक रहे क्योंकि उपभोग्य-परिभोग्य वस्तुओ के प्रति भी आसक्ति रहती है। पुन-पुन स्मरण अत्यधिक लोलुपता अप्राप्त भोगो की लालसा तथा भोगो मे अति तन्मयता रहते हुए भले ही व्रत बाह्य रूप से ग्रहण कर लिए जाय पर अन्दर म वह खोखला होता है। ऊपर से वह धर्मध्वजी प्रतीत होता है किन्तु अन्दर से उसके जीवन म साधना का प्राण नही होता। श्रावक को सतत इन अतिचारो स बचना चाहिए। कदाचित दोष भी लग जाये तो यथा शीघ्र शुद्धीकरण कर लेना चाहिए।

पन्द्रह कर्मादान

उपभोग-परिभोग के लिए वस्तुओ की प्राप्ति करनी पडती है और उसके लिए व्यक्ति को पापकर्म भी करना पडता है। जिस व्यवसाय म महा

---

[1] विषयविषतोऽनुपेक्षानुस्मृतिरतिलौल्यमतितृषाऽनुभवौ।
भोगोपभोगपरिमाव्यतिक्रमा पञ्च कथ्यन्ते॥
—रत्नकरण्ड श्रावकाचार ९०

रम्भ अर्थात् अतिहिंसा होती है। यह कार्य श्रावक के लिए निषिद्ध है। श्रावक जीवन का वर्णन करते हुए भगवती सूत्र में कहा है कि श्रावक अल्पारम्भी, अल्पपरिग्रही, धार्मिक, धर्मानुसारी, धर्मिष्ठ, धर्माख्यायी, धर्म प्रलोकिता, धर्मप्रज्वलन एवं धर्मयुक्त होते हैं। वे धर्म से आजीविका चलाते हैं।[1]

धर्ममय आजीविका तभी हो सकती है जब वह अल्प आय से सन्तुष्ट हो। यदि उसमें तृष्णा की अधिकता होगी तो वह निषिद्ध व्यवसाय भी करेगा। श्रावक निषिद्ध व्यवसायों को जानकर सर्वथा त्याग करता है। वे निषिद्ध व्यवसाय कर्मादान कहलाते हैं।

कर्मादान का अर्थ है—उत्कट (गाढ़)। ज्ञानावरणीय प्रभृति पाप कर्म प्रकृतियों के ग्रहण करने के कारणभूत महापापपूर्ण होने से वे व्यवसाय कर्मादान कहलाते हैं।[2]

कर्मादान की संख्या पन्द्रह हैं। इनके नाम इस प्रकार हैं—

(१) अंगारकर्म—अग्नि सम्बन्धी व्यापार, जैसे—कोयले बनाना, ईंटें पकाना आदि।

(२) वनकर्म—वनस्पति सम्बन्धी व्यापार, जैसे—वृक्ष काटना, घास काटना आदि, जिससे वनाश्रित रहने वाले पशु आदि नष्ट हो जाते हैं।

(३) शकटकर्म—वाहन सम्बन्धी व्यापार, जैसे—गाड़ी, मोटर, तांगा, रिक्शा आदि बनाना।

(४) भाटकर्म—वाहन आदि किराये पर देना।

(५) स्फोटकर्म—भूमि फोड़ने का व्यापार, जैसे—खानें खुदवाना, नहरें बनवाना, मकान बनाने का व्यवसाय करना।

कितने ही कृषि कर्म को भी स्फोटकर्म मानते हैं पर कृषिकर्म स्फोटकर्म नहीं है। उसमें जमीन फोड़ी नहीं जाती, खोदी व कुरेदी जाती है।

(६) दन्त वाणिज्य—हाथी दाँत आदि का व्यापार।

---

१ अप्पारंभा अप्पपरिग्गहा धम्मिया धम्माणुगा धम्मिट्ठा धम्मक्खाई धम्मप्पलोइया धम्मपलज्जणा धम्मसमुदायारा धम्मेण चेव वित्तिं कप्पेमाणा विहरंति।
—भगवती

२ कर्मणामुत्कटानां ज्ञानावरणीयादीनां पापप्रकृतीनां आदानानि कर्मादानानि।
—उपासकदशा १।६ अभयदेववृत्ति पृ० १५

अपध्यान की व्याख्या करते हुए लिखा है—राग-द्वेष वश किसी प्राणी के वध बन्धन, छेदन, आदि का तथा परस्त्री को अपनी बनाने का—ध्यान को जिनशासन के श्रुतधरों ने अपध्यान कहा है। आचार्य हेमचन्द्र[1] ने श्रावकों को कहा है—वैरी का घात करूँ, राजा हो जाऊँ, नगर का नाश कर दूँ आग लगा दूँ, आकाश में उड जाऊँ या विद्याधर बन जाऊँ इत्यादि दुर्ध्यान पहले तो मन में आने ही नहीं देना चाहिये। यदि कदाचित आ भी जायें तो लम्बे समय तक मन में ठहरने नहीं देना चाहिये एक मुहूर्त के बाद तो अवश्य ही छोड देना चाहिए।

अशुभ ध्यान से किसी अन्य की हानि और लाभ नहीं होता किन्तु ऐसे अपध्यान से करने वाले का अवश्य ही पाप रूप अनर्थदण्ड होता है। श्रावक विवेक के द्वारा अपध्यान से बच सकता है। इष्टवियोग, अनिष्ट संयोग रोग आदि प्रसंगों में राग द्वेष आदि उत्पन्न होते हैं। उस समय निमित्त की अपेक्षा उपादान का विचार करे और मन को शान्त करे। सारा खेल उपादान का है। निमित्त केवल निमित्त ही है। यदि मानव उपादान का चिन्तन करे तो दुर्ध्यान से सहज ही मुक्त हो सकता है। अशुभ विचारों से अशुभ संस्कार बनते हैं अशुभ विचारों का सहवास असुरों के सहवास से भी अधिक भयंकर है। इसलिये ऐसे विचारों को अपध्यानाचरित कहा है।

(२) प्रमादाचरित—यह अनर्थदण्ड का द्वितीय आधार है। प्रमाद जीते जागते मरण है। वह जीवन का सार तत्त्व चूस लेता है। एतदर्थ ही भगवान् महावीर ने समय मात्र का भी प्रमाद न करने का संदेश दिया। आचार्य हेमचन्द्र ने[2] प्रमादाचरण की व्याख्या करते हुए कहा है—कुतूहल

---

१ वैरिघातो नरेन्द्रत्वं पुरघाताग्निदीपने।
 खचरत्वाद्यपध्यानं मुहूर्तात्परतस्त्यजेत्॥ —योगशास्त्र ३।७५

२ कुतूहलाद् गीत नृत्यनाटकादि निरीक्षणम्।
 कामशास्त्रप्रसक्तिश्च द्यूतमद्यादि सेवनम्॥७८॥
 जलक्रीडान्दोलनादि विनोदो जन्तुयोधनं।
 रिपोः सुतादिना वैरं भक्तस्त्रीदेशराटकथा॥७९॥
 रोगमार्गश्रमौ मुक्त्वा स्वापश्च सकलां निशाम्।
 एवमादि परिहरेत् प्रमादाचरणं सुधीः॥८०॥
 —योगशास्त्र ३।७८-८०

वश अश्लील गीत, नृत्य, नाटक, आदि देखना, आसक्तिपूर्वक कामशास्त्र, विषय कषायवर्द्धक साहित्य पढ़ना, जूआ खेलना, मद्यपान करना, बिना प्रयोजन हिंडोने में झूलना, कलहवर्धक विनोद करना, प्राणियों को परस्पर लड़ाना, निरर्थक वार्तालाप करना, बिना कारण के सोते पड़े रहना यह सब प्रमादाचरण हैं। बुद्धिमान पुरुष को चाहिये कि वह इन सब का परित्याग करे।

आचार्य समन्तभद्र ने[1] लिखा है—निरर्थक जमीन को खोदना, अग्नि प्रज्वलित करना, बिना प्रयोजन हवा करना, निरर्थक ही वनस्पति का छेदन भेदन करना, पानी का दुरुपयोग करना, घी, तैल, दूध आदि के बर्तन खुले रख देना, लकड़ी, पानी आदि को बिना देखे भाले काम में लेना प्रमादचर्या है।

(३) हिंस्र प्रदान—यह अनर्थदण्ड का तीसरा आधार स्तम्भ है। हिंसा में सहयोग देने वाले उपकरण या साधन दूसरों को देना। हिंसा करने के लिये हिंसाकारी साधनों का दान देना हिंस्रप्रदान अथवा हिंसादान है। आचार्य अभयदेव ने[2] प्रस्तुत विषय को स्पष्ट करते हुए लिखा है—जिनसे हिंसा होती है उन अस्त्र, शस्त्र, आग, विष आदि हिंसा के साधनों को क्रोधाविष्ट या क्रोधावेश से रहित व्यक्ति के हाथों में दे देना हिंस्रप्रदान या हिंसा में सहायक होना है।

(४) पापोपदेश—यह अनर्थदण्ड का चतुर्थ आधार स्तम्भ है। इसका अर्थ है—पाप कर्म का उपदेश देना। कितने ही व्यक्ति यद्यपि स्वयं पाप को बुरा समझते हैं तथापि जानबूझकर अथवा लापरवाही से दूसरों को पापों का उपदेश देते रहते हैं। किसी मानव या पशु को मारने या उसे परेशान करने के लिये किसी अन्य को उभारना और स्वयं सम्मिलित होकर तमाशा देखना ये सभी पाप कर्मोपदेश हैं। इसी तरह तस्कर कृत्य के लिये वेश्या वृत्ति के लिए दूसरों को उत्प्रेरित करना भी पापोपदेश में गिना जाता है।

---

१ क्षितिसलिलदहनपवनारम्भं विफलं वनस्पतिच्छेदम्।
सरणं सारणमपि च प्रमादचर्यां प्रभाषन्ते॥
—रत्नकरण्ड श्रावकाचार ८०

२ हिंस्र [illegible] हिंसाप्रदानं तथा प्रदानम्। अन्यस्मै क्रोधाभिभूताय [illegible]
[illegible] पापा [illegible]। —उपासकदशांग टीका

आचार्य समन्तभद्र ने चार के स्थान पर अनर्थदण्ड के पाँच भेद किये हैं—(१) पापोपदेश, (२) हिंसादान (३) अपध्यान (४) प्रमादचर्या (५) दुःश्रुति। इनमें से चार का वर्णन तो उपरोक्त पंक्तियों में कर ही दिया गया है। एक दुःश्रुति नया है। दुःश्रुति का भी समावेश प्रमादाचरण में हो सकता है।

प्रमाद के मद्य विषय, कषाय निद्रा और विकथा ये पाँच प्रकार हैं। उसमें विकथा का जो रूप है। वही रूप दुःश्रुति का भी है। आचार्य समन्तभद्र ने दुःश्रुति का अर्थ इस प्रकार किया है—गन्दी बातों या कहानियों उपन्यासों नाटकों का सुनना या पढ़ना जिससे मन में कामादि विकार उत्पन्न होते हैं किन्तु सात्त्विक उन्नति शक्ति आदि कुछ भी लाभ नहीं होता। यहाँ यह कहा जा सकता है कि ऐसे साहित्य का सत्यासत्य पढ़ना आदि दुःश्रुति नहीं है। आचार्य समन्तभद्र ने जो लिखा है—दुःश्रुति वह है जिन बातों को पढ़ना सुनने से चित्त आरम्भ में आसक्त हो। पाप करने के साहस में वह मिथ्यात्व द्वेष, राग मद और काम से कलुषित हो जाता है।

इससे स्पष्ट है कि प्रमादाचरण में ही दुःश्रुति का अन्तर्भाव हो जाता है।

अनर्थदण्ड के पाँच अतिचार

प्रस्तुत व्रत के पाँच अतिचार[४] हैं जिनका परिहार करना व्रत के विकास के लिये आवश्यक है।

---

१ पापोपदेशहिंसादानापध्यानदुःश्रुतीः पञ्च।
प्राहुः प्रमादचर्यामनर्थदण्डान् अदण्डधराः॥ —रत्नकरण्ड श्रावकाचार ७५

२ रागादिवर्द्धनानां दुष्टकथानामबोधबहुलानाम्।
न कदाचन कुर्वीत श्रवणार्जनशिक्षणादीनि॥
—पुरुषार्थसिद्ध्युपाय १४५

३ आरम्भसंग-साहस मिथ्यात्व-द्वेष राग-मद-मदनैः।
चेतः कलुषयतां श्रुतिरधीयमाना दुःश्रुतिर्भवति॥
—रत्नकरण्ड श्रावकाचार ७९

४ उपासकदशांग १।६ अभयदेववृत्ति, पृ० १७

(१) कन्दर्प—विकारवर्धक वचन बोलना या सुनना या वैसी चेष्टाएँ करना।

(२) कौत्कुच्य—भाडो के समान हाथ पर पटकना, नाक मुँह और आँख आदि की विकृत चेष्टाएँ करना।

(३) मौखर्य—वाचाल बनना, बढा-चढाकर बात करना, अपनी शेखी बघारना।

(४) सयुक्ताधिकरण—बिना आवश्यकता के हिंसक हथियारों एव ऐसे घातक साधनो का सग्रह करके रखना जैसे—बन्दूक के साथ कारतूस धनुष के साथ तीर सयुक्त करके रखना।

(५) उपभोग परिभोगातिरेक—उपभोग और परिभोग की सामग्री को आवश्यकता से अधिक सग्रह करके रखना। मकान कपडे फर्नीचर आदि का आवश्यकता से अधिक सग्रह करना भी इस अतिचार के अन्तर्गत ही है। आचार्य समन्तभद्र[1] ने प्रस्तुत अतिचार का नाम अतिप्रसाधन दिया है तो आचार्य अमतचन्द्र ने[2] भोगानर्थक्य दिया है। शब्दों मे अन्तर है पर दोनो का भाव एक ही है।

इस तरह अनर्थदण्डविरमण व्रत से मानसिक, वाचिक और कायिक सभी प्रवृत्तियाँ विशुद्ध होती हैं। जिससे श्रावक सामायिक आदि अगले व्रतो का सम्यक् प्रकार से पालन कर सकता है।

शिक्षाव्रत

शिक्षा का अर्थ—अभ्यास है। जैसे विद्यार्थी पुन पुन अभ्यास करता है उसी प्रकार श्रावक को जिन व्रतो का पुन पुन अभ्यास करना चाहिए उन व्रतो को शिक्षाव्रत कहा है। अणुव्रत और गुणव्रत जीवन में एक ही बार ग्रहण किये जाते हैं किन्तु शिक्षाव्रत बार बार ग्रहण किये जाते हैं। वे व्रत कुछ समय के लिए ही होते हैं। उनके नाम ये हैं—(१) सामायिक (२) देशावकाशिक (३) पौषधोपवास (४) अतिथिसविभाग।

(१) सामायिक व्रत

शिक्षाव्रतो मे प्रथम स्थान सामायिक का है जिससे निरन्तर अभ्यास से आत्मा आत्म निराग के चरम रा य को प्राप्त करता है।

---

१ रत्नकरण्ड श्रावकाचार ८१

२ पुरुषार्थसिद्ध्युपाय

आचार्य ने[1] कहा है—सामायिक के अभाव में चाहे कितने ही तपश्चरण किये जायें, चाहे कितने ही कष्ट सहन किये जायें, चाहे कितना ही जप किया जाये, श्रमण वेश धारण कर बाह्य चारित्र का पालन किया जाय किन्तु समभावरूपी सामायिक के अभाव में किसी को भी मुक्ति प्राप्त नहीं होती है और न प्राप्त ही होगी। समभाव में ही आत्मा मोक्ष प्राप्त करता है।[2]

समभाव के निरन्तर अभ्यास से समता के संस्कार अन्तःकरण में बद्धमूल हो जाते हैं, जिससे गृहस्थ जीवन में किसी भी प्रकार की समस्या जो उसकी मानसिक शान्ति को भंग कर सके, समुत्पन्न नहीं होती। यदि समुत्पन्न हो भी जाती है तो वह उसी क्षण उसका समाधान भी कर देता है। विकट संकट की घड़ियों में भी उसके अन्तर्मानस में शान्ति का महासागर लहराता है। वह समता की लक्ष्मण रेखा से तनिक मात्र भी इधर उधर नहीं होता।

समभावी साधक में यह अपूर्व विशेषता होती है कि वह प्रतिकूलता को भी अनुकूलता में बदल देता है। वह सोचता है कि जीवन एक यात्रा है। यात्री को कभी नुकीले-पथरीले पथ को भी पार करना होता है तो कभी साफ-सुथरी सड़क पर चलने का संयोग मिल जाता है। कभी सरस सरिता पार करनी होती है तो कभी रेगिस्तान के टीले को भी पार करना होता है। वह यात्री निरन्तर अपने लक्ष्य की ओर आगे बढ़ता है। इस विचारधारा के अनुसार समभावी साधक जीवन-यात्रा में समभाव से आगे बढ़ता है।

सामायिक के दो भेद

हमने सामायिक आवश्यक में सामायिक के महत्त्व और उसकी आवश्यकता पर विस्तार से विश्लेषण किया है। अतः यहाँ अत्यधिक विस्तार में न जाकर संक्षेप में ही इस व्रत का स्वरूप बता रहे हैं।

सामायिक के दो भेद हैं—एक आगारसामायिक और दूसरी अनगार सामायिक। गृहस्थ की सामायिक आगार सामायिक है और श्रमण की सामायिक अनगार सामायिक है।

---

१ किं तिव्वेण तवेण किं च जवेण किं चरित्तेण।
समयाइ विण मुक्खो न हु हूओ कहवि न हु होइ॥

२ (क) जे केवि गया मोक्खं जे वि य गच्छन्ति जे गमिस्सन्ति।
ते सव्वे सामाइय-पभावेण मुणेयव्वं॥

(ख) समभावभावियप्पा, लहइ मुक्खं न संदेहो।

गृहस्थ की सामायिक अल्पकालिक है जबकि श्रमण की सामायिक जीवन-पर्यन्त के लिए होती है। श्रावक की सामायिक दो करण और तीन योग से की जाती है जब कि श्रमण की सामायिक तीन करण और तीन योग से की जाती है। शास्त्रीय दृष्टि से श्रावक की सामायिक में अनुमोदन (करण) खुला रहता है। किन्तु उसका तात्पर्य यह नहीं कि सामायिक में श्रावक पापकारी प्रवृत्तियों का अनुमोदन करेगा ही। वह सामायिक में किसी भी पापकारी प्रवृत्ति का अनुमोदन नहीं करता तथापि जो यहाँ अनुमोदन खुला रखा है उसका तात्पर्य यही है कि गृहस्थ श्रावक आखिर गृहस्थ ही है। वह स्वयं सामायिक में बैठा है किन्तु उसके व्यापार आदि चलते रहते हैं। उसके परिवारीजन, पुत्र मुनीम, गुमाश्ते आदि व्यापार-कार्य करते रहते हैं अन्य आरम्भ-समारम्भ के कार्य भी होते हैं। यद्यपि वह उसकी प्रशंसा और समर्थन नहीं करता, पर ममता का जो धागा उसके साथ बँधा है, जिसे उसने अभी तक काटा नहीं है उसी के कारण सूक्ष्म अनुमति रूप अनुमोदन से वह मुक्त नहीं हो पाता।

गृहस्थ श्रावक कुछ काल के लिए सामायिक ग्रहण करता है। यद्यपि उसमें पूर्ण साधुता नहीं आती किन्तु आचार्य अमृतचन्द्र[1] की भाषा में वह साधुतुल्य हो जाता है। आचार्य जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण[2] का भी यही मन्तव्य है। उन्होंने श्रावक को यह उद्बोधन दिया है कि वह प्रतिदिन अनेक बार सामायिक करे।

जीवन परिवर्तन

सामायिक में वेष भी परिवर्तन किया जाता है किन्तु वेष के साथ जीवन-परिवर्तन उसका मूल उद्देश्य है। आत्मा जो अनादि काल से विषय-कषाय से संत्रस्त होकर पाप कृत्य कर कर्मों से भारी हो रहा है उन पाप कृत्यों का परित्याग कर आत्मा को अधिक से अधिक हलका बनाने का उपक्रम किया जाता है। एतदर्थ इन्द्रियों की चपलता का त्याग एवं चित्त की एकाग्रता अपेक्षित होती है।

कितने ही व्यक्तियों का यह अभिमत है कि पूर्ण सामायिक तेरह

१ सामायिकं श्रितानां समस्तसावद्ययोगपरिहारात्।
भवति महाव्रतमेषामुदयेऽपि चारित्रमोहस्य॥ —पुरुषार्थसिद्ध्युपाय १५

२ सामाइयम्मि उ कए समणो इव सावओ हवइ जम्हा।
एएण कारणेणं बहुसो सामाइयं कुज्जा॥
—विशेषावश्यकभाष्य २६९

गुणस्थान में हो सकती है। जब तक पूर्ण वीतरागता न आये तब तक सम भाव की पूर्ण साधना नहीं होती। राग-द्वेष का पूर्ण नाश और वीतराग दशा की अभिव्यक्ति का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। ग्यारहवें गुणस्थान के पूर्व कषाय किसी न किसी रूप में रहता है। इसलिये पूर्ण-समता तेरहवें गुणस्थान में ही प्राप्त हो सकती है।

उत्तर में निवेदन है कि समता का साधक उस पथ पर धीरे धीरे बढ़ता है। सभी साधक गजसुकुमाल नहीं होते जो कुछ ही क्षणों में उच्च तम भूमिका को प्राप्त कर लें। धीरे धीरे निरन्तर अभ्यास करने से ही सामायिक में पूर्णता आती है। बूंद बूंद से ही घट भरता है। यदि बूंद-बूंद की भी उपेक्षा की जायेगी तो घट रीता ही रहेगा। अतः साधक को साव धानी से साधना के पथ पर निरन्तर बढ़ते रहना चाहिये।

सामायिक व्रत के पांच अतिचार

सामायिक व्रत की साधना करते समय साधक पूर्ण सावधानी रखता है किन्तु फिर भी कुछ दोष लगने की सम्भावना रहती है। उन दोषों को ही अतिचार कहा गया है। वे पांच हैं[1]—

(१) मनदुष्प्रणिधान—सामायिक के भावों से मन को बाहर दौड़ाना। मन में सांसारिक प्रपञ्चों की उधेड़-बुन चलते रहना।

(२) वचनदुष्प्रणिधान—सामायिक में वचन का दुरुपयोग करना, कठोर वचन, निष्ठुर अपशब्द का प्रयोग करना।

(३) कायदुष्प्रणिधान—सामायिक में शरीर से सावद्य प्रवृत्ति करना पुनः-पुनः शरीर को हिलाना, सिकोड़ना पसारना आदि।

(४) स्मृत्यकरण—सामायिक की स्मृति न रखना, समय आने पर न करना।

(५) अनवस्थितता—सामायिक को अस्थिर होकर या शीघ्रता से करना, निश्चित विधि के अनुसार न करना।

२ देशावकाशिक व्रत

दिशापरिमाणव्रत में जीवन भर के लिये दिशाओं की मर्यादा की जाती है। उन दिशाओं की मर्यादाओं के परिमाण में कुछ घण्टों के लिये

---

१ उपासकदशा १।६ पृ १२ (अभयदेव वृत्ति)

हैं उन सभी मर्यादाओं को एक घटी, मुहूर्त प्रहर, दिन रात आदि के लिये न्यून करना देशावकाशिक व्रत है।

विवेकी श्रावक प्रतिपल प्रतिक्षण यह चिन्तन करता है कि मेरी आत्मा म इतनी शक्ति पैदा हो जाय कि मैं आरम्भ-समारम्भ का पूर्ण रूप से त्याग कर निर्ग्रन्थ बन जाऊ। जहाँ तक उतना सामर्थ्य मुझ म प्रगट न हो वहाँ तक कम से कम एक दिन रात के लिये आवश्यकताओं को कम करके आत्म चिन्तन के द्वारा आत्म शक्ति को बढ़ाने का प्रयास करू। इसी उदात्त भावना के कारण श्रावक व्रत ग्रहण करते समय जो मर्यादाएँ रखी है उन्हें वह और भी संक्षिप्त करता है। चौदह नियमों के अनुसार जो मर्यादाएँ हैं, उन्हें स्थापित करता है तथा उनका सम्यक्रूप से पालन करता है।

प्राचीन महर्षि आचार्यों ने चौदह नियमों[1] के चिन्तन का क्रम ऐसा उचित ढग से रखा है जिससे प्रतिदिन भोजन पान और अन्याय प्रवृत्तियों के विषय म मर्यादाएँ निश्चित की जा सकती हैं। इन नियमो को ग्रहण करने से जीवन अनुशासित बनता है और त्याग माग म दृढ़ता आती है। वे चौदह नियम ये हैं—

(१) सचित्त—प्रतिदिन अन्न फल, पानी आदि के रूप मे जिन सचित्त वस्तुओं का सेवन करते हैं उनकी मर्यादा निश्चित करना। प्रस्तुत मर्यादा संख्या, तौल व नाप के रूप म की जाती है।

(२) द्रव्य—खाने पीने सम्बन्धी वस्तुओं की मर्यादा करना, जैसे—भोजन के समय अमुक संख्या से अधिक वस्तुओं का उपयोग नहीं करूँगा।

(३) विगय—घी, तेल, दूध दही, गुड और पक्वान्न की मर्यादा।

(४) पण्णी—उपानह (जूते) मोजे, खड़ाऊ, चप्पल, आदि पैर म पहनी जाने वाली वस्तुओं की मर्यादा।

(५) वस्त्र—प्रतिदिन पहने जाने वाले वस्त्रों की मर्यादा करना।

(६) कुसुम—फूल इत्र आदि सुगंधित पदार्थों की मर्यादा।

(७) वाहन—सवारी आदि की मर्यादा करना।

(८) शयन—शय्या एव स्थान की मर्यादा करना।

(९) विलेपन—केसर, चन्दन तेल प्रभृति लेप किये जाने वाले पदार्थों की मर्यादा करना।

---

१ सचित्त-दव्व विगई-पन्नी-तांबूल वत्थ कुसुमेसु।
वाहण-सयण विलेवण-बम्भ दिसि-न्हाण भत्तेसु॥

(१०) ब्रह्मचर्य—मैथुन सेवन की मर्यादा करना।

(११) दिशा—दिशाओं में यातायात व अन्य जो भी प्रवृत्तियाँ की जाती हैं, उनकी मर्यादा करना।

(१२) स्नान—स्नान व जल की मर्यादा करना।

(१३) भक्त—अशन पान, खादिम स्वादिम की मर्यादा करना।

इस प्रकार नियमों का चिंतन करके प्रत्येक नियम के सम्बन्ध में प्रतिदिन मर्यादा निश्चित की जाती है। द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से भी सातवें व्रत में जो मर्यादाएँ स्वीकार की गई हैं, उन मर्यादाओं का और भी संकोच किया जाता है। इसी तरह अन्य व्रतों की मर्यादाओं का भी संकोच किया जाता है। आधुनिक युग में स्थानकवासी जैन परम्परा में उसे दया व्रत या छहकायव्रत कहते हैं।

देशावकाशिक ग्रहण की मर्यादाएँ

प्रस्तुत व्रत के अन्तर्गत कितने ही व्यक्ति दो करण और तीन योग से आश्रव द्वार सेवन करने का त्याग करते हैं अर्थात् मन वचन और काया से पाँच आश्रवों का सेवन न स्वयं करना और न दूसरों से करवाना। द्वितीय प्रकार यह भी है—एक करण और एक योग से पंचाश्रव सेवन का त्याग किया जाता है। इस प्रकार से त्याग करने वाला श्रावक स्वयं के शरीर से आरम्भ समारम्भ का कार्य नहीं करता। मन वचन के सम्बन्ध में उसका त्याग नहीं है और न कराने व अनुमोदन का ही त्याग है। किन्तु जो श्रावक दो करण और तीन योग से प्रतिज्ञा ग्रहण करता है वह न स्वयं व्यापार, कृषि तथा अन्यान्य आरम्भ समारम्भ के कार्य कर सकता है और न दूसरों से कहकर करवा ही सकता है। कितने ही श्रावक इस व्रत को एक करण और तीन योग से ग्रहण करते हैं और आश्रव द्वार के सेवन करने का त्याग करते हैं। ऐसा श्रावक स्वयं तो आरम्भ समारम्भ का कार्य नहीं कर सकता पर दूसरों से कहकर आरम्भ समारम्भ के कार्य करवा सकता है। उसने दूसरों से आरम्भ समारम्भ करवाने का त्याग नहीं किया है। इसलिए दूसरों से ऐसे कार्य कराने पर उसका व्रत भंग नहीं होता।

आचार्य समन्तभद्र ने[1] देशावकाशिक व्रत का महत्त्व प्रतिपादित करते हुए कहा है कि इस व्रत में एक तरह से महाव्रतों के सदृश साधना हो जाती

---

१ सीमान्तानां परतः स्थूलेतरपञ्चपापसंत्यागात्।
देशावकाशिकेन च महाव्रतानि प्रसाध्यन्ते॥
—रत्नकरण्ड श्रावकाचार, ॥

है। उसने गमनागमन की जितनी सीमा रखी है उसके अतिरिक्त उस श्रावक के स्थूल सूक्ष्म सभी पापों का त्याग हो जाता है।

दिशा-परिमाण-व्रत में जिन दिशाओं की मर्यादाएँ रखी गई हैं, उनको प्रस्तुत व्रत में संक्षेप किया जाता है। आचार्य अभयदेव[1] ने प्रस्तुत व्रत की परिभाषा करते हुए लिखा है—देश अर्थात् दिशा व्रत में रखा हुआ जो विभाग-अवकाश या क्षेत्र सीमा या प्रदेश है उसको और भी कम करना, वह देशावकाश है। *उसी व्रत को देशावकाशिक कहते हैं। अथवा दिग्परि-*माणव्रत में निश्चित किये हुए दिशा परिमाण को प्रतिदिन संकुचित करना, देशावकाशिक है।

देशावकाशिक व्रत के पाँच अतिचार

प्रस्तुत व्रत में दिग्परिमाणव्रत में रखी हुई क्षेत्र मर्यादा को घटाने का विधान है। उसी परिभाषा के आलोक में देशावकाशिक व्रत के पाँच अतिचारों[2] का वर्णन हुआ है—

(१) आनयन प्रयोग—इस व्रत को ग्रहण करने के बाद दिशाओं का संकोच कर लेने से आवश्यकता उत्पन्न होने पर मर्यादित भूमि से बाहर रहे हुए सचित्त आदि पदार्थ किसी को प्रेषित कर मँगवाना, या समाचार मँगवाना आनयन प्रयोग अतिचार है। क्योंकि प्रथम व्याख्या के अनुसार श्रावक प्रायः दो करण तीन योग से व्रत ग्रहण करता है। ऐसी स्थिति में वह मर्यादित भूमि से बाहर रही हुई वस्तु को स्वयं या किसी अन्य द्वारा समाचार भेजकर नहीं मँगवा सकता। जरा सी असावधानी से अतिचार लगने की सम्भावना रहती है।

(२) प्रेष्य प्रयोग—मर्यादित क्षेत्र से बाहर किसी वस्तु को भेजना।

(३) शब्दानुपात—जिस देश में स्वयं न जाने का नियम ग्रहण किया हो, वहाँ पर शब्द संकेत से अपना कार्य करना।

---

१ देशे दिग्व्रतगृहीतस्य दिक्परिमाणस्य विभागोऽवकाशोऽवस्थानमवकाशो विषयो यस्य तद्देशावकाशम्। तदेव देशावकाशिकम्। दिग्व्रतगृहीतस्य दिक्परिमाणस्य प्रतिदिनं संक्षेपकरणं लक्षणे वा। —स्थानाङ्ग ४।३ वृत्ति

२ आणवणप्पओगे पेसवणप्पओगे सद्दाणुवाए रूवाणुवाए बहिया पोग्गलपक्खेवे। —आवश्यक सूत्र

(४) रूपानुपात—मर्यादित क्षेत्र के बाहर कोई वस्तु, मकान आदि भेजकर उसी के सहारे काम करना।

(५) पुद्गल प्रक्षेप—मर्यादित क्षेत्र से बाहर कंकर, पत्थर आदि फेंककर किसी का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करना।

(३) पौषधोपवास व्रत

पौषध शब्द संस्कृत के 'उपवसथ' शब्द से निर्मित हुआ है जिसका अर्थ है—धर्माचार्य के समीप या धर्मस्थान में रहना, धर्मस्थान में निवास करते हुए उपवास करना, पौषधोपवास है। दूसरे शब्दों में कहें तो पौषध व्रत का अर्थ है—पोषना, तृप्त करना। हम प्रतिदिन भोजन से शरीर को तृप्त करते हैं किन्तु आत्मा भूखा ही रहता है। इस व्रत में शरीर का पोषण न कर, आत्मा को तृप्त किया जाता है। आत्म चिन्तन, मनोमन्थन कर आत्म भाव में रमण करना पौषध व्रत है। पौषधोपवास व्रत आत्म अभ्युदय की सर्वोत्तम साधना है। गृहस्थ श्रावक को अपने गृहस्थाश्रम के उत्तरदायित्वों को निभाने के कारण अत्यधिक समयाभाव रहता है। किन्तु उसे जो भी अवकाश मिलता है, उस अवकाश को वह आन्तरिक चिन्तन, आत्मविकास और आत्मशक्ति की अभिवृद्धि हेतु लगाता है। इसीलिए अष्टमी, चतुर्दशी, पक्खी प्रभृति पर्व तिथियों में अष्ट प्रहर का पूर्ण आहार लेकर वह पौषधोपवास करता है और पूरे दिन रात आत्मा के चिन्तन-मनन में पुरुषार्थ करता है।[1] शारीरिक पुरुषार्थ तो पशु भी करते हैं। इस दृष्टि से मानव से भी आगे माने जा सकते हैं किन्तु मानव की विशेषता बौद्धिक और आध्यात्मिक पुरुषार्थ करने में है।

स्वयं के दोषों का चिन्तन

पौषध में आत्मचिन्तन, आत्मसाधन और आत्मविकास का पुरुषार्थ ही मुख्य रूप से किया जाता है। यद्यपि पूर्वाभ्यस्त संस्कारों को छोड़ने में कुछ कठिनाई अवश्य होती है किन्तु पौषधोपवास का अभ्यासी साधक उन कठिनाइयों से घबराता नहीं है। वह आत्मालोचन, आत्मनिरीक्षण, आत्मनिन्दा, आत्मगर्हा और आत्मशुद्धि का यथेष्ट आत्म-लाभ प्राप्त करता है। जब साधक आत्मचिन्तन करता है तब उसे अपने अन्तर में रही हुई अपनी

---

१ चतुष्पर्व्यां चतुर्थादि कुव्यापारनिषेधनम्।
ब्रह्मचर्य क्रियास्नानादि त्यागः पौषधव्रतम्॥ —योगशास्त्र ३।८५

कमजोरियों का परिष्कार होता है और जिन शक्तियों की कमी है उन शक्तियों की पूर्ति के लिये वह प्रयास करता है। पौषध में परदोष का चिन्तन नहीं होता किन्तु स्वयं के दोषों का ही चिन्तन किया जाता है कि मेरे में क्या-क्या दोष हैं और उन दोषों से मैं किस प्रकार मुक्त हो सकता हूँ। दूसरों का सुधारना अपने हाथ में नहीं है किन्तु व्यक्ति अपने आप को तो सुधार ही सकता है। यही कारण है पौषध में साधक को सांसारिक प्रवृत्तियों से मुक्त होकर निरंतर धर्म-जागरण आत्म जागरण करना चाहिये।

आत्मशक्ति का प्रकटीकरण

पौषधव्रती साधक का आत्म चिन्तन करते समय संभव है कि कभी उपसर्ग भी उपस्थित हो तो भी उसे विचलित नहीं होना चाहिये। उपासक दशांग में कामदेव श्रावक का वर्णन है। उन्हें विचलित करने के लिये एक देव प्रकट हुआ था। उसने अपनी अनेक काली करतूतें भी दिखायीं। किन्तु कामदेव किञ्चित मात्र भी विचलित नहीं हुए। दियासलाई में आग प्रच्छन्न रूप से रही हुई होती है किन्तु वह आग बिना रगड़ खाये प्रगट नहीं होती। वैसे ही मानव की आत्मा में प्रचुर मात्रा में शक्ति विद्यमान है और वह शक्ति पौषध की रगड़ से प्रगट होती है।

पौषध के चार प्रकार

आवश्यकसूत्र के वृत्तिकार[1] ने पौषधोपवास का लक्षण इस प्रकार व्यक्त किया है—धर्म और अध्यात्म को पुष्ट करने वाला विशेष नियम धारण करके उपवास सहित पौषध में रहना। शास्त्रकार ने पौषध के मुख्य रूप से चार भेद[2] किये हैं।

(१) आहार-पौषध—आहार का त्याग कर पौषध करना। आहार करने से नीहार भी करना पड़ता है। आहार को लाने पकाने, खाने और पचाने में अत्यधिक समय का व्यय होता है। अधिक आहार आत्म चिन्तन में बाधक बनता है। आहार त्याग कर धर्म ध्यान में अधिक समय लगाया जा सकता है।

---

१ पौषधे उपवसनं पौषधोपवासः नियमविशेषाभिधानं चेदं पौषधोपवासः।
—आवश्यकवृत्ति

२ पोसहोववासे चउव्विहे पण्णत्ते तं जहा—आहारपोसहे सरीरपोसहे बंभचेरपोसहे अव्वावाहारपोसहे।

पंचम गुणस्थानवर्ती होने से श्रावक शुक्लध्यान तो कर नहीं सकता, तथा आर्त और रौद्र ध्यान पौषध में निषिद्ध होने से वह केवल धर्मध्यान ही ध्याता है। धर्मध्यान से ही वह पौषधव्रत पूर्ण करता है।

पौषध व्रत के पाँच अतिचार

पौषधव्रत के पाँच अतिचार[1] इस प्रकार हैं—

(१) अप्रतिलेखित-दुष्प्रतिलेखित शय्या-संस्तारक—पौषध-योग्य स्थान आदि का भली प्रकार से निरीक्षण न करना।

(२) अप्रमार्जित-दुष्प्रमार्जित शय्या-संस्तारक—पौषध योग्य शय्या आदि का सम्यक्-प्रमार्जन न करना।

(३) अप्रतिलेखित-दुष्प्रतिलेखित उच्चार प्रस्रवण भूमि—मल मूत्र त्यागने के स्थान का निरीक्षण न करना।

(४) अप्रमार्जित-दुष्प्रमार्जित उच्चार प्रस्रवण भूमि—मल मूत्र की भूमि को साफ किये बिना या बिना अच्छी तरह साफ किये उपयोग करना।

(५) पौषधोपवास-सम्यगननुपालनता—पौषधोपवास का सम्यक् प्रकार से पालन न करना।

प्रथम चार अतिचारों में अनिरीक्षण, दुर्निरीक्षण अथवा अप्रमार्जन के कारण हिंसा दोष की संभावना रहती है।

(४) अतिथिसंविभागव्रत

व्रतों के परिपालन से आध्यात्मिक उन्नतता के साथ ही श्रावक में विश्वबन्धुत्व की उदात्त भावनाएँ भी अंगड़ाइयाँ लेने लगती हैं। वह सर्वस्व समर्पित करने के लिए प्रस्तुत हो जाता है। अतिथिसंविभाग व्रत में दया, दान, करुणा और परमार्थ की भावनाएँ ही मुख्य रूप से रही हुई हैं। स्व-कल्याण के साथ ही पर-कल्याण के लिये भी श्रावक प्रयास करता है। वह स्वयं के लिए बनाये हुए खाद्य-पदार्थ, वस्त्र पात्र औषध आदि अतिथियों को समर्पित करता है। समय आने पर स्वयं के पास जो भी साधन सामग्री है वह दूसरों को समर्पित कर देता है। आगम साहित्य में जहाँ-तहाँ जो श्रमणों को दान दिया जाता है उसके लिये प्रतिलाभ शब्द व्यवहृत हुआ है।

अतिथि का अर्थ

अतिथि का अर्थ है—जिसके आने की कोई भी तिथि दिन या समय

---

१ उपासकदशा १।५५, पृ० १२ अभयदेव वृत्ति

बढ़ता है। फिर एक दिन अपने कुटुम्ब का सम्पूर्ण उत्तरदायित्व सन्तान को समर्पित कर और स्वयं पौषधशाला में जाकर सारा समय धार्मिक क्रियाओं में व्यतीत करता है। कितने ही आचार्य सम्पूर्ण उत्तरदायित्व समर्पित कर धार्मिक साधना की बात नहीं करते, उनका मन्तव्य है कि गृहस्थाश्रम में रहकर ही श्रावक नियमोपनियम का सम्यक् प्रकार से पालन करते हैं।

प्रतिमाएं

प्रतिमा का अर्थ है—प्रतिज्ञा विशेष, व्रत विशेष,[1] तप विशेष साधना पद्धति। प्रतिमा स्थित साधक श्रमण के सदृश व्रत विशेषों का पालन करता है। उसका जीवन एक तरह से श्रमण जीवन की प्रतिकृति है।

श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों के ग्रन्थों में उपासक की एकादश प्रतिमाओं का वर्णन आया है। क्रम व नामों में कुछ अन्तर है। वह इस प्रकार है—

श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार[2]

(१) दर्शन (२) व्रत (३) सामायिक (४) पौषध (५) नियम (६) ब्रह्मचर्य (७) सचित्तत्याग (८) आरम्भत्याग (६) प्रेष्य परित्याग अथवा परिग्रह परित्याग (१०) उद्दिष्टभक्तत्याग (११) श्रमणभूत।

दिगम्बर परम्परा के अनुसार[3]

(१) दर्शन (२) व्रत (३) सामायिक (४) पौषध (५) सचित्तत्याग (६) रात्रिभुक्तित्याग (७) ब्रह्मचर्य (८) आरम्भत्याग (९) परिग्रहत्याग (१०) अनुमतित्याग (११) उद्दिष्टत्याग।

दिगम्बर परम्परा के अनुसार उद्दिष्टत्याग क्षुल्लक और ऐलक इस प्रकार दो प्रकार का है। प्रथम चार प्रतिमाओं के नाम दोनों ही परम्पराओं में एक समान हैं। सचित्तत्याग का क्रम दिगम्बर परम्परा में पाँचवाँ है तो श्वेताम्बर परम्परा में सातवाँ है। दिगम्बर परम्परा में रात्रिभुक्तित्याग को स्वतन्त्र प्रतिमा गिना है जब कि श्वेताम्बर परम्परा में पाँचवीं प्रतिमा नियम में उसका समावेश होता है। ब्रह्मचर्य का क्रम श्वेताम्बर परम्परा में

---

१ (क) प्रतिमा प्रतिपत्ति प्रतिज्ञा विशेष [illegible] —स्थानांगवृत्ति ११ [illegible]
  (ख) प्रतिमा—प्रतिमा अभिग्रह —वही, पत्र १८४
२ (क) दशाश्रुतस्कन्ध ६ दशा (ख) विंशिका १० वीं —समवायांग ११
३ रत्नकरण्ड श्रावकाचार, वसुनन्दी श्रावकाचार आदि

छठा है तो दिगम्बर परम्परा में सातवाँ है। दिगम्बर परम्परा में अनुमति त्याग को दसवीं प्रतिमा के रूप में उल्लेख है किन्तु श्वेताम्बर परम्परा के उद्दिष्टत्याग में इसका समावेश हो जाता है। चूंकि इस प्रतिमा में श्रावक उद्दिष्टभक्त ग्रहण न करने के साथ अन्य आरम्भ का भी समर्थन नहीं करता है। श्वेताम्बर परम्परा में जो श्रमणभूत प्रतिमा है उसे ही दिगम्बर परम्परा में उद्दिष्टत्याग प्रतिमा कहा है क्योंकि इसमें श्रावक का आचार श्रमण के सदृश होता है।

दिगम्बर श्वेताम्बर ग्रन्थों के अनुसार प्रतिमाओं का वर्णन इस प्रकार है—

(१) दर्शन प्रतिमा—इस प्रतिमा को धारण करने वाला श्रावक देवगुरु की सेवा करता है। श्रावकधर्म और श्रमणधर्म पर उसकी अत्यन्त निष्ठा होती है। यह प्रतिमा सम्यग्दर्शन की सुदृढ नींव पर अवस्थित है जिसके आधार पर ही व्रतों का भव्य भवन खड़ा होता है। श्रावक निरतिचार इस प्रतिमा का आराधन करता है। प्रस्तुत प्रतिमा की आराधना अविरत सम्यग्दृष्टि भी कर सकता है। जिसने क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त कर लिया है वह यह प्रतिमा धारण नहीं कर सकता और न औपशमिक सम्यक्त्वधारी ही यह प्रतिमा धारण करता है। क्षायिक सम्यक्त्वधारी का सम्यक्त्व निर्मल होता है उसको अतिचार नहीं लगता और औपशमिक सम्यक्त्व की स्थिति केवल अन्तर्मुहूर्त की ही होती है अतः वह मासिक प्रतिमा को किस प्रकार धारण कर सकता है। इसलिए क्षायोपशमिक सम्यक्त्वी ही प्रस्तुत प्रतिमा धारण करता है।[१]

यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि सामान्य रूप से जो सम्यग्दर्शनी है और प्रतिमाधारी जो सम्यग्दर्शनी है उसमें अन्तर है। *सामान्य सम्यक्त्वी राज्याभियोग आदि आगारों को रखता है पर प्रस्तुत प्रतिमाधारी नहीं।* उसमें मलिनता कम होती है। वह केवल निर्ग्रन्थ प्रवचन को ही यथार्थ मानता है। इस प्रतिमा के धारक को दार्शनिक श्रावक भी कहते हैं। इस का धारक सम्यक्त्व की साक्षात् मूर्ति होता है।

(२) व्रत प्रतिमा—अतिचाररहित पंच अणुव्रतों का सम्यक् प्रकार से

---

१ (क) गृहस्थ धर्म—उपाध्याय पुष्करमुनिजी महाराज पृ० २०

(ख) आयारदशा ६।१८ पृ० ५५

पालन करना उनमें किसी भी प्रकार का दोष नहीं लगने देना।[1] वह तीनों शल्यों से मुक्त होता है। वह शीलव्रत, गुणव्रत, प्रत्याख्यान आदि का भी अभ्यास करता है। द्वादश व्रतों में आठवें व्रत तक तो वह नियमित रूप से पालन करता है। पर सामायिक देशावकाशिक व्रतों की आराधना परिस्थिति के कारण नियमित रूप से सम्यक् प्रकार से नहीं भी कर पाता। पर उसकी श्रद्धाप्ररूपणा सम्यक् होती है। सामान्य श्रावक अणुव्रत और गुणव्रत को धारण करता भी है और नहीं भी करता है जबकि व्रत प्रतिमा में अणुव्रत और गुणव्रत धारण करना आवश्यक ही नहीं अनिवार्य है। व्रत में कई पत्नियाँ रखकर भी व्रत ले सकता है पर प्रतिमाधारी उपपत्नी नहीं रख सकता। प्रतिमाधारी में भावशुद्धि अधिक होती है।

(३) सामायिक प्रतिमा—अपने अपूर्व उत्साह, वीर्य व उल्लास से पूर्व प्रतिमाओं का सम्यक् प्रकार से पालन करता है और अनेक बार सामायिक की साधना करता है व देशावकाशिक व्रत का भी पालन करता है। अष्टमी चतुर्दशी आदि पर्व दिनों में प्रतिपूर्ण पौषध भी करता है।

दिगम्बर ग्रन्थों के अनुसार सामायिक प्रतिमा में तीनों सन्ध्याओं में सामायिक करना आवश्यक माना गया है। सामायिक में उत्कृष्ट काल छह घड़ी का है। एक बार में दो घड़ी की सामायिक होने से तीन बार जो सामायिक की जाती है उसमें छह घड़ी सहज रूप से हो जाती हैं।

आचार्य समन्तभद्र[2] का यह अभिमत है कि इसमें जो सामायिक होती है वह 'यथाजात' होती है। यथाजात से इनका तात्पर्य यह है कि नग्न होकर सामायिक की जाय। तीन बार दिन में दो दो घड़ी तक नग्न रहने से आगे चलकर वह दिगम्बर श्रमण बन सकता है। पर श्वेताम्बर परम्परा में इस प्रकार का विधान नहीं है।

(४) पौषध प्रतिमा—व्रत की दृष्टि से पौषध ग्यारहवाँ व्रत है और प्रतिमा की दृष्टि से वह चतुर्थ प्रतिमा है। व्रत में देशतः पौषध भी ह

---

१ पंचाणुव्वयधारित्तमणइयारं वएगु पडिवद्धा।
वयणा सल्लरहियारा वयपडिमा सुप्पसिद्ध त्ति ॥ —विंशतिका १०।

२ चतुरावर्तत्रितयश्चतुःप्रणामः स्थितो यथाजातः।
सामायिको द्विनिषद्यस्त्रियोगशुद्धस्त्रिसन्ध्यमभिवन्दी ॥
—रत्नकरण्ड श्रावकाचार १

भी न पीने के लिए करता है, न स्नान के लिए करता है और न वस्त्र प्रक्षालन के लिए करता है।

दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थों में इस प्रतिमा का नाम 'सचित्त त्याग' दिया है। लाटीसंहिता[1] में लिखा है कि रोगादि होने पर उसे रात्रि में गंध माल्यविलेपन और तैलाभ्यंगन भी नहीं करना चाहिए। पं० प्रवर दौलतरामजी[2] ने रात्रि में गमनागमन का निषेध किया है तथा अन्य आरम्भ का भी निषेध किया है।

(६) ब्रह्मचर्य—पाँचवीं प्रतिमा में श्रावक दिवा मैथुन का त्याग करता है पर रात्रि में इसका नियम नहीं होता। किन्तु प्रस्तुत प्रतिमा में चाहे दिन हो, चाहे रात्रि हो वह मन वचन और काया से पूर्णतया अब्रह्म का त्याग करता है। वह पूर्ण जितेन्द्रिय बन जाता है। वह इन्द्रियों के विषय विकारों में आसक्त नहीं होता।[3]

दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थों में इस छठी प्रतिमा का नाम 'रात्रिभुक्ति त्याग' दिया है और उस पर चिन्तन करते हुए लिखा है कि प्रस्तुत प्रतिमा का सम्बन्ध उपभोग-परिभोगपरिमाणव्रत से है। उपभोग के योग्य पदार्थों में सबसे प्रधान वस्तु है—स्त्री। अतः दिन में मन वचन और काया से स्त्री-सेवन का परित्याग किया जाता है। प्रतिमा धारण करने के पूर्व भी श्रावक दिन में मैथुन का सेवन नहीं करता किन्तु हास परिहास के रूप में वह मनो विनोद कर लेता था। किन्तु प्रतिमा धारण करने के पश्चात् उसका भी वह परित्याग कर देता है। दिवा मैथुन और रात्रिभुक्ति ये दोनों कार्य इस प्रतिमा में होते हैं।

(७) सचित्तत्याग प्रतिमा—यावज्जीवन के लिए सभी प्रकार के सचित्त आहार का परित्याग कर अचित्त आहार को ग्रहण करता है। आहार प्रत्येक जीवात्मा के लिए आवश्यक है। पर जो आहार भक्ष्य व अचित्त हो वही प्रस्तुत प्रतिमाधारी श्रावक ग्रहण कर सकता है। जो आहार सचित्त है उसे वह ग्रहण नहीं कर सकता। जैसे गुठलीयुक्त आम, गुठली युक्त पिण्डखजूर, बीजयुक्त मुनक्का आदि।

प्रश्न यह है कि सातवें व्रत में सचित्त आहार का परित्याग हो गया है तो फिर प्रस्तुत प्रतिमा में नई बात क्या है?

---

१ लाटी संहिता [illegible] • पं० [illegible]
२ [illegible] भाग १ पृ० [illegible]
३ (क) [illegible] ६। (ख) [illegible] १०१८ ११

उत्तर है—मर्यादा के उपरान्त सचित्त आहार करना अतिचार है जब कि प्रस्तुत प्रतिमा में सचित्त का सर्वथा त्याग होता है। व्रतधारी की अपेक्षा यह अधिक जागरूक होता है तथा इसका त्याग भी अधिक होता है।

(८) आरम्भत्याग प्रतिमा—सचित्त त्याग के पश्चात् सभी प्रकार के सावद्य आरम्भ का त्याग किया जाता है। आरम्भ शब्द जैन परम्परा का एक पारिभाषिक शब्द है जिसका अर्थ है—हिंसात्मक क्रिया। श्रमणोपासक सकल्पपूर्वक त्रस जीवों की हिंसा नहीं करता, किन्तु कृषि वाणिज्य अन्य व्यापार और घर गृहस्थ के कार्यों को करते हुए षट्काय के जीवों की हिंसा हो जाती है। प्रस्तुत प्रतिमा में उन हिंसाओं से बचा जाता है। मन से किसी प्राणी के हनन का विचार करना मानसिक आरम्भ है यानी हिंसा है। इस प्रकार की वाणी का उपयोग करना जिससे दूसरों का हृदय तिलमिला उठे वह वाचिक आरम्भ है। शस्त्र आदि के द्वारा या शारीरिक क्रियाओं के द्वारा किसी प्राणी का हनन करना कायिक आरम्भ है। इस तरह मानसिक वाचिक और कायिक तीनों आरम्भ का वह त्याग करता है।[1]

यहा पर यह स्मरण रखना चाहिए कि श्रावक स्वय आरम्भ का त्याग करता है परन्तु वह सेवक आदि से आरम्भ कराने का त्यागी नहीं होता। उसका आरम्भ का त्याग एक करण, तीन योग से होता है। पुत्र-भृत्य आदि जो व्यापार आदि करते चले आ रहे हैं उन्हें वह रोकता नहीं। आचार्य सकलकीर्ति[2] ने आठवीं प्रतिमाधारी को रथादि के सवारी के त्याग का भी विधान किया है।

(९) प्रेष्य-परित्याग—प्रस्तुत प्रतिमाधारी सेवक व्यक्तियों से भी किञ्चित मात्र भी आरम्भ नहीं कराता है। स्वय ने तो आरम्भ का परित्याग आठवीं प्रतिमा में ही ग्रहण किया हुआ होता है। आठवीं प्रतिमा में एक करण तीन योग से आरम्भ का त्याग होता है और इस नौवीं प्रतिमा में दो करण तीन योग से आरम्भ का त्याग होता है।

प्रस्तुत प्रतिमाधारी श्रावक जलयान नभोयान, स्थलयान आदि किसी भी वाहन का उपयोग न स्वय करता है और न दूसरों को उपयोग

१ एवं चिय आरंभ वज्जइ सावज्जमट्ठमासं जा।
तप्पडिया पसहि त्रि अप्प कारेइ उवउत्ता ॥ —विंशतिका १०।१४

२ प्रश्नोत्तर श्रावकाचार श्लो० १०७

करने के लिए कहता ही है। किन्तु भी कुटुम्ब सम्बन्धी कार्य हैं जैसे-गृहनिर्माण, व्यापार, पुत्र पुत्रियों के विवाह आदि जिनमें आरम्भ रहा हुआ होता है उनके सम्बन्ध में वह स्वयं आरम्भ करता है, और न दूसरों से करवाता है किन्तु उस आरम्भ का त्याग नहीं होता।

इस प्रतिमा में श्रावक सामायिक में अधिक रत रहता है। वह अन्य अनुरोध पर अनुमोदन करना भी बन्द कर देता है। उसकी परिग्रह की वृत्ति भी न्यून हो जाती है। परिग्रह की वृत्ति न्यून होने से इस प्रतिमा का अपर नाम परिग्रह-परित्याग भी है।

दिगम्बर परम्परा का यह मन्तव्य है कि इस प्रतिमा में श्रावक सम्पूर्ण परिग्रह का परित्याग कर देता है। केवल वस्त्र आदि जो बहुत ही आवश्यक हैं उन्हें रखता है। पण्डित दौलतरामजी[1] ने अपने क्रिया-कोष ग्रन्थ में स्पष्ट लिखा है कि प्रस्तुत प्रतिमाधारी श्रावक काष्ठ और मिट्टी से निर्मित पात्र रख सकता है, धातु पात्र नहीं रख सकता। गुणभूषण[2] ने प्रस्तुत प्रतिमाधारी श्रावक के लिए वस्त्र के अतिरिक्त सभी प्रकार के परिग्रह परित्याग का वर्णन किया है।

(१०) उद्दिष्टभक्तत्याग—नौवीं प्रतिमा में श्रमणोपासक न स्वयं आरम्भ करता है और न दूसरों से आरम्भ करवाता है। पर उसके निमित्त जो आहार आदि तैयार किया हुआ है उसे वह ग्रहण कर लेता है। किन्तु प्रस्तुत प्रतिमा धारण के बाद अपने निमित्त से बना हुआ आहार आदि भी वह ग्रहण नहीं करता। वह निरन्तर स्वाध्याय और ध्यान में तल्लीन रहता है। वह अपने सिर के बालों का शस्त्र से मुण्डन करवाता है किन्तु चोटी अवश्य रखता है, क्योंकि वह गृहस्थाश्रम का चिह्न है।[3]

सम्भव है वैदिक परम्परा में वानप्रस्थाश्रमी केश आदि रखते थे। पर दसवीं प्रतिमाधारी श्रावक केश आदि नहीं रख सकता था। शिखा रखने की परम्परा वैदिक काल में प्रचलित थी। कहा जाता है कि भगवान ऋषभदेव ने जब दीक्षा ग्रहण की तब चार मुष्टि लोच किया। पाँचवीं

---

१ क्रिया कोष श्रावकाचार भाग ५ पृ० ३७५

२ गुणभूषण श्रावकाचार श्रावकाचार भाग २ पृ० ४५४, श्लो० ७३

"... ... वा सिहा धारए वा तस्स ण आभट्ठस्स समाणस्स कप्पति दुवे भासाओ भासित्तए ... ।" —दशाश्रुतस्कन्ध ६।१०

मुष्टि लाच करन वाले ही थे कि इन्द्र की अभ्यर्थना से वह लोच नही किया और उसी समय मे शिखा रखने की परम्परा प्रचलित हो गई।[1]

प्रस्तुत प्रतिमाधारी श्रावक की यह विशेषता है कि वह जिस के सम्बन्ध म जानता है तो पूछने पर वह कि मैं जानता हूँ और यदि नही जानता है तो स्पष्ट रूप स कह द कि मैं उसे नही जानता । सत्य शिव सुन्दरम' उसे इष्ट है। वह एसी भाषा का प्रयोग नही करता है जिमस किसी को हानि हो। वह भाषा का पूर्ण विवेक रखता है।

दिगम्बर परम्परा के अनुसार इस प्रतिमा का नाम अनुमतित्याग प्रतिमा है। जिसका अर्थ है—जो भी आरम्भ आदि के काय हैं उनके लिए वह अनुमति भी नहा देता। वह घर म रहकर भी घर के इष्ट-अनिष्ट कार्यों के प्रति न राग करता है न द्वेष ही करता है। कमल की तरह निर्लिप्त रहता है। भोजन का समय होने पर भोजन के लिए आमन्त्रित करने पर वह भोजन कर लेता है। भले ही वह भोजन उसके लिए निर्मित हो। किन्तु वह भोजन की अनुमोदना नही करता। वह परिमित वस्त्र धारण करता है। अपन निमित्त बन हुए भोजन व वस्त्र के अतिरिक्त वह किसी भी भोगोपभोग सामग्री का उपयोग नही करता। जब उसे यह प्रतीत होता है कि घर म रहने स आकुलता रहती है जिससे साधना मे बाधा उपस्थित होती है तो वह घर का परित्याग कर निग्रन्थ श्रमणो की सेवा म पहुँच जाता है। भिक्षावृत्ति ग्रहण कर जीवन निर्वाह करता है। उसके पश्चात वह मुनि बन जाता है। पुरुषार्थ अनुशासन[2] ग्रन्थ म लिखा है कि दसवी प्रतिमा का धारक श्रावक सभी पाप-कृत्यो या गृहारम्भ की अनुमति नही देता किन्तु वह पुण्य कार्यों की अनुमति देता है।

(११) श्रमणभूत प्रतिमा—प्रस्तुत प्रतिमाधारी श्रावक श्रमण के सदृश जीवन यापन करता है। वह श्रमण के समान निर्दोष भिक्षा प्रतिलेखन, स्वाध्याय, ध्यान कायोत्सर्ग समाधि आदि म लीन रहता है। सभी प्रतिमाओ का निरतिचार पालन करता है। उसकी वेशभूषा निग्रन्थ की भाँति होती है। वह मुख पर मुखवस्त्रिका चोलपट्टक चद्दर तथा रजोहरण आदि जो श्रमण की वेशभूषा है उसी तरह धारण करता है। यदि

---

१ कल्पसूत्र ऋषभाधिकार

२ पुरुषार्थानुशासन—भावसग्रह श्लोक ६० ७० प० गोविन्द

शरीर में शक्ति हो तो दाढ़ी मूँछ आदि का लुञ्चन करता है और शक्ति के अभाव में उस्तरे आदि से भी मुण्डन करवा सकता है। पंच समिति का परिपालन करता है। वह श्रमण की भाँति हर घर से भिक्षा नहीं लेता किन्तु स्वजाति और स्वधर्मी से भिक्षा ग्रहण करता है पर अज्ञात कुल से नहीं। जब वह किसी गृहस्थ के घर पर भिक्षा के लिए जाता है तब वह कहता है—प्रतिमा प्रतिपन्न श्रमणोपासक को भिक्षा दो। वह श्रमण की तरह मौन होकर भिक्षा के लिए नहीं जाता। बोलने की जो बात कही गई है वह इसलिए है कि श्रमणोपासक और श्रमण का वेश एक सा होने से कहीं श्रमणोपासक को श्रमण न समझ लिया जाय। इसलिए वह स्पष्टीकरण करता है। दूसरी बात यह है कि वह श्रमणोपासक है। अभी तक वह श्रमण नहीं बना है। श्रमणोपासक होने के नाते किसी के घर में प्रविष्ट होना उचित नहीं। प्रतिमाधारी होने के कारण यदि आहार आदि के लिए प्रविष्ट होता है तो वह स्पष्ट शब्दों में कह देता है कि मैं श्रमणोपासक हूँ, आहार आदि के लिए आया हूँ।

दशाश्रुतस्कन्ध[1] के अनुसार ग्यारहवीं प्रतिमा सम्पन्न कर श्रमणोपासक श्रमण बन जाता है। आचार्य हरिभद्र[2] का मन्तव्य है कि कितने ही बार संक्लेश बढ़ जाने से श्रमण न बनकर गृहस्थ भी हो जाता है।

दिगम्बर-परम्परा में ग्यारहवीं प्रतिमा का नाम उद्दिष्टत्याग है। वहाँ ग्यारहवीं प्रतिमा के क्षुल्लक और एलक ये दो भेद किये[3] हैं। क्षुल्लक एक ही वस्त्र रखता है। वह मुनियों की तरह खड़े-खड़े भोजन नहीं करता। उसके लिये आतापन योग, वृक्षमूल योग प्रभृति योगों की साधना का भी निषेध है। वह क्षौर-कर्म से मुण्डन भी करवा सकता है और लोच भी। पाणि-पात्र में भी भोजन कर सकते हैं और कांसी के पात्र आदि में भी। चोटी लगाता है। इसलिए यह क्षुल्लक कहलाता है।

दूसरा भेद 'ऐलक' है। एलक शब्द ग्यारहवीं प्रतिमाधारक के मात्र का वस्त्र धारण करने वाले उत्कृष्ट श्रावक के लिए व्यवहृत है

---

१ दशाश्रुतस्कन्ध ६।११

२ आसेविऊण एवं कोई पव्वइइ तह गिही होइ।
तब्भावभेयओ च्चिय विसुद्धिसंकिलेसभावेण ॥ —विंशतिका १०।१९

३ दर्शन—वसुन । श्रावकाचार सागारधर्मामृत पं० आशाधर धर्मसंग्रह श्रावकाचार गुणभूषण श्रावकाचार आदि।

दिगम्बर परम्परा के आचार्यों ने ग्यारह प्रतिमाधारी श्रावकों को तीन विभागों में विभक्त किया है—गृहस्थ, वर्णी या ब्रह्मचारी तथा भिक्षु। पहली से छठी प्रतिमा तक गृहस्थ, सातवीं और आठवीं और नवमी प्रतिमाधारी वर्णी और अन्तिम दसवीं और ग्यारहवीं प्रतिमाधारी को भिक्षु की संज्ञा प्रदान की है। कितने ही आचार्यों ने इन्हें जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट श्रावक की संज्ञा से भी अभिहित किया है। ग्यारहवां प्रतिमाधारी परमोत्कृष्ट श्रावक कहलाता है। आचार्य वसुनन्दी[1] ने अपने उपासकाध्ययन ग्रन्थ में लिखा है कि वह भिक्षापात्र ग्रहण कर और घरों से भिक्षा माँग कर या एक स्थान पर बैठकर भोजन करे।

श्वेताम्बर और दिगम्बर ग्रन्थों में

प्रतिमाओं के सम्बन्ध में श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों ही परम्पराओं के ग्रन्थों में वर्णन है। अंग सूत्रों में समवायांग में ११ प्रतिमाओं का वर्णन है। उपासकदशांग सूत्र में व्रतों का विश्लेषण हुआ है किन्तु प्रतिमाओं के सम्बन्ध में विस्तार से वर्णन नहीं है। दशाश्रुतस्कन्ध में ग्यारह प्रतिमाओं का विस्तार से वर्णन मिलता है। आचार्य हरिभद्र ने विंशिका में प्रतिमाओं के सम्बन्ध में चिन्तन किया है। आचार्य उमास्वाति ने तत्त्वार्थ सूत्र में व्रत और उनके अतिचारों का विश्लेषण किया है किन्तु प्रतिमाओं के वर्णन के सम्बन्ध में वे मौन रहे हैं। तत्त्वार्थसूत्र के सभी टीकाकार चाहे वे श्वेताम्बर परम्परा के रहे हों, या दिगम्बर परम्परा के रहे हों, उन्होंने प्रतिमाओं का कोई उल्लेख नहीं किया है। इसी तरह दिगम्बर परम्परा के पूज्यपाद[2] अकलंक[3] विद्यानन्दी[4] शिवकोटि[5] रविषेण[6] जटासिंह नन्दी[7] जिनसेन[8] पद्मनन्दी[9] देवसेन[10] अमृतचन्द्र[11] आदि ने श्रावक के व्रतों के सम्बन्ध में चिन्तन किया, किन्तु प्रतिमाओं के सम्बन्ध में नहीं। दूसरी परम्परा यह भी रही है कि उन्होंने व्रतों के साथ प्रतिमाओं का उल्लेख ही नहीं किया किन्तु विस्तार से निरूपण भी किया। उन

---

१ वसुनन्दी श्रावकाचार
२ तत्त्वार्थसूत्र—सर्वार्थसिद्धि
३ तत्त्वार्थसूत्र—राजवार्तिक
४ तत्त्वार्थसूत्र—श्लोकवार्तिक
५ रत्नमाला
६ पद्मचरित
७ वरांगचरित
८ हरिवंशपुराण
९ पंचविंशतिका
१० भावसंग्रह (प्राकृत)
११ पुरुषार्थसिद्ध्युपाय

आचार्य समन्तभद्र[1] सोमदेव[2] अमितगति[3] वसुनन्दी[4] पं० आशाधर[5], मेधावी सकलकीर्ति[6] प्रभृति के नाम विशेष रूप से लिये जा सकते हैं।

उपासकदशांग सूत्र में वर्णन है कि आनन्द आदि श्रावकों ने पहले व्रतों की आराधना की। उसके पश्चात् प्रतिमाओं की। भगवती सूत्र में कार्तिक सेठ का एक प्रसंग है। वे एक हजार आठ व्यापारी निगम के प्रथमासनिक (नगराध्यक्ष) थे। उन्होंने पाँचवीं प्रतिमा का एक सौ बार पालन किया था। एक बाल तपस्वी उनसे नमस्कार कराना चाहता था। राजा के कहने से कार्तिक श्रेष्ठी की पीठ पर गर्मागर्म खीर रखकर खाई। जिसके फलस्वरूप उनकी पीठ पर छाले हो गये। किन्तु उपसर्ग को शान्त भाव से सहन करने के कारण वे प्रथम देवलोक के देव बने।

प्रतिमा : एक चिन्तन

प्रतिमाएँ वही श्रावक ग्रहण करता है जिसे नवतत्त्व की सम्यक् जानकारी होती है। जब तक जानकारी न हो तब तक प्रतिमाओं का सम्यक् पालन नहीं हो सकता। कितने ही विचारकों का यह अभिमत है कि प्रथम प्रतिमा में एक दिन उपवास और दूसरे दिन पारणा, द्वितीय प्रतिमा में बेले-बेले पारणा, इसी तरह क्रमशः तेले-तेले चौले-चौले से लेकर ग्यारह तक तप कर पारणा किया जाये। पर उन विचारकों का कथन किसी आगम या परवर्ती ग्रन्थों से प्रमाणित नहीं है। आनन्द आदि श्रावकों ने प्रतिमाओं के आराधन के समय तप आदि अवश्य किया। पर इतना ही तप करना चाहिये इसका स्पष्ट निर्देश वहाँ नहीं है। कितने ही विचारकों का यह भी मानना है कि वर्तमान में कोई भी श्रावक प्रतिमाओं की आराधना नहीं कर सकता। जैसे भिक्षु प्रतिमा का विच्छेद हो गया है वैसे ही श्रावक प्रतिमा का भी विच्छेद हो गया। उन विचारकों की बात चिन्तनीय अवश्य है। श्रमण प्रतिमा में जो कठोर और उग्र साधना है

---

१ रत्नकरण्ड श्रावकाचार
२ उपासकाध्ययन
३ अमितगति श्रावकाचार
४ वसुनन्दी श्रावकाचार
५ सागार धर्मामृत
६ धर्मसंग्रह श्रावकाचार
७ प्रश्नोत्तर श्रावकाचार

परभाव से हटकर स्वभाव म आना प्रदशा नहीं, आत्मदशन करना। यही कारण है कि वह केवल आत्म विकास के लिए प्रव्रज्या ग्रहण करता है।

श्रमण का आचार अत्यधिक कठोर है। आध्यात्मिक विकास क्रम (गुणस्थान की अपेक्षा) मे उसका स्थान छठा है। वह यदि निरन्तर ऊध्व मुखी विकास करता रहे तो अन्त मे चौदहव गुणस्थान की भय भूमिका पर पहुँच जाता है और फिर सदा सवदा के लिए सिद्ध-बुद्ध और मुक्त भी हो जाता है।

जन आगम साहित्य म उसके व्याख्या साहित्य म और अय आचार सम्बधी साहित्य म श्रमण जीवन सम्बन्धी आचार और विचार का बहुत ही विस्तार से वणन है। सयमी जीवन के बारे म एसा क्रमबद्ध सूक्ष्म वणन अयत्र मिलना कठिन है। हम यहाँ पर श्रमणाचार का निरूपण आगम और आगमेतर साहित्य म जिस रूप मे आया है, उस रूप मे प्रस्तुत कर रहे हैं जिससे यह परिज्ञात हो सके कि उन ग्रथो म श्रमण के आचार के सम्बध म कितना विराट और तलस्पर्शी वणन है।

आगम साहित्य मे श्रमणाचार

(१) आचारांग – अग साहित्य मे आचारांग सवप्रथम है। चाहे रचना की दृष्टि से हो या स्थापना की दृष्टि से किन्तु यह पूण सत्य है कि उपलब्ध आगमो म आचारांग रचना शली भाषा शली और विषय वस्तु की दृष्टि से अदभुत व विलक्षण है। आधुनिक विद्वानो के मतानुसार भी इसकी भाषा भगवान महावीरकालीन है। अत यह सवप्रथम अग है इसम कोई सदेह नहीं।

इसम बाह्य और आभ्यन्तर दोनो प्रकार के आचार का निरूपण हुआ है। आचार की प्रमुखता के कारण ही प्रस्तुत आगम समग्र जन आचार की आधारशिला है। सघ की सुव्यवस्था के लिए सवप्रथम पहले आचार की आवश्यकता है। श्रमण जीवन की साधना का जो सजीव चित्र आचारांग म उपलब्ध होता है, वह अनूठा है।

आचाय भद्रबाहु ने स्पष्ट शब्दो मे यह सूचित किया है कि मुक्ति का अव्याबाध सुख प्राप्त करने का मूल आचार है। अगो का सार तत्त्व आचारांग मे रहा हुआ है। मोक्ष का साक्षात कारण आचार है इसलिए आचार प्रवचन का आधार है। इसी कारण बिना आचारांग के परिज्ञान के, कोई भी श्रमण आचाय जसे पद को प्राप्त नहीं कर सकता।

आचाराग के दो श्रुतस्कन्ध हैं। प्रथम श्रुतस्कन्ध मे नौ अध्ययन हैं इनम से सातवा अध्ययन वतमान मे उपलब्ध नही है।

प्रथम 'शस्त्रपरिज्ञा अध्ययन म पथ्वीकाय, अपकाय अग्निकाय वनस्पतिकाय, त्रसकाय और वायुकाय के जीवो का निरूपण करते हुए जीवो के वध न करने का सन्देश दिया गया है।

द्वितीय 'लोकविजय (अथवा लोकविचय) अध्ययन म बताया गया है कि ससार का मूल कषाय है। कषाय पर विजय-वजयन्ती फहराने के लिए स्वजनो म अनासक्ति तप और सयम के द्वारा जो साधना मे शथिल्य आ जाय तो उस शथिल्य से मुक्त होकर साधना म सुदढ रहना चाहिए।

तृतीय शीतोष्णीय अध्ययन म शीत व उष्ण अर्थात् सुख और दुख म समभाव रखने की प्ररणा दी गई है। चाहे अनुकूल स्थिति हो चाहे प्रतिकूल परिस्थितिया हो परीषह समुपस्थित हो कामवासना, शोक-सन्ताप आदि सभी स्थितियो मे साधक को सयम साधना म स्थिर रहना चाहिए।

चतुथ सम्यक्त्व अध्ययन म अहिंसाधम की स्थापना कर सम्यक् वाद का प्ररूपण किया गया है। वहा कहा गया है कि जो हिंसा करते हैं वे अनाय हैं। अहिंसाधम का पालन करने वाला ही सच्चा आय है। अहिंसा धम ही नित्य है ध्रुव है शाश्वत है। अहिंसा, सत्य आदि सद्गुणो पर दृढ निष्ठा रखते हुए इसका आचरण करना चाहिए।

पाँचवें लोकसार' अध्ययन म यह बताया है कि सम्पूण लोक का सार धम है। धम का सार ज्ञान ज्ञान का सार सयम और सयम का सार मोक्ष है। इस पर विस्तार से प्रकाश डाला है।

छठे 'धूत' अध्ययन म तप और सयम के द्वारा कममल को नष्ट करने की प्रेरणा दी गई है।

सातवें महापरिज्ञा अध्ययन मे नियुक्ति और आचाय शीलाक की वत्ति के अनुसार सयमी श्रमण को साधना म विघ्न समुत्पन्न करने वाले मोहजन्य उपसग और परीषहो को समभाव से सहन करने की प्रबल प्रेरणा दी गई है। किन्तु यह अध्ययन वतमान म उपलब्ध नही है।

आठवें विमोक्ष' या विमोह अध्ययन म सभी प्रकार के मोह से मुक्त होने का उपदेश दिया गया है। अपने से भिन्न आचार वाले श्रमणो के साथ किस प्रकार व्यवहार रखना चाहिए ?—इस पर भी प्रकाश डाला गया है। श्रमण प्रतिमाएँ, पादपोपगमन सथारे आदि के सम्बन्ध म विस्तार

करते हुए इस बात पर बल दिया गया है कि यदि संयम भग करने की स्थिति उत्पन्न हो तो मरण का वरण कर लेना चाहिए किन्तु संयम का परित्याग नहीं करना चाहिए।

नौवें उपधानश्रुत' अध्ययन म भगवान महावीर की साधना का दान्त चित्र उपस्थित किया है और इसी तरह अ य साधकों को भी साधना पथ पर बढ़ने के लिए उत्प्रेरित किया है।

द्वितीय श्रुतस्कन्ध 'आचाराग म पाँच चूलिकाएँ हैं। इनम से चार चूलिकाएँ आचारांग म हैं और पाँचवी चूला निशीथ क नाम स प्रसिद्ध है। इन चूलिकाओं म पिण्डषणा शय्यषणा ईर्यषणा भाषषणा, वस्त्रषणा पात्रषणा, अवग्रहैषणा, स्थान, निशाधिका उच्चार प्रस्रवण, शब्द रूप, अयोन्य क्रिया आदि का वणन है। पाँच महाव्रतों की पच्चीस भावनाओं का निरूपण कर, मोक्ष के सम्बन्ध म विविध उपमाए देकर वीतराग स्वरूप का चिन्तन किया है। इसम श्रमण के आचार का हृदयग्राही वणन है। जितने भी श्रमणधम सम्बन्धी पहलू हैं उन सब पर यहाँ गहराई स विवेचन किया गया है।

आचाराग के विषयों की तुलना पालि विनयपिटक के अन्तगत से महावग्ग की जा सकती है जिसम तथागत बुद्ध की संक्षिप्त जीवनी के साथ भिक्षुचर्या के नियम भी हैं।

उपयुक्त वणन से स्पष्ट है कि आचाराग म श्रमणों के लिए जो आचार संहिता प्रस्तुत की गई है वह बहुत ही उग्र है। श्रमण के अशन वसन, पात्र, निवास स्थान के सम्बन्ध म यह नियम बताया है कि श्रमण के निमित्त यदि कोई वस्तु बनाई हुई हो या जो पुरानी हो चुकी हो उसम पुन नवीन संस्कार कर दिया हो तो भी श्रमण उसे ग्रहण न करे।

श्रमण उद्दिष्टत्यागी होता है। जन श्रमण वदिक परम्परा और बौद्ध परम्परा के भिक्षुओं के समान किसी भी गृहस्थ का भोजन आदि के लिए निमन्त्रण स्वीकार नहीं करता।

वदिक परम्परा के ऋषियों के निवास के लिए आश्रमों की व्यवस्था थी और तथागत बुद्ध तथा उनके अनुयायी भिक्षुओं के लिए विहारों का निर्माण किया गया था। पर जन श्रमणों के लिए निवास स्थान का निर्माण करना निषिद्ध था। यदि उसके निमित्त भवन का निर्माण किया जाता और यह बात श्रमण को ज्ञात हो जाती तो वह उसमे नहीं ठहरता था।

बौद्ध भिक्षुओं के लिए वस्त्र ग्रहण करना आवश्यक था। भले हो वह वस्त्र कोई श्रद्धालु खरीद करके भी देता तो उसे बौद्ध भिक्षु सहर्ष ग्रहण कर

भाग म उलझ जाता है। वह साधना म भ्रष्ट हो जाता है। अत श्रमण का स्त्री ससग म सवथा बचते रहना चाहिए।

पाचव 'नरक विभक्ति' अध्ययन म नरक की दारुण वदना का वणन है। छठे 'वीरस्तुति' अध्ययन म भगवान महावीर की विविध उपमाएँ दकर स्तुति की गई है। उनके त्याग वराग्य से छलछलाते हुए जीवन का दिग्दशन है। सातव 'कुशील' अध्ययन म कुशील का वणन है। आठवें वीय अध्ययन म यह बताया है कि साधक को असयम मे नही अपितु सयम म पुरुषाथ करना चाहिए। नौवें 'धम' अध्ययन म धम पर चिन्तन है। दसवें 'समाधि' अध्ययन म भाव समाधि पर प्रकाश डाला गया है। ग्यारहवें माग अध्ययन म ज्ञान दशन चारित्र-तप का विश्लेषण किया गया है। बारहव समवसरण अध्ययन म अक्रियावादी अज्ञानवादी विनयवादी और क्रियावादी—इन चार समवसरणो क उल्लेखपूवक यह बताया गया है कि उनके आचार का क्या रूप था? तरहवें याथातथ्य' अध्ययन म क्रोध का दुष्परिणाम बताकर श्रमण को अहर्निश श्रद्धालु और अमायावी तथा आज्ञापालक होन की प्रेरणा दी गई है। चौदहव ग्रथ अध्ययन म बताया गया है कि श्रमण को बाह्य और आभ्यन्तर परिग्रह स मुक्त होकर सयम की उत्कृष्ट साधना करनी चाहिए। पन्द्रहवें आदान या आदानीय' अध्ययन म यह बताया गया है कि विवेक की तेजस्विता के साथ सयम साधना उत्कृष्ट होनी चाहिए। सोलहवें गाथा अध्ययन म माहन निग्रन्थ भिक्षु श्रमण—ये अनगार क पर्यायवाची शब्द बताकर इनकी व्याख्या की गई है।

द्वितीय श्रुतस्कध म जो सात अध्ययन हैं उन्हें नियुक्ति म महा अध्ययन कहा गया है। इन सात अध्ययनो म दाशनिक विवेचन के साथ ही आचार का सुन्दर विश्लेषण है। वहाँ यह बताया गया है कि जो साधक अनासक्त निग्रह व अहिंसादि महाव्रतो को जीवन म मूतरूप देता है वह मोक्ष का अधिकारी है। बिना प्रयोजन क मनोरजन हेतु की जाने वाली हिंसा अनथदण्ड है। श्रमणो को सयमपूवक आहार ग्रहण करना चाहिए। जो साधक षटकाय के जीवों के वध का परित्याग नही करता उनके साथ मित्रवत् व्यवहार नहीं करता उसकी भावना सतत सावद्यानुष्ठान की रहती है जिसस वह निरन्तर कमबध करता है। अत प्रत्याख्यान आवश्यक ही नही अनिवाय है। आचार का सही पालन करने के लिए व अनाचार म बचने के लिए भाषा विवेक आवश्यक है। आद्रकुमार मुनि न गोशालक बौद्धभिक्षु वेदवादी ब्राह्मण हस्तीतापस आदि के साथ विस्तार स चर्चा

कर उन परपराओ के आचार का खण्डन कर सम्यक आचार का प्रतिपादन किया है। लेप गाथापति के धार्मिक जीवन के माध्यम से गृहस्थ के आचार का वणन हुआ है। पार्श्वापत्य पेढालपुत्र और गणधर गौतम के सवाद में चातुर्याम और पच महाव्रत का भी विश्लेषण है।

इस तरह प्रस्तुत आगम मे भी आध्यात्मिक सिद्धान्तो को जीवन में ढालने का और शुद्ध श्रमणाचार का पालन करने के लिए अत्यधिक बल दिया है। श्रमणो को सासारिक प्रवत्तियो मे भाग नही लेना चाहिए और न अपना मत ही प्रकट करना चाहिए, उसे मध्यस्थ भाव रखना चाहिए।

जन श्रमणधम का प्राचीनतम रूप इस आगम म है। वदिक परम्परा के प्रवत्ति प्रधान विधि माग की प्रतिक्रियास्वरूप निवत्तिप्रधान निषेधमाग का उत्कृष्टतम रूप इसम चित्रित है।

(३) स्थानाग—यह ततीय अग-आगम है। बौद्ध पिटको मे जो स्थान अगुत्तरनिकाय का है वही स्थान अग साहित्य मे स्थानाग का है। इस आगम मे एक स्थान से लेकर दस स्थान तक विविध विषयो पर वणन है। इसकी शली कोश प्रधान है। महाभारत के वनपव म भी प्रस्तुत शली अपनायी गयी है।

पहले स्थान से लेकर दसवें स्थान तक गृहस्थ और श्रमण दोनो के आचार सम्बधी विपुल सामग्री का इसम सकलन हुआ है। किस प्रकार जीव मुक्त हो सकता है, उसका एक सुदर क्रम बताया है। श्रवण करने से क्या लाभ होते हैं ? धम की क्या महिमा है ? धम किस तरह से प्राप्त होता है। धम के विभिन्न दृष्टियो से विभिन्न भेद, आवश्यक कत्तव्य व्रत अणु व्रत महाव्रत व्रतो की भावनाए, अष्ट प्रवचनमाता, प्रत्याख्यान और उनके भेद बाह्य और आभ्यन्तर तप के प्रकार प्रायश्चित्त के प्रकार, आलोचना के दोष, प्रतिक्रमण के प्रकार, विनय सेवा स्वाध्याय, ध्यान मोक्ष माग आदि अनेकानेक उपयोगी और महत्त्वपूर्ण विषयो का इसम सूचन है। आचाय उनकी सपदाएँ, आचाय उपाध्याय के गण छोडने के कारण, दस समाचारी निग्र थी के नियम, पाँच प्रकार के व्यवहार जिनकल्प आदि विविध श्रमणाचार सम्बधी सामग्री स्थानाग म समाविष्ट है।

(४) समवायांग—यह चौथा अग-आगम है। इसकी शली भी स्थानाग की भाँति ही है। स्थानाग म एक स्थान से दस स्थान तक वणन है तो समवायाग म एक समवाय से सौ समवाय तक निरूपण है। इस अग आगम मे श्रमणाचार सम्बधी विपुल सामग्री का सकलन है। जरा—मौत सद

विराधना, ब्रह्मचय की नो अगुप्ति महाव्रत सवर निजरास्थान समिति बाह्य और आभ्यन्तर तप श्रमणधम, श्रावक प्रतिमा, भिक्षु प्रतिमा श्रमण व्यवहार (सभाग) परीषह तीथकरो के जीवन की विविध जानकारियाँ पच महाव्रत की भावनाए प्रभृति आचार सम्बन्धी सामग्री यत्र-तत्र बिखरी पडी है।

इन दोना आगमा की सामग्री सूत्र प्रधान शली म वर्णित है। इस सूत्र शली का अन्य आगमा म विस्तार भी हुआ है।

(५) भगवती—यह पाँचवाँ अग आगम है और अन्य सभी आगमा से विशाल है। जीव-अजीव आदि पदार्थों की विस्तत व्याख्या होने से प्रस्तुत आगम का नाम "व्याख्या प्रज्ञप्ति' है जिसे भगवती भी कहा जाता है। इसम इकतालीस शतक हैं जो मुख्य हैं। या इसम एक सौ अडतीस शतक हैं और छत्तीस हजार प्रश्न हैं। गणधर गौतम महान जिज्ञासु के रूप म प्रश्न समुपस्थित करते हैं और भगवान महावीर उनका समाधान देते हैं। छोटे से छोटे प्रश्नोत्तर मे जीवन और साधना के महान् रहस्य उदघाटित हुए हैं।

विश्व विद्या की एसी कोई भी अभिधा नही है जिसकी चर्चा प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप म प्रस्तुत आगम म न हुई हो। जीवादि पदार्थों की व्याख्याओं का प्ररूपण है। इसमे कुछ एतिहासिक सवाद भी हैं। महावीर के श्रावको का वर्तानिय सावय भी कहा है। अनेक पार्श्वापत्य श्रमणो ने भगवान पार्श्व के चातुर्याम धम को छोडकर पच महाव्रतो को स्वीकार किया। व साधना से सम्बन्धित अनेक प्रश्न महावीर के शिष्यो से पूछते हैं—सामायिक क्या है ? प्रत्याख्यान क्या है ? सयम क्या है ? सवर क्या है ? विवेक क्या है ? व्युत्सग क्या है ? गर्हा क्या है ? अगर्हा क्या है ? जमाली चरित्र शिवराजर्षि अन्य परिव्राजक गोशालक, माकंदी अनगार, कार्तिक श्रेष्ठी जिसने अनेका बार ग्यारह प्रतिमाओ का पालन किया था मददुक श्रमणोपासक तथा निग्र थो के भेद और उनके आचार सम्बन्धी पर्याप्त इसम सामग्री उपलब्ध है। क्रियावादी, अक्रियावादी, अज्ञानवादी, विनयवादी आदि का भी विश्लेषण है।

इस तरह प्रस्तुत आगम ज्ञान और विज्ञान का महासागर है।

(६) ज्ञाताधमकथा—यह छठा अग आगम है। इसमें दो श्रुतस्कध हैं। इनम उदाहरण और धमकथाओ के माध्यम स जन आचार का बहुत ही गहराई से विश्लेषण किया है। साधना मे प्रवेश करने के पश्चात् जरा

मन को पूर्ण रूप से एकाग्र करना चाहिए। श्रमणों के प्रति विनयपूर्ण व्यवहार रखना चाहिए। पंच महाव्रत और बारह भिक्षु प्रतिमाओं का पालन ही अनगार विनय है। रक्त से सने हुए वस्त्र को क्षार आदि से स्वच्छ किया जाता है वैसे ही शल्य से रहित जीवन विशुद्ध होता है।

(७) उपासकदशांग—यह सातवाँ अंग आगम है। इस आगम में मुख्य रूप से श्रावक के आचार पर विश्लेषण है। पर साथ ही कुछ ऐसे प्रसंग हैं जो श्रमण जीवन की महत्ता को व्यक्त करते हैं। जैसे गणधर गौतम आनन्द को अवधिज्ञान होने पर क्षेत्र सीमा को लेकर कहते हैं कि इतना नहीं हो सकता। पर भगवान महावीर के कहने पर कि आनंद का कथन सत्य है, तो बिना संकोच के गौतम क्षमायाचना करने के लिए पहुँच जाते हैं। एक श्रमण की कितनी उत्कृष्ट साधना है यह बात इसमें स्पष्ट की गई है। अन्य श्रमणों को भी इसका अनुसरण करना चाहिए।

(८) अन्तकृद्दशांग—इस आठवें अंग आगम में एक श्रुतस्कंध आठ वर्ग और नब्बे अध्ययन हैं। जिन महान श्रमण श्रमणियों ने आत्म साधना द्वारा निर्वाण प्राप्त कर जन्म मरण और आवागमन का अंत किया वे अन्तकृत कहलाए। सभी श्रमण बहुत ही उत्कृष्ट तप की साधना करते हैं। यहाँ यह भी उल्लेख है कि तप की साधना करने से पूर्व वे अंग साहित्य का अध्ययन करते हैं। चाहे राजकुमार रहे हों चाहे महारानियाँ रही हों उनकी तप साधना अत्यन्त उत्कृष्ट है। वे मुक्तावली रत्नावली कनकावली, लघुसिंहनिष्क्रीडित महासिंहनिष्क्रीडित लघुसर्वतोभद्र महासर्वतोभद्र भद्रोत्तर एवं आयंबिल वर्द्धमान जैसे उग्र तपों का आचरण करती हैं। जैन श्रमण वही बन सकता है जिसके मानस में तीव्र वैराग्य भावना हो। भले ही उसकी उम्र लघु ही हो तथापि वह साधना-पथ पर बढ़ सकता है। गजसुकुमार और अतिमुक्तकुमार की उम्र बहुत ही लघु थी तो भी उन्होंने साधना का जो आदर्श उपस्थित किया वह अद्भुत है।

प्रस्तुत आगम में श्रमण श्रमणियों के बाह्य तप का ही नहीं अपितु आभ्यन्तर तप का भी उत्कृष्ट रूप का निरूपण है। गजसुकुमार की ध्यान साधना अत्यधिक गजब की रही।

(९) अनुत्तरोपपातिकदशा—प्रस्तुत आगम नवाँ अंग आगम है। यह तीन वर्गों में विभक्त है। इसमें तेतीस अध्ययन हैं। उनमें तेतीस महान आत्माओं का संक्षेप में वर्णन है। तेतीस में तेईस राजकुमार सम्राट श्रेणिक के पुत्र थे।

आचार-संहिता पर विस्तार से विवेचन किया गया है। इस सम्पूर्ण विवेचन को उत्सग, अपवाद दोष सेवन और प्रायश्चित्त इन चार वर्गों मे विभक्त किया जा सकता है।

छेद सूत्र के दो मुख्य काय है—श्रमण को दोपो से बचाना और प्रमादवश लगे हुए दोपो की विशुद्धि के लिए प्रायश्चित्त निश्चित करना।

दशाश्रुतस्कन्ध मे दस अध्ययन हैं। सवप्रथम बीस असमाधि स्थानो का वणन है। यहाँ बताया गया है कि जिस काय को करने मे चित्त मे शान्ति हो आत्मा ज्ञान दशन चारित्र रूप मोक्ष माग मे अवस्थित रहे वह समाधि है और जिनसे ज्ञान दशन चारित्र से आत्मा भ्रष्ट हो वह असमाधि है।

जल्दी-जल्दी चलना बिना परिमाजन किये रात्रि म चलना बिना उपयोग सभी दहिक काय करना गुरुजनो का अपमान करना, किसी की निन्दा करना आदि दूषणो से साधक की आत्मा दूषित होती है और उसका पवित्र चरित्र मलिन होता है।

जिन कार्यों को करने से चारित्र की निमलता नष्ट होती है वे शबल दोष कहलाते हैं। हस्तमथुन, स्त्रीस्पश रात्रि म भोजन ग्रहण करना, आधाकर्मी औद्देशिक आहार लेना प्रत्याख्यान भग मायास्थान के सेवन आदि शबल दोष हैं।

सम्यग्दशन, तथा आध्यात्मिक गुणो का जिससे खण्डन होता है वह आशातना है। गुरु के आगे सम श्रेणी म अत्यन्त समीप म गमन करना, खडा होना बठना, गुरु से पूव किसी से सभाषण करना, गुरु के वचनो की अवहेलना करना भिक्षा आदि से लौटकर गुरु के समक्ष आलोचना न करना ये आशातना हैं।

आचाय की आठ सम्पदा उपासक की प्रतिमाएँ, पयुषणाकल्प श्रमण सामाचारी आदि का भी इसम वणन है।

वतमान म जो कल्पसूत्र का पथक संस्करण है वह दशाश्रुतस्कन्ध का आठवाँ अध्ययन है।

मोहनीय कर्म का तीव्र बन्धन जिन कारणो से होता है उन्हें महामोहनीय कमबध कहा गया है। साथ ही इसमे निदान का भी विश्लेषण विवेचन है जिससे साधक को बचने का निर्देश दिया गया है।

(१८) बृहत्कल्प मे भी श्रमण-श्रमणियो की आचार संहिता है।

श्रमण एक रात्रि में एक मास और श्रमणी दो मास रह सकती है। जहाँ पर श्रमणियाँ रहती हों वहाँ पर चार द्वार हों। जहाँ चार दुकान हों वहाँ श्रमणियों को नहीं रहना चाहिए। यदि विवशता से रहना पड़े तो परदा आदि लगाकर रह सकती है। पर श्रमणों के लिए ऐसा कोई नियम नहीं है।

श्रमण श्रमणियाँ धर्मशाला आदि रह सकती हैं। जहाँ पर जनता का पथ हो वहाँ पर श्रमण श्रमणियों को नहीं रहना। वहाँ पेशाब करना आहार व स्वाध्याय आदि करना नहीं कल्पता। जहाँ पर विकारोत्पादक चित्र हो वहाँ पर भी श्रमण श्रमणियों को नहीं रहना चाहिए। बिना मकान मालिक की अनुमति से भी नहीं रहना चाहिए।

किसी श्रमण का आचार्य, उपाध्याय तथा अन्य श्रमण श्रमणी से किसी बात का झगड़ा हो गया हो तो क्षमा याचना करनी चाहिए। जो शान्त होता है वह आराधक होता है।

वर्षावास में एक स्थान पर अवस्थित रहना चाहिए। श्रमण भिक्षा, शौच आदि के लिए बाहर जाय उस समय कोई गृहस्थ उसे वस्त्र, पात्र, कंबल आदि वस्तुओं के लिए आमन्त्रित करे तो उसे ग्रहण कर आचार्य आदि को देना चाहिए। आचार्य की अनुमति प्राप्त होने पर ही उसे रखना चाहिए।

श्रमणी को प्रवर्तिनी की आज्ञा पालन करना अत्यावश्यक है।

श्रमण श्रमणियों को रात्रि में आहार ग्रहण नहीं करना चाहिए। यदि अपवाद रूप में रात्रि में शौच आदि के लिए जाना हो तो अकेला न जाय किन्तु साथ में दूसरे साधु को लेकर जाय।

निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थियों के विहार क्षेत्र की मर्यादा पर चिन्तन करते हुए लिखा है—पूर्व में अंग व मगध देश, दक्षिण में कौशाम्बी, पश्चिम में स्थूणा और उत्तर में कुणाला तक जाना चाहिए क्योंकि ये आर्यक्षेत्र हैं। आर्य क्षेत्र में परिभ्रमण करने से ज्ञान, दर्शन और चारित्र की अभिवृद्धि होती है।

जहाँ पर श्रमण अवस्थित है उस उपाश्रय में धान्य आदि सचित्त पदार्थ बिखरे हुए न हों। यदि बिखरे हुए हों तो अल्प समय के लिए भी वहाँ नहीं ठहरना चाहिए क्योंकि वहाँ पर ठहरने से संघट्टा (संस्पर्श) आदि होने की सम्भावना रहती है। वहाँ धान्य आदि एक एक स्थान पर ढेर

आदि पर रखा हुआ हो तो श्रमण हेमन्त या ग्रीष्म ऋतु में वहाँ पर ठहर सकता है और कोष्ठागार आदि में बन्द हो तो वर्षावास आदि में भी वहाँ पर रह सकता है। जिस स्थान पर सुराविकट सौवीरविकट आदि पदार्थ रखे हो वहाँ पर कुछ समय के लिए भी साधु साध्वी को नहीं रहना चाहिए। यदि कोई अन्य स्थान उपलब्ध न हो तो विशेष परिस्थिति में श्रमण दो रात्रि रह सकता है अधिक नहीं। यदि वह अधिक रहता है तो उस छेद या परिहार प्रायश्चित्त आता है।

शय्यातर वह कहलाता है जिसके मकान में उसकी अनुमति से श्रमण ठहरता है। शय्यातर के विविध पहलुओं पर इसमें चिन्तन है।

श्रमण श्रमणियों को जांगिक, भांगिक सानक पोतक और तिरिपट्टक[1]—ये पाँच प्रकार के वस्त्र लेना कल्पता है और औणिक औष्ट्रिक सानक, बच्चक चिप्पक, मुँज चिप्पक—ये पाँच[2] प्रकार के रजोहरण रखना कल्पता है।

श्रमणों को श्रमणियों के उपाश्रय में बैठना सोना खाना पीना, स्वाध्याय, ध्यान और कायोत्सर्ग करना नहीं कल्पता। इसी तरह श्रमणियों के लिए भी विधान है।

चर्म के सम्बन्ध में लिखा है कि श्रमणियों को रोमयुक्त चर्म बैठने आदि में उपयोग करना नहीं कल्पता। यदि उस चर्म का गृहस्थ ने उपयोग कर रखा हो तो श्रमण एक रात्रि के लिए काम में ले सकता है किन्तु उसके पश्चात् पुनः गृहस्थ को लौटा देना चाहिए।

श्रमण और श्रमणियों को कृत्स्न वस्त्र अर्थात् रंग आदि से जो वस्त्र चमकीले बनाये गये हो और अखण्ड वस्त्र जो उत्पादन स्थान से जैसा आया है, उन वस्त्रों का ग्रहण नहीं करना चाहिए।

---

१ जंगमा त्रसा तन्निष्पन्नं जांगमिकम् भंगा अतसी तन्मयं भांगिकम् सन सूत्रमयं सानकम् पोतकं कार्पासिकम् तिरीट वृक्षविशेषस्तस्य य पट्टो वल्कल तन्निष्पन्नं तिरीटपट्टकं नाम पञ्चमम्। —बृह० उद्दे० २ सू० २४

२ औणिक उरणिकानामूर्णाभिर्निवृत्तम् औष्ट्रिकं उष्ट्ररोमभिर्निर्वितम् सानकं सनवृक्षवल्काद् जातम् वच्चकः तृणविशेषस्तस्य चिप्पकः कुट्टितः त्वग्रूपस्तेन निष्पन्नं वच्चकचिप्पकम् मुञ्जः शरस्तम्बस्तस्य चिप्पकाज्जातं मुंजचिप्पकं नाम पञ्चममिति। —बृह० उद्देशक २ सू० २५

जो दीक्षा ग्रहण करता है वह निग्र थ रजोहरण गाच्छा और पात्र तथा तीन अखण्ड वस्त्र लकर प्रव्रजित हो। पूव प्रव्रजित श्रमण जिसके महाव्रत आदि म विराधना हो गई हो यदि वह पुन दीक्षा के लिए उपस्थित हो तो वह अपन पूव प्रतिगृहीत वस्त्र पात्र आदि के साथ दीक्षा ले सकता है। उसे नवीन वस्त्र पात्र आदि लाने की आवश्यकता नही। जो श्रमणी नाश्या ले उसे चार वस्त्र लकर प्रव्रजित होना चाहिए।

वर्षावास मे वस्त्र लना नही वल्पता। हेमन्त और ग्रीष्म ऋतु आदि मे वह वस्त्र आदि ले सकता है। वस्त्र ग्रहण करने के पश्चात जिन साधु साध्वियो की सवसे अधिक चारित्र पर्याय है उन्ह सवप्रथम वस्त्र प्रदान करना चाहिए उसके पश्चात कम चारित्र पयाय वाले को और उसके बाद उनसे कम चारित्र पर्याय वाले को दना चाहिए। क्योकि व्युत्क्रम स देने पर रत्नाधिको का अविनय होता है।

जिस प्रकार वस्त्र प्रदान करने का विधान है वसे ही जहाँ पर श्रमण और श्रमणियो को ठहरना हो वहाँ सबसे पहले स्थान जो चारित्र पर्याय में बडे हैं, उनको देना चाहिए। उसके पश्चात ग्लान रुग्ण साधु आदि को उसके बाद पूण वस्त्र आदि नही ओढने का सकल्प ले रखा हो उनको, उसके बाद स्थविर आदि को। जो नवदीक्षित हो उस बड साधु के पास स्थान देना चाहिए जो रात्रि म उसकी सार सम्भाल कर सके।

श्रमण पर्याय की दृष्टि से नमस्कार का भी विधान है। श्रमण श्रमणिया को गृहस्थ के घर म या दो घरो के मध्य म ठहरना बठना या खडे होकर कायोत्सग आदि करना नही कल्पता। क्योकि एस स्थानो पर खडे आदि रहने से विभिन्न प्रकार की शकाएँ हो सकती हैं। पर अपवाद माग म वह ठहर सकता है जस—रोगी वृद्ध तपस्वी या जिसे मूर्च्छा आदि आ गयी हो। यदि गृहस्थ के घर या दो घरो के मध्य म ठहरना हो तो केवल पाँच गाथाओ का उच्चारण कर सकता है विशेष वार्तालाप आदि नही कर सकता और वह भी खडे खडे ही बठकर नही। किसी की अत्यन्त उत्कट जिज्ञासा हो तो वह सक्षप मे महाव्रत आदि के सम्बन्ध म बताय पर विस्तार से नही।

जब साधु को या साध्वी को ग्रामान्तर गमन करना हो जो शय्या सस्तारक प्रातिहारिक आदि लाये हो व गृहस्थ को सौंपकर ही विहार करना चाहिए। साधु-साध्वी गहस्थ के घर से जो भी शय्या सस्तारक आदि माँगकर लाय उनकी उस सावधानी म रक्षा करनी चाहिए यदि

गुम हो गई तो उसका अन्वेषण करना चाहिए और मिलने पर उसे दे देना चाहिए।

जिस उपाश्रय में श्रमण या श्रमणियाँ मासकल्प या वर्षाकल्प की आज्ञा लेकर ठहरे हो व उस समय विहार कर रहे हो। जिस समय दूसरे श्रमण श्रमणी विहार करने की तयारी कर रहे हो तो म त म्तो की आज्ञा लेकर वे ठहर सकते हैं। यह अवग्रह एक दिन का या अहोरात्र तक का होता है।

ग्राम-नगर आदि के बाहर सेना का पड़ाव हो तो निग्रन्थ निग्रन्थियो को उसी दिन भिक्षाचर्या करके अपने स्थान पर लौट जाना चाहिए। नहीं लौटता है तो उसे प्रायश्चित्त आता है। निग्रन्थ निग्रन्थियो को जहाँ पर वे ठहरे हों वहाँ से अढाई कोस तक भिक्षा के लिए जाना आना कल्पता है उससे अधिक नही।

अब्रह्मसेवन रात्रिभोजन आदि के सम्बन्ध में दोष लगने पर प्रायश्चित्त का विधान है। पडक नपुंसक और वातिक (काम वासना का दमन न करने वाला) दीक्षा ग्रहण के अयोग्य है। अविनीत, रसलोलुपी व क्रोधी को शास्त्र पढ़ाना अनुचित है। दुष्ट मूढ और दुर्विदग्ध—ये तीनो प्रव्रज्या और उपदेश के अनधिकारी हैं।

साध्वी या साधु अपने परिजन का सहारा लेकर रुग्ण अवस्था में उठते हैं या बठते हैं और उस समय यदि मन में विकार हो तो प्रायश्चित्त का विधान है।

निग्रन्थ या निग्रन्थियों को कालातिक्रान्त क्षेत्रातिक्रान्त अशनादि ग्रहण करना नहीं कल्पता। प्रथम पौरुषी का लाया हुआ आहार चतुर्थ पौरुषी तक रखना नहीं कल्पता यदि असावधानी अथवा विस्मृति से रह जाय तो उसे परठ देना चाहिए। उस आहार का उपयोग करने पर प्रायश्चित्त का विधान है। यदि भूल से अनेषणीय स्निग्ध अशनादि भिक्षा में आ गया हो तो अनुपस्थापित श्रमण (जिसमे महाव्रतो की स्थापना नहीं की गई है) को दे देना चाहिए। यदि वह न हो तो निर्दोष स्थान पर परठ देना चाहिए। आचेलक्य आदि कल्प में स्थित श्रमणो के लिए निर्मित आहारादि अकल्पस्थित श्रमणो के लिए कल्प्य है अर्थात जो श्रमण चातुर्याम धर्म का पालन करते है, उनके लिए वह कल्प्य है।

यदि किसी निग्रन्थ को अन्य गण में ज्ञान आदि के अभ्यास के लिए जाना हो तो आचार्य की अनुमति आवश्यक है। यदि आचार्य अथवा

माग नही। इस स्पश म विकार भावना नही, परम्पर के सयम की सुरक्षा की भावना है।

श्रमण की मयादा का नाम कल्पस्थिति है और वह छ प्रकार की बताई गई है। इस प्रकार बृहत्कल्प मे श्रमण और श्रमणियो के आचार सम्बन्धी अनेक बातें बताई गई हैं।

(१६) व्यवहारसूत्र—व्यवहारसूत्र मे भी बृहत्कल्प की भाँति ही श्रमण की आचार सहिता है। बृहत्कल्प और व्यवहार ये दोनो आगम एक दूसरे के पूरक है। इसम भी दस उद्देशक हैं।

प्रथम उद्देशक म बताया गया है कि मासिक प्रायश्चित्त क योग्य दोष का सेवन कर उस दोष की आलोचना आचार्य आदि के पास कपटरहित आलोचना करने वाले श्रमण को एक मासिक प्रायश्चित्त आता है जबकि कपट सहित आलोचना करने पर द्विमासिक प्रायश्चित्त ग्रहण करना पडता है। जो साधक द्विमासिक प्रायश्चित्त के योग्य है यदि वह निष्कपट आलोचना करता है तो उसे द्विमासिक प्रायश्चित्त आता है और कपटयुक्त आलोचना करने पर तीन मास का प्रायश्चित्त आता है। इस तरह अधिक से अधिक छ मास के प्रायश्चित्त का विधान है। जिस साधक ने अनेक दोषो का सेवन किया हो उन दोषो की उस क्रमश आलोचना करनी चाहिए और फिर एक साथ ही उन दोषो का प्रायश्चित्त लेकर शुद्धीकरण करना चाहिए। प्रायश्चित्त करने क पश्चात भी यदि किसी कारण विशेष स प्रमाद स दोष लग जाय तो पुन प्रायश्चित्त लेकर उसका शुद्धीकरण कर लेना चाहिए।

जिसने प्रायश्चित्त का सेवन किया हो उस श्रमण के साथ उठना बैठना आदि करना हो तो स्थविरो की अनुज्ञा आवश्यक है। यदि वह आज्ञा की अवहेलना करता है तो उतने दिन का उसे दीक्षाच्छेद किया जाये। जो श्रमण परिहार कल्प की साधना कर रहा हो यदि उसे आचार्य अन्य सन्तो की सेवा म प्रेषित कर तो वह महर्ष उनकी सेवा म जाय। कोई श्रमण विशुद्ध आचार का पालन करने हेतु गण का परित्याग कर एकाकी विचरण करता है पर जब उसे भान हो कि मैं शुद्ध आचार पालन करने म असमर्थ हूँ तो उस आलोचना कर छेद या नवीन दीक्षा ग्रहण करनी चाहिए। प्रस्तुत नियम जिस तरह एकलविहारी श्रमण के लिए है वही नियम एकल विहारी गणावच्छेदक आचार्य और शिथिलाचारी श्रमण क लिए भी है।

आचार्य उपाध्याय की अनुपस्थिति म अपने समागत साधर्मी श्रमण के समक्ष आलोचना कर प्रायश्चित्त लेना चाहिए। यदि व पास म न हों तो

अ य समुदाय क बहुश्रुत क सामने आलोचना कर प्रायश्चित्त करना चाहिए। यदि वह भी न हो तो माहृपिक सनाथी बहुश्रुत स प्रायश्चित्त लेना चाहिए। उसके अभाव म बहुश्रुत श्रमणोपासक सम्यग्दृष्टि गृहस्थ और उन सभी का अभाव हो तो गाँव या नगर के बाहर जाकर पूर्व या उत्तर दिशा म मुह रखकर दोनो हाथ जोडकर अपने अपराध की आलोचना करे। क्योकि आलोचना से जीवन की शुद्धि होती है।

द्वितीय उद्देशक मे यह बताया गया है एक समान सामाचारी वाले दो साधर्मिक साथ म हो, उनम स एक ने दोष का सेवन किया हो तो दूसरे क सम्मुख प्रायश्चित्त लेना चाहिए। प्रायश्चित्त करने वाले की सेवा आदि का भार दूसरे श्रमण पर होता है यदि दोनो न दोष का सेवन किया हो तो परस्पर आलोचना कर प्रायश्चित्त लकर सेवा करनी चाहिए। जिस श्रमण ने दोष का सेवन किया हो उसे ही प्रायश्चित्त देना चाहिए अन्य को नही। यदि सभी ने दोष का सेवन किया हो तो एक के अतिरिक्त सभी को प्रायश्चित्त लेकर पहले शुद्धीकरण करना चाहिए उसके बाद वह अवशेष सन्त भी प्रायश्चित्त लेकर शुद्धीकरण करे।

परिहार कल्प स्थित श्रमण कदाचित् रुग्ण हो जाय तो उसे गच्छ से बाहर निकालना नहीं कल्पता। जब तक वह पूर्ण स्वस्थ न हो जाय तब तक उसकी सेवा करवाना गणावच्छेदक का काय है। पूर्ण स्वस्थ होन पर प्रायश्चित्त नेकर शुद्धीकरण करे। इसी तरह रुग्णावस्था में अनवस्थाप्य और पाराचिक प्रायश्चित्त करने वाल को भी गच्छ स बाहर नहीं निकालना चाहिए और न विक्षिप्त चित्त वाले को भी। जब उसका चित्त स्थिर हो जाय तो केवल नाममात्र का प्रायश्चित्त देना चाहिए। इसी तरह दीप्त चित्त जिसका चित्त अभिमान स उद्दीप्त हो गया हो उन्माद प्राप्त हो, उप सर्ग प्राप्त साधिकरण सप्रायश्चित्त आदि को गच्छ से बाहर नही निकालना चाहिए। अनवस्थाप्य प्रायश्चित्त करने वाले श्रमण को गृहस्थलिंग धारण कराये बिना पुन सयम में स्थापित नही करना चाहिए क्योंकि उसका अप राध इतना महान् होता है जिससे लिंग किये बिना उसका प्रायश्चित्त पूर्ण नही होता। ऐसा करने का एक उद्देश्य यह भी है कि अन्य श्रमण इस प्रकार का अपराध न करें। उनके मानस म भय का सचार हो जाता है जिससे वे अपराध करने म संकोच का अनुभव करते है। इसी प्रकार का विधान दसवें पाराचिक प्रायश्चित्त क सम्बन्ध म भी है। यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि उसे गृहस्थ का वेष पहनाना चाहिए या अन्य प्रकार का वेष धारण करवाना यह अधिकार प्रायश्चित्तदाता क हाथ म है।

पारिहारिक और अपारिहारिक श्रमण एक साथ आहार करें यह अनुचित है। पारिहारिक श्रमणो के साथ बिना तप पूर्ण हुए अपारिहारिक श्रमणो को आहार आदि नही करना चाहिए क्योकि जो तपस्वी हैं उनका तप पूर्ण होने के पश्चात् एक मास के तप पर पाँच दिन और छ महीने के तप पर एक महीना व्यतीत हो जाने के पूर्व उनके साथ कोई आहार नहीं कर सकता। इसका कारण यह है कि उन दिनो उनके लिए विशेष प्रकार के आहार की आवश्यकता है जो दूसरो के लिए आवश्यक नहीं।

आचाराग आदि के परिज्ञान के बिना स्वतन्त्र गच्छ बनाकर विचरण करना नही कल्पता। साथ ही स्वतन्त्र विचरण करने के लिए स्थविर आदि की अनुमति आवश्यक है।

उपाध्याय वही बन सकता है जो आचाराग आदि का परिज्ञाता हो प्रवचन शास्त्रो मे पारगत हो प्रायश्चित्त देने मे समर्थ हो सघ के क्षेत्र आदि निर्णय करने मे दक्ष हो और कम से कम तीन वर्ष की दीक्षा-पर्याय वाला हो। आचार्य वही बन सकता है जो दशाश्रुतस्कन्ध बृहत्कल्प व्यवहार का ज्ञाता हो और कम से कम पाँच वर्ष का दीक्षित हो। आचार्य उपाध्याय, प्रवर्तिनी स्थविर, गणी गणावच्छेदक पद उसको दिया जा सकता है जो श्रमण के आचार मे कुशल हो, असक्लिष्टमना व स्थानाग समवायाग का ज्ञाता हो। अपवाद मार्ग मे एक दिन के दीक्षा-पर्यायवाला साधु भी आचार्य, उपाध्याय पद पर प्रतिष्ठित हो सकता है, यदि वह उत्तम कुलोत्पन्न और गुणसम्पन्न हो। आचार्य आदि की आज्ञा से सयम का पालन करना चाहिए। यदि किसी श्रमण ने अब्रह्म का सेवन किया है तो उसे आचार्य पद नही दिया जा सकता। यदि उसने गच्छ का परित्याग करके वेश त्याग किया है और पुन दीक्षा धारण किये तीन वर्ष व्यतीत हो गये हो, उसका मन पूर्ण शान्त हो गया हो विकार और कषाय का अभाव हो गया हो तो उसे आचार्य पद पर प्रतिष्ठित किया जा सकता है।

आचार्य और उपाध्याय के साथ हेमन्त और ग्रीष्म ऋतु मे कम से कम एक अन्य साधु होना चाहिए और गणावच्छेदक के साथ मे दो। वर्षा ऋतु मे आचार्य और उपाध्याय के साथ दो व गणावच्छेदक के साथ तीन अन्य साधु का होना आवश्यक है। आचार्य आदि पद किसको देना चाहिए इस पर भी चिन्तन किया गया है। प्रवर्तिनी को कम से कम दो अन्य साध्वियो के साथ शीतोष्ण काल मे ग्रामानुग्राम विचरण करना चाहिए और गणावच्छेदिनी के साथ तीन अन्य साध्वियाँ होनी चाहिए।

वर्षा ऋतु में प्रवर्तिनी के साथ तीन और गणावच्छेदिका के साथ चार साध्वियाँ होनी चाहिए। प्रवर्तिनी आदि पद किसे दिया जाय इस सम्बन्ध में भी चिन्तन किया गया है।

वय्यावृत्य के लिए सामान्य विधान यह है कि श्रमण श्रमणी से और श्रमणी श्रमण से वय्यावृत्य न करावे, पर अपवाद रूप में परस्पर सेवा शुश्रूषा कर सकते हैं। सर्पदंश आदि विशिष्ट परिस्थिति उत्पन्न हो तो अपवाद रूप में सेवा करायी जा सकती है। प्रस्तुत विधान स्थविरकल्पी के लिए हैं जिनकल्पिकों के लिए तो सेवा का विधान ही नहीं है। यदि वे सेवा करवाते हैं तो पारिहारिक तप रूप प्रायश्चित्त करना पड़ता है।

अपने परिजनों के यहाँ बिना स्थविरों की अनुमति प्राप्त किये नहीं जाना चाहिए। जो श्रमण-श्रमणी अल्पश्रुत वाले हैं उन्हें एकाकी अपने सम्बन्धियों के यहाँ न जाना चाहिए। यदि जाना हो तो बहुश्रुत बहुआगम धारी श्रमण के साथ जाना चाहिए। श्रमण श्रमणी के पहुँचने के पूर्व गृहस्थ के वहाँ पर जो वस्तु तैयार हो चुकी है, उसे वह ग्रहण कर सकता है उसके जाने के पश्चात् जो तैयार की गई है उसे ग्रहण नहीं कर सकता।

आचार्य उपाध्याय यदि बाहर से उपाश्रय में आवें तो उनके पाँव पोंछकर साफ करना चाहिए। उनके लघुनीति आदि को यतनापूर्वक भूमि पर परठना चाहिए और उनकी यथाशक्ति वय्यावृत्य करना चाहिए। उनके साथ उपाश्रय में रहना चाहिए। इसी तरह गणावच्छेदक के साथ भी करना चाहिए।

श्रमण श्रमणियाँ उन्हीं के साथ रह सकता हैं जो आचारांग के ज्ञाता हों। यदि अन्य गच्छ वाले श्रमण स्वगच्छ में मिलना चाहते हों और वे चारित्रिक दृष्टि से पूर्ण निर्दोष हों आचारनिष्ठ हों शबल दोष से रहित हों, क्रोधादि में असक्लिष्ट हों, स्वयं के दोषों की आलोचना कर विशुद्धि करते हों तो उनके साथ समानता का व्यवहार करना कल्पता है।

यह भी विधान है कि श्रमण महिला को और श्रमणी पुरुष को दीक्षा प्रदान न करे। यदि किसी ऐसे स्थान में किसी स्त्री को वैराग्य भावना उद्‌बुद्ध हो गई हो जहाँ पर सन्निकट में कोई भी श्रमणी न हो तो वह इस शर्त पर प्रव्रज्या प्रदान करता है कि वह उस नव-दीक्षित साध्वी को यथा शीघ्र किसी श्रमणी को सुपुर्द कर देगा। इसी तरह साध्वी भी पुरुष को दीक्षा प्रदान कर सकती है।

जहाँ पर तस्करों और दुष्ट प्रकृति के व्यक्तियों की प्रधानता हो, व अधिक मात्रा में हो, वहाँ पर श्रमणियों को विचरण नहीं करना चाहिए क्योंकि वहाँ पर विचरण करने से वस्त्रों के अपहरण का तथा व्रत भंग होने का भय सतत बना रहता है। पर श्रमणों का शारीरिक संस्थान पुष्ट होने के कारण वे वहाँ पर विचरण कर सकते हैं। यदि ऐसे श्रमण से विरोध हो गया हो जो स्थान चोर आदि के निवास स्थान के सन्निकट हो तो श्रमण वहाँ जा करके उनसे क्षमायाचना कर सकता है पर श्रमणी को वहाँ नहीं जाना चाहिए। अपने ही स्थान पर रहकर उनसे क्षमायाचना कर लेना चाहिए। श्रमण श्रमणियों को आचार्य उपाध्याय के नियन्त्रण के बिना स्वच्छन्द रूप से विचरण करना नहीं कल्पता।

श्रमण एक हाथ से उठाने योग्य छोटे मोटे शय्या संस्तारक तीन दिन में जितना मार्ग तय कर सके उतनी दूर से लाना कल्पता है। यदि कोई वृद्ध निर्ग्रन्थ हो तो उसके लिए आवश्यकता होने पर पाँच दिन में जितना चल सके, उतनी दूर से ला सकता है। स्थविर दण्ड, भाण्ड, छत्र मात्रिका लाठिका (पीठ के पीछे रखने योग्य तकिया व पाटा) भिसि (स्वाध्याय के लिए बैठने योग्य पाटा) वस्त्र चेलचिलिमिलिका (वस्त्र का परदा) चर्म चर्मकोश (चमड़े की थैली) चर्म पलिच्छेद (लपेटने के लिए चमड़े का टुकड़ा) इन उपकरणों में से जो उपकरण साथ में रखने की स्थिति में हो उन्हें साथ और जो उपकरण साथ में रखने न हों उन्हें उपाश्रय के सन्निकट किसी गृहस्थ के यहाँ पर रख दे। आवश्यकता होने पर उपयोग किया जा सकता है।

एक स्थान पर अनेक श्रमण विराजित हों उन श्रमण समुदाय में से कोई श्रमण किसी गृहस्थ के यहाँ पर कोई उपकरण भूल गया हो वहाँ पर कोई श्रमण किसी आवश्यक कार्य के लिए गया हो और गृहस्थ उस श्रमण से यह निवेदन करे कि प्रस्तुत उपकरण आपके किसी सन्त का है तो सन्त उस उपकरण को लेकर अपने स्थान पर आये और वह जिसका हो उसे दे। यदि वह उपकरण किसी सन्त का नहीं है तो उस उपकरण का न तो स्वयं उपयोग करे और न दूसरों को उपयोग करने के लिए दे [illegible] को [illegible] पर प्रस्थापित करे।

श्रमण जिस स्थान पर अवस्थित हो उस स्थान का [illegible] [illegible] है। [illegible] श्रमण [illegible] [illegible] है।

प्रस्तुत आगम में यवमध्यचन्द्र प्रतिमा व वज्रमध्यचन्द्र प्रतिमा का स्वरूप बताते हुए लिखा है जो यव के कण के समान मध्य में मोटी और दोनों ओर पतली हो वह यवमध्यचन्द्र प्रतिमा है। जो वज्र के समान मध्य में पतली और दोनों ओर मोटी हो वह वज्रमध्यचन्द्र प्रतिमा है। जो श्रमण यवमध्यचन्द्र प्रतिमा को धारण करता है वह एक मास पर्यन्त अपने शरीर के ममत्व का त्याग कर देव मानव और तिर्यञ्च सम्बन्धी अनुकूल और प्रतिकूल उपसर्गों को समभाव से सहन करता है। शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा को एक दत्ती आहार की और एक दत्ती पानी की ग्रहण करता है।

द्वितीया को दो दत्ती आहार की और दो दत्ती पानी की ग्रहण करता है। इस प्रकार क्रमश एक एक दत्ती बढ़ाता हुआ पूर्णिमा को पन्द्रह दत्ती आहार की और पन्द्रह दत्ती पानी की ग्रहण करता है। कृष्ण पक्ष में एक-एक दत्ती आहार पानी कम करता जाता है और अमावस्या के दिन उपवास करता है। यह यवमध्यचन्द्र प्रतिमा है।

वज्रमध्यचन्द्र प्रतिमा में कृष्णपक्ष की प्रतिपदा को पन्द्रह दत्ती आहार की और पन्द्रह दत्ती पानी की ग्रहण किया जाता है। प्रतिदिन कम करते हुए अमावस्या को एक दत्ती आहार की और एक दत्ती पानी की ग्रहण करता है। शुक्लपक्ष में क्रमश एक एक दत्ती बढ़ाते हुए पूर्णिमा को उपवास करता है। इस तरह तीस दिन की प्रत्येक प्रतिमा के प्रारम्भ उन्तीस दिन दत्ती के अनुसार आहार पानी और अन्तिम दिन उपवास किया जाता है।

स्थविर के जातिस्थविर सूत्रस्थविर प्रव्रज्यास्थविर—ये तीन भेद हैं। साठ वर्ष की आयु वाला जातिस्थविर या वयस्थविर कहलाता है। स्थानांग व समवायांग का ज्ञाता सूत्रस्थविर और दीक्षा धारण करने के बीस वर्ष के पश्चात निर्ग्रन्थ प्रव्रज्या स्थविर कहलाता है।

शैक्ष भूमिका तीन प्रकार की है—सप्त रात्रिन्दिनी चातुर्मासिकी और षण्मासिकी। आठ वर्ष से कम आयु वाले बालक बालिकाओं को दीक्षा देना नहीं कल्पता। जिनकी उम्र लघु है वे आचारांग सूत्र के पढ़ने के अधिकारी नहीं है। कम से कम तीन वर्ष की दीक्षा पर्याय वाले साधु को आचारांग पढ़ना कल्प्य है। चार वर्ष की दीक्षा पर्याय वाले को सूत्रकृतांग पाँच वर्ष की दीक्षा पर्याय वाले को दशाश्रुतस्कन्ध कल्प (बृहत्कल्प) और व्यवहार, आठ वर्ष की दीक्षा वाले को स्थानांग व समवायांग दस वर्ष की दीक्षा वाले को व्याख्याप्रज्ञप्ति (भगवती) ग्यारह वर्ष की दीक्षा वाले को लघु विमान प्रविभक्ति महाविमान प्रविभक्ति, अंगचूलिका वंगचूलिका और विवाह

चूलिका बारह वर्ष की दीक्षा वाले को अरुणोपपातिक, गरुडोपपातिक धरणोपपातिक वैश्रमणोपपातिक और वेलंधरोपपातिक, तेरह वर्ष की दीक्षा वाले को उपस्थानश्रुत समुपस्थानश्रुत देवेन्द्रोपपात और नागपरियापनिका, चौदह वर्ष की दीक्षा वाले को स्वप्न भावना पन्द्रह वर्ष की दीक्षा वाले को चारण भावना सोलह वर्ष की दीक्षा वाले को तेजोनिसर्ग व निशीथ, सत्रह वर्ष की दीक्षा वाले को आशीविष भावना अठारह वर्ष की दीक्षा वाले को दृष्टिविष भावना उन्नीस वर्ष की दीक्षा वाले को दृष्टिवाद और बीस वर्ष की दीक्षा वाले को सब प्रकार के शास्त्र पढ़ाना कल्प्य है।

वय्यावृत्य के दस प्रकार भी बताये हैं तथा कहा गया है कि आचार्य की वय्यावृत्य उपाध्याय स्थविर तपस्वी, शैक्ष रुग्ण साधर्मिकी, कुल गण और संघ इनकी वय्यावृत्य करने से महा निर्जरा होती है।

इस प्रकार प्रस्तुत सूत्र में जन श्रमणाचार का विस्तार से विवेचन हुआ है।

(२०) निशीथ—व्यवहार की भाँति ही निशीथ भी आचार सूत्र है। निशीथ का अर्थ अप्रकाश है। प्रस्तुत सूत्र में बहुत से अपवाद आदि का उल्लेख है। इसलिए जिसकी बुद्धि परिपक्व हो, वही निशीथ का पठन का अधिकारी माना गया है। यह भी प्रायश्चित्त शास्त्र है। इसमें सर्वप्रथम चतुर्थ महाव्रत के भंग करने वाले को विविध प्रकार के प्रायश्चित्तों का उल्लेख है। इसमें श्रमण के लिए जो अग्राह्य और अकरणीय कृत्य हैं उनकी सूचना देते हुए लिखा है—कीचड आदि से परों को बचाने के लिए दूसरों से पत्थर आदि रखवाना ऊँचे स्थान पर चढ़ने के लिए दूसरों से सोपान निर्माण करवाना पानी आदि के निष्कासन के लिए नाली आदि का निर्माण करवाना शस्त्र का तीक्ष्ण करवाना, और उनकी निष्प्रयोजन याचना आदि से प्रायश्चित्त आता है। तुम्बे लकडी और मिट्टी के पात्र दूसरों से साफ करवाना सुधरवाना उन पात्रों को अविधि से बाँधना, शोभा के लिए वस्त्रों पर कारी लगाना वस्त्र जीर्ण होने पर तीन से अधिक कारी या गाठें लगाना श्वेत वस्त्र के अतिरिक्त अन्य रंगीन वस्त्रों को ग्रहण करना निर्दोष आहार में सदोष आहार मिलाकर लेना प्रभृति में गुरु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है।

दारुदण्ड का पादप्रोञ्छन ग्रहण करना रखना उसे स्वच्छ करना आदि का निषेध है। सूचिका, कैंची आदि का स्वयं सुधारना स्वल्प मात्रा में कठोर वचन मिथ्यावचन तस्कर कृत्य अखण्ड चर्म, वस्त्र आदि रखना

स्वयं लाया हुआ पात्र स्वयं रखना और दूसरे का लाया हुआ पात्र आदि स्वीकार करना किसी पर दबाव देकर पात्र आदि ग्रहण करना, प्रतिदिन अग्रपिण्ड ग्रहण करना, प्रतिदिन एक ही घर से आहार ग्रहण करना दान में निष्कासित अधभाग नित्यभाग ग्रहण करना एक ही स्थान पर अवस्थित रहना दान आदि देने से पूर्व और दानादि लेने के पश्चात दाता की प्रशंसा करना भिक्षाकाल के पूर्व या उसके पश्चात बिना कारण ही गृहस्थों के घरों में प्रवेश करना अन्यतीर्थिक आदि के साथ शौचादि के लिए जाना तथा ग्रामानुग्राम विचरण करना जो आहार लाया हो उनमें श्रेष्ठ वस्तुएँ ग्रहण कर लेना और जो स्वादिष्ट न हो उसे बाहर फेंक देना आहारादि के आने के पश्चात यदि वह आहारादि कुछ बच गया हो तो अपने स्वधर्मी, गुरुचारी और जिनके साथ आहार आदि का सभोग है उन्हें बिना आमन्त्रित किये वह आहार परिस्थापन कर देना शय्यातर का आहार-पानी ग्रहण करना उसकी दलाली से आहार-पानी ग्रहण करना शय्या-संस्तारक जितनी अवधि के लिए माँग कर लाया है उससे अधिक समय तक रखना उपाश्रय का परिवर्तन करते समय बिना स्वामी की अनुमति के किसी भी प्रकार का सामान एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाना जो शय्या संस्तारक प्रातिहारिक लाये हुए हों उसे बिना स्वामी को सौंपे वहाँ से प्रस्थान कर जाना बिखरे हुए सामान को बिना समेटे विहार करना बिना प्रतिलेखना के उपधि रखना आदि कार्य करने से प्रायश्चित्त आता है।

धर्मशाला—आगंतार आरामगृह गृहपतिकुल और अन्यतीर्थिकगृह में जाकर आहार आदि की याचना करना उसके इनकार होने पर किसी के घर में आहार आदि के लिए प्रविष्ट होना जहाँ पर भोज आदि का आयोजन हो वहाँ पर जाकर आहार आदि लेना तीन घरों को पार कर आहार आदि यदि कोई लाया हो उसे स्वीकार करना शोभा के लिए पाँव आदि को साफ करना तेल आदि लगाकर उसे चमकाना गरम पानी व अचित्त पानी से उसे धोना पैरों में रंग लगाना सम्पूर्ण शरीर को स्वच्छ और निर्मल बनाने के लिए ये सारी क्रियाएँ करना शल्यचिकित्सा करवाना रक्त आदि निकलवा कर उसे विशुद्ध करना कृमि आदि को नष्ट करने के लिए मरहम आदि का उपयोग करना शरीर के विभिन्न स्थानों से बालों को काटना दाँतों को चमकीले और दमकीले बनाने के लिए उन्हें घिसना, धोना रंग आदि लगाना और इसी तरह सम्पूर्ण शरीर को सुन्दर बनाने का प्रयास करना, सार्वजनिक स्थानों पर शौच आदि का परिस्थापन करना,

कीचड़ से प्लावित भूमि पर और नीलन फूलन युक्त सिंचित भूमि पर ईख के खेतों में, शालीवन पूलों की वाटिका में, कपास के खेतों में, अशोक वन सप्तपर्ण के वन में, चंपावन, आम्रवन आदि स्थानों पर मल मूत्रादि का विसर्जन करना और ऐसे स्थानों पर जहाँ दिन में प्रतिलेखना न की हो वहाँ परिस्थापन करने से लघुमास प्रायश्चित्त आता है।

साथ ही यह भी बताया गया है कि जो श्रमण या श्रमणी किसी सम्राट को अपने अधीन करने के लिए उसकी अर्चना करना, उसकी प्रशंसा के गीत गाना, उससे याचना करना, इसी तरह नगररक्षक को वश में करने के लिए इस प्रकार के सारे उपक्रम करना, सचित्त अन्न आदि का उपयोग करना, आचार्य, उपाध्याय को पहले आहार आदि दिये बिना स्वयं आहार आदि करना, बिना अन्वेषणा किये आहार आदि लेना, जहाँ पर निर्ग्रन्थिनियाँ ठहरी हुई हों उनको पूर्व सूचना या संकेत दिये बिना उनके आवास में निर्ग्रन्थ का प्रवेश करना, इसी तरह श्रमणों के स्थान पर बिना संकेत किये श्रमणियों का प्रवेश करना, परस्पर एक दूसरे का परिहास करने हेतु रजोहरण, मुखवस्त्रिका आदि उपकरणों को रखना, नन्न करना की उद्भावना करना, एक बार जिससे क्षमा याचना कर ली हो उससे पुनः कलह करना, ठहाका मारकर हँसना, पार्श्वस्थ और कुशील श्रमण-श्रमणियों के साथ सम्बन्ध रखना, सचित्त पदार्थ आदि से सना हुआ पदार्थ लेना, कंद मूल फल फूल से भरे हुए आहारादि ग्रहण करना तथा अविधि से और ऐसे स्थानों पर अशुचि पदार्थ परिस्थापन करना जिससे जीवों की विराधना हो और साथ ही जन जन को दृष्टि से सर्वथा अनुचित हो, इन सभी कार्यों के लिए भी लघु मास प्रायश्चित्त का विधान है।

सचित्त वृक्ष के मूल पर श्रमण श्रमणियों को कायोत्सर्ग करना, वहाँ पर बैठना, अशन, पान, खादिम, स्वादिम का आहार करना, शौच आदि से निवृत्त होना, स्वाध्याय करना, संघाटिका (चादर) अन्यतीर्थिक व गृहस्थ आदि से सिलाना, सचित्त लकड़ी का दण्ड आदि बनाना या रखना, उन्हें चित्र विचित्र बनाना, विविध प्रकार के ग्रामों में आहार आदि करना, मुख से तथा नाक आदि से वीणा आदि के नाद निकालना, पत्र फल कन्द बीज आदि से वीणा आदि वाद्य बजाना, औद्देशिक शय्या आदि का उपयोग करना, सामाचारी का सम्यक् रूप से पालन न करने हों उन श्रमण-श्रमणियों के साथ आहार विहार करना, वस्त्र, पात्र, कंबल, रजोहरण आदि को अविधि से रखना व अमर्यादित रखना, रजोहरण आदि से दूर

रखना, गमनागमन के समय पात्र म न रखना रजोहरण पर बैठना उस सिर व नीचे रखना उसी पर सो जाना आदि सभी क्रियाओं का लघु चौमासी प्रायश्चित्त आता है।

चतुर्थ महाव्रत की स्खलना के सम्बन्ध म अनेक प्रकार के प्रायश्चित्तो का विधान है और श्रमण श्रमणियो का उन सभी स्खलनाओं स बचने का सकेत किया गया है। इस अध्याय म श्रमण और श्रमणियो को अत्यधिक जागरूक रहने क लिए उत्प्रेरित किया है और जरा सी भी असावधानी पर भी गुरु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त का विधान किया गया है। साथ ही यह भी बताया है राजपिंड का उपयोग करना कल्प्य नहीं है।

राजा के यहाँ जो आहारादि निर्मित होता है वह चौदह भागो म विभक्त किया गया है जसे—(१) द्वारपाल (२) पशु (३) भृत्य (४) बलि (५) दास-दासी, (६) घोड़ा, (७) हाथी (८) अटवी आदि पार करने वालो का (९) दुर्भिक्ष-पीडित (१०) दुष्काल-पीडित (११) द्रुमक (भिखारी) (१२) रुग्ण, (१३) वर्षा क निमित्त दान और (१४) अतिथियो का भाग। इन सभी को ग्रहण करना वर्ज्य बताया है। राजा व श्रृगार सजी हुई महारानी का निहारने की इच्छा करना राजा के निवास स्थान के सन्निकट स्वाध्याय आदि करना आदि कृत्यों म गुरु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है।

चपा, मथुरा वाराणसी श्रावस्ती साकेत, कपिला काशाम्बी, मिथिला हस्तिनापुर और राजगृह य प्राचीन युग की दस महानगरियाँ थी। यदि वहाँ पर राज्याभिषेक हो रहा हो राज्योत्सव हो रहा हो उस समय महीने म दो-तीन बार प्रवेश करना और निकलना भी निषेध किया गया है। क्योंकि ऐसे समय म प्रवेश करने से श्रमण को गुप्तचर समझा जा सकता है साथ उन उत्सवो म अत्यधिक भीड भाड होने स जीवो की विराधना की भी सम्भावना रहती है। इसी तरह अन्य राजधानियो के सम्बन्ध म भी समझा जा सकता है।

जो श्रमण आचार्य को कठोर व कर्कश वचन कहता है आचार्य की अवज्ञा व अशातना करता है आधाकर्मिक आहार ग्रहण करता है लाभ अलाभ का निमित्त बताता है किसी निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थी को बहकाने का प्रयास करे, अपहरण करे इसी प्रकार भावदीक्षित और दीक्षिताओ के मानस का परिवर्तन करे परस्पर संघर्ष हो जाने पर उसका प्रायश्चित्त और क्षमायाचना किये बिना ही तीन रात स अधिक रहने वाले के साथ आहारादि करने पर प्रायश्चित्त का विधान है।

यदि सूर्योदय नहीं हुआ है और सूर्योदय हो गया है ऐसा समझकर

से आहारादि ग्रहण करना गहस्थ आदि के साथ बठकर आहार आदि ग्रहण सचित्त भूमि पर शौच आदि कुतूहल या मनोरजनार्थ त्रस प्राणियो को रस्सी आदि से बाँधना या बधे हुए को खोलना तृण आदि की माला खिलौने आदि बनाना रखना उनसे खेलना समान आचार वाले श्रमण श्रमणियो को स्थान आदि की सुविधा न देना आचार्य आदि गुरुजनो के दुगुण दूसरो के सामने प्रकट करना गीत गाना वाद्य यत्र बजाना स्वय नृत्य करना वीणा आदि वाद्य ध्वनियो को सुनने के लिए लालायित रहना बिना कारण ही नौका मे विहार करना नौका के अधिपति को धन दिलवाना या उधार लेकर नौका का उपयोग करना नौका के स्वामी की अनुमति के बिना भी नौका मे बठना स्थल पर पडी हुई नौका को जल मे डलवाना या जल मे से नौका को बाहर निकलवाना ऊर्ध्वगामिनी या अधोगामिनी नौका पर बठना स्वय नौका चलाना या नौका चलाने वाले को सहयोग देना नौका मे यदि छिद्र आदि से पानी आ रहा हो तो उस छिद्र को बन्द करना और पात्र मे लेकर उस पानी को उलीचना नौका मे ही आहारादि लेना वस्त्रो को सुगधित दुर्गधित बनाना अविधिपूर्वक माँगना मगवाना आदि अचित्त वस्तु का खरीदना रुग्ण श्रमण के लिए तीन दत्ती से अधिक अचित्त वस्तु ग्रहण करना आहारादि ग्रहण कर ग्रामानुग्राम विचरण करना अस्वाध्याय काल मे स्वाध्याय करना इन्द्र महोत्सव स्कद महोत्सव यक्ष महोत्सव और भूतमहोत्सव के समय स्वाध्याय करना, चत्री आषाढी भाद्रपदी और कार्तिक शुक्ल प्रतिपदा के दिन स्वाध्याय आदि करना अयोग्य व्यक्तियो को शास्त्र पढाना योग्य व्यक्ति को न पढाना अन्यतीर्थिक व गृहस्थ को आगम पढाना इन सभी कार्यों के लिए लघु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त का विधान है।

इस प्रकार निशीथ मे श्रमण-श्रमणियो के आचार विचार सम्बन्धी नियमों का विधान है, नियम भग होने पर प्रायश्चित्त का विधान है। इसमे गुरुमासिक लघुमासिक गुरुचातुर्मासिक और लघु चातुर्मासिक इस तरह चार प्रकार के प्रायश्चित्तो का उल्लेख है। यहाँ पर गुरु का अर्थ उपवास है और लघु का अर्थ एकासन है। प्रायश्चित्त सम्बन्धी सूक्ष्म मे सूक्ष्म क्रियाओ का जो वर्णन है वह प्रकारान्तर से आचार शुद्धि का निरूपण है। दोष और प्रायश्चित्त विषयक जो विधि विधान है वे साधारण व्यक्ति के सामने प्रकाशित नही करना चाहिए किन्तु जो योग्य व्यक्ति है उसके सामने उसका प्रकाशन किया जा सकता है। यह आगम प्रायश्चित्त और आचार

का निरूपण करते हुए बताया गया [illegible] है। इसीलिए निशीथभाष्य में स्पष्ट कहा है कि जो श्रमण [illegible] परिणामी नहीं है तो उसे गुरु से पृथक विचरण करने का अधिकार नहीं है।

(२१) महानिशीथ—यह प्राचीन आगम न होने पर भी जैनाचार की दृष्टि से अत्यधिक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसमें [illegible] की विधि पर प्रकाश डाला गया है। सभी को निर्दोष चारित्र की साधना करनी चाहिए इससे केवलज्ञान की उपलब्धि होती है। [illegible] आलोचना करने वालों के दृष्टान्त दिये गये हैं। [illegible] आलोचना करने वाला और [illegible] श्रमणियों के भी इसमें नाम दिये गये हैं। और अपराध [illegible] जो श्रमण श्रमणी गमन करते हैं उनकी दुर्गति होती है यह भी इसमें बताया गया है। गणधर गौतम और भगवान महावीर के संवाद के माध्यम से यह प्रतिपादित किया गया है कि वे साधक अधम होते हैं जो स्त्रियों के कामराग में आसक्त होते हैं और परिग्रह के पंक में निमग्न होते हैं।

इसमें सावद्याचार्य का उल्लेख है। अयोग्य के समक्ष उत्सर्ग और अपवाद मार्ग का निरूपण करने से सावद्याचार्य ने अनन्त संसार बढ़ा लिया था। नन्दीसेन मुनि जो दशपूर्वी थे उन्होंने दोष का सेवन किया उसके प्रायश्चित्त का भी उल्लेख है प्रायश्चित्त की विधि भी बताई गई है। अनेक दृष्टान्तों के द्वारा श्रमणाचार का निरूपण किया गया है। विविध प्रकार के प्रायश्चित्तों का निरूपण है। यह सत्य है कि मूल महानिशीथ विच्छिन्न हो गया उसके बाद इसका निर्माण हुआ और उसमें अनेक अंश प्रक्षिप्त भी हो गये हैं जो अनागमिक हैं जिसकी चर्चा हमने 'जैन आगम साहित्य : मनन और मीमांसा' ग्रन्थ में की है। विशेष जिज्ञासु वहाँ देख सकते हैं।

(२२) जीतकल्प—श्रमणों की प्रवृत्ति और निवृत्ति को व्यवहार कहते हैं। अशुभ से निवृत्त होकर शुभ में प्रवृत्ति करना व्यवहार है और वही चारित्र भी है। साधक की प्रत्येक प्रवृत्ति और निवृत्ति में ज्ञान की प्रधानता होती है। ज्ञानयुक्त प्रवृत्ति निवृत्ति दोनों ही उपादेय हैं। ज्ञान के आधार पर ही चारित्र का भव्य प्रासाद अवस्थित है। व्यवहार के पाँच भेद हैं उसमें पाँचवाँ व्यवहार जीतकल्प है। जो व्यवहार परम्परा से प्राप्त हो और श्रेष्ठ पुरुषों द्वारा अनुमत हो वह जीत व्यवहार है।

प्रस्तुत आगम में भिन्न भिन्न अपराध स्थान सम्बन्धी प्रायश्चित्त का जीत व्यवहार के आधार पर निरूपण है। पाप को शुद्ध करने के लिए

प्रायश्चित्त का विधान है। प्रायश्चित्त और दण्ड में अन्तर है। प्रमादवश यदि अनुचित कार्य हो गया हो तो सर्वप्रथम मन में पश्चात्ताप होना चाहिए और उस अनुचित कार्य की शुद्धि के लिए उस दोष को गुरुजनों के समक्ष प्रकट करना चाहिए और विशुद्धि के लिए प्रार्थना करना चाहिए। गुरुजन जो भी शुद्धि बतायें उनके अनुसार प्रसन्न मन से तप आदि का आचरण करना प्रायश्चित्त है।

प्रायश्चित्त में हृदय परिवर्तन होता है। जिस प्रकार का अपराध होता है उसी प्रकार का प्रायश्चित्त लिया जाता है इसलिए प्रायश्चित्त के आलोचनार्ह, प्रतिक्रमणार्ह, तदुभयार्ह, विवेकार्ह, व्युत्सर्गार्ह, तपार्ह, छेदार्ह, अनवस्थाप्यार्ह और पाराञ्चिकार्ह—ये दस भेद हैं।

आलोचना में दूसरों की नुक्ताचीनी, टीका टिप्पणी करना यहाँ पर इष्ट नहीं है। यहाँ पर आलोचना का अर्थ है—अपने जीवन में और साधना में जो भी दोष लग गये हों उन्हें गुरुजनों के समक्ष प्रकट कर देना और दोष को स्वीकार करना। आलोचना आत्म निन्दा है। बालक की तरह सरल मन से अपने दोषों को गुरुजनों के समक्ष कहा जाता है। दोष लगना उतना बुरा नहीं है जितना कि दोष को दोष न समझना और उसे छिपाने का उपक्रम करना। आलोचना से जीवन में उल्लास और हृदय में निर्मलता का संचार होता है।

प्रतिक्रमण दूसरा प्रायश्चित्त है। इसमें साधक अन्तर्निरीक्षण करता है। जिन दोषों से आत्मा दूषित हो गई है उन दोषों को पुनः न करने का दृढ़ संकल्प करता है। समिति, गुप्ति में प्रमाद, असातना, विनयभंग, गुरु की आज्ञा का अपालन, मर्यादा का प्रयोग, विधिरहित कास, जम्भा, क्षुतवात का निवारण, असंक्लिष्ट कर्म, कंदर्प, हास्य, विकथा, कषाय, विषयानुसंग, स्खलना प्रभृति प्रतिक्रमण के प्रायश्चित्त योग्य स्थान हैं।

तदुभयार्ह तीसरा प्रायश्चित्त है। इसमें आलोचना और प्रतिक्रमण दोनों के द्वारा शुद्धि की जाती है। सम्भ्रम, भय, आपत्, सहसा, अनाभोग, अनात्मवशता, दुश्चिन्तन, दुर्भाषण, दुश्चेष्टा आदि अनेक अपराध प्रस्तुत प्रायश्चित्त के स्थान हैं।

विवेकार्ह चतुर्थ प्रायश्चित्त है। यहाँ पर विवेक का अर्थ त्याग है। किसी वस्तु का त्याग करने से जिस दोष की विशुद्धि हो जाती है वह

विवेकाह है। जसे—कालातीत, क्षेत्रातीत, आधाकर्म म युक्त आहार, उपधि शय्या आदि के ग्रहण करने स लगने वाल दोष क निवारण हेतु प्रस्तुत प्रायश्चित्त का विधान है।

व्युत्सर्गार्ह प्रायश्चित्त का पाँचवाँ भद है। व्युत्सर्ग म दो शब्द हैं—वि + उत्सर्ग। 'वि' का अथ विशिष्ट है और 'उत्सग' का अथ है त्याग। त्याग करने की विशिष्ट विधि व्युत्सग है। व्युत्सग म अनासक्ति निभयता का सचार और जीवन की लालसा का त्याग होता है। धम क लिए आत्म साधना क लिए अपने आपको उत्सग करने की विधि व्युत्सग है। व्युत्सग मे शरीर अ य है और आत्मा अन्य है—यह बुद्धि होती है।

व्युत्सग तथा कायोत्सग य दोनो पर्यायवाची हैं। व्यु सग स दोषा की विशुद्धि होती है। धर्माराधन करते समय प्रमाद क कारण चारित्र म कोई दोष लग जाता है तो उसम मलिनता आ जाती है। उस मलिनता को दूर कर पुन चारित्र को निमल बनाना कायोत्सग है। गमन आगमन विहार, श्रुत सावद्यस्वप्न, नौका नदी आदि से सम्बधित दोष कायोत्सग क क्षेत्र स्थान है।

कायोत्सग का कालमान श्वासोच्छ्वास से किया जाता है। कायोत्सर्ग का उच्छ्वास मान इस प्रकार है—

दैवसिक (१००) रात्रिक (५०) पाक्षिक (३००), चातुर्मासिक (५००) और सावत्सरिक (१००८)।

उच्छ्वास का कालमान एक क्षण क समान माना गया है।

तपार्ह प्रायश्चित्त का छठा प्रकार है। तप साधना का प्राण है। जिन साधना-आराधना स पापकम तप्त किय जाते हैं वह तप है। तप का विश्लेषण करत हुए नानातिचार आदि पर प्रकाश डाला गया है और विविध प्रकार क अपराधो की शुद्धि क लिए एकाशन उपवास, षष्ठभक्त अष्टम भक्त आयबिल आदि तप का विधान किया गया है। द्रव्य क्षेत्र, काल और भाव की दृष्टि स तप पर चिन्तन करत हुए गीतार्थ अगीतार्थ सहनशील असहनशील, शठ अशठ परिणामी अपरिणामी धति-देहसम्पन्न धति हीन आत्मतर परतर, उभयतर नोभयतर अन्यतर कल्पस्थित अकल्पस्थित आदि व्यक्तियो की दृष्टि स तप पर प्रकाश डाला गया है।

छेदार्ह प्रायश्चित्त का सातवाँ भेद है। छेद का अथ काटना या कम करना है। जिस दोष की विशुद्धि क लिए दीक्षा पर्याय का छेद किया

जाता है वह छेद प्रायश्चित्त कहलाता है। इसमें काल की गुरुता और लघुता की दृष्टि से मासिक चातुर्मासिक षण्मासिक आदि अनेक भेद किये हैं। यह प्रायश्चित्त साधु के अहंकार पर सीधी चोट करता है। यह प्रायश्चित्त देने पर छोटे साधु भी बड़े हो जाते हैं। जो साधु गर्व से उन्मत्त है या जो तप के लिए सर्वथा असमर्थ है अथवा जिसकी तप पर किंचित् भी श्रद्धा नहीं है या जो तप से गर्व करता रहता है उनके लिए छेद का विधान किया गया है।

मूलार्ह प्रायश्चित्त का आठवाँ प्रकार है। मूलार्ह का अर्थ नई दीक्षा है। छद्मस्थ श्रमण या श्रमणी कभी-कभी ऐसा महान अपराध का सेवन कर लेता है जिसकी शुद्धि आलोचना व तप से सम्भव नहीं है। हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्मचर्य, परिग्रह आदि द्वारा महाव्रतों के भंग करने से वह चारित्र से सर्वथा भ्रष्ट हो जाता है। उस दोष की विशुद्धि के लिए चारित्र पर्याय का सर्वथा छेद कर नई दीक्षा दी जाती है। महाव्रतों का फिर से आरोपण करना पड़ता है। एतदर्थ इसे मूलार्ह प्रायश्चित्त कहा है।

प्रायश्चित्त का नौवाँ प्रकार अनवस्थाप्यार्ह है। जिस महादोष की शुद्धि के लिए अनवस्थापित होना पड़ता है अर्थात् श्रमण संघ से पृथक् होकर गृहस्थ का वेष धारण किया जाय और साथ ही विशेष तप की आराधना की जाय। इस प्रकार दोनों आचरणों के पश्चात् पुनः नई दीक्षा ग्रहण करनी होती है। इस विधि से जो प्रायश्चित्त दिया जाता है वह अनवस्थाप्यार्ह प्रायश्चित्त कहा जाता है। तीव्र क्रोध आदि से प्रदुष्ट चित्त वाले निरपेक्ष घोरपरिणामी श्रमण के लिए प्रस्तुत प्रायश्चित्त का विधान है।

पाराञ्चिकार्ह प्रायश्चित्त का दसवाँ प्रकार है। श्रमण जीवन में सबसे गुरुतर महापाप के लिए प्रस्तुत प्रायश्चित्त का विधान है। इस प्रायश्चित्त में वेष और क्षेत्र का परित्याग कर उत्कृष्ट तप की साधना करनी होती है। स्थानांग सूत्र में पाराञ्चिक प्रायश्चित्त के पाँच कारण बताये हैं—(१) संघ में फूट डालना (२) फूट डालने की योजना बनाना तथा उसके लिए सदा प्रयास करना (३) श्रमण आदि को मारने की भावना रखना, (४) मारने की योजना बनाना (५) पुनः पुनः असंयम के स्थान रूप सावद्य अनुष्ठान की अन्वेषणा करते रहना अर्थात् अंगुष्ठ कुड्य प्रभृति प्रश्नों का प्रयोग करना। इन प्रश्नों में दीवार या अंगूठे में देवता को बुलाया जाता है।

इनके अतिरिक्त श्रमणी या महारानी का शील भंग करने पर भी

क्रिया है। साधक के मूलगुण उत्तरगुण मे यदि दोष लग जाय तो उस प्रति क्रमण करना चाहिए। पापो की आलोचना निन्दा और गर्हा करनी चाहिए। जो निःशल्य होता है उसी की शुद्धि होती है। साधक यह समझता है कि ससार अशरणभूत है और जीव को कभी भी काम भोगो से तृप्ति नही होती तथा महाव्रतो की सुरक्षा करते हुए वह निदानरहित मरण की प्रतीक्षा करता है। जीवन के अन्तिम क्षणो मे द्वादशागी का चिन्तन असभव है अत उस समय सवेग की वृद्धि करता हुआ चार मगल चार शरण को ग्रहण कर सभी प्रकार के पापो का प्रत्याख्यान कर तप की आराधना व साधना करता है। यदि उत्कृष्ट आराधना होती है तो उसी भव मे मोक्ष प्राप्त करता है और मध्यम आराधना करने वाला को सात आठ भव मे मोक्ष प्राप्त हो जाता है। प्रस्तुत ग्रन्थ मे सर्वत्र प्रत्याख्यान का महत्त्व प्रतिपादित हुआ है।

(२६) भक्तपरिज्ञा—जिनेश्वरदेव की आज्ञा का पालन ही सच्ची आराधना है। पडितमरण से आराधना पूर्ण सफल होती है। पडितमरण के भक्तपरिज्ञा, इगिनी और पादपोपगमन—ये तीन भेद हैं। भक्तपरिज्ञा मरण सविचार और अविचार—ये दो भेद किये हैं। सम्यग्दर्शन से जो युक्त है वे वही मुक्ति का अधिकारी है। जो सम्यग्दर्शन से रहित है उस साधक के कर्मों की निर्जरा नही होती। भव-समुद्र से तिरने के लिए सम्यग्दर्शनपूर्वक अणुव्रत महाव्रत रूप चारित्र की आराधना आवश्यक है। चचल मन को वश मे करने के लिए हिंसा आदि का त्याग आवश्यक है। इन्द्रियो का विषय सुख विष के समान भयकर है। भक्तपरिज्ञा के समय वेदना को शात भाव से सहन करना चाहिए। भक्तपरिज्ञा के फलस्वरूप साधक कम से कम सौधर्म देवलोक मे उत्पन्न होता है उत्कृष्ट गृहस्थ साधक अच्युत कल्प मे पैदा होता है तथा श्रमण सर्वार्थसिद्ध मे या निर्वाण को प्राप्त होता है।

(२७) सस्तारक—जैन साधना पद्धति मे सथारे का अत्यधिक महत्त्व है। सथारे मे मन को ममता से हटाकर समता मे रमण किया जाता है। जीवन के अन्तिम क्षणो मे भी रोते और बिलखते मरना उचित नही है। जब तक जीओ आनन्दपूर्वक जीओ और मृत्यु आ जाय तो आनन्दपूर्वक मरो। धर्म और सयम साधना मे दृढ रहकर हँसते और मुस्कराते हुए मृत्यु का वरण करो। मृत्यु निश्चित है किन्तु सथारे से मृत्यु को सफल बनाया जाता है।

प्रस्तुत ग्रन्थ मे सथारे का महत्त्व प्रतिपादन करते हुए लिखा है—

प्रकार की बताई हैं—समाधि प्रतिमा, उपधान प्रतिमा, विवेक प्रतिमा, प्रतिसंलीन प्रतिमा और एकाकी विहार प्रतिमा। संक्षेप में इन पर भी चिन्तन है।

(३६) बृहत्कल्पनिर्युक्ति— इसमें प्रथम सूत्र में प्रलम्ब ग्रहण से सम्बन्ध रखने वाली आठ बातों का वर्णन है। जिनकल्पिक और स्थविरकल्पिक के आहार विहार की चर्चा है। आर्य क्षेत्र का स्पष्टीकरण, अनार्य क्षेत्र में विचरण करने से अनेक दोषों के लगने की सम्भावना व्यक्त की गई है और उन दोषों को बताने के लिए स्कन्दकाचार्य का उदाहरण दिया गया है। साथ ही ज्ञान, दर्शन, चारित्र की रक्षा और वृद्धि के लिए आर्य क्षेत्र से बाहर भी जाने की अनुमति है जिसका सम्प्रति राजा के दृष्टान्त से समर्थन किया गया है।

(३७) व्यवहारनिर्युक्ति — जैसे बृहत्कल्पनिर्युक्ति में श्रमण जीवन की साधना के लिए आवश्यक विधि विधान, दोष, अपवाद आदि का निरूपण है उसी तरह व्यवहारनिर्युक्ति में भी अधिकांशतः वही विधान है। ये दोनों निर्युक्तियाँ परस्पर एक दूसरे की पूरक हैं।

(३८) ओघनिर्युक्ति - इसमें बिना विस्तार किये केवल सामान्य कथन किया गया है। श्रमणों के आचार विचार का प्रतिपादन होने से कहीं पर उसे निर्युक्ति के स्थान पर मूल सूत्र माना है तो कहीं पर उसे छेद सूत्रों के अन्तर्गत गिना है। विज्ञों का ऐसा भी मत है कि यह आवश्यक निर्युक्ति का ही एक अंश है। इसमें यह प्रतिपादित किया है कि अशिव के समय श्रमण देशान्तर में गमन कर जाते थे। जो कुल अशिवोपद्रव से ग्रसित हो, श्रमण उन कुलों से भिक्षा ग्रहण नहीं करते थे। दुर्भिक्ष के समय पृथक् पृथक् विचरण का भी उल्लेख है और यह भी निर्देश है कि रुग्ण श्रमण को अपने पास रखना चाहिए। किन्हीं कारणों से श्रमण पर यदि राजा कुपित हो जाय और उसका अशन पान व उपकरण अपहरण करने के लिए प्रस्तुत हो, ऐसी स्थिति में श्रमण गच्छ के साथ रहे। यदि राजा उसके जीवन और चारित्र को ही नष्ट करने पर तुला हुआ हो तो वह श्रमण गण का परित्याग कर एकाकी विचरण करे। किसी नगर में श्रमण ठहरा हुआ हो वहाँ पर आकस्मिक उपसर्ग उपस्थित हो जाय तो श्रमण एकाकी विहार करे। अनशन करने के लिए अन्य सन्तों का अभाव हो तो एकाकी विचरण करे। रुग्ण होने पर अन्य सन्त के अभाव में औषधि लाने

हेतु भी एकाकी गमन करे। किसी देव का उपसर्ग होने पर भी आचार्य की आज्ञा को शिरोधार्य कर एकाकी विहार किया जा सकता है।

विहार विधि बताते हुए कहा है—श्रमण को मार्ग पूछना चाहिए यदि मार्ग में जीव आदि हों तो उनका प्रमार्जन करना चाहिए यदि नदी आ जाय तो उस पार करने की भी विधि बताई गई है। जंगल को पार करते समय आग लग जाय तो पाँवों में चर्म और पादत्राण को धारण कर पार किया जा सकता है। यदि तेज पवन चल रहा हो तो कंबल आदि से शरीर को ढक कर विहार करे। इसी तरह वनस्पतिकाय व त्रसकाय का भी वर्णन है। संयम साधना के लिए आत्म रक्षा आवश्यक है क्योंकि बिना आत्मरक्षा के संयम पालन संभव नहीं है। यदि संयम में दोष भी लग गया हो तो तप आदि से उसकी शुद्धि की जा सकती है। संयम के लिए देह धारण की जाती है। देह के अभाव में संयम का पालन कहाँ? अत संयम-पालनार्थ देह की आवश्यकता है। चलना फिरना आदि जितनी भी क्रियाएँ हैं असंयमी साधक के लिए कर्मबंधन का कारण है और विवेकी साधक के लिए मोक्ष का कारण है।

यदि कोई श्रमण रुग्ण है तो तीन पाँच या सात श्रमण स्वच्छ वस्त्र धारण कर शुभ शकुन को निहार कर वैद्य के समीप जाय। यदि वैद्य किसी की शल्य चिकित्सा कर रहा हो उस समय उससे बात न करे। जिस समय वैद्य निवृत्त होकर बैठा हो उस समय उससे उपचार विधि पूछे। यदि वैद्य रुग्ण श्रमण को निहारने के लिए आए तो रोगी के आस-पास का वातावरण पूर्ण स्वच्छ रखा जाय। ग्लान श्रमण की परिचर्या की जाय।

भिक्षा हेतु गमन करते समय भिक्षा में आने वाली बाधाएँ भिक्षा के दोष श्रमण की परीक्षा स्थानविधि आदि का वर्णन करके कहा गया है कि उसे गण की आज्ञा लेकर जाना चाहिए जो श्रमण बाल वृद्ध और रुग्ण हो उन्हें प्रस्तुत कार्य के लिए प्रेषित नहीं करना चाहिए। जहाँ पर ठहरना हो वहाँ पर उच्चार प्रस्रवण भूमि पानी का स्थान विश्राम स्थान, और भिक्षास्थल आदि के मार्गों को अच्छी तरह से देखना चाहिए। किस दिशा विशेष में रहने से लाभ है उस पर चिन्तन किया गया है। यदि एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में जाने के लिए शय्यातर की अनुमति अपेक्षित है तो वह शय्यातर से यह कहे कि इक्षु बाड को लाँघ चुके हैं तुम्बा के फल आ चुके हैं बैलों में भी बल का संचार हो चुका है कीचड़ सूख चुका है जल कम हो चुका है इसलिए अब श्रमणों के विहार का समय आ चुका

भिक्षा आ गई हो तो उसे किस विधि से परिष्ठापन करना चाहिए यह भी बताया गया है।

जिनकल्पी श्रमणा के (१) पात्र (२) पात्रबंध ( ) पात्र-स्थापन, (४) पात्र केसरिका (५) पटल, (६) रजस्त्राण (७) गोच्छक (८) तीन प्रच्छादन (वस्त्र), (६) रजोहरण (१०) मुखवस्त्रिका—ये बारह उपकरण हैं। इनमे मात्रक और चोलपट्टक मिलाने से स्थविर कल्पिका के चौदह उपकरण होते हैं। श्रमणियो के पच्चीस उपकरणो का वर्णन है। बारह उपकरणो के अतिरिक्त तेरह उपकरण उनके विशेष हैं—(१) मात्रक (२) कमठक (३) उग्गहणतग (४) गुह्य (अगो की रक्षा के लिए) (५) पट्टक (यह वस्त्र जाघिया सदृश है) (६ उद्धोरुग (उग्गहणतग और पट्टक पर पहना जाता है) (७) चलनिका (घुटनो तक आने वाला वस्त्र बिना सिला हुआ) (८) अभ्यतर नियसिणी (यह वस्त्र आधी जघा तक लटका रहता था और वस्त्र बदलते समय उसका उपयोग होता था) (६) बहिर्नियसिणी (यह डोरी से कटि मे बाँधा जाता था और घुटनो तक लटका रहता था)। शरीर के ऊपरी भाग पर पहनने के वस्त्र ये हैं—(१०) कचुक (वक्षस्थल को ढकने वाला वस्त्र) (११) उक्कच्छिय (कचुक के सदृश ही होता है) (१२) वेकच्छिय (जिससे कचुक और उक्कच्छिय ढक जाते हैं) (१३) सघाडी (यह चार प्रकार की होती है—प्रतिश्रय मे दो तीसरी भिक्षा के लिए बाहर जाते समय और चौथी समवसरण मे पहनने के लिए) (१४) कधकरणी (चार हाथ लम्बा वस्त्र जो वायु आदि से रक्षा के लिए पहना जाता था। बहुत रूपवती साध्विया को कुब्जा बनाने के लिए भी इसका उपयोग होता था।)

पात्र के लक्षण पात्र ग्रहण की आवश्यकता दण्ड यष्टिचम चिलीमिली आदि की आवश्यकता होने पर ग्रहण करने के सम्बन्ध मे चिन्तन किया गया है। लाठिया के भेद प्रभेदो का उल्लेख करते हुए एक तीन या सात पोरीवाली लाठी शुभ मानी गई है। यदि उपधि को ग्रहण करने मे परिग्रहवृत्ति आ जाती है तो वह उपधि उपाधि बन जाती है। जहाँ पर प्रमत्त भाव है वहाँ हिंसा है और जहा अप्रमत्त भाव है वहाँ अहिंसा है। पापभीरु श्रमण जहाँ ज्ञान दर्शन चारित्र का उपघात होता हो उस स्थान का परित्याग कर देता है। मूलगुण प्रतिसेवना के पच महाव्रत और दश रात्रिभोजन त्याग ये छह स्थान बताये हैं। उत्तरगुण उद्गम उत्पादन और एषणा ये तीन स्थान हैं। आलोचना गुण और

उत्तरगुण य ना भेद है। यन दोना प्रकार की आलोचना चतुष्कणवाली होनी चाहिए। आलोचना करने वाला ना नो गुरु और सुनने वाला कर्ण वाला। आलोचना न विकटना शुद्धि सद्भाव दलना निन्दा गर्हणा व्युट्टणा शल्युद्धरणा ये एकार्थक नाम हैं। जो सरल हृदय आलोचना करता है उसकी विशुद्धि होती है।

(३६) पिण्डनियुक्ति—श्रमण के ग्रहण करने योग्य आहार को पिण्ड कहते हैं। अशन पान खादिम और स्वादिम—इन चारों प्रकार के आहार का वर्णन है। प्रस्तुत नियुक्ति दशवैकालिक के पिण्डैषणा अध्ययन पर है पर अत्यधिक विस्तृत हो जाने से इसे पृथक स्थान दिया गया है।

पिण्ड के नौ प्रकार है—पृथ्वीकाय अपकाय तेजस्काय वायुकाय वनस्पतिकाय द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय और पचेन्द्रिय। इन नौ के सचित्त, अचित्त और मिश्र भेद किये गये हैं। विशेष परिस्थितियों में इनका उपयोग होता है। गृहस्थ के द्वारा जो दोष लगते है वे उद्गम दोष कहलाते हैं। उनके सोलह भेद है। श्रमण द्वारा लगने वाले दोष उत्पादन दोष कहलाते है। वे आहार की याचना के दोष हैं उनके भी सोलह प्रकार हैं। गृहस्थ और श्रमण दोनों के निमित्त से जो दोष लगते है वे ग्रहणैषणा दोष कहलाते हैं उनके दस प्रकार हैं। श्रमण और श्रमणियाँ जब आहार करते बैठते हैं उस समय जो दोष लगते हैं वे ग्रासैषणा और परिभोगैषणा दोष कहलाते हैं, वे पाँच है।

इस तरह प्रस्तुत नियुक्ति में श्रमणों के आहार आदि के सम्बन्ध में जो भी दोष लगते हैं उनकी स्पष्ट सूची प्रस्तुत की गई है। इसीलिए प्रस्तुत नियुक्ति को मूल सूत्र के रूप में भी किन्हीं किन्हीं आचार्यों ने स्थान दिया है।

भाष्य साहित्य में श्रमणाचार

नियुक्ति साहित्य में मुख्य रूप से पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या की गई है। नियुक्तियों के गंभीर रहस्य को अभिव्यक्त करने के लिए भाष्य साहित्य का निर्माण हुआ। उनमें अनेक प्राचीन अनुश्रुतियाँ लौकिक कथाएँ और परम्परागत श्रमणों के आचार विचार की विधियों का प्रतिपादन हुआ है। भाष्यकारों में जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण और संघदासगणी का नाम अत्यन्त निष्ठा के साथ लिया जाता है।

(४०) विशेषावश्यकभाष्य—इसमें दार्शनिक विचारों की प्रमुखता है। इसमें बताया है कि ज्ञान और क्रिया इन दोनों से मोक्ष प्राप्त होता है।

सामायिक पर चिन्तन करते हुए कहा है कि समभाव सामायिक का लक्षण है। जैसे अनन्त आकाश सभी द्रव्यों का आधार है वैसे ही सभी सद्गुणों का आधार सामायिक है। सामायिक श्रुत का सार है। जीव को कब सामायिक चारित्र उपलब्ध होता है इसका भी विस्तार से निरूपण किया गया है। सामायिक के सम्यक्त्व श्रुत देशव्रत और सर्वव्रत—ये चार भेद किये हैं। सामायिक का जितना अधिक विश्लेषण इसमें किया गया है उतना दूसरे ग्रन्थों में मिलना कठिन है। साथ ही ध्यान विकल्प और स्यविरकल्प ध्यान उसका स्वरूप और उपलब्धि आदि पर भी चर्चा हुई है।

(४१) जीतकल्पभाष्य – जीतकल्प में जिन विषयों पर चर्चा है उन्हीं विषयों पर विस्तार से इसमें चिन्तन किया गया है। संघ व्यवस्था की दृष्टि से एक आचार संहिता का निर्माण किया गया है जिसमें श्रमण के कर्तव्य अकर्तव्य प्रवृत्ति निवृत्ति का निर्देश है। यह आचार संहिता ही व्यवहार कहलाती है। इसमें आचार्य की आठ सम्पदा विनय के चार प्रकार आलोचनाह के आठ गुण अठारह वर्णनीय स्थानों के ज्ञाता दस प्रकार के प्रायश्चित्तों का जानने वाला आलोचना के दस दोषों का जानकार व्रत षटक और कायषटक का विज्ञाता जातिसम्पन्न आदि गुणों से युक्त व्यक्ति आगम व्यवहारी कहलाता है।

प्रायश्चित्त देने के सम्बन्ध में सापेक्ष और निरपेक्ष पर चिन्तन करते हुए लिखा है कि जिसे प्रायश्चित्त देना है प्रायश्चित्त प्रदाता को उसकी शक्ति का परिज्ञान होना चाहिए। यदि उसकी शक्ति से अधिक प्रायश्चित्त दे दिया गया तो संयम में स्थिर होने के स्थान पर सर्वथा त्याग का प्रसंग उपस्थित हो सकता है। प्रायश्चित्त प्रदाता को इतना भी दयालु नहीं होना चाहिए कि प्रायश्चित्त का मूल उद्देश्य ही नष्ट हो जाय और दोषों की परंपरा बढ़ती रहे। बिना प्रायश्चित्त के चारित्र की शुद्धि नहीं होती और बिना चारित्रिक शुद्धि के निर्वाण नहीं हो सकता। निर्वाण प्राप्ति के अभाव में कोई पुरुष श्रमण नहीं बनेगा और श्रमण के अभाव में तीर्थ चल नहीं सकता। इसलिए जहाँ तक तीर्थ की अवस्थिति है वहाँ तक प्रायश्चित्त का भी विधान है। प्रायश्चित्त के प्रसंग में भक्तपरिज्ञा इंगिनीमरण और पादपोपगमन—इन तीन मारणान्तिक साधनाओं का भी उल्लेख है।

किसी अपराध के लिए किसी समय किसी प्रायश्चित्त का विधान किया है किन्तु दूसरे समय में देश काल धृति संहनन बल आदि को देख

अवराग (१३) तृणफलक (१४) सरक्षणता (१५) सस्थापनता (१६) प्राभ तिका (१७) अग्नि (१८) दीप (१९) अवधान (२०) वत्स्यय (२१) भिक्षा चर्या (२२) पानक (२३) लेपालेप (२४) अलेप (२५) आचाम्ल (२६) प्रतिमा (२७) मासकल्प। जिनकल्प की स्थिति पर चिन्तन करते हुए क्षेत्र काल चारित्र, तीर्थ पर्याय आगम वेद कल्प लिंग लेश्या ध्यान गणना अभिग्रह, प्रव्रजना, मुण्डापना प्रायश्चित्त कारण निष्प्रतिकर्म और भक्त इन द्वारो से प्रकाश डाला है। इसके पश्चात् परिहारविशुद्धि और यथालन्दिक कल्प का स्वरूप बतलाया गया है।

स्थविरकल्पिक की चर्या के बारे मे विचार करते हुए कहा गया है कि उसकी प्रव्रज्या शिक्षा अर्थग्रहण अनियतवास और निष्पत्ति—ये सभी जिनकल्पिक के समान हैं। श्रमणो के विहार पर प्रकाश डालते हुए विहार का समय विहार करने से पहले गच्छ के निवास एव निर्वाह योग्य क्षेत्र का परीक्षण उत्सर्ग और अपवाद की दृष्टि से योग्य या अयोग्य क्षेत्र प्रत्युपेक्षको का निर्वाचन, क्षेत्र की प्रतिलेखना के लिए किस प्रकार गमनागमन करना चाहिए विहार मार्ग एव स्थण्डिल भूमि जल विश्रामस्थान भिक्षा वसति उपद्रव आदि की परीक्षा प्रतिलेखनीय क्षेत्र मे प्रवेश करने की विधि भिक्षा के बारे वहाँ के मानवो के अन्तर्मानस की परीक्षा भिक्षा औषध आदि की प्राप्ति मे सरलता व कठिनता का परिज्ञान विहार करने से पूर्व वसति के अधिपति की अनुमति विहार करने से पूर्व शुभ शकुन देखना आदि सभी बातो का वर्णन है।

स्थविरकल्पिको की समाचारी मे (१) प्रतिलेखना (२) निष्क्रमण (३) प्राभृतिका (४) भिक्षा (५) कल्पकरण (६) गच्छशतिकादि (७) अनुपान (८) पुरकम (९) ग्लान (१०) गच्छ प्रतिबद्ध यथालदिक (११) उपरिदोष तथा (१२) अपवाद पर प्रकाश डाला है।

श्रमणियो के आचार सम्बन्धी विधि विधानो पर विस्तार से चिन्तन किया गया है। निग्रन्थी के मासकल्प की मर्यादा विहारविधि, समुदाय का प्रमुख और उसके गुण उसके द्वारा क्षेत्र की प्रतिलेखना श्रमणियो के योग्य क्षेत्र, विधर्मियो से उपद्रव की रक्षा भिक्षा हेतु जाने वाली श्रमणियो की सख्या वर्षावास के अतिरिक्त एक स्थान पर श्रमणी का कितना रहना चाहिए उसका विधान आदि सभी बातो का विधान किया गया है।

स्थविरकल्प और जिनकल्प इन दोनो अवस्थाओ मे कौन सी अवस्था प्रमुख है? इस पर विचार करते हुए भाष्यकार ने दोनो की प्रमुखता स्वीकार की है। सूत्र और अर्थ आदि दृष्टियो से स्थविरकल्प जिनकल्प का

निरूपण है। निशीथ भाष्य आदि प्रभृति दृष्टियों से निरूपण है। श्रमण श्रमणियों को किस स्थान पर रहना चाहिए इस पर विविध दृष्टियों से चिन्तन किया है। यदि श्रमण श्रमणियों में परस्पर वैमनस्य हो जाय तो उपशमन कर कलह को शान्त करना चाहिए। जो उपशमन धारण कर कलह को शान्त करता है वह आराधक बनता है और यदि वह उपशमन नहीं करता है तो विराधक बनता है। श्रमण श्रमणियों के बीच यदि कलह हो जाय तो आचार्य को उसकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। यदि उपेक्षा करता है तो आचार्य को प्रायश्चित्त आता है।

पारस्परिक कलह को शान्त करने की विधि भी बताई है। श्रमण श्रमणियों को वर्षावास में एक गाँव से दूसरे गाँव नहीं जाना चाहिए। यदि कोई गमन करता है तो प्रायश्चित्त का भागी बनता है। यदि अपवाद के कारण से विहार का प्रसंग आ जाय तो उसे यतना के साथ गमन करना चाहिए। निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थियों के परस्पर उपाश्रय में प्रवेश करने की विधि भी बताई है। वस्त्रों के सम्बन्ध में चिन्तन है। वस्त्र फाड़ने में होने वाली हिंसा अहिंसा पर भी चिन्तन करते हुए द्रव्यहिंसा भावहिंसा पर विचार किया है। जितना अधिक तीव्र राग होगा उतना ही अधिक कर्म बन्धन होगा। रागादि के अभाव में मैथुन आदि क्रियाएँ नहीं होतीं इसलिए उसका कोई अपवाद नहीं है। पण्डक आदि को दीक्षा देने का निषेध किया है। इसमें श्रमणियों के विशेष रूप से विधि विधान बताये गये हैं। जो निर्ग्रन्थी विक्षिप्तचित्त हो गई है उसके कारणों को सम्यक् प्रकार से समझ कर उसकी देखरेख की व्यवस्था और चिकित्सा आदि के विधि विधानों का विवेचन है। श्रमणों के लिए छह प्रकार के परिमन्थु (व्याघात) माने गये हैं—(१) कौत्कुचिक (२) मौखरिक (३) चक्षुर्लोल (४) तिंतिणिक (५) इच्छा लोभ और (६) भिज्यानिदानकरण। इनके स्वरूप दोष और अपवाद पर चिन्तन है। छह प्रकार की कल्पस्थितियों पर भी विचार किया गया है—(१) सामायिक कल्पस्थिति (२) छेदोपस्थापनीय कल्पस्थिति (३) निर्विश-मान कल्पस्थिति (४) निर्विष्टकायिक कल्पस्थिति (५) जिनकल्पस्थिति और (६) स्थविरकल्पस्थिति। छेदोपस्थापनीय कल्पस्थिति के आचेलक्य औद्देशिक आदि दस कल्प हैं।

इस प्रकार प्रस्तुत भाष्य में श्रमणों के आचार के सम्बन्ध में बहुत अच्छा विश्लेषण हुआ है।

(४३) पंचकल्प महाभाष्य—यह आचार्य संघदास गणि की दूसरी कृति

पंचम कल्प के द्रव्य, भाव, तदुभयकरण, विरमण, सदाचार, निर्देश, अन्तर, नयान्तर, स्थित, अस्थित, स्थान आदि बयालीस भेद हैं।

प्रस्तुत भाष्य में पंचकल्पलघुभाष्य का भी समावेश हो गया है।

(४४) निशीथभाष्य – इस भाष्य के रचयिता भी संघदास गणी हैं। इसमें श्रमणाचार का विविध दृष्टियों से निरूपण हुआ है। जैसे—पुलिंद आदि अनार्य अरण्य में जाते हुए श्रमणों को मार देते थे। अनेक रसप्रद कथाएँ भी इस भाष्य में आई हैं। प्रस्तुत भाष्य की अनेक गाथाएँ बृहत्कल्पभाष्य और व्यवहारभाष्य में भी मिलती हैं।

(४५) व्यवहारभाष्य – इसमें व्यवहार, व्यवहारी और व्यवहर्तव्य के स्वरूप की चर्चा की गई है। व्यवहार में लगने वाले दोष और प्रायश्चित्त आदि का विवेचन है। उसके बाद भिक्षु, मास, प्रतिहार, स्थान, प्रतिमवता, आलोचना आदि पदों पर निक्षेप दृष्टि से चिन्तन किया गया है। आधा-कर्म से सम्बन्धित अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार, अनाचार के लिए पृथक्-पृथक् प्रायश्चित्त का विधान है। मूलगुण और उत्तरगुण—इन दोनों की विशुद्धि प्रायश्चित्त से होती है। अतिक्रम के लिए मासगुरु, व्यतिक्रम के लिए मासगुरु और कालगुरु, अतिचार के लिए तपोगुरु और कालगुरु तथा अनाचार के लिए चतुर्गुरु प्रायश्चित्त का विधान है।

पिण्डविशुद्धि, समिति, भावना, तप, प्रतिमा, अभिग्रह ये सभी उत्तरगुण हैं। इनके क्रमश: बयालीस, आठ, पच्चीस, बारह, बारह और चार भेद होते हैं।

प्रायश्चित्त करने वाले पुरुष के निर्गत और वर्तमान—ये दो प्रकार हैं। जो तदर्ह प्रायश्चित्त से अतिक्रान्त हो गये हैं वे निर्गत हैं और जो विद्यमान में हैं वह वर्तमान है। उनके भी भेद-प्रभेद किये गये हैं।

प्रायश्चित्त के योग्य पुरुष चार प्रकार के होते हैं—(१) उभयतर—जो स्वयं तप की साधना करता हुआ भी दूसरों की सेवा करता है (२) आत्मतर—जो केवल तप ही कर सकता है (३) परतर—जो केवल सेवा ही कर सकता है (४) अन्यतर—जो तप और सेवा दोनों में से किसी एक का सेवन कर सकता है।

आलोचना व आलोचक पर विस्तार से विवेचन है। परिहार तप के वर्णन में लक्षण और सम्भावना के उदाहरण भी दिये गये हैं। आलोचक के प्रत्याख्यानिका, एकदिशा, अवन्ना, अन्यकथा और द्वादशा—ये पाँच प्रकार

बताये हैं। शिथिलता के कारण यदि कोई गच्छ का परित्याग करता है और पुन गच्छ म सम्मिलित होता है तो उसके लिए प्रायश्चित्त का विधान है।

पार्श्वस्थ यथाच्छन्द कुशील अवसन्न और संसक्त के स्वरूप पर प्रकाश डाला है। एकाकी विचरण करने म जिन दोषो के लगने की सभावना है उनका भी निरूपण है। विविध प्रकार के तपस्वी व्याधियो स सत्रस्त श्रमण श्रमणियो की सेवा का विधान करते हुए क्षिप्तचित्त दीप्त चित्त की सेवा करन की मनोवैज्ञानिक पद्धति पर प्रकाश डाला गया है। क्षिप्तचित्त के राग भय और अपमान—ये तीन कारण है। दीप्तचित्त का कारण सम्मान है। सम्मान से उसम मद पैदा होता है और मद स उन्मत्त होकर वह दीप्तचित्त होता है। क्षिप्तचित्त और दोप्तचित्त म यह अन्तर है कि क्षिप्तचित्त प्राय मौन रहता है जबकि दीप्तचित्त बिना प्रयोजन के भी बोलता रहता है।

गणावच्छेदक आचार्य उपाध्याय प्रवर्तक स्थविर प्रवर्तिनी आदि पदवियो को धारण करने वालो की योग्यता पर भी विचार किया गया है। जो आगम साहित्य का ममज्ञ हो सूत्रार्थ विशारद हो धीर हो—ऐसा विशिष्ट व्यक्ति ही आचार्य पद को धारण कर सकता है। आचार्य उपाध्याय को कम स कम कितने श्रमणो के साथ रहना चाहिए आदि विविध विधि विधानो का वर्णन है।

आचार्य और उपाध्याय के पाच अतिशय है। उनके बाहर जाने पर पैरो को साफ करना चाहिए उनके उच्चार प्रस्रवण को निर्दोष स्थान पर परठना चाहिए उनके इच्छानुसार वैयावृत्य करना चाहिए उनके साथ उपाश्रय के भीतर रहना चाहिए और उनके साथ उपाश्रय स बाहर जाना चाहिए।

श्रमणी एक सघ म दीक्षा ग्रहण कर दूसरे सघ म शिष्या बनना चाहे तो उसे दीक्षा नहीं देनी चाहिए। उसे जहा पर रहना हो वहीं दीक्षा ग्रहण करनी चाहिए। श्रमण के लिए इस प्रकार का कोई नियम नहीं है।

वर्षावास के लिए ऐसा स्थान सर्वश्रेष्ठ बताया है जहा पर कीचड अधिक न हो द्वीन्द्रियादि जीवो की बहुलता न हो प्रासुक भूमि हो रहने योग्य दो-तीन बस्तियाँ हो गोरस की प्रचुरता हो बहुत लोग रहते हो वैद्य हो औषधियाँ सरलता स मिल सकती हों, धान्य की प्रचुरता हो

गाष्ठामाहिल तथा अन्य निह्नवो का वणन है। सात निह्नवा के साथ आठव वाटिक निह्नव का भी वणन है।

सामायिक के वणन म अनेक व्यक्तिया के उदाहरण भी प्रस्तुत किय गये ह। चतुर्विंशतिस्तव म स्तव, लोक उद्योत धम तीथकर आदि पदा पर निक्षप दृष्टि स चिन्तन है। ततीय वन्दना म वन्दन के योग्य श्रमण का स्वरूप चितिकम कृतिकम पूजाकम विनयकम का दृष्टान्त देकर समझाया है। चतुथ प्रतिक्रमण अध्ययन म प्रतिक्रमण की परिभाषा प्रतिक्रमक प्रतिक्रमण और प्रतिक्रान्तव्य इन तीन दृष्टिया स प्रतिक्रमण पर विवचन हुआ है। प्रतिचरणा, प्रतिहरणा वारणा निवत्ति निन्दा गर्हा शुद्धि और आलोचना पर विवेचन करते हुए उदाहरण भी दिये हैं।

कायिक वाचिक और मानसिक अतिचार ईर्यापथी की विराधना प्रकामशय्या भिक्षाचर्या स्वाध्याय आदि म लगन वाल अतिचार चार विकथाएँ चार ध्यान पाच क्रिया पाँच काम गुण पाँच महाव्रत पाँच समिति आदि का विविध दृष्टाता द्वारा प्रतिपादन है। द्वादश भिक्षु प्रतिमा, सत्तरह असयम अनगार क सत्ताईस गुण आचार प्रकल्प आजव शुचि आचार विनय धति सवेग प्रणिधि सुविधि सवर आत्मदाष प्रत्याख्यान कायात्सग अप्रमाद ध्यान प्रायश्चित्त आराधना आशातना अस्वाध्यायिक आदि प्रतिक्रमण सम्बन्धी जितन भी प्रमुख विषय है उन सभी पर चिन्तन किया गया है।

कायोत्सग अध्ययन म कायोत्सग का विस्तार स निरूपण है। वह एक प्रकार स आध्यात्मिक व्रण चिकित्सा है। कायोत्सग म काय और उत्सग—य दो पद ह। काय का नाम स्थापना आदि बारह प्रकार क निक्षपा स वणन किया है और उत्सग का भी निक्षपा स वणन किया है। कायोत्सग क चेष्टा कायोत्सग और अभिभव कायोत्सग—य दो भेद हैं। गमन आदि म जो दोष लगा हो उसक पाप स निवत्त होन के लिए चेष्टा कायोत्सग किया जाता है।

पराजित होकर या पराजित कर जो कायोत्सग किया जाता है वह अभिभव कायोत्सग है। कायोत्सग के प्रशस्त और अप्रशस्त—य दो भेद बताकर फिर उच्छ्रित आदि नौ भेद बताय हैं। श्रुत सिद्ध की स्तुति पर प्रकाश डालकर क्षामणा की विधि पर विचार किया है।

छठ अध्ययन म प्रत्याख्यान का विवचन ह। नाम सम्यक्त्व व अतिचार श्रावक के द्वादश व्रत व अतिचार दस प्रत्याख्यान छ प्रकार

कषाय ध्यान-स्थान चारित्र की प्ररूपणा विकथा इन्द्रिय निद्रा आदि अनेक महत्त्वपूर्ण विषयों पर विवेचन है।

यहाँ बताया गया है कि आलस्य मैथुन निद्रा क्षुधा आक्रोश इन पाँचों का जितना सेवन किया जाय उतना ही वे द्रौपदी के दुकूल की तरह बढ़ते हैं। छह जीवनिकाय यतना उपयोग वचन आहार प्रायश्चित्त आसन-पान-शयन वसति ठहरना चलना, भाषा भ्रमण गमन आगमन आदि पर विचार किया गया है। मृषावाद को लौकिक और लोकोत्तर इन दो भागों में विभक्त किया है और उनके उदाहरण भी दिये हैं। अन्य महाव्रतों के साथ चतुर्थ महाव्रत पर भी विस्तार से निरूपण है। वस्त्र फाड़ने और सीने के नियम बताये हैं। कठोर भाषा व स्नान आदि का निषेध किया गया है। शय्यातर पिण्ड को अग्राह्य बताया है और उसे ग्रहण करने पर लघु मास का प्रायश्चित्त आता है।

(१) सागारिक कौन होता है (२) वह शय्यातर कब बनता है (३) उसके पिण्ड के प्रकार (४) अशय्यातर कब बनता है (५) सागारिक किस संयत द्वारा परिहर्तव्य है (६) सागारिक पिण्ड के ग्रहण में दोष (७) किस परिस्थिति में सागारिक पिण्ड ग्रहण किया जा सकता है (८) यतना से ग्रहण करना (९) पर या अनेक सागारिकों से ग्रहण करना आदि विषयों पर चिन्तन किया गया है। शय्या और संस्तारक का अन्तर बताते हुए कहा है कि शय्या पूरे शरीर के बराबर होती है और संस्तारक ढाई हाथ लम्बा होता है।

जिनकल्पिक और स्थविरकल्पिक उपधियों का भी वर्णन है। भिक्षा में लगने वाले दोषों का वर्णन है। अनुकूल और प्रतिकूल उपसर्ग कायोत्सर्ग के विविध प्रकार सामाचारी निर्ग्रन्थी के स्थान पर श्रमण का प्रवेश, राजा अमात्य श्रेष्ठी पुरोहित सार्थवाह ग्राममहत्तर, राष्ट्रमहत्तर, गणधर के लक्षण, ग्लान श्रमणी की सेवा, संरम्भ समारम्भ और आरंभ के भेद प्रभेद हास्य और उसके उत्पन्न होने के विविध कारणों का वर्णन है। विविध प्रकार के आभूषणों को धारण करने का निषेध है। चतुर्थ व्रत के संबंध में अत्यधिक जागरूकता रखने की प्रेरणा दी गई है।

श्रमण को कहाँ ठहरना चाहिए और कहाँ वार्तालाप आदि करना चाहिए इस संबंध में अनेक सूचनाएँ दी गई हैं। जिनका अभिषेक हो चुका हो, सेनापति अमात्य पुरोहित श्रेष्ठी सार्थवाह सहित जो राज्य का उप

के बीज का आधान (२) श्रमण धर्म की परिभावना (३) प्रव्रज्या ग्रहण करने की विधि (४) प्रव्रज्या का पालन (५) प्रव्रज्या का फल—मोक्ष।

प्रथम सूत्र में अरिहन्त सिद्ध साधु और केवली प्रज्ञप्त धर्म स्वीकार कर जो श्रेष्ठ कृत्य है उसकी अनुमोदना की गई है। द्वितीय सूत्र में कुसंग का त्याग, सुसंग की स्वीकृति और लोक विरुद्ध आचरण के परिहार पर बल दिया है। तृतीय सूत्र में माता पिता की अनुज्ञा दीक्षा के लिए आवश्यक मानी है। चतुर्थ सूत्र में आठ प्रवचन माता का पालन भाव चिकित्सा के लिए प्रबल पुरुषार्थ और लोक संज्ञा का त्याग आदि का प्ररूपण है। पाँचवें सूत्र में मोक्ष के स्वरूप का प्रतिपादन है।

(५९) पंच नियंठि—इसके रचयिता आचार्य हरिभद्र माने जाते हैं। परन्तु यह ग्रन्थ अभी तक मिल नहीं सका है। इसमें पुलाक, बकुश कुशील निर्ग्रन्थ और स्नातक इन पाँच प्रकार के निर्ग्रन्थों का उल्लेख होना चाहिए क्योंकि ग्रन्थ के नाम से यह अनुमानित होता है।

(६०) पंचनियंठि—यह ग्रन्थ नवांगी टीकाकार अभयदेव द्वारा रचित है। इसका अपर नाम पंचनिर्ग्रन्थि विचार संग्रहणि भी मिलता है। भगवती सूत्र के पच्चीसवें शतक के आधार पर पुलाक बकुश आदि निर्ग्रन्थों का इसमें निरूपण किया गया है। इसमें १०७ पद्य हैं।

(६१) पंचवस्तुक—यह आचार्य हरिभद्र की महत्वपूर्ण कृति है। इसके प्रथम प्रव्रज्या विधि में प्रव्रज्या कब किसे और कौन दे सकता है, इस पर विस्तार से चर्चा है। द्वितीय अधिकार वस्तु में प्रतिदिन की क्रिया प्रतिलेखना विधि उपाश्रय का परिमार्जन भिक्षा की विधि, ईर्यापथिकी कायोत्सर्ग विधि की आलोचना भोजन पात्रों का प्रक्षालन स्थण्डिल के विचार उपधि शुद्धि का अवलोकन प्रतिक्रमण आदि पर विचार हैं। तृतीय में व्रतों का स्वरूप की गई है। चतुर्थ में अनुयोग और गण की अनुज्ञा का निरूपण है और पाँचवें में संलेखना का विश्लेषण है। इसमें कुल १७१४ पद्य हैं। इसी ग्रन्थ के आधार पर ही न्यायाचार्य यशोविजय जी ने मार्गविशुद्धि नामक ग्रन्थ की रचना की थी।

(६२) पुरवन्दनमाला—इसके रचयिता देवेन्द्र सूरि हैं। इसमें गुरु वन्दन के तीन प्रकार—स्फेटा स्तोभ और द्वादशावर्त बताये हैं। इसके हेतु वन्दन के पाँच नाम—वन्दन चितिकर्म कृतिकर्म, पूजाकर्म और विनयकर्म और वन्दन के द्वार द्वार द्वारा वन्दन के विविध प्रकारों

वेश्लपण है। वे इस प्रकार हैं—(१) वन्दन के पाच नाम, (२) वन्दन के बारे मे पाँच उदाहरण (३) पाश्वस्थ आदि अवन्दनीय, (४) आचाय आदि वन्दनीय (५ ६) वन्दन के चार अदाता और चार दाता (७) निषेध के तेरह स्थानक, (८) अनिषेध के चार स्थानक, (९) वन्दन के कारण, (१०) आवश्यक, (११) मुखवस्त्रिका का प्रतिलेखन, (१२) शरीर का प्रतिलेखन, (१३) वन्दन के बत्तीस दोष (१४) वन्दन के चार गुण, (१५) गुण की स्थापना (१६) अवग्रह (१७ १८) 'वदणयसुत्त के अक्षरों एव पदों की सख्या (१९) स्थानक (२०) वन्दन म गुरुवचन (२१) गुरु की ततीस आशातना और (२२) वन्दन की विधि।

(६३) पच्चक्खाणभास—इसके रचयिता भी देवेन्द्रसूरि हैं। यह हाराष्ट्री प्राकृत में रचित एक महत्वपूर्ण कृति है। इसमे ४८ गाथाओ रा (१) प्रत्याख्यान के दस प्रकार (२) प्रत्याख्यान की विधि, (३) तुर्विध आहार (४) बाईस आगार (५) दस विकृति (६) तीस विकृति-त (७) प्रत्याख्यान के दो प्रकार—मूलगुण प्रत्याख्यान और उत्तरगुण त्याख्यान, (८) प्रत्याख्यान की छ शुद्धि (९) प्रत्याख्यान का फल—इन नौ ारा से निरूपण है।

(६४) सवग रंगशाला—इसक रचयिता सुमतिवाचक और प्रसन्नचन्द्र सूरि क शिष्य देवभद्रसूरि हैं। इसे आराधनाशस्त्र भी कहते हैं। इस ग्रन्थ का उल्लेख पार्श्वनाथ चरित्र कथारत्न कोश मे मिलता है। पर अभी तक उसकी हस्तलिखित प्रति उपलब्ध नहीं हुई है।

(६५) यति दिनकृत्य—प्रस्तुत ग्रन्थ के रचयिता हरिभद्र माने जाते हैं। इसम श्रमणो के प्रतिदिन की प्रवृत्तिया का निरूपण हुआ है।

(६६) जइ जीयकप्प (यतिजीतकल्प)—इस ग्रन्थ के रचयिता सोमप्रभ सूरि हैं। प्रारम्भ की २४ गाथाएँ जीतकल्प से ली गई हैं। इसम कुल ३०६ गाथाएँ हैं। इसमे श्रमण के आचार का निरूपण है। इस पर सोमतिलक सूरि ने एक वत्ति लिखी है और दूसरी वृत्ति देवसुन्दर सूरि के शिष्य साधु रत्न ने लिखी है जिसमे सोमतिलकसूरि का उल्लेख है।

(६७) जइसामाचारी—इस ग्रन्थ के रचयिता भावदेवसूरि हैं। इसम १५४ गाथाएँ हैं। इसकी प्रथम गाथा से यह ज्ञात होता है कि यह एक सक्षिप्त रचना है। प्रस्तुत कृति मे जन श्रमणो के सूर्योदय से लेकर संथारे तक की विधि और प्रवृत्तिया का वणन है। इस पर मतिसागरसूरि की अवचूरि भी मिलती है।

चिन्तन हुआ है। श्रामण्य के चिह्न छेदोपस्थापक श्रमण छेद का स्वरूप, युक्त आहार, उत्सर्ग एवं अपवाद मार्ग का भी वर्णन है। ज्ञान दर्शन चारित्र का स्वरूप, नियम भेद-अभेद पर चिन्तन, प्रसंगानुसार पंच महाव्रत पंच समिति तीन गुप्तिरूप व्यवहार चारित्र का भी निरूपण करते हुए अर्हन्त सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु के स्वरूप को भी स्पष्ट किया है। आचार्य कुन्दकुन्द ने यह स्पष्ट किया है कि विशुद्ध सम्यग्दर्शन के साथ आचरण करना सम्यक्त्वचरणचारित्र है। सम्यक्त्व से जीव द्रव्य और पर्याय को देखकर उस पर निष्ठा करता है, ज्ञान से उन्हें जानता है और चारित्र से अपने दोषों का परिहार करता है। मनोज्ञ, अमनोज्ञ, सचित्त और अचित्त राग, द्वेष के परिहार की दृष्टि से इन्द्रियों का संवरण, महाव्रत, समिति गुप्ति आदि को अनगार संयमचरण कहा है। चारित्रप्राभृत में पंच महाव्रतों की पृथक्-पृथक् भावनाओं का निर्देश है। भावप्राभृत में बताया कि श्रमण की पहचान द्रव्य लिंग से नहीं भाव से होती है। वहाँ बताया कि बाह्य परिग्रह-त्याग का लक्ष्य भाव विशुद्धि है। यदि आभ्यन्तर परिग्रह विद्यमान है तो बाह्य परिग्रह के त्याग का महत्त्व नहीं है। अनेक दृष्टान्त देकर उन्होंने इस विषय को स्पष्ट किया है।

लिंगपाहुड में श्रमणधर्म का निरूपण बाईस गाथाओं के द्वारा किया है। चारित्र भक्ति में पाँच चारित्रों का अनुष्टुप छन्दों के द्वारा वर्णन किया गया है। इस तरह आचार्य कुन्दकुन्द ने श्रमणाचार पर प्रकाश डाला है।

मूलाचार—आचार्य वट्टकेर दिगम्बर परम्परा के एक यशस्वी आचार्य थे। मूलाचार उनकी महत्त्वपूर्ण कृति है। प्रस्तुत कृति में आवश्यकनिर्युक्ति, पिण्डनिर्युक्ति, भक्तपरिज्ञा, मरणसमाधि आदि श्वेताम्बर ग्रन्थों की गाथाएँ भी उद्धृत की गई हैं। इस ग्रन्थ में १२५२ गाथाएँ हैं जिनमें श्रमण और आर्यिकाओं की आचार संहिता का सांगोपांग विवेचन है। पंच महाव्रत समिति इन्द्रिय निरोध, षडावश्यक केशलुंचन अचेलकत्व अस्नान भूमिशयन अदन्तधावन स्थिति भोजन तथा एक दिन में एक बार भोजन का निरूपण है। इसमें यह भी निरूपण है कि श्रमण पापों से मुक्त होकर [illegible] अंतिम दशा में दर्शन ज्ञान चारित्र और तप इन आराधनाओं में स्थित रहकर क्षुधादि परीषहों पर विजय प्राप्त कर निर्जरा करें।

यदि सिंह व्याघ्र आदि के द्वारा आकस्मिक मृत्यु उपस्थित हो तो [illegible] का [illegible] व आहार का त्याग कर समभाव में स्थित हो [illegible]

चाहिए। इस प्रकार के आचार का विश्लेषण किया गया है और साथ ही दर्शनाचार, ज्ञानाचार आदि आचार के पाँच भेदों का भी वर्णन है। पिण्डविशुद्धि अधिकार में आहार सम्बन्धी नियमोपनियमों पर चिन्तन किया गया है। षडावश्यक अधिकार में छह आवश्यकों पर नियुक्ति की दृष्टि से विवेचन है। अनगार भावना में बताया है कि लिंग व्रत वसति विहार भिक्षा, ज्ञान शरीरसंस्कार-त्याग वाक्य तप और ध्यान सम्बन्धी जो निर्दोष आचरण श्रमण करते हैं, वे ही मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं। शील गुण अधिकार में शील के १८००० भेदों का निरूपण है। प्रस्तुत ग्रन्थ श्रमणाचार को समझने के लिए अत्यन्त उपयोगी है।

भगवती आराधना—इस ग्रन्थ के रचयिता आचार्य शिवार्य हैं। ये यापनीय संघ के आचार्य थे। इसमें सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र और सम्यक्तप इन चार आराधनाओं का निरूपण है। श्रमणधर्म का विश्लेषण मुख्य रूप से किया गया है। प्रस्तुत ग्रन्थ में उल्लिखित अनेक मान्यताएँ दिगम्बर श्रमणाचार से मेल नहीं खातीं जैसे—रुग्ण श्रमणों के लिए अन्य श्रमणों द्वारा भोजन-पानी लाने का निर्देश उसी प्रकार श्रमण के शरीर को अरण्य में परित्याग कर आने की विधि आदि। इसमें श्वेताम्बर परम्परा मान्य कल्पव्यवहार आचारांग और जीतकल्प का भी उल्लेख है। आवश्यकनियुक्ति बृहत्कल्पभाष्य आदि श्वेताम्बर ग्रन्थों की अनेक गाथाएँ इसमें उद्धृत हैं। इसमें पंडित-पंडितमरण पंडितमरण और बाल पंडितमरण जो सतरह प्रकार के मरण हैं उनमें इन तीन प्रकार के मरण को श्रेष्ठ बताया है। आचेलक्य लोच देह ममत्व त्याग प्रतिलेखन—ये चार श्रमणों के चिह्न बताये हैं। इसमें कहा गया है कि श्रमण विविध देशों में विचरण करता है अत उसमें अनेक गुण होने चाहिए। इसके साथ ही अनेक रीति रिवाज भाषा और शास्त्र आदि में भी उसे निपुणता प्राप्त होनी चाहिए। तपोभावना श्रुतभावना सत्यभावना एकत्वभावना और धृतिबलभावना का भी निरूपण किया गया है। संलेखना के साथ बाह्य और आभ्यन्तर तप का निरूपण है। आर्यिकाओं के संघ में रहने सम्बन्धी नियमों का भी वर्णन है। प्रस्तुत ग्रन्थ में अपवाद रूप से जैन श्रमणों के लिए वस्त्र का भी विधान किया गया है और आर्यिकाओं के लिए कारणापन्न वस्त्र की भी अनुज्ञा दी गई है। श्रमणों के लिए लज्जाग्रस्त होने पर पुरुषेन्द्रिय में विकृति होने पर तथा परीषह सहन करने में असमर्थ होने पर वस्त्र ग्रहण करने का विधान है (गा० ४२१ विजयोदया टीका)।

श्रमणधर्म का प्रवेश-द्वार : आर्हती दीक्षा

श्रमण का महत्त्व

श्रमण संस्कृति में उपाकाल से ही श्रमण का महत्त्व रहा है। श्रावक के द्वादश व्रतों का जागरूकता और सम्यक्रूपेण पालन करने वाले गृहस्थ के अन्तःकरण में भी प्रतिपल प्रतिक्षण यही भावना रहती है कि मेरे लिए परम सौभाग्य का दिन वही होगा जिस दिन मैं श्रमणधर्म का ग्रहण करूँगा।

उत्तराध्ययन सूत्र में ब्राह्मण वेषधारी इन्द्र ने नमि राजर्षि से मनुष्य निवेदन किया कि राजर्षे! आप सर्वप्रथम यज्ञ करें। श्रमण और ब्राह्मणों को भोजन करावें। खूब दान करें। उसके पश्चात श्रमण हो जावें।

उत्तर में नमि राजर्षि[1] ने कहा—जो मानव प्रति माह दस लाख गायें दान देता है उसके लिए भी संयम श्रेष्ठ है। अर्थात दस लाख गायों का दान देने से भी बढ़कर श्रमण-जीवन है।

इससे स्पष्ट है कि श्रमण परंपरा में श्रमण-जीवन का कितना अधिक महत्त्व रहा है। श्रेष्ठता व्यक्ति की नहीं अपितु साधना की है, संयम की है। साधना के अनुकूल वातावरण रहे एतदर्थ गृहवास का परित्याग कर वेष परिवर्तन करना आवश्यक है। यदि अन्तर्जीवन की विशुद्धि हो चुकी है तो गृहस्थ या अन्य किसी भी वेष में भी मुक्ति संभव है। मुक्ति के लिए वेष उतना बाधक नहीं है जितने कि आन्तरिक विकार हैं। आत्मा का उत्कर्ष साधने हेतु बाह्य वातावरण और सतत अभ्यास अपेक्षित है। साधक एक पथिक है जो अपने लक्ष्य की ओर बढ़ रहा है। यदि उसको समुचित वातावरण उपलब्ध नहीं हुआ तो वह मध्य में भी भटक सकता है और बीच में भी अटक सकता है।

---

१ उत्तराध्ययन ९.४०

पयोधि उछालें मारता हो। जिसमें जितनी अधिक वैराग्य भावना बलवती होती है वह उतना ही अधिक द्रुतगति से आगे बढ़ता है। आगम साहित्य के अध्ययन से यह स्पष्ट है कि किसी भी जाति पाँति तथा वर्ण का व्यक्ति श्रमणधर्म को स्वीकार कर सकता है। केवल सामान्य स्त्री पुरुष ही संसार का परित्याग नहीं करते थे अपितु जिनके पास अपार वैभव के अंबार लगे हुए होते सत्ता और सम्पत्ति जिनके चरण चूमते वे भी साधना के पथ पर सहर्ष अपने कदम बढ़ाते। ऐसे हजारों श्रेष्ठीपुत्र राजा, सम्राट और सामन्त राजनीति विशारद षड्दर्शन के ज्ञाता मूर्धन्य मनीषी गण, वीर योद्धा तथा अत्यन्त सुकुमार राज रानियाँ, राज पुत्रियाँ और भोगों में डूबे हुए व्यक्ति भी भोगों की निस्सारता को समझ कर त्याग मार्ग को अपनाते रहे हैं।

उत्तराध्ययन[1] में एक साधक ने जिज्ञासा प्रस्तुत की—अध्रुव अशाश्वत और दुःख वेदनाओं से परिपूर्ण इस संसार में ऐसा कौनसा कार्य करूँ? किस मार्ग पर चलूँ जिससे दुर्गति के महागर्त में गिरने से बच सकूँ?

समाधान किया गया—पूर्व परिचित संयोगों का परित्याग कर किसी पदार्थ में जो आसक्त नहीं होता स्नेही जनों के प्रति स्नेहभाव नहीं रखता वही श्रमण दोषों से मुक्त होता है।

अभिप्राय यह कि आर्हती दीक्षा ग्रहण करने वाला साधक संसार एवं संसारी जनों के प्रति आसक्ति एवं मोह को त्याग देता है।

वैराग्योत्पत्ति के कारण

जैसा कि हम पहले बता चुके हैं—दीक्षा के लिए वैराग्य आवश्यक है। स्थानांग[2] में वैराग्योत्पत्ति के प्रमुख दस प्रकार बताये हैं। यों अनेक कारण हो सकते हैं। आचार्य अभयदेव ने[3] अपनी वृत्ति में उन प्रव्रज्या लेने वालों के उदाहरण भी प्रस्तुत किये हैं।

(१) छन्दा—स्वयं की या दूसरों की इच्छा से ली जाने वाली

---

१ उत्तराध्ययन ८/१ २

२ स्थानांग १०।७१२

३ स्थानांग (अभयदेव टीका) पत्र ४४६

प्रव्रज्या। जैसे गोविन्द वाचक[1] जो पहले बौद्ध भिक्षु थे, अठारह बार जैनाचार्य से पराजित हुए। जैनों को पराजित करने के लिए जैनाचार्य के पास दीक्षा ग्रहण की। जब उन्हें आगमों का पूर्ण ज्ञान हो गया तब आचार्य से निवेदन कर पुनः दीक्षा ग्रहण की और आचार्य बने। उन्होंने गोविन्द नियुक्ति नामक दार्शनिक ग्रन्थ की भी रचना की। वे ज्ञान लेने के लिए प्रव्रजित हुए थे और ज्ञान होने पर वे सच्चे श्रमण बन गये।

(२) रोषा—क्रोध से ली जाने वाली दीक्षा। शिवभूति[2] अत्यन्त पराक्रमी और साहसी था। वह राजा का अनुचर था। उसने पाडुमथुरा को जीतकर राजा को प्रसन्न किया। राजा की कृपा से स्वच्छन्द होकर नगर में घूमता आधी रात के बाद घर लौटता। माता के उपालम्भ से वह आचार्य के पास पहुँचा और श्रमण बन गया।

(३) परिद्युना—दरिद्रता के कारण ली जाने वाली दीक्षा। आचार्य सुहस्ति कौशाम्बी में थे। श्रमणों को भिक्षा ग्रहण करते हुए देखकर एक भिखारी[3] ने भोजन माँगा। आचार्य ने कहा—दीक्षा लेने पर ही भोजन मिल सकता है। क्षुधा से पीड़ित उस भिक्षुक ने दीक्षा ग्रहण की।

(४) स्वप्ना—स्वप्न के निमित्त से ली जाने वाली दीक्षा। पुष्पभद्र नगर का राजा पुष्पकेतु और महारानी पुष्पवती थी। उसके एक युगल हुआ—पुत्र का नाम पुष्पचूल और पुत्री का नाम पुष्पचूला[4] रखा। दोनों का विवाह हुआ। माता मरकर देवी बनी। अपने पुत्र-पुत्री को प्रतिबोध देने हेतु स्वप्न में पुष्पचूला को नरक की दारुण वेदना बतायी। उन दृश्यों को देखकर विरक्ति हुई और दोनों ने आचार्य अन्निकापुत्र के पास प्रव्रज्या ग्रहण की।

१ (क) निशीथभाष्य गा० ३६५६ चूर्णि
(ख) बृहत्कल्पभाष्य गा० २८८०
(ग) आवश्यकचूर्णि पूर्वभाग, पृ० ३५३
(घ) दशवैकालिक निर्युक्ति गा० ८२
(च) पुण्यविजयजी ने गोविन्द वाचक का अस्तित्वकाल विक्रम की पाँचवीं शताब्दी माना है।

२ आवश्यकनिर्युक्ति मलयगिरि वृत्ति पत्र ४१८-४१९

३ अभिधान राजेन्द्र कोष भा० ७ पृ० ११७

(५) प्रतिश्रुता—पहले की गई प्रतिज्ञा के कारण ली जाने वाली प्रव्रज्या। राजगृह निवासी धन्ना[1] का शालिभद्र की बहन सुभद्रा के साथ विवाह हुआ। शालिभद्र को वैराग्य हुआ। जिससे वह बत्तीस पत्नियों में से प्रतिदिन एक-एक पत्नी का परित्याग कर दीक्षा का विचार कर रहा था। सुभद्रा की आँखों में आँसू निहारकर दुःख का कारण धन्ना ने पूछा तो उसने भाई की दीक्षा की बात कही। धन्ना ने कहा—तुम्हारा भाई कायर है हीनसत्त्व है यदि दीक्षा लेनी है तो एक साथ सबका त्याग क्यों नहीं कर देता? सुभद्रा ने कहा—कहना सरल है करना कठिन है। धन्ना ने प्रतिज्ञा की और शालिभद्र के साथ भगवान महावीर के पास दीक्षा ग्रहण की।

(६) स्मारणिका—जन्मान्तरों की स्मृति हो जाने पर ली जाने वाली दीक्षा। विदेह जनपद की राजधानी मिथिला के राजा कुम्भ की पुत्री मल्ली कुमारी थी।[2] उसके पूर्वभव के छह मित्र थे—साकेत नगरी के राजा प्रतिबुद्ध, चम्पानगरी के राजा चन्द्रच्छाय, श्रावस्ती नगरी के राजा रुक्मी वाराणसी नगरी के राजा शख हस्तिनापुर के राजा अदीनशत्रु काम्पिल्यपुर के राजा जितशत्रु। पुतली के द्वारा सभी राजाओं को पूर्वभव का स्मरण कराया और वे सभी मल्ली के साथ दीक्षित हुए।

(७) रोगिणिका—रोग का निमित्त मिलने पर ली जाने वाली दीक्षा। चतुर्थ चक्रवर्ती सनत्कुमार[3] का रूप अद्भुत था। जिसे निहारने के लिए देव आये। चक्रवर्ती ने कहा कि यदि तुम्हें मेरा रूप देखना है तो सभा में देखो। सभा में देवों ने कहा—वह रूप नहीं है और अब रोग उत्पन्न हो गया है। चक्रवर्ती ने पीकदानी में थूककर देखा—कीड़े कुलबुला रहे थे। इस प्रकार रोग का निमित्त मिलने पर सनत्कुमार चक्रवर्ती ने दीक्षा ली।

(८) अनाहता—अनादर होने पर ली जाने वाली दीक्षा। नन्दीषेण[4]

---

१ (क) त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित्र १० १०-८४।१४
(ख) उपदेशमाला सटीक गा० २० पत्र २२६
(ग) भरतबाहुबलि वृत्ति भाग १ पत्र १०७
२ ज्ञातासूत्र मल्ली अध्ययन
३ उत्तराध्ययन बृहद्वृत्ति अ १८
४ अभिधान राजेन्द्र कोष भा० ४ पृ० १७५३

जब गर्भ में था तभी उसके पिता गोबर मर गये और जन्म लेते ही माँ भी मर गयी। मामा के घर में वह बड़ा हुआ। उसका रूप कुरूप था। गाँव के लोग उसका मजाक करते। मामा ने कहा—यदि तेरे को कोई पुत्री नहीं देगा तो मैं अपनी पुत्री के साथ तेरा विवाह कर दूँगा। पर उसकी पुत्रियों ने भी विवाह के लिए इन्कार कर दिया। जिससे नंदीषेण आत्महत्या के लिए गया। वहाँ मुनि के उपदेश से उसे वैराग्य प्राप्त हुआ और प्रव्रज्या ग्रहण की।

(९) देवसंज्ञप्ति—देव के द्वारा प्रतिबुद्ध होकर ली जाने वाली दीक्षा। मेतार्य[1] चाण्डालिनी का पुत्र था। उस चाण्डालिनी के साथ सेठानी का अत्यधिक स्नेह था। सेठानी के मृत सन्तान होती थी। उस सेठानी ने चाण्डालिनी के पुत्र को ले लिया। बड़ा होने पर विवाह हुआ। उस समय उसके पूर्वभव के मित्र देव ने आकर उसे दीक्षा के लिए प्रेरणा दी। पर वह तैयार नहीं हुआ। देव ने उसके चाण्डाल पुत्र होने का रहस्य खोल दिया जिससे उसका विवाह रुक गया। परिणामस्वरूप मेतार्य को बहुत दुःख हुआ। जब देव ने पुनः दीक्षा लेने की प्रेरणा दी तो मेतार्य ने शर्त रखी कि वणिक कन्याओं तथा राजा श्रेणिक की कन्या से मेरा विवाह करा दें और जब बारह वर्ष गृहस्थाश्रम का सुख भोग लूँ तब दीक्षा लूँगा।' देव ने यह शर्त पूरी कर दी। तब १२ वर्ष गृहस्थ सुख भोगने के बाद मेतार्य ने भगवान महावीर के पास दीक्षा ले ली।

(१०) वत्सानुबन्धिका—पुत्र के अनुराग से ली जाने वाली दीक्षा। तुम्बवन में धनगिरि इभ्यपुत्र[2] था। उसकी पत्नी सुनन्दा गर्भवती थी तब सिंहगिरि के उपदेश से धनगिरि ने दीक्षा ले ली। उसके बाद पुत्र हुआ। लोगों ने कहा—यदि इसका पिता साधु न बना होता तो कितना अच्छा होता। बालक को सुनकर पूर्वभव की स्मृति हो आई। माँ की ममता से मुक्त होने के लिए वह रोने लगा। छह महीने के बाद उसके पिता मुनि धनगिरि गोचरी हेतु आये। बालक के रुदन से ऊबकर माता ने उनके पात्र में पुत्र को दे दिया। आचार्य ने वज्र के समान भारी भरकम देखकर उसका नाम वज्र रखा। सुनन्दा पुनः पुत्र को प्राप्त करने के लिए प्रयत्न

---

१ आवश्यकनियुक्ति मलयगिरिवृत्ति प० ४७७-४७८

२ आवश्यक मलयगिरि वृत्ति पत्र ३८७-८८

करने लगी। विवाद राजा तक गया। राज्यसभा में पुत्र पिता की ओर बढ़ा माँ की ओर नहीं। जिससे माँ को वैराग्य हुआ और उसने दीक्षा ग्रहण की।

प्रव्रज्या लेने के कारण

इनके अतिरिक्त स्थानांग[1] में ही अन्य कारणों से भी प्रव्रज्या ग्रहण करने के उल्लेख प्राप्त होते हैं। वे इस प्रकार हैं—

(१) इहलोक प्रतिबद्धा—इहलौकिक सुखों की प्राप्ति के लिए ली जाने वाली दीक्षा।

(२) परलोक प्रतिबद्धा—पारलौकिक सुखों की प्राप्ति के लिए ली जाने वाली दीक्षा।

(३) उभयत प्रतिबद्धा—दोनों लोकों के सुखों की प्राप्ति के लिए ली जाने वाली दीक्षा।

प्रव्रज्या के तीन प्रकार और भी बताये हैं—

(१) पुरत प्रतिबद्धा—दीक्षा लेने पर मेरे शिष्य आदि होंगे, इस आशा से ली जाने वाली दीक्षा।

(२) पृष्ठत (मार्गत) प्रतिबद्धा—स्वजन आदि में स्नेह का विच्छेद न हो, इस भावना से ली जाने वाली दीक्षा।

(३) उभयत प्रतिबद्धा—उपर्युक्त दोनों कारणों से ली जाने वाली दीक्षा।

प्रकारान्तर से अन्य तीन प्रकार बताये गये हैं—

(१) तोदयित्वा—कष्ट देकर ली जाने वाली प्रव्रज्या।

(२) प्लावयित्वा—दूसरे स्थान में ली जाने वाली प्रव्रज्या।

(३) वाचयित्वा—बातचीत करके ली जाने वाली प्रव्रज्या।

प्रव्रज्या के तीन और प्रकार बताये हैं—

(१) अवपात प्रव्रज्या—गुरु सेवा से प्राप्त।

(२) आख्यात प्रव्रज्या—उपदेश से प्राप्त।

(३) संगार प्रव्रज्या—परस्पर प्रतिज्ञाबद्ध होकर ली जाने वाली।

ऐसे भी अनेक उदाहरण उपलब्ध होते हैं कि यत्किंचित उत्तेजना प्राप्त होती है और भावविभोर होकर वे प्रव्रज्या ग्रहण कर लेते हैं। आवश्यकचूर्णि में वर्णन है—उज्जयिनी के राजा देवलासुत की

---

१ स्थानांग ३ २ १५७

२ आवश्यक चूर्णि २ पृ २०२

आगम साहित्य एवं परवर्ती साहित्य में कहीं पर भी बालदीक्षा का निषेध नहीं है। बालकों की भाँति हजारों युवक युवतियों ने भी दीक्षा ग्रहण की है। आगम साहित्य में उन युवक-युवतियों की उत्कृष्ट साधना का निरूपण है। हजारों साधकों के गौरवपूर्ण नाम गिनाये जा सकते हैं। इसी तरह वृद्ध व्यक्तियों ने भी प्रव्रज्या ग्रहण की है। श्रमण भगवान महावीर ने ऋषभदत्त ब्राह्मण[1] को प्रव्रज्या प्रदान की थी। आचार्य जम्बू द्वारा उनके पिता श्रेष्ठी ऋषभदत्त[2] को और आचार्य आर्यरक्षित द्वारा अपने पिता सोमदेव[3] को प्रव्रज्या देने का उल्लेख मिलता है।

दशवैकालिक[4] में स्पष्ट कहा है—जीवन के संध्या काल में प्रव्रजित होकर भी कितने ही व्यक्ति अपनी तेजस्वी साधना से स्वर्ग और अपवर्ग को प्राप्त कर सकते हैं।

वैदिक दृष्टि और प्रव्रज्या

वैदिक परम्परा मान्य आश्रम व्यवस्था में पचास वर्ष की आयु के पश्चात् वानप्रस्थ आश्रम और ७५ से १०० वर्ष की आयु में संन्यास लेने के उल्लेख हैं। किन्तु श्रमण संस्कृति का यह स्पष्ट आघोष है कि जीवन का कोई भरोसा नहीं है। हम १०० वर्ष तक जीवित रहेंगे, यह निश्चित रूप से कहा नहीं जा सकता। किसी भी समय क्रूर काल आक्रमण कर सकता है। श्रमण संस्कृति के प्रभाव से ही आश्रम व्यवस्था में विकल्प आया। पहले ब्रह्मचर्याश्रम पूर्ण करके गृहस्थाश्रम में प्रवेश होता था फिर गृहस्थाश्रम के बाद वानप्रस्थाश्रम और उसके पश्चात् संन्यासाश्रम को ग्रहण किया जाता था। किन्तु जाबालोपनिषद्[5] इत्यादि में कहा—जिस दिन वैराग्य उत्पन्न हो जाय उसी दिन प्रव्रज्या ली जा सकती है।

---

१ (क) भगवती ९.६ (ख) महावीरचरियं-गुणचन्द्र प्रस्ताव ८ पत्र २६९।
(ग) त्रिषष्टि १० । १ से २७

२ परिशिष्ट पर्व सर्ग २

३ (क) प्रभावक चरित्र प्रभाव १.१८
(ख) परिशिष्ट पर्व सर्ग १३

४ दशवैकालिक ४।२८

५ ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेद् गृहाद् वा वनाद् वा।
यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेत्॥ —जाबालोपनिषद्

प्रज्ञाचक्षु पं० सुखलालजी का भी यह अभिमत है कि वैदिक परम्परा में ब्रह्मचर्य और गृहस्थ— ये दो आश्रम थे किन्तु निवृत्तिप्रधान धर्मों के बढ़ते हुए प्रभाव के कारण वानप्रस्थाश्रम और संन्यासाश्रम—ये दो आश्रम उसमें स्वीकृत किये गये तथा यह विचार भी किया गया कि तीव्र वैराग्य होने पर ब्रह्मचर्याश्रम से ही प्रव्रज्या ग्रहण की जा सकती है। इसका कारण यह था कि संन्यास आत्मिक विधान है और भौतिकताप्रधान स्थिति आत्मिक शक्ति को जकड़न में सक्षम नहीं हो सकती।[1]

अप्रमत्त घोर त्यागी हैं

जैन संस्कृति ने केवल दो ही विकल्प माने हैं—आगारधर्म और अनगार धर्म। आगार धर्म की अपेक्षा अनगार धर्म को महत्त्व दिया गया है। इसका कारण है कि श्रेष्ठता व्यक्ति की नहीं संयम की है और संयम का चरम तथा परम विकास श्रमण जीवन में ही हो सकता है। श्रमण परम्परा का यह दृढ मन्तव्य है कि निर्वाण नाम श्रमणों का ही प्राप्त हो सकता है। जिसके अन्तर्मानस में तीव्र वैराग्य हो जाता है वह गृहवास में रहता ही नहीं।

गणधर गौतम ने भगवान महावीर से पूछा—भगवन् गृहवास असार है और गृहत्याग सारपूर्ण है। यह जानकर भी लोग घर में क्या रहते हैं?

भगवान ने फरमाया—जो प्रमत्त होते हैं वे घर में रहते हैं और जो अप्रमत्त होते हैं वे घर का परित्याग कर देते हैं।[2]

त्याग के विश्वविद्यालय में

यह स्मरणीय है कि श्रमण परम्परा वेष को महत्त्व देती भी है और नहीं भी देती है। साधना के अनुकूल वातावरण के लिए ही साधक गृहस्थ वेष का परित्याग करता है। गृहवास का परित्याग बाह्य विशुद्धि के लिए किया जाता है। जैसे अध्ययन घर पर भी किया जा सकता है किन्तु विश्व विद्यालय में अध्ययन की विशेष सुविधा होती है। इसीलिए मेधावी छात्र भी विश्वविद्यालय में भर्ती होते हैं। वैसे ही त्याग के विश्वविद्यालय में भर्ती होने के लिए आहती दीक्षा ग्रहण की जाती है। यदि पूर्णरूप से आन्तरिक विशुद्धि होती है तो गृहस्थावस्था में भी साधक मुक्त हो सकता है।[3]

---

१ दर्शन और चिंतन पृ० १३७ १३८

२ पमत्तहि गारमावसंतेहि। —आचारांग ५।५८

३ अन्नलिंगसिद्धा गिहिलिंगसिद्धा —नन्दीसूत्र ३१

इस प्रकार से महात्मा म आ-जा से हृदय की अपार श्रद्धा अभि व्यक्त होती है।

दीक्षार्थी की परीक्षा

दीक्षा लेने वाले साधक की परीक्षा भी की जाती है। अभिभावक गण उसके वैराग्य की कसौटी पर कसते थे कि कहीं उसका वैराग्य हल्दी के रंग की तरह तो नहीं है या जरा सी कष्टों की धूप लगते ही उड़ जाय। प्र थम पहले दीक्षार्थी को श्रमणधर्म की कठोरता बतलाते हैं कि जिस श्रमण धर्म को तू ग्रहण करना चाहता है वह सीधा और सरल नहीं है। गंगा के प्रतिस्रोत तरने के समान कठिन है विराट सागर को भुजाओं से पार करना सरल है किन्तु साधना के समुद्र को पार करना उससे भी अधिक कठिन है। बालू का ग्रास नीरस होता है। उसमें किसी भी प्रकार का रस नहीं होता वैसे ही संयम साधना भी नीरस है। उसमें किसी भी प्रकार का आनन्द नहीं है। तलवार की नग्न धार पर चलना सरल और सुगम है किन्तु संयम साधना के महामार्ग पर बढ़ना खतरे से खाली नहीं है। मोम के दाँतों से लोहे के चने चबाने के समान संयम मार्ग दुष्कर है। मेरु पर्वत को तराजू के पलड़े में रखकर तोलना जैसा कठिन है उससे भी अधिक कठिन है श्रमण साधना के दुष्कर पथ को अपनाना।[1]

साधक को संयम साधना में अपने मन पर नियन्त्रण करना होता है। उसे वचन और शरीर पर भी नियन्त्रण करना होता है। आचारांग[2] दशवैकालिक[3] प्रभृति आगमों में श्रमण जीवन की कठोर चर्या का उल्लेख है। आहार करते समय साधक स्वाद लेने के लिए भोजन के ग्रास को भी इधर से उधर न घुमावे। रस का आस्वादन न ले। कितना अनासक्त होता है श्रमण का जीवन!

श्रमण जीवन की कठोरता बताने के पश्चात् उस साधक को जो साधना के पथ पर बढ़ रहा है हर प्रकार के भौतिक प्रलोभन दिये जाते हैं। जो अविवाहित है उसे विवाह के लिए कहा जाता है—एक नहीं अपितु अनेक सुरूपा बालाओं के साथ तेरा पाणिग्रहण किया जायेगा तू उनके संग सांसारिक सुख भोगने के पश्चात वृद्धावस्था में भले ही प्रव्रज्या ग्रहण कर

---

१ उत्तराध्ययन अध्ययन १६, गाथा ३६ से ४३
२ महावीर का साधना प्रकरण
३ दशवैकालिक १ १० अ०

लेना। जिनका विवाह हो चुका हो उन्हें कहा जाता—अभी तुम्हारी सन्तान नहीं है। पुत्र होने के पश्चात् दीक्षा लेना। दीक्षार्थी की पत्नियाँ उसे हाव भाव और कटाक्ष से अपनी ओर आकर्षित करने का प्रयत्न करती—नाथ! क्यों हमें छोड़कर साधु बनने जा रहे हो? माता पिता भी उसे अपना एकमात्र आधार स्तम्भ के रूप में कहकर उसे रोकने का प्रयास करते कई बार तो मोहमुग्ध बने हुए माता पिता दीक्षा की बात सुनते ही मूर्च्छित भी हो जाते है। आँखों से आँसू बहाते हुए उसके वैराग्य के रंग को धुलाने का प्रयत्न करते। कई बार माता पिता या भाई जो राज्यारूढ होता वह दीक्षा लेने वाले को *राज्य सिंहासन पर बिठाकर उसे कहता—'तू राजा है, हम तेरी प्रजा हैं।'* वे देखते कि सत्ता को प्राप्त करके भी इसका वैराग्य रहता है या नहीं?

इस तरह अभिभावकगण अनुकूल व प्रतिकूल दोनों ही प्रकार की बात बनाकर वैराग्य का परीक्षण करते और उसके पश्चात् जब उन्हें यह विश्वास हो जाता कि वस्तुतः इसके वैराग्य का रंग अत्यधिक गहरा है तभी वे दीक्षा की अनुमति देते।

यहाँ यह बात विशेष ध्यान देने योग्य है कि अभिभावकगण दीक्षार्थी का परीक्षण अवश्य करते थे, किन्तु कोई भी अभिभावक यह नहीं कहता कि दीक्षा लेना अनुचित है। उनके मुँह से 'संयम बुरा है' ऐसा नहीं निकलता। वे संयम को अच्छा मानते थे और उसकी महत्ता को भी वे हृदय से स्वीकार करते थे।

अयोग्य दीक्षा का निषेध

दीक्षा ग्रहण का जहाँ विधान है वहाँ अयोग्य दीक्षा का निषेध भी स्पष्ट शब्दों में किया गया है। अयोग्य चाहे बालक हो युवक हो या वृद्ध हो। उनमें से किसी को भी दीक्षा नहीं देना चाहिए। स्थानांग[1] निशीथ भाष्य[2] आदि ग्रन्थों में कहा है—जो बाल वृद्ध जड़ व्याधिग्रस्त, स्तेन राजापकारी उन्मत्त अन्धा दास, दुष्ट प्रकृति का व्यक्ति, मूढ, ऋणपीडित

---

१ स्थानांग ३ ४ २०१

२ (क) निशीथभाष्य ११ ३५०६/७

(ख) तुलना कीजिए—महावग्ग १ ३१ ८८ पृ० ७५ उपसम्पदा और प्रव्रज्या के नियम।

जात्यगहीन अगद्ध (गगा) गमनिग्गमित (अपह्त किया हुआ), गमदत और बालवत्गा (छोटा बालक गानी) पडग (नपुंसक), इनाग आदि दीक्षा के अयोग्य है।

निशीथभाष्य[1] म लिखा है अत्यन्त लघु और अयोग्य बालक को दीक्षा देने से जन मानस म यह भ्रम हो सकता है कि यह बालक इन्ही के पुत्र हैं। एक ओर यह श्रमण ब्रह्मचर्यव्रत की बात करते हैं, दूसरी ओर इनकी म तान है। अयोग्य बालक का जहाँ कहीं भुना छोड दिया जाय तो वह षटकाय जीवो की विराधना करता है। जैसे एक लोहे का गोला अग्नि डाल दिया गया है वह जिधर घूमता है उधर अग्नि उस जलाती है वै ही अयोग्य बालक श्रमण को जहाँ भी छोड दग वहाँ षटकाय जीवो की विराधना ही करेगा। अयोग्य बालक जिस श्रमणधर्म की मर्यादा परिज्ञान नही है वह रात्रि म भी मुझे भूख लगी है इस प्रकार रुदन सकता है। उसको देखकर लोग यह समझ सकते हैं कि बेचारे बालक सयम के कारागृह म डाल दिया है। इससे श्रमणो का अपयश भी सकता है। ऐसे बालको के कारण विहार यात्रा मे भी कष्ट सकता है।

भाष्यकार ने[2] यह भी बताया है—अत्यन्त लघु बालक को परिस्थिति के कारण दीक्षा दी जा सकती है। जसे—किसी व्यक्ति का स परिवार दीक्षा ग्रहण कर रहा हो किसी परिवार म महामारी के का अन्य सभी परिजन दिवगत हो गये हो और केवल एक बालक ही अव हो कोई अनाथ बालक किसी सम्यक्त्वधारी श्रावक के सरक्षण म किसी दुष्ट कामातुर व्यक्ति द्वारा सती साध्वी का शील नष्ट होने से बालक उत्पन्न हुआ हो किसी योग्य बालक को दीक्षा देने से कुल, गण, और धम का अभ्युदय हो सकता हो तो लघु बालक को भी आचार्य दे सकता है।

उपयुक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि भाष्यकार ने बालदीक्षा का निषेध नही किया है किन्तु अयोग्य बाल दीक्षा का निषेध किया है।' तरह वृद्ध दीक्षा के सम्बन्ध म भी लिखा है कि जिसका शरीर क्षीण

---

१ (क) निशीथ भाष्य । ११ ३५३१/३२
(ख) तुलना कीजिए—महावग्ग १ ४१ ६६ पृ ८० ८१

२ निशीथभाष्य ११ ३५३७/३६

गुना हो जो साधना को सम्यक रूप से पालन नहीं कर सकता हो तो उस व्यक्ति को भी दीक्षा नहीं देनी चाहिए।

मुमुक्षु नहीं मुमुक्षु

दीक्षा के लिए वस्तुत युयुत्सु व्यक्ति की नहीं किन्तु मुमुक्षु व्यक्ति चाहिए जिसका तन भी स्वस्थ हो और मन भी। चचल चित्त की एकाग्रता का साधन की विधि का नाम दीक्षा है। दीक्षा दृष्टि बिन्दु बदलने का साधन है। उसमें जीवन जीने की पद्धति परिवर्तित होती है। चित्त की जो धारा भोग की ओर प्रवाहित होती है, वह त्याग की ओर प्रवाहित होने लगती है।

दीक्षा पलायन नहीं प्रगति

कितने ही व्यक्तियों की धारणा है कि दीक्षा जीवन से कर्तव्य से पलायन है। पर दीक्षा पलायन नहीं प्रगति है। वह धर्माचरण तथा व्रता रोहण की साधना है। इसमें जीवन की चुनौतियों से साधक भागता नहीं किन्तु साहसपूर्वक जूझता है। कल्पना कीजिए आप सड़क पर जा रहे हैं। सामने से फौजी ट्रक एक के बाद एक आ रहे हैं। क्या आप उस समय सीधे चलते रहेंगे? या पथ को छोड़कर इधर-उधर होंगे? उस स्थिति में उस पथ को छोड़ना भगोड़ापन हरगिज नहीं है।

जब व्यक्ति को यह अनुभव होता है कि संसार में केवल दुःख है दुःख की ज्वालाएँ चारों ओर सुलग रही हैं तो उस समय वह व्यक्ति संसार के रास्ते से मुड़कर जीवन के अखण्ड आनन्द को प्राप्त करने के लिए आध्यात्मिक रास्ते पर आता है। *उदाहरणार्थ—कोई व्यक्ति भोजन करने* बैठा है पट रस व्यंजनों से भरा थाल उसके सामने रखा है वह मुँह में ग्रास रखने वाला ही है उसी समय उसके मित्र ने उसे बताया कि इस भोजन में जहर है। यदि तुमने इसका सेवन किया तो जीवन से हाथ धो बैठोगे तो वह *उसी समय भोजन छोड़* देता है। वैसे ही *संसार को—विषय* वासना को जहर समझ कर जिन साधकों ने छोड़ा है वे पलायनवादी नहीं हैं अपितु प्रगतिवादी हैं सत्य की अन्वेषणा के लिए नूतन पथ ग्रहण करने वाले हैं।

दीक्षा आत्मा की खोज

भौतिक जगत में वैज्ञानिकों की साधना दूसरों की साधना के लिए आधार बनती है। एक वैज्ञानिक पूर्व वैज्ञानिक की खोज को आगे बढ़ाता

है। पर अन्तर्जगत् की खोज में इस प्रकार नहीं होता। अनुभूति साधक की स्वयं की होती है। दूसरे की अनुभूति साधक जड़ शब्द हैं जो मन तथ्य का प्रकाश अनुभव नहीं करा पाते। गुड़ में मिठास है उस मिठास का अनुभव जबान पर रखने पर होता है। चाहे दूसरा व्यक्ति कितना भी उसका विश्लेषण करे पर मिठास का सही अनुभव नहीं हो सकता। अतः साधक को स्वयं ही अपनी खोज करनी है। दूसरे की नकल से आध्यात्मिक क्षेत्र में सफलता प्राप्त नहीं हो सकती। यही कारण है—परमाणु की खोज की अपेक्षा आत्मा की खोज कहीं अधिक कठिन है कठिनतर है और उस खोज के लिए जो अन्तर्यात्रा है वह ऐसा है।

□

३ श्रमणो के विविध कल्प विविध दृष्टियाँ

कल्प की परिभाषा

कल्प का अर्थ है—नीति आचार मर्यादा विधि अथवा सामाचारी। उमास्वाति कहते हैं—'जो ज्ञान, शील, तप का उपग्रह करता है और दोषों का निग्रह करता है वह निश्चयदृष्टि से कल्प है और शेष अकल्प है।'[1] कल्पसूत्र की टीका के अनुसार श्रमणों का आचार कल्प है।[2] कल्प के आगम भाष्य नियुक्ति और चूर्णि साहित्य में अनेक भेद प्रभेद निरूपित है। उन सभी की यहाँ चर्चा न कर केवल दस कल्पों पर ही विचार किया जा रहा है। वे दस कल्प इस प्रकार हैं—

(१) आचेलक्य (२) औद्देशिक (३) शय्यातर (४) राजपिण्ड (५) कृतिकर्म (६) व्रत (७) ज्येष्ठ (८) प्रतिक्रमण (९) मासकल्प (१०) पर्युषणा कल्प[3]।

आचेलक्य

चेल' शब्द का अर्थ वस्त्र है और न चेल अथवा चेल का अभाव अचेल है। 'अ' शब्द का एक अर्थ अल्प भी है[4] जैसे—अनुदरा कन्या। आचारांग के टीकाकार ने ईषत (अल्प) अर्थ में नञ् समास मानकर अचेल

---

१ प्रशमरतिप्रकरण १४३

२ पर्युषण कल्प सूत्रम्—रत्नशेखरमुनि

३ (क) आवश्यकनिर्युक्ति मलयगिरि वृत्ति १२१

(ख) निशीथभाष्य गाथा ५९३३ भाग ४

(ग) बृहत्कल्पभाष्य, गाथा ६३ ६४

(घ) भगवती आराधना गाथा ४२७

(ङ) कल्पसूत्र कल्पलता गाथा १ पृ० २

४, आप्टे [illegible] डिक्शनरी, भाग

आगमानुसार सभी तीर्थंकर देवदूष्य वस्त्र के साथ प्रव्रज्या ग्रहण करते हैं। कुछ समय तक वे देवदूष्य वस्त्र को रखते हैं।[1] भगवान महावीर ने भी एक वर्ष तक देवदूष्य वस्त्र को रखा था। उसके बाद वे पूर्ण [illegible] बने थे।[2]

बावीस परीषहों में छठा परीषह अचेल है।[3] उसका भी अर्थ है—वस्त्रों के जीर्ण होने पर श्रमण चिन्ता न करे कि मैं वस्त्ररहित हो जाऊँगा अथवा यह भी विचार न करे कि अच्छा हुआ वस्त्र जीर्ण हो गये, अब मैं नये वस्त्रों से सचेलक हो जाऊँगा। सचेल और अचेल दोनों अवस्था में श्रमण खिन्न न हो।[4]

आचेलक्य कल्प का संक्षेप में अर्थ हुआ—अल्प, प्रमाणोपेत एवं वस्त्र धारण करने की मर्यादा।

औद्देशिक

औद्देशिक कल्प का अर्थ है श्रमण को दान देने के उद्देश्य से शाक्य परिव्राजक श्रमण निर्ग्रन्थ आदि सभी को उद्देश्य कर निर्मित अशन-पान भवन आदि।[5] वह श्रमण के लिए अग्राह्य और अभक्ष्य है।[6] प्रथम और अन्तिम तीर्थंकरों के श्रमणों के लिए यह विधान है कि एक श्रमण के उद्देश्य करके निर्मित आहार आदि न उसे ग्रहण करना कल्पता है और अन्य श्रमणों को ही ग्रहण करना कल्पता है किन्तु बावीस तीर्थंकरों के समय जिस श्रमण को उद्देश्य कर आहार आदि निर्मित किया गया है वह

---

१ (क) जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति (ख) कल्पसूत्र
   (ग) विशेषावश्यकभाष्य गा० १५८९ (घ) सत्तरि [illegible] विचार
   (ङ) सत्तरिय ठाणक (च) त्रिषष्टि शलाका पुरुषचरित

२ आचारांग १।९।१

३ (क) भगवती सूत्र शतक ८ उद्देशक ८ पृ० १६१
   (ख) उत्तराध्ययन अ० २ (ग) समवायांग, २२
   (घ) तत्त्वार्थसूत्र अ० ९

४ (क) उत्तराध्ययन २।१२-१३ (ख) प्रवचनसारोद्धारवृत्ति, पत्र १११

५ (क) दशवैकालिक अगस्त्यसिंह चूर्णि।
   (ख) दशवैकालिक-हारिभद्रीयावृत्ति ११६।

६ दशवैकालिक अ० ५ उ० १ गा० ५१ ५२

उसे ग्रहण करना नहीं कल्पता पर अन्य श्रमणों के लिए वह ग्राह्य हो सकता है।[1]

दशवैकालिक[2] प्रश्नव्याकरण[3] सूत्रकृतांग[4] उत्तराध्ययन[5] आचारांग और भगवती[6] आदि आगमों में अनेक स्थलों पर औद्देशिक आहार आदि ग्रहण करने का निषेध है, क्योंकि औद्देशिक आहार आदि ग्रहण करने में त्रस और स्थावर जीवों की हिंसा का अनुमोदन होता है।[8]

शय्यातर पिण्ड

श्रमण को शय्या (वसति उपाश्रय) देकर संसार-समुद्र को तरने वाला गृहस्थ शय्यातर है।[9] अर्थात् वह गृहपति जिसके मकान में श्रमण ठहरे हुए हों।[10] निशीथभाष्य के अभिमतानुसार स्वयं गृहपति या उसके द्वारा निर्दिष्ट कोई भी अन्य व्यक्ति शय्यातर होता है।[11] शय्यातर कब होता है? इस पर आचार्यों के विभिन्न मत हैं।[12] निशीथभाष्य और चूर्णि में उन सभी मतों का निर्देश किया गया है तथा भाष्यकार ने अपना स्पष्ट मत इस प्रकार दिया है— श्रमण जिस स्थान में रात्रि को रहे, सोए और चरमावश्यक कार्य करे उस स्थान का अधिपति शय्यातर होता है।[13]

---

१ (क) कल्पसमर्थन गा ४५ पा १ (ख) कल्पसूत्र कल्पद्रुमकलिका
(ग) कल्पसूत्र कल्पलता टीका प० २।१ (घ) कल्पसूत्र-कल्पार्थ बोधिनी
२ दशवैकालिक ५।१।४८ ४६ ५० ५५ ५६ ८ २३
३ प्रश्नव्याकरण संवर द्वार १ ५
४ सूत्रकृतांग प्रथम श्रुतस्कन्ध अध्ययन ६ गाथा १४
५ उत्तराध्ययन २०।४७
६ आचारांग अ २ उद्दे० ६
७ भगवती शतक १ उद्दे० ६
८ दशवैकालिक १।४८
९ निशीथभाष्य पृ १३१
१० (क) दशवैकालिक अगस्त्यसिंह चूर्णि
(ख) दशवैकालिक जिनदास चूर्णि पृ ११३
(ग) दशवैकालिक हारिभद्रीया वृत्ति, ११७
११ निशीथभाष्य गा० ११४४ १२ वही गा० ११४६ ४७ चूर्णि
१३ वही, गा० ११४८ चूर्णि

शय्यातर के अशन पान खाद्य, वस्त्र, पात्र आदि अग्राह्य हैं और तृण राख पाट बाजोट आदि ग्राह्य हैं।[1] सूत्रकृतांग में शय्यातर के स्थान में सागारिय पिण्ड[2] लिखा है। पर उसका अर्थ भी टीकाकार ने शय्यातर पिण्ड किया है।[3]

राजपिण्ड

मूर्धाभिषिक्त अर्थात जिसका राज्याभिषेक हुआ हो वह राजा कहलाता है उसका भोजन राजपिण्ड है।[4] जिनदासगणी महत्तर के अभिमतानुसार सेनापति अमात्य, पुरोहित, श्रेष्ठी और सार्थवाह सहित जो राजा राज्य का उपभोग करता है उसका पिण्ड ग्रहण नहीं करना चाहिये। अन्य राजाओं के लिए नियम नहीं है। यदि दोष की सभावना है तो ग्रहण नहीं करना चाहिए और निर्दोष है तो ग्रहण किया जा सकता है।[5]

राजपिण्ड का तात्पर्य राजकीय भोजन है, राजकीय भोजन सरस मधुर व मादक होता है जिससे सेवन से रसलोलुपता बढ़ने की सभावना रहती है। ऐसा सरस आहार सर्वत्र सुलभ नहीं होता। अत रसलोलुप बनकर मुनि कहीं अनेषणीय आहार ग्रहण न करे इसीलिए राजपिण्ड का निषेध किया है। एषणा शुद्धि ही प्रस्तुत विधान की आत्मा है।[6] यदि कोई इस विधान का विस्मृत करके राजपिण्ड का ग्रहण करता है या राजपिण्ड का उपयोग करता है तो श्रमण को चातुर्मासिक प्रायश्चित आता है।[7] राजपिण्ड के निषेध के पीछे अन्य तथ्य भी रहे हुए हैं[8] जिनका उल्लेख निशीथभाष्य और चूर्णि में किया गया है। राजभवन में प्राय सेनापति

---

१ निशीथभाष्य गा० ११५१ ५८ चूर्णि
२ सूत्रकृताग १।६।१६
३ वही १।६।१६ टीका प० १८१
४ (क) दशवैकालिक अगस्त्यसिंह चूर्णि (ख) दशवैकालिक जिनदास चूर्णि ११२ ११
   (ग) कल्पसूत्रम गा० ६ पृ० १ (घ) कल्पसूत्र कल्पलता ४ पृ० २ समयसुन्दर
   (ङ) कल्पार्थबोधिनी ४ पृ २
५ निशीथभाष्य गा० २४८७ चूर्णि।
६ (क) दशवैकालिक जिनदास चूर्णि पृ० ११२ १३
   (ख) दशवैकालिक अगस्त्यसिंह चूर्णि।
७ निशीथ ६।१।२
८ (क) कल्पार्थबोधिनी कल्प ४ पृ २ (ख) कल्पसमर्थन १०।१

चोट लगने की और पात्रादि फूटने की भी सभावना रहती है।[1] वे अपशकुन भी समझ सकते हैं अत राजपिण्ड को अनाचीर्ण माना है।[1]

भगवान महावीर और ऋषभदेव के श्रमणो के लिए ही राजपिण्ड का निषेध है पर बावीस तीर्थंकरो के श्रमणो के लिए नही।[3] राजपिण्ड मे चार प्रकार के आहार वस्त्र, पात्र कम्बल रजोहरण—ये आठ वस्तुएँ परिगणित की गई हैं और आठो ही अग्राह्य मानी हैं।[4]

कृतिकर्म

कृतिकर्म का अर्थ है अपने से सयमादि मे ज्येष्ठ व सद्गुणो मे श्रेष्ठ श्रमणो का खडे होकर हृदय से स्वागत करना उन्हे बहुमान देना। उनकी हित शिक्षाओ को श्रद्धा से नतमस्तक होकर स्वीकार करना।[5]

चौबीस ही तीर्थकरो के श्रमण अपने से चारित्र मे ज्येष्ठ श्रमणो का वन्दन—नमस्कार करते हैं। यह कल्प सार्वकालिक है।[6]

व्रत

व्रत का अर्थ विरति है।[7] विरति असत् प्रवृत्ति की होती है। अकरण, निवृत्ति, उपरम और विरति ये एकार्थक शब्द हैं।[8]

व्रत शब्द का प्रयोग निवृत्ति और प्रवृत्ति दोनो ही अर्थों मे होता है। जैसे—"वृषलान्न व्रतयति अर्थात् वह शूद्र के अन्न का परिहार करता है। "पयो व्रतयति" अर्थात् पय पीता है इसके अतिरिक्त अन्य कुछ भी नही खाता। इसी तरह असत् प्रवृत्ति का परिहार और सत मे प्रवृत्ति इन दोनो अर्थों मे व्रत शब्द का प्रयोग हुआ है।[9]

---

१ निशीथभाष्य गा० २५०३ २५१०

२ दशवैकालिक ३।३

३ (क) कल्पलता टीका (ख) कल्पद्रुमकलिका पृ० २

४ कल्पसमर्थन गा० ११ प० २

५ (क) निशीथचूर्णि द्वि० भा० पृ० १८७ ८८ (ख) कल्पसमर्थन, गा० १२ प २
(ग) कल्पसूत्रकल्पलता प० २ (घ) कल्पद्रुमकलिका टीका पा २
(ङ) कल्पार्थबोधिनी टीका।

६ कल्पसमर्थन गा० १३

७ तत्त्वार्थ सूत्र ७।१

८ तत्त्वार्थसूत्र ७।१ भाष्य

९ तत्त्वार्थसूत्र ७।१ भाष्य की टीका।

भगवान महावीर और ऋषभदेव के श्रमण पाँच महाव्रत रूप धर्म का पालन करते हैं और अन्य बावीस तीर्थंकरों के श्रमण चार यामों का। इसका क्या रहस्य है? यह प्रश्न भगवान पार्श्वनाथ की परम्परा के अन्तिम प्रतिनिधि केशीकुमार श्रमण के मन को कचोट रहा था। उन्होंने गौतम गणधर से पूछा।[1] गौतम ने समाधान करते हुए कहा—विज्ञवर! प्रथम तीर्थंकर के श्रमण ऋजु जड़ होते हैं और अन्तिम तीर्थंकर के श्रमण वक्रजड़ होते हैं तथा मध्य के तीर्थंकरों के श्रमण ऋजु प्राज्ञ होते हैं। प्रथम तीर्थंकर के मुनि कठिनता से समझते हैं और अन्तिम तीर्थंकर के शिष्यों का धर्म पालन करना कठिन होता है किन्तु मध्यवर्ती श्रमणों के लिए समझना और पालना सुलभ होता है।[2]

चातुर्याम और पंचयाम का जो भेद है वह बहिर्दृष्टि से है न कि अन्तर्दृष्टि से। मध्यवर्ती श्रमण परिग्रह त्याग में ही चतुर्थ व्रत का समावेश कर लेते थे। कंचन और कान्ता दोनों का वे अन्योन्याश्रय सम्बन्ध मानते थे।[3] कुछ आधुनिक चिन्तकों ने लिखा है कि वे कान्तायुक्त थे, पर उनकी यह कल्पना अनागमिक और भ्रान्त है।

ज्येष्ठ

जैन धर्म गुणप्रधान होने पर भी पुरुषज्येष्ठ है। शतवर्ष दीक्षित साध्वी भी अद्यदीक्षित श्रमण को भक्ति भावना से नमन करती है।[4]

ज्येष्ठ कल्प का दूसरा अर्थ है—बावीस तीर्थंकरों के समय श्रमणों के सामायिक चारित्र ही होता है पर प्रथम और अन्तिम तीर्थंकरों के समय श्रमणों के सामायिक चारित्र के साथ ही छेदोपस्थापनिक चारित्र भी होता है। उसके आधार से ही श्रमण ज्येष्ठ या कनिष्ठ होता है। आज के युग में सामायिक चारित्र के ग्रहण को लघु दीक्षा और छेदोपस्थापनिक चारित्र के ग्रहण को बड़ी दीक्षा कहते हैं।[5]

---

१ उत्तराध्ययन २३।२३ २४
२ उत्तराध्ययन २३।२५ २७
३ कल्पसमर्थनम् गा० १४ १५ पृ० २।
४ कल्पलता टीका म उद्धृत।
५ (क) कल्पसमर्थनम गा० १७ पृ० २।
(ख) कल्पद्रुमकलिका टीका पृ० २ ३।

ज्येष्ठ कल्प का तीसरा अर्थ है—पिता, पुत्र, राजा मन्त्री सेठ मुनीम, माता पुत्र आदि एक ही साथ प्रव्रज्या ग्रहण करें या पुत्र पिता, राजा, सेठ माता आदि ने प्रथम सामायिक चारित्र आदि ग्रहण कर लिया है और फिर पिता आदि के अन्तर्मानस म प्रव्रज्या लेने की भावना उदबुद्ध होती है तो चार छ माह तक उसे छेदोपस्थापनिक चारित्र न दे। प्रथम पिता आदि को चारित्र देकर ज्येष्ठ बनावें।[१]

प्रतिक्रमण

प्रतिक्रमण जन धम की साधना का आवश्यक अग है। प्रतिक्रमण का अथ है—प्रमादवश शुभ योग से च्युत होकर अशुभ योग को प्राप्त करने के पश्चात पुन शुभ योग को प्राप्त करना।[२] मन वचन और तन से कृत, कारित और अनुमोदित पापो की निवत्ति के लिए आलोचना करना पश्चा त्ताप करना निदा करना अशुद्धता का त्याग कर शुद्धता प्राप्त करना। हिंसा, झूठ चोरी, मथुन और परिग्रह रूप जिन पापकर्मों का निग्रन्थ श्रमणो के लिए निषेध किया गया है, उनका यदि सेवन हो गया तो प्रति क्रमण करना चाहिए। जिन शुभ क्रिया का आचरण करना श्रमण के लिए आवश्यक है यदि उनका आचरण न किया गया हो तो भी प्रतिक्रमण करना चाहिए। बावीस तीर्थकरो के समय के साधक अतीव विवेकनिष्ठ एव जागरूक थे अत वे दोष लगने पर ही प्रतिक्रमण करते थे।[३]

कुछ आचार्यों का अभिमत है कि दवसिक, रात्रिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक और सावत्सरिक इन पाच प्रतिक्रमणो म से बावीस तीर्थकरो के समय दैवसिक और रात्रिक ये दो ही प्रतिक्रमण होते थ,[४] शेष नही। जिनदासगणी महत्तर ने स्पष्ट कहा है कि प्रथम और अतिम तीर्थकर के समय नियमित रूप स उभयकालिक प्रतिक्रमण करने का विधान है और साथ ही दोषकाल में भी ईर्यापथ आदि क रूप म तत्काल प्रतिक्रमण का विधान है। बावीस तीर्थकरो के शासनकाल म दोष लगते ही शुद्धि कर ली जाती थी, उभयकाल नियमेन प्रतिक्रमण का विधान नही था।[५]

---

१ कल्पसूत्रकल्पार्थबोधिनी टीका पा २

२ आवश्यक एक जीवन दृष्टि' निबंध का टिप्पण देखिये।

३ आवश्यकनिर्युक्ति गा० १२४४

४ सप्ततिस्थानक

५. आवश्यकचूर्णि जिनदास।

मासकल्प

श्रमण एक स्थान पर स्थिर होकर न रहे।[1] भारण्डपक्षी की तरह अप्रमत्त होकर ग्रामानुग्राम विहार करे।[2] विहार की दृष्टि से काल को दो भागों में विभक्त किया गया है[3]—(१) वर्षाकाल और (२) ऋतुबद्धकाल। वर्षाकाल में श्रमण चार माह तक एक स्थान पर स्थिर रह सकता है और ऋतुबद्ध काल में एक माह तक। वर्षाकाल का समय एक स्थान पर स्थिर रहने का उत्कृष्ट समय है। अतः उसे संवत्सर कहा है।[4] बृहत्कल्पभाष्य में वर्षावास का परम प्रमाण चार माह बताया है[5] और शेष काल का परम प्रमाण एक माह।[6] जिस स्थान पर श्रमण उत्कृष्ट काल रह चुका है अर्थात् जिस स्थान पर वर्षा ऋतु में वर्षावास किया हो उस स्थान में दो चातुर्मास अन्यत्र किये बिना चातुर्मास न करे और जिस स्थान पर मासकल्प किया हो उस स्थान पर दो मास अन्यत्र बिताये बिना न रहे। यद्यपि गाथा में तृतीय चरण का स्पष्ट उल्लेख नहीं है किन्तु स्थविर अगस्त्यसिंह के अभिमतानुसार चकार के द्वारा यह प्रतिपादित है।[7]

भगवान ऋषभदेव और महावीर के श्रमणों के लिए ही मासकल्प का विधान है, शेष बावीस तीर्थंकरों के श्रमणों के लिए नहीं। वे चाहें तो दीर्घकाल तक भी एक स्थान पर रह सकते हैं और चाहें तो शीघ्र ही एक स्थान से दूसरे स्थान को प्रस्थान कर सकते हैं।

पर्युषणाकल्प

'परि' उपसर्गपूर्वक 'वस्' धातु से 'अन' प्रत्यय लगाकर 'पर्युषण' शब्द बना है जिसका अर्थ है आत्मा के समीप रहना। परभाव से हटकर स्वभाव में रमण करना, आत्ममज्जन, आत्मरमण या आत्मस्थ होना। यह पुनीत पर्व आषाढ़ी पूर्णिमा से उनपचास और पचासवें दिन मनाया जाता है[8] जिसे संवत्सरी महापर्व कहते हैं।

---

१ बृहत्कल्पभाष्य गा० ११८६
२ उत्तराध्ययन अ० ८ गा० ६
३ दशवैकालिक अगस्त्यसिंह चूर्णि।
४ बृहत्कल्प भाष्य ११३९ ५ वही ११६।७।८
६ दशवैकालिक द्वितीय चूलिका गा० ११
७ दशवैकालिक अगस्त्यसिंह चूर्णि।
८ (क) कल्पसमर्थनम गा० ११ प० २
(ख) कल्पसूत्र कल्पलता टीका
(ग) कल्पद्रुमकलिका प० ३।२

पयु पणा कल्प का दूसरा अर्थ है—एक स्थान पर निवास करना। वह आलम्बन और निरावलम्बन रूप से दो प्रकार का है। सालवन का अर्थ है—सकारण और निरावलवन का अर्थ है—विना कारण। निरावलवन के भी जघन्य और उत्कृष्ट—ये दो भेद हैं।[1]

पयु पणा के पर्यायवाची शब्द इस प्रकार बतलाये गये हैं—(१) परियाय ववत्थवणा (२) पज्जोसमणा (३) पागइया (४) परिवसना (५) पज्जुसणा (६) पन्मसमोसरण (७) ठवणा और (८) जेट्ठोग्गह।[2]

यद्यपि यह सब नाम एकार्थक हैं तथापि व्युत्पत्तिभेद के आधार पर उनमें किंचित् अर्थभेद भी है।[3] पयु पणा के वर्षों की गणना के आधार से दीक्षापर्याय की ज्येष्ठता कनिष्ठता गिनी जाती है अतएव पयु पणा दीक्षा पर्याय की व्यवस्था का कारण है।[4] वर्षावास में भिन्न प्रकार के द्रव्य-क्षेत्र काल भाव सम्बन्धी पर्यायों का आचरण किया जाता है। इस कारण इसका दूसरा नाम पज्जोसमणा है। गृहस्थ आदि सभी के लिए समान होने से यह कल्प पागइया कहलाता है।[5] इस कल्प में एक स्थान पर चार मास तक निवास किया जाता है अतएव यह वासवास—वर्षावास कहा गया है।[6] कोई विशेष कारण न हो तो प्रावृट में ही चातुर्मास व्यतीत करने योग्य क्षेत्र में प्रवेश किया जाता है अतएव उसे 'पन्मसमोसरण' कहते हैं।[7] ऋतुबद्धकाल

---

१ (क) समवायाग ७०वाँ समवाय।
(ख) कल्पसूत्र २२४ पृ० ६६ पुण्य०

२ (क) कल्पसूत्र कल्पार्थबोधिनी टी० ३।१
(ख) कल्पसूत्र सुबोधिका टीका

३ (क) निशीथ सूत्र सभाष्य चूर्णि तृतीय भा० प १२५ १२६
(ख) कल्पसूत्रनियु क्ति गा० ११२

४ (क) निशीथसूत्र सभाष्य चूर्णि ३।१२५
(ख) कल्पसूत्रनियु क्ति एव चूर्णि १।२१८८

५ (क) निशीथ सूत्र सभाष्य चूर्णि ३।१२५ २६
(ख) कल्पसूत्रनियु क्ति एव चूर्णि १।२६।८५

६ (क) निशीथ सभाष्य चूर्णि ।।१२५ (ख) कल्पसूत्र नियु क्ति ८५

७ (क) निशीथ सभाष्य चूर्णि ३।१२५ १२६ (ख) कल्पसूत्रनियु क्ति पृ० ८५
(ग) निशीथ सूत्र भाष्य चूर्णि ३।१२६ (घ) कल्पचूर्णि प० ८५

की अपेक्षा इसकी मर्यादाएँ भिन्न होती हैं अतएव यह ठवणा है।[1] ऋतु काल में एक एक मास का क्षेत्रावग्रह होता है किन्तु वर्षाकाल में चार मास का अतएव इसे 'जेट्ठोग्गह—ज्येष्ठावग्रह'[2] कहते हैं।

अगर साधु आषाढी पूर्णिमा तक नियत स्थान पर आ पहुँचा हो और वर्षावास की जाहिरात कर दी हो तो श्रावण कृष्णा पचमी से ही वर्षावास आरम्भ हो जाता है। उपयुक्त क्षेत्र न मिलने पर श्रावण कृष्णा दशमी को, फिर भी योग्य क्षेत्र की प्राप्ति न हो तो श्रावण मास की पचदशमी (अमावस्या) को वर्षावास आरम्भ करना चाहिए।

इतने पर भी सुयोग्य क्षेत्र न मिले तो पाँच पाँच दिन बढ़ाते हुए अन्तत भाद्रपद शुक्ला पचमी तक तो आरम्भ कर देना अनिवार्य माना गया है। इस समय तक भी उपयुक्त क्षेत्र प्राप्त न हुआ हो तो अन्तत वृक्ष के नीचे ही पर्युषणाकल्प करना चाहिए। पर इस तिथि का किसी भी स्थिति में उल्लघन नही करना चाहिए।[3]

पचमी, दशमी पचदशमी इन पर्वों में ही पर्युषणाकल्प करना चाहिए अपर्व में नही। इस प्रकार का सामान्य विधान होने पर भी विशिष्ट कारण से आर्यकालक ने चतुर्थी तिथि में पर्युषणा की प्रवृत्ति की थी मगर इसे सामान्य नियम नही समझना चाहिए।[4]

वर्षावास में भी विशेष कारण से श्रमण विहार कर सकता है। स्थानाग में पाँच कारणों का निर्देश किया गया है। वे कारण ये हैं—(१) ज्ञान के लिए (२) दर्शन के लिए (३) चारित्र के लिए (४) आचार्य और उपाध्याय के मरने पर (५) आचार्य और उपाध्याय आदि के वैयावृत्य के लिए।[5]

भाष्य चूर्णि और टीका साहित्य में कुछ अन्य भी कारण वर्षाकाल में विहार करने के बताये हैं—जैसे कि दुष्काल के कारण भिक्षा की प्राप्ति

---

१ निशीथसूत्र भाष्य चूर्णि ३।१२६
२ (क) निशीथसूत्र भाष्य चूर्णि ३।१२६ (ख) कल्पसूत्र चूर्णि ८२
३ (क) कल्पसूत्र नियुक्ति गा ६६ (ख) कल्पसूत्र चूर्णि पृ० ८९
४ कल्पसूत्र चूर्णि पृ० ८९।
५ स्थानाग सूत्र ५वाँ स्थान

न होने से, राजप्रकोप होने से, रोग आदि उत्पन्न होने से जीवोत्पत्ति का आधिक्य होने से, आदि आदि।[1]

वर्षावास समाप्त होने पर श्रमण को विहार करना चाहिए। किन्तु यदि वर्षा का आधिक्य हो, वर्षा से मार्ग दुर्गम व भग्न हो गये हो कीचड़ अधिक हो, बीमारी आदि कोई कारण हो तो वह अधिक भी ठहर सकता है।[2]

वर्षावास के लिए भी वही क्षेत्र उत्तम माना जाता है जहा पर तेरह गुण हो। वे गुण इस प्रकार हैं—(१) जहाँ पर विशेष कीचड़ न हो (२) अधिक जीवों की उत्पत्ति न हो (३) शौचस्थल निर्दोष हो (४) रहने का स्थान शान्तिप्रद हो (५) गोरस की अधिकता हो, (६) जन समूह विशाल और भद्र हो, (७) सुज्ञ वैद्य हो, (८) औषध सुलभ हो (९) गृहस्थ वर्ग धन धान्यादि से समृद्ध हो, (१०) राजा धार्मिक हो (११) श्रमण ब्राह्मण का अपमान न होता हो, (१२) भिक्षा सुलभ हो, और (१३) जहाँ पर स्वाध्याय योग्य स्थान हो।[3]

भगवान ऋषभदेव और महावीर के श्रमणों के लिए वर्षावास-पर्यु षणा का अनिवार्य विधान है। शेष बाईस तीर्थंकरों के श्रमणों के लिए नहीं। वे वर्षा आदि के कारण ठहरते भी थे और कारणाभाव में विहार भी करते थे।[4]

इन दस कल्पों में (१) आचेलक्य (२) औद्देशिक (३) प्रतिक्रमण (४) राजपिण्ड (५) मासकल्प (६) पर्युषणा कल्प–ये छह कल्प अस्थिर हैं।[5]

---

१ (क) सभाष्य निशीथचूर्णि तृ० भा०, पृ० १ २ १-३
(ख) कल्पसमर्थनम् गा० २४ २५ पत्र २
(ग) कल्पसूत्र—कल्पलता व्याख्यान १ पत्र २

२ (क) निशीथ सूत्र, सभाष्य चूर्णि त० भा०
(ख) कल्पसमर्थनम् गा० २६ पृ० २
(ग) कल्पसूत्र कल्पलता प० ।१—समयसुन्दर

३ (क) कल्पसमर्थनम गा० ६ पृ ३ (ख) कल्पसूत्र कल्प[illegible] पृ० ५
(ग) कल्पसूत्र कल्पद्रुम कलिका पृ ५

४ कल्पसमर्थनम् गा० २८, प० २

५ (क) आवश्यकनियुक्ति मलयगिरि वृत्ति १२१
(ख) कल्पसमर्थनम्, गा० २९ पृ० २

इनके अतिरिक्त (१) शय्यातर पिण्ड (२) व्रत (३) पुरुष ज्येष्ठ और (४) कृति कर्म—ये चार कल्प अवस्थित हैं और चौबीस ही तीर्थंकरों के शासन में होते हैं।[1]

जिज्ञासा हो सकती है कि सभी तीर्थंकर के श्रमणों का लक्ष्य मोक्ष है तो फिर प्रथम तथा अंतिम और बावीस तीर्थंकरों के श्रमणों के आचार कल्प मे यह अन्तर क्यों है ? अस्थिर और अवस्थित कल्प क्यों ?

समाधान है—प्रथम तीर्थंकर के श्रमण जड और सरल होते थे। अजित आदि बावीस तीर्थंकरों के श्रमण विज्ञ और सरल होते थे। महावीर के श्रमण जड और वक्र होते हैं अतः मोक्षमार्ग एक होने पर भी आचार कल्प मे अन्तर किया गया है।

पूर्वाचार्यों ने कल्प का महत्त्व प्रतिपादन करते हुए उसे तृतीय वैद्य की औषध के समान सभी के लिए हितावह बतलाया है।[2] कल्प एक ऐसा अनमोल रसायन है जो दोष लगने पर भी और दोषमुक्त अवस्था में भी ग्राह्य है। दोष लगा है तो शुद्धि हो जाती है और दोष नहीं है तो जागृत रहने से भूल की धूल नहीं लगती।

कल्प मानव को श्रेय की ओर ले जाने वाला आध्यात्मिक उपक्रम है। आत्मशुद्धि का अमोघ उपाय है। जीवन को निर्मल बनाने की एक कला है। इसके पालन से नये प्रकाश की आभा जगमगा सकती है और अंधकार विलीन हो सकता है। □

१ (क) आवश्यक मलयगिरि वृत्ति पृ० १२१ [illegible]

४ श्रमणों की विविध भूमिकाएँ

श्रमण के सामान्य आचार के सम्बन्ध में पूर्व पृष्ठों में चिन्तन किया जा चुका है। प्रस्तुत अध्याय में हम श्रमण और श्रमणी के विशेष आचार पर चिन्तन कर रहे हैं। जैन वाङ्मय में विशेष प्रकार के श्रमणों के लिए विशेष विधान है। या श्रमणों के विविध भेद हैं किन्तु यहाँ संक्षेप में सचेल अचेल, स्थविरकल्प जिनकल्प सपात्र और करपात्र का वर्णन कर रहे हैं।

सचेल

जो वस्त्रधारी श्रमण हैं उन्हें सचेल कहते हैं। सचेल श्रमण बहत्तर हाथ वस्त्र रख सकता है और साध्वियाँ छियानवे हाथ वस्त्र रख सकती हैं। आचारांग में[1] एक वस्त्रधारी द्विवस्त्रधारी त्रिवस्त्रधारी और चार वस्त्र धारी निग्रन्थों का वर्णन है। जो श्रमण तीन वस्त्र रखते हों उन्हें चतुर्थ वस्त्र की इच्छा नहीं करनी चाहिए और न उसकी याचना ही करनी चाहिए। श्रमणों को तीन वस्त्रों में से तीन संघाटिका चोलपट्टक और आसन, झोली जल छानने का वस्त्र मुखवस्त्रिका रजोहरण की दण्डी पर लगाने का वस्त्र, माडलिक वस्त्र स्थण्डिलभूमि जाने के लिए जो जल पात्र रखा जाये उसको रखने के लिए झोली–इस प्रकार अधिक से अधिक बहत्तर हाथ वस्त्र श्रमण रख सकता है। जो श्रमण अंग ठिठुराने वाली शीत और भीष्म ग्रीष्म ऋतु की गर्मी को सहन न कर पाते हों उनके लिए वस्त्र का विधान है। जो तीन वस्त्रधारी श्रमण हैं वे शीत ऋतु व्यतीत हो जाने पर जिन वस्त्रों की आवश्यकता हो उन्हीं का उपयोग करें और जिनकी आवश्यकता न हो उन वस्त्रों को पड़ा रहने दें उपयोग न करें। जो तरुण भिक्षु हैं जिनका शरीर शीत परीषह को सहन करने में सक्षम है उनके लिए एक वस्त्र धारण करने का विधान है।

---

१ आचारांग श्रुतस्कंध १ अध्ययन ८ उद्देशक ४ ५ ६

भिक्षुणी के लिए चार संघाटिका रखने का विधान है। जिनका प्रमाण इस प्रकार है—एक संघाटिका दो हाथ की हो, दो संघाटिका तीन-तीन हाथ की हो, और एक संघाटिका चार हाथ की हो। दो हाथ की संघाटिका जहाँ उपाश्रय आदि में ठहरी हो वहीं पर पहननी चाहिए। तीन-तीन हाथ की दो संघाटिकाओं में से एक भिक्षा के लिए जाते समय और एक शौच के लिए जाते समय पहननी चाहिए। चार हाथ की संघाटिका धर्मसभा आदि में बैठने समय धारण करनी चाहिए जिससे कि सारा शरीर भाग आच्छादित किया जा सके।

'संघाटिका' या 'संघाटी' शब्द का अर्थ 'साड़ी' हो सकता है। टीकाकारों ने शरीर पर धारण करने के वस्त्र को संघाटिका बताया है। इन वस्त्रों का उपयोग विभिन्न अवसरों पर किया जाता था। यह वस्त्र अन्तरीय वस्त्र जैसे चोलपट्टा से पृथक् है। वह अन्तरीय वस्त्र श्रमणियों के लिए अत्यावश्यक माना गया है। उसके 'उग्गहणंतग' 'पट्ट' 'अड्ढोरुग', 'चलनिका', अभ्यन्तर निवंसिणी और बहिर्निवंसिणी आदि विविध भेद हैं।

आचारांग में[1] वस्त्रों की एक सूची प्राप्त होती है। जंगिय या जांगिक (ऊन से निर्मित कंबल आदि) भंगिय[2] (यह वस्त्र वंश के तन्तुओं से निर्मित किया जाता है) साणिय (सन् से बने हुए वस्त्र), पोत्तग[3] (ताड़ आदि के पत्तों से बने हुए), खोमिय[4] (कपास से निर्मित वस्त्र) और[5] तूलकड (अर्क आदि की रुई से बना वस्त्र)। स्थानांग[6] और बृहत्कल्प[7] में तूलकड़ के स्थान पर तिरीडपट्ट नाम मिलता है। वह तिरीड वृक्ष की छाल से बनाया जाता था। मानियर विलियम्स ने तिरीड का अर्थ 'तिरीटवस्त्र' किया है।

जैन श्रमणों के लिए विधान था कि आवश्यकता होने पर इन वस्त्रों को ले सकते थे। कुछ ऐसे वस्त्र थे जो अत्यन्त मूल्यवान होते थे उन्हें

---

१ आचारांग, श्रुतस्कन्ध २ अध्ययन ५, उद्देशक १ सूत्र १
तुलना कीजिए—निशीथ सूत्र ३६७
२ भारतीय विद्या १/१/८१ (डा० मोतीचन्द्र)
३ बृहत्कल्प भाष्यवृत्ति २ ३६६०
४ (क) महावग्ग ८ १ ३६ पृ० २८८ (ख) मज्झिम ... १ ... ...
५ मूलसर्वास्तिवाद विनयवस्तु पृ० ९६
६ स्थानांग ५/४४६
७ बृहत्कल्प २ २४

श्रमण ग्रहण नही करते थे। जिस वस्त्र की किनारियाँ सोने की भाँति चमकती थीं, बढिया बेल-बूटे किये हुए होते थे उनको भी वे धारण नही करते थे। आवश्यकता होने पर किनारी निकाल कर उन्हें ग्रहण कर सकते थे।[1] रगीन वस्त्र आदि भी श्रमण श्रमणियाँ ग्रहण नही कर सकते थे।

श्रमणियो के लिए बहत्कल्पभाष्य[2] म वस्त्रा की सूची मिलती है जो उन्हें लज्जा निवारण के लिए ग्रहण करना आवश्यक था। उनके अगोपाग पूर्ण रूप से आच्छादित हो जायें, इस दृष्टि से उनके लिए इन वस्त्रा का विधान था।

(१) **कचुक**—यह बिना सिला हुआ वस्त्र होता था कापालिक के कचुक के सदृश वह अढाई हाथ लबा और एक हाथ चौडा होता था।

(२) **उवकच्छिय**—यह भी कचुक सदृश होता था। इसका वस्त्र चौकोर और डढ हाथ का होता था जिससे छाती, दक्षिण पार्श्व और कमर ढकी जाती थी। वाम पार्श्व की ओर इसकी गाठ लगती थी।

(३) **खण्डकर्णी**—यह चार हाथ लबा और चौकोर वस्त्र होता था जब सनसनाता हुआ पवन चलता था तब इस वस्त्र को धारण किया जाता था जिससे सारा शरीर अच्छी तरह से ढक जाता था। इस वस्त्र का कभी अन्य उपयोग भी होता था। कोई साध्वी अत्यन्त रूपवती होती और उसकी शील रक्षा मे बाधा उपस्थित होने की स्थिति होती तो उस साध्वी की पीठ पर रखकर उसे कुबडी बनाकर दिखा दिया[3] जाता था।

बहत्कल्प मे यह भी वर्णन है कि श्रमण दीक्षा ग्रहण करने वाले साधक को रजोहरण, गोच्छक प्रतिग्रह (पात्र) और पूरे तीन वस्त्र जिनसे सभी आवश्यक उपकरण बनाये जा सकें, लेकर प्रव्रजित होना चाहिए। यदि कोई श्रमण अशुभ कर्म के उदय से साधना-मार्ग से भटक गया हो यदि वह श्रमण पुन प्रव्रज्या ग्रहण करता है और उसके पास पुराने वस्त्र आदि हैं तो नये वस्त्र लेने की आवश्यकता नही है।

नवदीक्षित श्रमणी के लिए चार पूरे वस्त्रो के साथ प्रव्रजित होने का वर्णन है। रजोहरण के लिए पाँच प्रकार के धागे ग्रहण किये जा सकते

१ बृहत्कल्पभाष्य ३ ३६०५
२ (क) वही, ३ ४१०२ (ख) निशीथभाष्य ५ १६८२
३ (क) बृहत्कल्पभाष्य ३ ४०८२ से ६१ तक
(ख) निशीथभाष्य २ १४०० से १४०७

शाटक" कहा है। आचारांग[1] में भी एक शाटक रखने का वर्णन प्राप्त होता है। अंगुत्तरनिकाय[2] में निर्ग्रन्थों के नग्न रूप को लक्ष्य करके ही उन्हें "अह्रीक" कहा है। आचारांग[3] में निर्ग्रन्थों के लिए अचेल रहने का भी वर्णन है। विष्णुपुराण[4] में जैन श्रमणों को "निर्वस्त्र" व "सवस्त्र" कहा है।

स्थविरकल्प

जो स्वयं संयम मार्ग में पूर्ण स्थिर है और संयम साधना में अस्थिर अन्य साधकों को इहलोक और परलोक सम्बन्धी हानि बताते हैं कि श्रमणधर्म से च्युत होने पर न इस लोक में शान्ति है न परलोक में ही। इस प्रकार अस्थिर मानस वाले साधक को जो ज्ञान-दर्शन-चारित्र में स्थिर करता है, वह स्थविर है। उस स्थविर का जो कल्प है वह 'स्थविरकल्प' कहलाता है।

यह पूर्ण सत्य है कि जिनकल्पी की अपेक्षा स्थविरकल्पी का बाह्य आचार कम उग्र प्रतीत होता है वह शिथिल लगता है। पर आचार की उत्कृष्टता का मापदण्ड केवल बाह्य क्रियाकाण्ड ही नहीं है, आन्तरिक जागरूकता है। जिनकल्पी केवल स्वयं का उपकार करता है उसका संघ के साथ कोई सम्बन्ध नहीं होता। किन्तु स्थविरकल्पी अपना भी उपकार करता है और साथ ही वह संघ का भी उपकार करता है। वह संघ में रहकर हजारों का उद्धार करता है। इसलिए स्थविरकल्प का भी अपना गौरव है।

जिनकल्प

राग-द्वेष, कषाय, इन्द्रिय, परीषह, उपसर्ग और अष्ट प्रकार के कर्मों को जीतने वाले निर्ग्रन्थ के कल्प को 'जिनकल्प' कहा है। जिनकल्पी श्रमण की साधना अत्यन्त उत्कृष्ट साधना होती है। वह अधिकतर नग्न रहते हैं। यदि बटने का प्रसंग उपस्थित होता तो कुक्कुट गोदुग्ध

---

१ अदुवा एग साडे। —आचारांग १।७।४।२

२ अहिरिका भिक्खवे निगण्ठा। —अंगु० नि० १।१।७

३ "अदुवा अचेले —आचारांग १।८।७।१

४ दिग्वाससामयं धर्मो धर्मो य बहुवाससाम्। —विष्णुपुराण, अंश ३ अ० १८ श्लो० १०

आदि आसन से बैठते जिससे कि भूमि पर नितंब और पीठ का स्पर्श न हो।[1]

जिनकल्पी श्रमण प्रतिदिन लुंचन करता है। एकाकी विचरण करता है। वह तृतीय प्रहर में भक्त पान ग्रहण करता है। न उसके पहले ग्रहण करता है और न बाद में ही। विहार करते समय जहाँ भी चतुर्थ प्रहर लग जाता है वहीं पर वह रुक जाता है एक कदम भी आगे नहीं बढ़ता।

एक बस्ती में अधिक से अधिक सात जिनकल्पी श्रमण ठहर सकते हैं। उसमें कोई पूर्व से आता है कोई पश्चिम से। कोई दिशा से और कोई विदिशा से। इस तरह सात जिनकल्पी एकत्रित हो जाने पर भी परस्पर संभाषण नहीं करते और न धर्मकथा ही करते हैं। वे सदा मौन रहते हैं।

एक मोहल्ले में एक जिनकल्पी भिक्षा के लिए गया हो तो दूसरा जिनकल्पी उस मोहल्ले में भिक्षा के लिए नहीं जाता। आज जिस मोहल्ले में भिक्षा के लिए गया है छः दिन तक कम से कम वह उस मुहल्ले में भिक्षा के लिए नहीं जाता। सातवें दिन जा सकता है। वह जो भोजन ग्रहण करता है उस भोजन का लेप नहीं लगना चाहिए। वह जिस मार्ग से जा रहा हो उस रास्ते में यदि शेर आ जाय, पागल हाथी या मदोन्मत्त हाथी आ जाय तो भी वह अपने पथ से किंचित् भी नहीं हटता। हिंसक पशुओं के भय से एक कदम भी इधर उधर नहीं मुड़ता। किन्तु चींटी आदि आ जाये तो वह अपना मार्ग को छोड़ देता है। क्योंकि उसके निमित्त से किसी भी जीव की हिंसा न हो जाय इसका वह सतत ध्यान रखता है। यदि उसकी आँख में या उसके पैरों में काँटा काँच आदि कुछ लग जाय अथवा गिर जाय तो न वह स्वयं निकालता है और न ही दूसरों को निकालने के लिए कहता है। यदि कोई अपनी भावना से उत्प्रेरित होकर स्वयं ही निकाल देता है तो वह उसे इनकार भी नहीं करता। वह किसी भी प्रकार के दोषों का सेवन नहीं करता है जिससे उसे प्रायश्चित्त ग्रहण कर शुद्धीकरण करना पड़े। वह अपना शिष्य भी नहीं बनाता। जिनकल्पी श्रमण सूक्ष्मसंपराय और यथाख्यात चारित्र की पवित्र भूमिका को भी प्राप्त कर लेता है। किन्तु वह यह सारी भूमिका उपशमश्रेणी के द्वारा ही प्राप्त करता है क्षपकश्रेणी के द्वारा नहीं। क्षपकश्रेणी द्वारा विकास न करने के कारण

---

१ जिनकल्पं प्रतिपन्नः पुनर्नियमात् उत्कुटुक एव भाष्यवृत्ति शाखासु तु पीठपीठेषु प्राय कायोत्सर्गेणास्ते। —भा० वृ० १४२४

श्रमण भिक्षा के लिए गृहस्थ के यहाँ पहुँचे। उसके पूर्व जो भी पदार्थ तैयार हो गये हों उसे ग्रहण कर सकता है। उसके जाने के पश्चात् गृहस्थ जो पदार्थ तैयार करे या उस श्रमण के लिए तैयार करे वे पदार्थ श्रमण को ग्रहण नहीं करना चाहिए। भिक्षा के लिए पहुँचने के पूर्व गृहस्थ के घर में मसूर की दाल तैयार हो गई हो और चावल पकाकर तैयार न हुए हों तो श्रमण को दाल लेनी चाहिए चावल नहीं।[1]

श्रमण और श्रमणी भिक्षा के लिए गये हों, उस समय रह रहकर वर्षा आ रही हो तो आरामगृह अथवा वृक्ष के नीचे ठहरना कल्पता है और जो पहले आहार लाया है उस आहार का ग्रहण करना कल्पता है। पात्र आदि को साफ करके वर्षा बन्द होने पर सूर्यास्त से पूर्व श्रमण उपाश्रय में चला जाय। रात्रि में गृहस्थ के मकान में उसे रहना नहीं कल्पता।

यदि श्रमणी या श्रमण भिक्षा के लिए गया है और रास्ते में रह रहकर वर्षा हो रही हो, वृक्ष के नीचे विकटगृह आदि में ठहरे हुए हों अर्थात् श्रमण और श्रमणी दोनों एक स्थान पर हों तो रहना नहीं कल्पता। एक साधु और दो साध्वियाँ हों अथवा दो साधु और एक साध्वी हो या दो साधु और दो साध्वियाँ हों तो वहाँ नहीं रहना चाहिए किन्तु यदि वहाँ पर पाँचवाँ गृहस्थ हो तो उस स्थान पर रह सकते हैं।[3] ऐसे स्थान पर भी रुक सकते हैं जहाँ लोग देख सकें।

यदि श्रमण या श्रमणी गृहस्थ के वहाँ पर भिक्षा के लिए गये हों उस घर में एक ही श्राविका हो तो साधु को ठहरना नहीं कल्पता। यदि वहाँ पर कोई स्थविरा या स्थविर साक्षी के रूप में हो तो वहाँ पर ठहर सकते हैं।[4]

श्रमण और श्रमणी के जब तक हाथ भीगे हुए हों, हस्तरेखाएँ गीली हों, नाखून का अग्रभाग, दाढ़ी, मूछ जब तक पूर्ण रूप से सूख न जाय वहाँ तक आहार आदि लेना नहीं कल्पता।[5]

---

१ कल्पसूत्र सूत्र २५७
२ कल्पसूत्र सूत्र २५९
३ कल्पसूत्र चूर्णि सूत्र २५९ २६१ २६६
४ कल्पसूत्र सूत्र २६०
५ कल्पसूत्र सूत्र २६४

वर्षावास के लिए सपात्री श्रमण और श्रमणियाँ तीन पात्र और एक मात्रक रख सकते हैं। श्रमण श्रमणियाँ तीन प्रकार के पात्र धारण कर सकते हैं—तुम्बा, काष्ठ और मृत (मिट्टी)[1]। वर्षावास में रहे हुए श्रमण श्रमणियों को तीन पात्र रखना कल्पता है। शौच के लिए पात्र, लघुशंका के लिए एक पात्र और कफादि के लिए एक पात्र[2]।

करपात्र

जो श्रमण पात्र न रखकर केवल हाथ में ही भिक्षा ग्रहण करते हैं वे 'करपात्री' कहलाते हैं। वे पात्र को भी परिग्रह समझकर उसका परित्याग कर देते हैं। पात्र रखने से जो सूक्ष्म हिंसा होती है, वह उस हिंसा से बच जाते हैं। उनका आचार जिनकल्पी श्रमण और अचेलक श्रमण के आचार से मिलता जुलता है किन्तु कुछ पृथक्ता भी होती है। जिनकल्पी और अचेलक श्रमण करपात्री हो भी सकते हैं और नहीं भी हो सकते हैं। करपात्री सचेलक और स्थविरकल्पी भी हो सकते हैं।

कल्पसूत्र में बताया है वर्षावास में रहे हुए करपात्री भिक्षु को किंचित् मात्र भी वृष्टि हो रही हो तब उसे गृहपति के कुल की ओर भोजन और पानी के लिए निकलना तथा प्रवेश करना नहीं कल्पता।[3]

वर्षावास में रहे हुए करपात्री भिक्षु को पिण्डपात्र भिक्षा लेकर जहाँ घर न हो अर्थात् खुले आकाश में रखकर भोजन करना नहीं कल्पता। खुले आकाश में रहकर आहार ग्रहण करते समय अचानक वृष्टि हो जाय तो जितने भाग को खा लिया है उसे खाकर के और बचे हुए अवशेष भाग को लेकर उसे एक हाथ से ढककर उस हाथ को सीने से चिपकाकर रखे। या काख में छिपाकर रखे। और उसके बाद जहाँ पर घर या आच्छादित स्थान हो या वृक्ष के नीचे जाय और पानी की बूंदों को किसी भी प्रकार की हिंसा न हो वैसा ध्यान रखे।[4]

---

१ कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा तओ पायाइं धारित्तए वा परिहरित्तए वा तं जहा—लाउयपायं वा, दारुपायं वा मट्टियापायं वा। —स्थानांग स्थान ३

२ कल्पसूत्र सूत्र २८३

३ (क) वही २५३ (ख) कल्पसूत्र चूर्णि २५३

(ग) कल्पसूत्र—पृथ्वीचन्द्र टिप्पण—२५३

४ कल्पसूत्र सूत्र २५४

करपात्री श्रमण के लिए यह भी आदेश है[1] कि जब ओस की बूंदें गिर रही हो या धुधल छायी हुई हो उस समय गृहस्था के यहा पर भिक्षा ग्रहण करने के लिए न जाय और न अनाच्छादित स्थान पर ही ठहरे।

भिक्षु प्रतिमाए[2]

प्रतिमा का अर्थ प्रतिज्ञा विशेष है। यह प्रतिमा विशेष १२ प्रकार की हैं।

प्रथम प्रतिमाधारी भिक्षु को एक दत्ति अन्न की और एक दत्ति पानी की लेना कल्पता है। श्रमण के पात्र मे दिये जाने वाले अन्न और जल की धारा जब तक अखण्ड बनी रहती है वह दत्ति कहलाती है। धारा समाप्त होने पर या टूटने पर दत्ति भी समाप्त हो जाती है। जहाँ पर एक व्यक्ति के लिए भोजन बना हो वहाँ से ग्रहण करना चाहिए अधिक व्यक्तियो के लिए बना हो वहाँ स भोजन ग्रहण नही करना चाहिए। इस प्रतिमा का समय एक माह का है।

द्वितीय प्रतिमा भी एक मास की है। उसमे श्रमण दो दत्ति आहार की और दो दत्ति पानी की ग्रहण करता है। इसी तरह तृतीय चतुर्थ पचम, षष्ठ और सप्तम प्रतिमाओ मे क्रमश ३ ४ ५, ६ ७ दत्ति अन्न की और उतनी ही दत्ति पानी की ग्रहण की जाती है। प्रत्येक प्रतिमा का समय एक-एक मास का है। किन्तु उसमे दत्तियो की अभिवृद्धि होती जाती है।

आठवी प्रतिमा सात दिन रात्रि की होती है। इसमे श्रमण को एकान्तर चौविहार उपवास करना होता है। गाँव या नगर के बाहर उपवासपूर्वक उत्तानासन (आकाश की ओर मुह करके सीधा लेटना) या पार्श्वासन (एक करवट से लेटना) अथवा निषद्यासन (पैरो को बराबर करके बैठना)—इन आसनो में बठकर या लेटे हुए ध्यान लगाना चाहिए। ध्यान लगाते समय किसी भी प्रकार का कोई उपसर्ग आ जाय तो उसे बहुत ही शान्त चित्त से सहन करना चाहिए।

नौवीं प्रतिमा सात दिन रात्रि की होती है। इसमें चौविहार, बेले बेले पारणा किया जाता है। गाँव या नगर के बाहर जहाँ पूर्ण एकान्त शान्त स्थान है वहाँ पर दण्डासन लकुडासन और उत्कटुकासन में ध्यान किया जाता है।

---

१ कल्पसूत्र २।१

२ (क) समवायाग समवाय १२ (ख) दशाश्रुतस्कन्ध उ० ७वाँ

और एकान्त स्थान में कायोत्सर्ग करना,[1] जिनकल्प की आराधना करना, सूर्य की आतापना लेना,[2] उत्कट आसन में बैठना[3] निषिद्ध है। जो स्थान सुरक्षित हो चाहे वह ग्राम हो, खेड़ हो, नगरी अथवा राजधानी हो श्रमण को अधिक से अधिक २८ दिन रहना कल्पता है तो श्रमणियों को दो मास रहना कल्पता है।[4] जहाँ पर दूकानें हों, मानव समुदाय अधिक मात्रा में आता जाता हो, दो रास्ते, तीन रास्ते, चार रास्ते हों, जहाँ पर तस्करों का भय हो, कामुक व्यक्तियों का अधिक आवागमन होता हो वहाँ पर उसे नहीं रहना चाहिए।[5] यदि अन्य स्थान के अभाव में उसे वहाँ रहना आवश्यक हो तो वह मकान में रह सकती है, वर्षा आदि लगातार रह सकती है किन्तु खुले रूप में उसे रहना नहीं कल्पता।

जिस मकान में श्रमणी रहती हो वह स्थान पूर्ण रूप से रक्षित होना चाहिए। यदि स्त्रियाँ हों तो वह वहाँ ठहर सकती है।[6] जहाँ पर रात दिन से विविध स्वभाव वाले यात्री आते जाते रहते हों ऐसा स्थान विकट गृह कहलाता है। जिसे आधुनिक भाषा में मुसाफिरखाना कह सकते हैं। वहाँ पर निर्ग्रन्थियों को नहीं रहना चाहिए। निर्ग्रन्थियों को एकाकी न चातुर्मास में रहना चाहिए न एकाकी स्थण्डिलभूमि आदि के लिए बाहर जाना चाहिए और न एकाकी ग्राम विचरण करना चाहिए।[7]

श्रमणियों को अभिन्न अविदारित पक्के ताल प्रलम्ब[1] ग्रहण करना नहीं कल्पता, यदि विधिपूर्वक [illegible] प्रलम्ब विदारित है तो वह उसे ग्रहण कर सकती है।

---

१ बृहत्कल्प उ० ५ सू० २६
२ वही
३ वही उ० ५ सू० २२
४ वही उ० ५ सू० २४
५ व्यव० उ० ५ सू० ८
६ वही० उ० १ सू० १२
७ बृहत्कल्प उ० १ सू० २९ ३
८ वही० उ० १ सू० ११
९ वही० उ० १ सू० १६ १७

१ (क) नो कप्पइ निग्गंथाणं पक्के तालपलंबे अभिन्ने पडिगाहित्तए।
—बृहत्कल्प उ० १ सू०

(ख) कप्पइ निग्गंथीणं पक्के तालपलंबे भिन्ने पडिगाहित्तए।
—वही उ० १ सू०

इस तरह सभी विधान (आचार संहिता) उसके शीलव्रत को लक्ष्य में रखकर बनाए गए हैं।

जिस मकान मे श्रमण अवस्थित हो वहाँ पर रात्रि म श्रमणियाँ नही रह सकती और जहा पर श्रमणी हो वहाँ श्रमण नही रह सकता।

श्रमण और श्रमणिया क लिए नौ विध ब्रह्मचय की वाड का (गुप्ति) विधान है। वह इसी बात का द्योतक है कि साधक प्रतिकूल सयोग में कभी साधना से विचलित हो सकता है। इसलिए ऐसे स्थानो से उसे सावधान रहना चाहिए।

भगवान महावीर के शासन की आचार संहिता अत्यन्त चिन्तन के पश्चात् निर्मित की गई है। श्रमणो के लिए महिलाओ स बचन का पूर्ण विधान है तो श्रमणियो का पुरुष से सम्पर्क न रखने का विधान है। इस विधान के फलस्वरूप ही उनके आचार की निर्मलता रह सकी है। □

५. श्रमण सघ की व्यवस्था और उसके नियामक

धम चक्रवर्ती

अतीत काल से ही जन श्रमण और श्रमणिया की एक व्यवस्थित व्यवस्था पद्धति रही है जिससे श्रमण और श्रमणियाँ अविच्छिन्न रूप से साधना के पावन पथ पर निरतर बढते रहे। यह एक ज्वलन्त सत्य है कि परिस्थितियो के परिवर्तन के साथ ही व्यवस्था पद्धति म भी आरोह और अवरोह होता रहा। भगवान महावीर के समय सधीय व्यवस्था अत्यन्त सुदर थी क्योंकि महावीर धम चक्रवर्ती थे। लाखो अनुयायियो के हृदय पर उन्होंने शासन किया था और उनकी आज्ञा का पालन उनके अनुयायी बहुत ही तत्परता के साथ करते थ। भगवान महावीर के शासन म केवल श्रमण-श्रमणिया का ही स्थान नही था अपितु गृहस्थ श्रावक श्राविकाएँ एव सम्यग्दृष्टि साधको का भी स्थान था।

गण-व्यवस्था

भगवान महावीर ने अपने श्रमण समुदाय को नौ विभागो म विभक्त किया था जो श्रमण-गण के नाम स जाना और पहचाना जाता था। इन गणो के अध्यक्ष भगवान महावीर के प्रमुख शिष्य इन्द्रभूति, अग्निभूति वायुभूति आदि थे, जो गणधर के नाम से विश्रुत थे। श्रमण और श्रमणिया की सपूर्ण व्यवस्था गणधरो के अधीन थी। भगवान महावीर का काय था प्रवचन करना, शिष्यो की जिज्ञासाओ का समाधान करना उन्हे धार्मिक नियमोपनियमों का परिज्ञान कराना और जो अन्यतीर्थिक उनसे चर्चा करने आते उनसे चर्चाएँ करना, उन्ह सत्य तथ्य का परिज्ञान कराना। अवशेष काय गणधरो के अधीन था। वे गण का कुशलतापूवक सचालन करते थे। व्यवस्था की दृष्टि से यह गण-व्यवस्था थी।

रूप रत्नत्रय की आराधना में स्वयं निपुण होकर दूसरों को आगमों का अध्ययन कराने वाले उपाध्याय हैं। एक आचार्य ने 'उवज्झाय' की नियुक्ति करते हुए लिखा 'उ' का अर्थ है उपयोगपूर्वक और 'व' का अर्थ है ध्यानयुक्त होना, अर्थात् जो श्रुतसागर के अवगाहन में सदा उपयोगपूर्वक ध्यान करने वाले हैं वे उवज्झाय है।[1] उपाध्याय सूत्रों के पाठों का उच्चारण बहुत ही शुद्धतापूर्वक स्पष्टता के साथ करता है।

जो महत्त्व आचार्य का है प्रायः वही महत्त्व उपाध्याय का भी है। संघ व्यवस्था की दृष्टि से भले ही उपाध्याय आचार्य के पश्चात् हैं पर जो गौरव आचार्य को दिया जाता है वैसा ही गौरव उपाध्याय को दिया जाता है। जैसे आचार्य का उपाश्रय में प्रवेश करने पर चरण-परिमार्जन का उल्लेख है वैसे ही उपाध्याय का भी है। आचार्य की तरह उपाध्याय पर भी अनेक जिम्मेदारियाँ हैं। शासन-व्यवस्था की दृष्टि से जहाँ आचार्य का महत्त्व है ज्ञान विज्ञान को फैलाने वालों की दृष्टि से वैसा ही महत्त्व उपाध्याय का है। उपाध्याय ज्ञान का अधिदेवता है। उपाध्याय संघरूपी नन्दन वन का कुशल माली है जो ज्ञानरूपी वृक्षों को हरा भरा रखता है, इसकी शुद्धता निर्दोषता और विकास का पूर्ण लक्ष्य रखता है। आगम पाठ को सुरक्षित रखने में उपाध्याय का अपूर्व योगदान रहा है।

आठ प्रभावनाएं

प्रवचनसारोद्धार[2] में उपाध्याय के प्रबल प्रभाव को व्यक्त करने वाली आठ प्रभावनाएँ बताई है। वे इस प्रकार हैं—

(१) प्रावचनी—जैन व जैनेतर आगमों का ममज्ञ विद्वान।

(२) धर्मकथी—धर्मकथा करने में कुशल।

(३) वादी—स्वपक्ष के मंडन और परपक्ष के खण्डन में सिद्धहस्त।

(४) नैमित्तिक—भूत भविष्य और वर्तमान में होने वाले हानि-लाभ के ज्ञाता।

(५) तपस्वी—विविध प्रकार के तप करने में निपुण।

---

१ 'उ' त्ति उवगरण 'व' त्ति वेयज्झाणस्स होइ निद्दे से।
एएण होइ उज्झा एसो अण्णो वि पज्जाओ॥
—अभिधान राजेन्द्र कोष भा० २ पृ० ८८३

२ प्रवचनसारोद्धार द्वार १४८ गा० ९३४

प्रवर्तक कहलाता है।[1] जिसमें संयम, तप आदि के आचरण में धैर्य होता है वही उसका संचालन कर सकता है। और जिसमें उस प्रकार की योग्यता का अभाव होता है वह प्रवर्तक नहीं बन सकता। प्रवर्तक का काम है—ज्ञान, दर्शन और चारित्र में साधक को प्रवृत्त कर उसका विकास करे।[2]

स्थविर

जो स्वयं ज्ञान, दर्शन, चारित्र में स्थिर होता है और दूसरों को ज्ञान, दर्शन, चारित्र में स्थिर करता है वह स्थविर कहलाता है। जब साधक साधना करते हुए डगमगाने लगता है, उसका मन साधना में शिथिल हो जाता है उस समय स्थविर उसे साधना में पुनः स्थिर करता है। उसमें अभिनव जागृति का संचार करता है जिससे वह साधक साधना के पथ पर दृढ़ता के साथ कदम बढ़ा सके।[3] आचार्य भद्रबाहु[4] ने कहा है—जो श्रमण समर्थ होते हुए भी प्रवर्तक द्वारा नियोजित कार्य में शिथिल हो जाता है तो स्थविर उसे पुनः स्थिर करता है।

'स्थविर' शब्द वृद्ध के अर्थ में व्यवहृत हुआ है, पर निश्चित रूप से स्थविर वय की दृष्टि से ही नहीं अपितु अनुभव और ज्ञान की दृष्टि से वृद्धत्व को व्यक्त करता है। यही कारण है कि स्थानांगसूत्र[5] में तीन प्रकार के स्थविर बताये हैं—वयस्थविर, श्रुतस्थविर और पर्यायस्थविर। लघुवय होने पर भी जो ज्ञान का पूर्ण अभ्यासी है वह श्रुतस्थविर है। जिसका दीक्षाकाल २० वर्ष से अधिक हो गया हो वह पर्यायस्थविर या दीक्षा स्थविर है। जिसकी उम्र ६० वर्ष से अधिक है वह वय स्थविर है।

वस्तुतः स्थविर शब्द स्थिरता का प्रतीक है। जो स्वयं स्थिर होता है वही दूसरों को स्थिर कर सकता है। जो स्वयं दृढधर्मी होते हैं वही

---

१ तप संयमयोगेषु योग्यो यो हि प्रवर्तयेत्।
निवर्तयेदयोग्यं च गणचिन्ती प्रवर्तकः॥ —धर्मसंग्रह अधिकार ३ गाथा १४३

२ कल्पसूत्रवृत्ति—टिप्पण पृ० १०८।

३ थेरो एतेसु चेव नाणातिसु सीतन्तं थिरी करोति पडिचोएति उज्जमंतं अणुवूहति।
—कल्पसूत्रवृत्ति—टिप्पण पृ० १०

४ थिरकरणा पुण थेरो पवित्ति वावारिएसु अत्थेसु।
जो जत्थ सीयई जई संतबलो तं थिरं कुणइ॥
—आवश्यक निर्युक्ति अवचूर्णि

५ स्थानांगसूत्र स्थान १० सू० ७६२—अभयदेव वृत्ति।

दूसरों को ज्ञान दर्शन चारित्र में स्थिर करने के लिए सदा जागरूक रहते हैं। प्रवचनसारोद्धार[1] में कहा है—जो श्रमण लौकिक एषणा के कारण सांसारिक कार्य कलापों में प्रवृत्त होते हैं तथा संयम साधना और नाना साधना में जो कष्ट का अनुभव करते हैं उन्हें वे स्थविर ऐहिक और पारलौकिक हानि बताकर श्रमण-जीवन में स्थिर करते हैं। वे स्वयं निर्मल चारित्र के धनी होते हैं इसलिए उनके अन्तहृदय से निकली हुई वाणी का गहरा असर होता है। स्थविर का स्वभाव अत्यन्त मृदु होता है। उस मधुर स्वभाव के कारण पतनोन्मुख साधकों को वे विकासोन्मुख बनाते हैं।[2]

तप, संयम श्रुताराधना और आत्मसाधना ये सभी कार्य संयमी जीवन की उन्नति के लिए आवश्यक हैं। ये कार्य सघोत्कर्ष की मंगलमय भावना से आयोजित किये जाते हैं। पर जो श्रमण अस्थिर मस्तिष्क के हैं उन्हें प्रस्तुत साधना करते समय कष्ट का अनुभव होता है। उस आचार संहिता का पालन करना उनके मन को भाता नहीं है। तो स्थविर विविध युक्तियाँ देकर उस साधक को यह समझाता है कि यह कार्य करना तुम्हारे लिए ही अत्यन्त हितावह है। इस प्रकार के शब्दों और युक्तियों से उस साधक को उत्साहित कर उसे आत्मोन्नति के कार्यों में स्थिर करता है।

स्थविर का श्रमण संघ में अत्यन्त गौरवपूर्ण स्थान रहा है। कहीं स्थविर को भगवान की उपमा से अलंकृत किया है थेरा भगवन्तो और कहीं पर गणधर[3] भी कहा है 'थेरा गणहरा' किन्तु यह ध्यातव्य है कि गणधर के लिए जो स्थविर विशेषण लगाया गया है वह उनके गंभीर श्रुतज्ञान को व्यक्त करने के लिए है, प्रस्तुत पद के साथ उनका सम्बन्ध नहीं है। स्थविर को आधुनिक भाषा में न्यायाधीश कह सकते हैं। वह संघीय सभी समस्याओं को बहुत ही अच्छी तरह से सुलझाता था। उसके द्वारा दिये गये निर्णय को आचार्य भी चुनौती नहीं दे सकते थे। जब कभी धर्मसभाएँ होतीं और किसी कारण आचार्य उनमें सम्मिलित नहीं हो पाते तो आचार्य का प्रति

---

१ प्रवर्तितव्यापारान् संयमयोगेषु सीदत साधून् नानाविध।
एहिकामुष्मिकापायदर्शनतः स्थिरीकरोतीति स्थविर ॥

—प्रवचनसारोद्धार—द्वार २

२ संविग्गो मद्दविओ पियधम्मो नाणदंसणचरित्त।
जे अट्ठे परिहायइ सारतो त हवइ थेरो ॥

निधि बनाकर स्थविर को भेजा जाता था। वह छेदसूत्रों का पारगत विद्वान होता था।

गणी

गणी का सामान्य अर्थ है गण यानी श्रमण समुदाय का अधिपति। आचार्य अभयदेव ने[1] यही अर्थ किया है। अनेक स्थलों पर आचार्य के लिए भी गणी शब्द व्यवहृत हुआ है किन्तु आचारांगचूर्णि में[2] गणी का अर्थ किया है जिनके पास आचार्य स्वयं सूत्र और अर्थ का अभ्यास करते हैं वह गणी है। अन्य आचार्य भी जिनके पास अध्ययन के लिए रहते हों वे गणी हैं—ऐसा उपाध्याय विनयविजयजी का मानना है।[3] आचार्य और उपाध्याय अन्य सामान्य श्रमणों को अर्थ और सूत्र की वाचना देते हैं। लेकिन जब आचार्य को भी अध्ययन की अपेक्षा होती तो वे हर किसी से अध्ययन नहीं कर सकते। उनको अध्ययन कराने वाले विशिष्ट श्रमण होते हैं। वे श्रमण ही गणी कहलाते हैं। इसी उद्देश्य से गणी की नियुक्ति की जाती थी। इससे गणी के स्थान का गौरव प्रगट होता है। गणी ज्ञान के अधिकारी होते हैं जिसके कारण वे आचार्य को भी वाचना दे सकते हैं।

यहाँ पर यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है केवल विद्वत्ता के आधार पर ही किसी को आचार्य नहीं बनाया जाता। आचार्य के लिए ओज प्रभाव अनुशासन में रखने की कला आदि अनेक विशेषताएँ आवश्यक हैं। यदि आचार्य में ज्ञान की कमी है तो वह भी अध्ययन कर सकता है। विशिष्ट ज्ञानी से ज्ञान प्राप्त करने में संकोच का अनुभव नहीं करना चाहिए।

गणधर

शाब्दिक दृष्टि से गणधर का अर्थ है गण को धारण करने वाला आचार्य। गण का अधिपति गणधर है। आचार्य मलयगिरि ने[4] गणधर की परिभाषा करते हुए लिखा है—जो अनुत्तर ज्ञान दर्शन आदि गुणों के गण को धारण करते हैं।

---

१ गणो यस्य अस्तीति गणी। गणस्य आचार्यो गणाचार्यो वा।
—स्थानांग वृत्ति पृ० २३२

२ यस्य पार्श्वे आचार्या सूत्रार्थ अभ्यस्यति। —आचारांग चूर्णि पृ० २३१

३ जस्स आयरिया सुत्ताइ निमित्तं उवसप्पन्ति। —लोक प्रकाश

४ अनुत्तरज्ञानदर्शनादीनां गुणानां गणं धारयन्तीति गणधराः।
—आवश्यकनियुक्ति गाथा १०९२ वृत्ति

आगम साहित्य में गणधर शब्द का व्यवहार दो अर्थों में मिलता है। प्रथम अर्थ है—तीर्थंकरों के जो प्रमुख शिष्य होते हैं और द्वादशांगी की रचना करते हैं, धर्मसंघ के विभिन्न गणों का नेतृत्व करते हैं, अतः गण के श्रमणों को आगम वाचना प्रदान करते हैं, वे गणधर हैं। किन्तु आचार्य के अर्थ में गणधर शब्द का प्रयोग विशेष रूप से नहीं मिलता। ऐसा भी लगता है कि तीर्थंकरों के परिनिर्वाण के पश्चात् गणधर के साथ ही गणधर शब्द का प्रयोग नहीं होता। उदाहरणस्वरूप गणधर सुधर्मा स्वामी के लिए आगम साहित्य में 'अज्ज सुहम्म' शब्द ही अधिक मात्रा में व्यवहृत हुआ है। आचार्य के अर्थ में गणधर शब्द का प्रयोग परवर्ती साहित्य में मिलता है।

आचार्य अभयदेव ने गणधर का अर्थ किया है[1]—जो श्रमणियों का प्रतिजागर रखनेवाला हो, दूसरे शब्दों में कहा जाये तो जो श्रमणी समूह की अच्छी तरह से सम्भाल करे, उन्हें अध्ययन कराये, प्रतिबोध दे और उनका मार्गदर्शन करे वह गणधर है। पर चिन्तनीय यह है कि भगवान महावीर के काल में श्रमणी समुदाय का नेतृत्व चन्दनबाला करती थी। महावीर के पश्चात् भी प्रवर्तिनी, स्थविरा, महत्तरा आदि विशेषण साध्वियों के लिए व्यवहृत हुए हैं। इसलिए आचार्य ने किस आधार से यह कथन किया? इसके पीछे क्या प्रमाण है और इस कथन के पीछे क्या रहस्य है? यह अन्वेषणीय है।

गणावच्छेदक

श्रमण संघीय सुव्यवस्था के लिए गणावच्छेदक की भी अतीव आवश्यकता है। गणावच्छेदक के लिए गच्छावच्छेदक शब्द का प्रयोग हुआ है। इसका अभिप्राय यह है कि गणावच्छेदक के मन में गण के प्रति विशेष रूप से वात्सल्य होता है। आचार्य अभयदेव ने लिखा है—जो संघ को सहारा देता है, उसे सुदृढ़ बनाने का प्रयास करता है, श्रमणों की संयम यात्रा के निर्वाह के लिए श्रमण जीवन के लिए आवश्यक सामग्री की अन्वेषणा करने

---

१ आर्यिका प्रतिजागरको वा साधुविशेष समय प्रसिद्ध।
—स्थानांग सूत्र ४ ३ ३२३ वृत्ति

२ गणस्यावच्छेदो विभागोऽस्यास्तीति।
यो हि तं गृहीत्वा गच्छोपष्टम्भायैवोपधिमार्गणादिनिमित्तं विहरति।
—स्थानांग सूत्र स्थान ४ उ० ३ (वृत्ति)

योग्यताएँ बताई गई हैं वे भी आवश्यक हैं। गणधर के लिए दीक्षा काल का उल्लेख नहीं है।

यों तो जिन साधकों को ये पद दिए जाते हैं उनमें स्वाभाविक प्रतिभा की प्रकृष्टता होती है उनका ओजस्वी व्यक्तित्व और तेजस्वी कृतित्व और अनुभव की गहनता उसके पीछे रही हुई होती है तथापि जो समय दीक्षा पर्याय का बताया गया है वह अनुभव की दृष्टि से है। व्यवहार सूत्र[1] में यह भी कहा है कि विशेष परिस्थिति में एक दिन के दीक्षित श्रमण को भी आचार्य या उपाध्याय पद दिया जा सकता है। यहाँ पर यह स्मरण रखना चाहिए कि उसी व्यक्ति को आचार्य या उपाध्याय पद पर नियुक्त किया जाता है जो निरुद्धवास पर्याय श्रमण हो तात्पर्य यह कि वह श्रमण जिसने पहले दीर्घकाल तक श्रमण पर्याय का पालन किया हो किन्तु दुर्बलतावश श्रमण जीवन से पृथक् हो गया हो वह पुनः आत्मोत्थान की भावना से श्रामण्य पर्याय को ग्रहण करता है उसे पूर्व अनुभव होता है। इसलिए उस एक दिन के दीक्षित श्रमण को भी आचार्य पद दिया जा सकता है। साथ ही यह भी आवश्यक है कि उसके प्रति संघ में निष्ठा होनी चाहिए। वह श्रमण जिसका कुल निर्मल हो जाति पवित्र हो, अर्थात् जिसके माता पिता सदाचारी हो ऐसे व्यक्ति में ही सहज दृढ़ता स्थिरता उदात्तता होती है और वही संघीय गुरुतर भार को वहन कर सकता है।

उपाध्याय पद का सम्बन्ध श्रुत से है। उनका कार्य है—श्रुतवाचना देना। अतः व्यापक अध्ययन प्रतापपूर्ण प्रतिभा तथा प्रकाण्ड पाण्डित्य के साथ ही तीन वर्ष की दीक्षा पर्याय इसलिए आवश्यक मानी है कि आचार-प्रवणता और जीवन के अनुभव तीन वर्ष में प्राप्त किये जा सके। पर विशेष परिस्थिति में जिसका श्रमण पर्याय एक दिन का ही हो, जिसने आचारांग और निशीथ का कुछ ही विभाग पढ़ा हो चाहे उसमें बहुश्रुतता न हो तथापि वह उनका परिज्ञान करने के लिए अपना दृढ़ निश्चय व्यक्त करे तो आचार्य अथवा उपाध्याय पद उसे दिया जा सकता है। किन्तु यदि वह उक्त आगम ग्रन्थों को न पढ़े तो वह उस पद के योग्य नहीं है।

आचार्य उपाध्याय आदि पदों के लिए एक बहुत बड़ी बात है—आचारनिष्ठ होना। चतुर्थ महाव्रत को भंग करने वाला श्रमण आचार्य आदि पद के लिए अयोग्य है। इसी तरह माया का सेवन करने वाला मृषावाद का

---

१ व्यवहारसूत्र उ० ३ सूत्र १०

किया उसी तरह श्रमणियों की व्यवस्था भी आचार्य और उपाध्याय के अधीन होती थी। तथापि श्रमणियों की पृथक व्यवस्था थी जिससे वह अपने समुदाय में रहकर संयम की आराधना सम्यक् प्रकार से कर सकें। श्रमणी संघ की व्यवस्था के लिए प्रवर्तिनी, अभिषेका, प्रतिहारी, स्थविरा, भिक्षुणी, क्षुल्लिका के उल्लेख प्राप्त होते हैं। पर मुख्य रूप से प्रवर्तिनी, गणावच्छेदिनी, अभिषेका और प्रतिहारी इन चार पदाधिकारिणी साध्वियों के उल्लेख मिलते हैं।

प्रवर्तिनी[1]—श्रमणी संघ में प्रवर्तिनी का स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण रहा है। वह आचार्य न होने पर भी आचार्य की तरह प्रतिष्ठा प्राप्त थी। उनकी दीक्षा पर्याय कम से कम आठ वर्ष की होनी चाहिए। वह आचार में कुशल, प्रवचन में प्रवीण, संक्लिष्ट चित्तवाली, स्थानांग-समवायांग आदि की ज्ञाता होती थी। प्रवर्तिनी के लिए प्रधान आर्या, गणिनी, महत्तरा आदि विविध शब्द व्यवहृत हुए हैं जो उसके निर्मल व्यक्तित्व को उजागर कर रहे हैं। आठ वर्ष की दीक्षा पर्याय वाली प्रवर्तिनी के लिए बताया है कि वह एक साध्वी के साथ शीत और उष्ण काल में विचरण नहीं कर सकती, कम से कम दो साध्वियाँ आवश्यक हैं। वर्षावास में उसके साथ तीन साध्वियाँ आवश्यक हैं।

गणावच्छेदिनी—जो स्थान श्रमणसंघ में उपाध्याय का है उसी तरह का स्थान साध्वी संघ में गणावच्छेदिनी का है। गणावच्छेदिनी को शीतोष्ण काल में तीन अन्य साध्वियों के साथ विचरण करना चाहिए। वर्षावास में उसके साथ चार साध्वियाँ आवश्यक हैं।

अभिषेका—श्रमण संघ में जो स्थान स्थविर का है वही स्थान श्रमणी संघ में अभिषेका का है। कहीं कहीं पर तो अभिषेका को गणिनी के समकक्ष रखा गया है।

प्रतिहारी—निग्रन्थी प्रतिहारी द्वारपालिका के रूप में मानी गई है। वह रात्निक की तरह होती है। जहाँ कहीं भी ऐसे स्थान पर रहना होता जहाँ साध्वी की सुरक्षा का प्रश्न होता वहाँ वह प्रतिहारी द्वारपालिका के रूप में रहकर अन्य श्रमणियों की रक्षा करती थी। बृहत्कल्प भाष्य में बताया है—श्रमणों की अपेक्षा साध्वियों का जीवन अधिक अनुशासित और

---

१ व्यवहारसूत्र

६ साधना के दो मार्ग : उत्सर्ग और अपवाद

जैन संस्कृति में साधना का गौरवपूर्ण स्थान है। प्राचीन जैन साहित्य के पृष्ठ साधना के उज्ज्वल समुज्ज्वल आलोक से जगमगा रहे हैं। साधना को जीवन का प्राण कहा है। सम्यक् साधना से ही साधक अपने साध्य को प्राप्त करता है। साधक के जीवन के कण कण में त्याग, तप, संयम और ध्यान की सरस सरिता बहती है।

उत्सर्ग और अपवाद मार्ग

जैन साधना रूपी सरिता के दो तट हैं—एक उत्सर्ग है और दूसरा अपवाद। उत्सर्ग शब्द का अर्थ 'मुख्य' और अपवाद शब्द का अर्थ 'गौण' है। उत्सर्ग मार्ग का अर्थ है आन्तरिक जीवन, चारित्र और सद्गुणों की रक्षा, शुद्धि और अभिवृद्धि के लिए प्रमुख नियमों का विधान और अपवाद का अर्थ है आन्तरिक जीवन आदि की रक्षा हेतु उसकी शुद्धि, वृद्धि के लिए बाधक नियमों का विधान। उत्सर्ग और अपवाद दोनों का लक्ष्य एक है। और वह है साधक को साधना के पथ पर आगे बढ़ाना। सामान्य साधक के मानस में यह विचार उद्बुद्ध हो सकते हैं कि जब उत्सर्ग और अपवाद इन दोनों का लक्ष्य एक है तो फिर दो रूप क्यों हैं ?

उत्तर में निवेदन है - मानव के शारीरिक और मानसिक दुर्बलता को लक्ष्य में रखकर ही जैन संस्कृति के मर्मज्ञ मनीषियों ने सर्व के समुत्कर्ष को ध्यान में रखकर उत्सर्ग और अपवाद मार्ग का निरूपण किया है। निशीथ भाष्यकार ने लिखा है—समर्थ साधक के लिए उत्सर्ग स्थिति में जिन द्रव्यों का निषेध किया गया है असमर्थ साधक के लिए अपवाद की परिस्थिति में विशेष कारण से वह वस्तु ग्राह्य भी हो जाती है।[1]

---

१ उस्सग्गेण णिसिद्धाणि जाणि दव्वाणि संथरे मुणिणो।
कारणजाए जाते सव्वाणि वि ताणि कप्पंति॥ —निशीथ भाष्य ५२४५

उत्सर्ग और अपवाद विरोधी नहीं

आचार्य जिनदासगणि महत्तर[1] ने लिखा है—जो बातें उत्सर्ग मार्ग में निषिद्ध की गई हैं, वे सभी बातें कारण सम्मुख होने पर कल्पनीय व ग्राह्य हो जाती हैं। इसका कारण यह है कि उत्सर्ग और अपवाद दोनों का लक्ष्य एक है व एक दूसरे के पूरक हैं। साधक दोनों के सुमेल से ही साधना पथ पर सम्यक् प्रकार से बढ सकता है। यदि उत्सर्ग और अपवाद दोनों एक दूसरे के विरोधी होते तो वे उत्सर्ग और अपवाद नहीं है किन्तु स्वच्छन्दता का पोषण करने वाले हैं। आगम साहित्य में दोनों को मार्ग कहा है। एक मार्ग राजमार्ग की तरह सीधा है तो दूसरा मार्ग जरा घुमावदार है।

सामान्य विधि उत्सर्ग

उत्सर्ग मार्ग पर चलना यह साधक के जीवन की सामान्य पद्धति है। एक व्यक्ति राजमार्ग पर चल रहा है किन्तु राजमार्ग पर प्रतिरोध विशेष उत्पन्न होने पर वह राजमार्ग को छोड़कर सन्निकट की पगडण्डी को ग्रहण करता है। कुछ दूर चलने पर जब अनुकूलता होती है तो पुन राजमार्ग पर लौट आता है। यही स्थिति साधक की उत्सर्ग मार्ग से अपवाद मार्ग को ग्रहण करने के संबंध में है और पुन अपवाद से उत्सर्ग में आने की है।

उत्सर्ग मार्ग सामान्य विधि है। इस विधि पर वह निरन्तर चलता है। बिना विशेष परिस्थिति के उत्सर्ग मार्ग नहीं छोड़ना चाहिए। जो साधक बिना कारण ही उत्सर्ग मार्ग को छोड़कर अपवाद मार्ग को अपनाता है वह आराधक नहीं अपितु विराधक है। पूर्ण स्वस्थ व्यक्ति यदि औषधि ग्रहण करता है या रोग मिट जाने पर भी बीमारी का अभिनय कर औषधि आदि ग्रहण करता है तो वह अपने कर्त्तव्य से च्युत होता है। विशेष कारण के अभाव में अपवाद का सेवन नहीं करना चाहिए। साथ ही जिस कारण से अपवाद का सेवन किया हो उस कारण के समाप्त होते ही उसे पुन उत्सर्ग मार्ग को अपनाना चाहिए।

विशिष्ट विधि अपवाद

हम पूर्व बता चुके हैं कि अपवाद एक विशिष्ट मार्ग है। उत्सर्ग के समान ही वह संयम साधना का ही मार्ग है। पर अपवाद वास्तविक अपवाद होना चाहिए। यदि अपवाद के पीछे इन्द्रिय पोषण की भावना है तो

---

१ जाणि उस्सग्गे पडिसिद्धाणि उप्पण्णे कारणे सव्वाणि वि ताणि कप्पंति। ण दोसो ।

—निशीथचूर्णि ५२४५

वह अपवाद मार्ग नहीं है। अतः साधक को अपवाद मार्ग में सतत जागरूक रहने की आवश्यकता है। जितना अति आवश्यक हो उतना ही अपवाद का सेवन किया जा सकता है निरन्तर नहीं। अपवाद मार्ग पर तो किसी विशेष स्थिति परिस्थिति में ही चला जाता है। अपवाद का मार्ग चमचमाती हुई तलवार की तीक्ष्ण धार के सदृश है। उस पर प्रत्येक साधक नहीं चल सकता। जिस साधक ने आचारांग आदि आगम साहित्य का गहराई से अध्ययन किया है छेदसूत्रों के गम्भीर रहस्यों को समझा है, उत्सर्ग मार्ग है और अपवाद मार्ग का जिसे स्पष्ट परिज्ञान है, वह गीतार्थ महान साधक ही अपवाद को अपना सकता है। जिसे देशकाल और स्थिति का परिज्ञान नहीं है, ऐसा अगीतार्थ यदि अपवाद मार्ग को अपनाता है तो वह साधना से च्युत हो सकता है। कुशल व्यापारी आय और व्यय को सम्यक् प्रकार से समझकर ही व्यापार करता है वह अल्प व्यय कर अधिकाधिक लाभ उठाता है। वैसे ही गीतार्थ श्रमण परिस्थिति विशेष में दोष का सेवन करके भी अधिक सद्गुणों की वृद्धि करता है।

आचार्य भद्रबाहु ने[1] गीतार्थ के सद्गुणों का विवेचन करते हुए लिखा है—आय व्यय कारण-अकारण, आगाढ(ग्लान)-अनागाढ वस्तु अवस्तु युक्त-अयुक्त, समर्थ-असमर्थ यतना अयतना का सम्यक् ज्ञान गीतार्थ को रहता है और वह कर्तव्य और कार्य का परिणाम भी जानता है।

गीतार्थ पर जिम्मेदारी होती है कि वह अपवाद स्वयं सेवन करे दूसरों को अपवाद की सेवन की अनुमति दे। अगीतार्थ श्रमण अपवाद सेवन करने का स्वयं निर्णय नहीं ले सकता। गीतार्थ को द्रव्य क्षेत्र, काल, भाव का परिज्ञान होता है जिससे वह साधना के पथ पर बढ़ सकता है।

रूपक के माध्यम से

आचार्य संघदासगणि ने[2] सुन्दर रूपक के द्वारा उत्सर्ग और अपवाद मार्ग को बताया है। एक यात्री अपने लक्ष्य की ओर द्रुतगति से बढ़ रहा

---

1 आयं कारण गाढं वत्थु जुत्तं ससत्ति जयणं च।
सव्वं च सपडिवक्खं फलं च विधिवं वियाणाइ॥
—[illegible]निर्युक्ति, भाष्य ९५१

2 धावन्तो उव्वाओ मग्गन्नू किं न गच्छइ कमेण।
किं वा मउई किरिया न कीरए असहुओ तिक्खं॥
—बृहत्कल्पभाष्य पीठिका ३१०

है। यह कभी राजा से सम्मान पाता है। कभी भोजन के लिए वह दौड़ता भी है। पर जब वह बहुत ही थक जाता है और आगे उसे विषम मार्ग दिखाई देता है तब विश्रांति के लिए वृक्ष की छाया तले बैठता है क्योंकि बिना विश्राम किये तब कदम भी चलना उसके लिए कठिन है। लेकिन उस यात्री का विश्राम आगे बढ़ने के लिए है। उसकी विश्रांति विश्रांति के लिए नहीं अपितु प्रगति के लिए है। साधक भी उसी तरह उत्सर्ग मार्ग पर चलता है किन्तु कारणवशात् उसे अपवाद मार्ग का अवलम्बन लेना पड़ता है। यह अपवाद उत्सर्ग की रक्षा के लिए ही है, उसके ध्वंस के लिए नहीं है। कल्पना कीजिए—शरीर में एक भयंकर जहरीला फोड़ा हो चुका है। शरीर की रक्षा के लिए उस फोड़े की शल्य चिकित्सा की जाती है। शरीर का जो छेदन भेदन होता है वह शरीर के विनाश के लिए नहीं, अपितु शरीर की रक्षा के लिए है।

यदि साधक पूर्ण समर्थ है और विशिष्ट स्थिति उत्पन्न होने पर वह सम्यक् भाव से मृत्यु का वरण कर सकता हो तो वह समाधिपूर्वक वरण करे। यदि मृत्यु को वरण करने से समाधिभाव भंग होता है तो वह जीवन को बचाने हेतु संयम की रक्षा के लिए प्रयत्न करे।

१

२

वह अपवाद माग नही है। अत साधक को अपवाद माग म सतत जागरूक रहने की आवश्यकता है। जितना अति आवश्यक हो उतना ही अपवाद का सेवन किया जा सकता है, निरन्तर नही। अपवाद माग पर तो किसी विशेष स्थिति परिस्थिति मे ही चला जाता है। अपवाद का माग चमचमाती हुई तलवार की तीक्ष्ण धार के सदृश है। उस पर प्रत्येक साधक नहीं चल सकता। जिस साधक ने आचाराग आदि आगम साहित्य का गहराई से अध्ययन किया है छेदसूत्रो के गम्भीर रहस्यो को समझा है, उत्सग माग है और अपवाद माग का जिसे स्पष्ट परिज्ञान है, वह गीताथ महान साधक ही अपवाद को अपना सकता है। जिसे देशकाल और स्थिति का परिज्ञान नही है, ऐसा अगीताथ यदि अपवाद माग को अपनाता है तो वह साधना से च्युत हो सकता है। कुशल व्यापारी आय और व्यय को सम्यक प्रकार से समझकर ही व्यापार करता है वह अल्प व्यय कर अधिकाधिक लाभ उठाता है। वसे ही गीताथ श्रमण परिस्थिति विशेष म दोष का सेवन करके भी अधिक सदगुणो की वद्धि करता है।

आचाय भद्रबाहु ने[1] गीताथ के सदगुणो का विवेचन करते हुए लिखा है—आय व्यय कारण अकारण आगाढ(ग्लान) अनागाढ वस्तु अवस्तु युक्त-अयुक्त समथ असमथ यतना-अयतना का सम्यक ज्ञान गीताथ को रहता है और वह कतव्य और काय का परिणाम भी जानता है।

गीताथ पर जिम्मेदारी होती है कि वह अपवाद स्वय सेवन करे या दूसरो को अपवाद की सेवन की अनुमति दे। अगीताथ श्रमण अपवाद सेवन करने का स्वय निणय नही ले सकता। गीताथ को द्रव्य क्षेत्र काल भाव का परिज्ञान होता है जिससे वह साधना के पथ पर बढ सकता है।

रूपक के माध्यम से

आचाय सघदासगणि ने[2] सुन्दर रूपक के द्वारा उत्सग और अपवाद माग को बताया है। एक यात्री अपने लक्ष्य की ओर द्रुतगति से चल रहा

---

१ आय कारण गाढ वत्यु जुत्त ससत्ति जयण य।
गव्व च सपच्चिक्ख फल च विधिव वियाणाइ॥

—बृहत्कल्पनिर्युक्ति भाष्य ९५१

२ धावन्तो उव्वाओ मग्गन्नू किं न गच्छइ कमेण।
किं वा मउई किरिया न कीरए असहुओ तिक्ख॥

—बृहत्कल्पभाष्य पीठिका ३२०।

अपवाद क्यों और किसलिए ?

अपवाद मार्ग ग्रहण करने के पूर्व अनेक शर्तें रखी गई है। उन शर्तों की ओर लक्ष्य न दिया तो अपवाद मार्ग पतन का कारण बन जाएगा। एतदर्थ ही प्रतिसेवना के दो भेद हैं—अकारण अपवाद का सेवन 'दर्पप्रतिसेवना' है और कारण से प्रतिसेवना कल्प है। हम पूर्व बता चुके हैं कि ज्ञान दर्शन चारित्र की साधना व आराधना करता हुआ साधक मोक्ष मार्ग की ओर बढ़ता है। चारित्र का पालन ज्ञान और दर्शन की वृद्धि के लिए है। जिस चारित्र की आराधना से ज्ञान दर्शन की हानि होती हो वह चारित्र नहीं। चारित्र वही है जो ज्ञान दर्शन को पुष्ट करता हो। ज्ञान दर्शन के कारण चारित्र में अपवाद सेवन करने के लिए बाध्य होना पड़ता है। वे सभी अपवाद कल्प प्रतिसेवना में इसलिए लिये जाते हैं कि वे साधक को साधना से च्युत नहीं करते। जो भी अपवाद सेवन किया जाय उसमें ज्ञान और दर्शन ये दो मुख्य लक्ष्य होने चाहिए। यदि उन दोनों में से कोई भी कारण नहीं है तो वह प्रतिसेवना दर्प है। साधक का कर्त्तव्य है दर्प का परित्याग कर कल्प को ग्रहण करे। क्योंकि दर्प साधक के लिए निषिद्ध माना गया है।[1]

एक जिज्ञासा हो सकती है—निशीथ भाष्य[2] व चूर्णि आदि में दुर्भिक्ष आदि की स्थिति में भी अपवाद सेवन किये जाते रहे हैं ऐसा उल्लेख है। फिर ज्ञान और दर्शन से ही अपवाद-सेवन की बात कैसे कही गयी? समाधान है—ज्ञान और दर्शन ये दो मुख्य कारण हैं ही। दुर्भिक्ष आदि में साक्षात् ज्ञान और दर्शन की हानि नहीं होती। किन्तु परम्परा से ज्ञान और दर्शन की हानि होने से ऊह लिया गया है।

दुर्भिक्ष में आहार की प्राप्ति नहीं हो सकती और बिना आहार स्वाध्याय आदि नहीं हो सकता। इसलिए उसे अपवाद के कारणों में गिना है।

निशीथ भाष्य में दर्प प्रतिसेवना और कल्प प्रतिसेवना को प्रमाद प्रतिसेवना और अप्रमाद प्रतिसेवना भी बताया गया है। क्योंकि प्रमाद दर्प है और अप्रमाद कल्प है। जिस आचरण में प्रमाद है वह दर्पप्रतिसेवना है और अप्रमाद जिसमें है वह कल्प प्रतिसेवना है।[3]

---

१ निशीथ भाष्य गा० ८८ उसकी चूर्णि तथा गा० १४४ ३८३ ४६३

२ निशीथ भाष्य गा० १७५ १८८ १९२, २२० २२१ ४८४ ४८५ २४४, २५३ ३२१ ४२ ४१६ ,६१ ३८४ ४२५ ४५३ ४५८ ४८१ आदि

३ निशीथ भाष्य गा ९१

ज्ञान, दर्शन चारित्र की वृद्धि में बाधक बन रहा है तो वह सल्लेखना मरण को स्वीकार लेता है।

स्वस्थान और परस्थान

एक शिष्य ने जिज्ञासा प्रस्तुत की—भगवन! बताइये साधक के लिए उत्सर्ग स्वस्थान है या अपवाद? समाधान प्रदान किया गया कि जिस साधक का शरीर पूर्ण स्वस्थ है और समर्थ है उसके लिए उत्सर्ग मार्ग ही स्वस्थान है और अपवाद परस्थान है। पर जिनका शरीर रुग्ण है असमर्थ है, उनके लिए अपवाद स्वस्थान है और उत्सर्ग परस्थान है।[1]

साधक में जहाँ संयम का जोश होता है वहाँ उसमें विवेक का होश भी होता है। अपवाद मार्ग का निरूपण सिर्फ स्थविरकल्प[2] की दृष्टि से किया गया है। जिनकल्पी श्रमण तो केवल उत्सर्गमार्ग पर ही चलते हैं।[3]

अपवाद यानी रहस्य

निशीथचूर्णि में उत्सर्ग के लिए 'प्रतिषेध' शब्द का प्रयोग हुआ है और अपवाद के लिए 'अनुज्ञा'। उत्सर्ग प्रतिषेध है और अपवाद विधि है। संयमी श्रमण के लिए जितने भी निषिद्ध कार्य बताये गये हैं वे प्रतिषेध के अन्तर्गत आ जाते है और परिस्थिति विशेष में उन निषिद्ध कार्यों को करने की अनुज्ञा दी जाती है तब वह निषिद्ध कार्य विधि बन जाते हैं।[4] परिस्थिति विशेष से अकर्तव्य भी कभी कर्तव्य बन जाता है। साधारण साधक प्रतिषेध को विधि में परिणत करने की शक्ति नहीं रखता। वह औचित्य अनौचित्य का परीक्षण भी नहीं कर सकता। इसीलिए अपवाद अनुज्ञा या विधि प्रत्येक साधक को नहीं बतायी जाती। एतदर्थ ही निशीथ चूर्णि में अपवाद का पर्यायवाची रहस्य भी है।[5]

जैसे प्रतिषेध (उत्सर्ग) का पालन करने से आचार विशुद्ध रहता है उसी तरह अपवाद मार्ग का अवलंबन करने पर भी आचरण विशुद्ध ही मानना चाहिए।[6]

---

१ संथरओ सट्टाणं उस्सग्गो असहुणो परट्ठाणं ।
इय सट्टाण परं वा न होइ वत्थू विणा किंचि ॥
—बृहत्कल्पभाष्य पीठिका ३२४

२ निशीथ भाष्य गा० ८७

३ वही० गा० ६६६८ उत्थानचूर्णि

४ वही० गा० ५२४५

५ निशीथ चूर्णि गा० ४९५

६ वही० गा० २८७, १०२२, १०६६, ४१०३

अपवाद क्यों और किसलिए ?

अपवाद मार्ग ग्रहण करने के पूर्व अनेक शर्तें रखी गई हैं। उन शर्तों की ओर लक्ष्य न दिया तो अपवाद मार्ग पतन का कारण बन जाएगा। इसलिए ही प्रतिसेवना के दो भेद हैं—अकारण अपवाद का सेवन दर्पप्रतिसेवना है और कारण से प्रतिसेवना कल्प है। हम पूर्व बता चुके हैं कि ज्ञान दर्शन चारित्र की साधना व आराधना करता हुआ साधक मोक्ष मार्ग की ओर बढ़ता है। चारित्र का पालन ज्ञान और दर्शन की वृद्धि के लिए है। जिस चारित्र की आराधना से ज्ञान-दर्शन की हानि होती हो, वह चारित्र नहीं। चारित्र वही है जो ज्ञान दर्शन को पुष्ट करता हो। ज्ञान दर्शन के कारण चारित्र में अपवाद सेवन करने के लिए बाध्य होना पड़ता है। वे सभी अपवाद कल्प प्रतिसेवना में सम्मिलित किये जाते हैं किन्तु साधक को साधना से च्युत नहीं करते। जो भी अपवाद सेवन किया जाय उसमें ज्ञान और दर्शन ये दो मुख्य लक्ष्य होने चाहिए। यदि उन दोनों में से कोई भी कारण नहीं है तो वह प्रतिसेवना दर्प है। साधक का कर्तव्य है दर्प का परित्याग कर कल्प को ग्रहण करे। क्योंकि दर्प साधक के लिए निषिद्ध माना गया है।[1]

एक जिज्ञासा हो सकती है—निशीथ भाष्य व चूर्णि आदि में दुर्भिक्ष आदि की स्थिति में भी अपवाद सेवन किये जाते रहे हैं, ऐसा उल्लेख है। फिर ज्ञान और दर्शन से ही अपवाद-सेवन की बात कैसे कही गयी? समाधान है—ज्ञान और दर्शन ये दो मुख्य कारण हैं ही। दुर्भिक्ष आदि में साक्षात् ज्ञान और दर्शन की हानि नहीं होती। किन्तु परम्परा से ज्ञान और दर्शन की हानि होने से उल्लेख किया गया है।

दुर्भिक्ष में आहार की प्राप्ति नहीं हो सकती और बिना आहार स्वाध्याय आदि नहीं हो सकता। इसलिए इन अपवादों को कारणों में लिया है।

निशीथ भाष्य में दर्प प्रतिसेवना और कल्प प्रतिसेवना को प्रमाद प्रतिसेवना और अप्रमाद प्रतिसेवना भी कहा गया है। क्योंकि प्रमाद दर्प है और अप्रमाद कल्प है। जिस आचरण में प्रमाद है वह दर्प-प्रतिसेवना है और अप्रमाद जिसमें है वह कल्प प्रतिसेवना है।[3]

---

१ निशीथ भाष्य गा० ८८ सभाष्य चूर्णि भाग गा० [illegible]

२ निशीथ भाष्य गा० [illegible]

३ निशीथ भाष्य गा० ९१

इसी तरह श्रमण ब्रह्मचर्य महाव्रत की रक्षा के लिए नवजात कन्या को भी स्पर्श नहीं कर सकता पर वही श्रमण नदी में डूबती हुई या विक्षिप्त चित्त वाली भिक्षुणी को पकड़ कर निकाल सकता है।[1]

इसी तरह अपरिग्रह महाव्रत में चौदह उपकरणों के अतिरिक्त उपकरण रखना आदि भी परिग्रह में ही है। किन्तु पुस्तक, लेखन सामग्री आदि ज्ञान के साधन रूप समझ कर ग्रहण किये जाते हैं।[2]

दशवैकालिक आदि में यह स्पष्ट विधान है कि श्रमण किसी गृहस्थ के यहाँ पर न बैठे। बैठना अनाचार माना गया है।[3] किन्तु दशवैकालिक में यह भी बताया है जो श्रमण अत्यन्त वृद्ध हो चुका है, अस्वस्थ है या जो तपस्वी है वह गृहस्थ के घर पर बैठ सकता है।[4] उसे गृह निषिद्या का दोष नहीं लगता।

आगम साहित्य में श्रमण के आहार की चर्चा करते हुए यह स्पष्ट विधान किया है वह आधाकर्मी आहार ग्रहण नहीं कर सकता। वह पिण्डैषणा के नियमों का सम्यक् प्रकार से पालन करें। आचार्य शीलांक ने सूत्रकृतांग वृत्ति में लिखा है—अपवाद स्थिति में शास्त्र के अनुसार आधाकर्म आहार का सेवन करता है तो वह साधक शुद्ध है। वह कर्म से लिप्त नहीं होता।[5]

निशीथ भाष्य में ऐसे अनेक प्रसंग हैं जिनमें यह बताया गया है कि दुर्भिक्ष आदि की स्थिति में अपवाद मार्ग से श्रमण आधाकर्म आदि आहार ग्रहण कर सकता है।[6]

जैन श्रमण के लिए यह विधान है कि वह चिकित्सा की इच्छा न करे।[7] रोग हो जाने पर उसे शान्त भाव से सहन करे। किन्तु जब दवा

---

१ बृहत्कल्पसूत्र उ० ६ सूत्र ७ १२
२ निशीथचूर्णि भा० ३, प्रस्तावना—उपाध्याय अमरमुनिजी
३ दशवैकालिक ३ ४ ६ ८
४ तिण्हमन्नयरागस्स निसिज्जा जस्स कप्पइ,
जराए अभिभूयस्स वाहिअस्स तवस्सिणो— —दश० ६ ६०
५ सूत्रकृतांग २ ५ ८ ९
६ निशीथ भाष्य गा० २६८४
७ (क) उत्तराध्ययन २ ३३ (ख) दशव० ३ ४
(ग) निशीथ सूत्र ३ २८ ४०—१ ।४२ ४५

गया कि श्रमण रोग होने पर समाधिस्थ नहीं रह सकता तो उसकी चिकित्सा के सम्बन्ध मे भी चिन्तन हुआ। श्रमण किस प्रकार वैद्यो के यहाँ पर जाय किस प्रकार औषधि आदि ग्रहण करे भयकर कुष्ठ आदि रोग होने पर किस तरह उनका उपचार किया जाय आदि पर नियुक्ति चूर्णि और भाष्य म विस्तार से विवेचन है। साथ ही यह भी स्पष्ट है कि इन अपवादो का सेवन करने पर विरोधियो की टीका टिप्पणी करने का अवसर न मिले, यदि विरोधी आलोचना प्रत्यालोचना करेंगे तो उससे जिनधर्म की अवहेलना होगी। अत उसे गुप्त रखने का[1] भी सकेत किया गया है।

अतिचार और अपवाद

एक बात यहा समझनी चाहिए अतिचार और अपवाद म अन्तर है।[2] यद्यपि अतिचार और अपवाद मे बाह्य दृष्टि से दोष-सेवन एक सदृश प्रतीत होता है पर अतिचार व अपवाद मे बहुत अन्तर है। अतिचार मे मोह का उदय होता है मोह के उदय से वासना से उत्प्रेरित होकर कषाय भाव के कारण उत्सर्ग मार्ग को छोडकर जो सयमविरुद्ध प्रवृत्ति की जाती है वह अतिचार है। अतिचार म सयम दूषित होता है। अत साधक को यह ज्ञात हो जाय—मैंने दोष का सेवन किया है जो अयोग्य था तो उसे यथाशीघ्र प्रायश्चित्त लेकर उस दोष की विशुद्धि करनी चाहिए। जो उस दोष की विशुद्धि नहीं करता है वह श्रमण विराधक होता है।

अपवाद म दोष का सेवन होता है पर वह सेवन विवशता के कारण होता है। सेवन करते समय साधक यह अच्छी तरह से जानता है—यदि मैं अपवाद का सेवन नही करूँगा तो मेरे ज्ञान आदि गुण विकसित नहीं हो सकेगे। उसी दृष्टि से वह अपवाद का सेवन करता है। अपवाद मे सेवन करने म सद्गुणो का अर्जन और सरक्षण प्रमुख होता है। अपवाद म कषाय भाव नही होता किन्तु सयमभाव प्रमुख होता है। इसलिए वह अपवाद अतिचार की तरह दूषण नहीं है। अतिचार म कषाय का प्राधान्य होने से अधिक कर्मबन्धन होता है।

उत्सर्ग और अपवाद में विवेक आवश्यक

उत्सर्ग मार्ग और अपवाद मार्ग दोनों ही मार्ग साधक के लिए तभी श्रेयस्कर हैं जब तक उनमें विवेक की ज्योति जगमगाती हो। मूल आगम साहित्य मे उत्सर्ग मार्ग की प्रधानता रही अपवाद मार्ग का वर्णन आया

---

१ निशीथचूर्णि गा० ४५४०

२ निशीथचूर्णि भा० ३ प्रस्तावना (उपा० अमरमुनि)

भी तप था। चक्रवर्ती सम्राट षट्खण्ड पर विजय वैजयन्ती फहराने के लिए तप की साधना करते हैं। वे तीन दिन तक निर्जल तप एक बार नहीं, तेरह बार करते हैं। किसी भी कठिन व अभीष्ट कार्य की पूर्ति हेतु वे तप की आराधना करते हैं। चक्रवर्ती ही नहीं वासुदेव भी अपने कार्य की सिद्धि के लिए तप की आराधना करते हैं। तप में वह शक्ति है जिसके कारण देवता भी नत हो जाते हैं। तप से आत्मा में जो प्रचण्ड शक्ति उद्भूत होती है उसके सामने देवता तो क्या इन्द्र भी उस तपस्वी के चरणों की धूल लेने के लिए लालायित रहते हैं। इसीलिए योगवाशिष्ठकार ने[1] कहा है कि इस विराट विश्व में जो सर्वाधिक दुष्प्राप्य वस्तु है वह तप के द्वारा ही प्राप्त की जा सकती है।

कर्म आवरणों के क्षय होने पर जो अपूर्व शक्ति उपलब्ध होती है वह लब्धि या सिद्धि कहलाती है। जैसे उमड़-घुमड़कर नभमंडल को आच्छादित कर देने वाली काली कजरारी घटाएँ दाक्षिणात्य पवन चलते ही छिन्न-भिन्न हो जाती हैं जिससे सूर्य की चमचमाती किरणें चमकने लगती हैं वैसे ही तप से कर्म के बादल छटने से आत्मशक्ति का आलोक जगमगाने लगता है। आचार्य नेमिचन्द्र[2] ने कहा है—परिणामों की विशुद्धता, चारित्र की अतिशयता व महान तप के आचरण में लब्धियाँ प्राप्त होती हैं। लब्धियाँ विशुद्ध आत्मशक्ति हैं। ये ही तप से सहज उपलब्ध होती हैं। उसके लिए पृथक प्रयास करने की आवश्यकता नहीं होती। लब्धियों के लिए न दैव शक्ति की आवश्यकता है और न मन्त्र शक्ति की जरूरत है। आचार्य पतंजलि ने[3] लब्धियों को विभूतियाँ कहा है और बौद्ध दर्शन ने अभिज्ञा कहा है। तप के द्वारा जो महान शक्ति प्राप्त होती है वही लब्धि, विभूति या अभिज्ञा है।

तप और लब्धियाँ

आगमोत्तरवर्ती ग्रन्थों में लब्धियों का विस्तार से वर्णन है। भगवती सूत्र में ज्ञानलब्धि, दर्शनलब्धि, चारित्रलब्धि, चरित्राचारित्रलब्धि, दानलब्धि

---

१ योगवाशिष्ठ ३।६८।१४

२ परिणाम तववसेण इमाइ हुंति लद्धीओ।
—प्रवचनसारोद्धार द्वार २७० गाथा १४९२

३ योगदर्शन २।३६

लाभलब्धि, भोगलब्धि उपभोगलब्धि वीर्यलब्धि और इन्द्रियलब्धि—ये दस लब्धियाँ बताई गई हैं। इन लब्धियों के विकास में तप का महत्त्वपूर्ण हाथ रहा है। यों तो एकेन्द्रिय आदि में भी सूक्ष्म रूप से लब्धियाँ रहती हैं किन्तु तप साधना से उन लब्धियों में अधिकाधिक विकास होता है और वे लब्धियाँ फल प्रदान करने में पूर्ण सफल होती हैं।

आचार्य नेमीचन्द्र ने अट्ठाईस लब्धियों का उल्लेख किया है।[1] संक्षेप में वे लब्धियाँ इस प्रकार हैं—

(१) आमोसहि—प्रस्तुत लब्धिधारक साधक अपने स्पर्श से रोगी को पूर्ण स्वस्थ कर देता है। सर्वप्रथम वह अपने अन्तर्मानस में यह दृढ संकल्प करता है कि यह रोगी मेरे स्पर्श से पूर्ण स्वस्थ हो जाय। प्रस्तुत संकल्प करते ही रोगी उसी क्षण उसके स्पर्श से रोगमुक्त हो जाता है।

(२) विप्पोसहि—तप से तपस्वी को ऐसी विशिष्ट लब्धि प्राप्त होती है कि उसके मल मूत्र में सुगन्ध आने लगती है और उसके मल मूत्र के स्पर्श से रुग्ण व्यक्ति पूर्ण स्वस्थ हो जाता है।

(३) खलोसहि—तपस्वी के श्लेष्म खखार व थूक के लेप से रोगी रोगमुक्त हो जाता है।

(४) जल्लोसहि—प्रस्तुत लब्धिधारक श्रमण के कान मुख नाक जीभ आँख आदि के मल को लगाने से रोगी रोगमुक्त हो जाता है। उसके इन मलों में भी सुगन्ध आती है।

(५) सव्वोसहि—प्रस्तुत लब्धिधारक श्रमण का सम्पूर्ण शरीर ही औषधिमय हो जाता है। उसका शरीर अमृत सदृश होता है। जिसको भी वह स्पर्श करता है या उसके शरीर की किसी भी वस्तु से व्यक्ति रोगमुक्त हो सकता है।

(६) सम्भिन्नस्रोतलब्धि—प्रत्येक मानव एक-एक इन्द्रिय के विषय को ग्रहण करता है परन्तु प्रस्तुत लब्धि के प्रभाव से तपस्वी की इन्द्रियों का भेद समाप्त हो जाता है। उसके शरीर के सारे स्रोत भिन्न भिन्न हो जाते हैं, खुल जाते हैं जिससे वह प्रत्येक इन्द्रिय से पाँचों इन्द्रिय के विषय को ग्रहण कर सकता है।

(७) अवधिलब्धि—प्रस्तुत लब्धिवाला सूक्ष्म दूरस्थ और व्यवहित

---

[1] प्रवचनसारोद्धार द्वार २७० गाथा १४९२ ९५

[illegible] को [illegible] है। प्रस्तुत लब्धि से मनःपर्याय की उत्पत्ति होती है।

(८) ऋजुमतिलब्धि—इस लब्धि से [illegible] अढाई द्वीप में अढाई अंगुल कम [illegible] के [illegible] के भावों को जाना जाता है। [illegible] को भी [illegible] जाता है। [illegible] प्रस्तुत लब्धिवाला कर लेता है।

(९) विपुलमतिलब्धि—प्रस्तुत लब्धि से मानव सम्पूर्ण अढाई द्वीप में [illegible] के भावों को भली भांति जान लेता है। उनके सूक्ष्म विचारों का भी उसे ज्ञान हो जाता है।

(१०) चारणलब्धि—प्रस्तुत लब्धि के द्वारा साधकों को आकाश में गमनागमन की विशिष्ट शक्ति प्राप्त होती है। चारण शब्द का अर्थ ही है। आकाशगामिता शक्ति [illegible] जैन साहित्य में यत्र-तत्र उसका उल्लेख है। इसके जंघाचारण और विद्याचारण—ये दो भेद हैं। जंघाचारण लब्धिधारक जंघा के बल से आकाश में गमन करता है और विद्याचारण लब्धिधारक विद्या के बल से आकाश में गमन करता है। जंघाचारण लब्धि निरन्तर अष्टम अष्टम की तपस्या से प्राप्त होती है और विद्याचारण षष्ठ षष्ठ तप से उपलब्ध होता है। जंघाचारण से विद्याचारण की गति कम होती है। जंघाचारण लब्धिवाला तीन बार चक्कर लगाने में जितना समय लगता है उतने समय में एक लाख योजन विस्तार वाले जम्बूद्वीप के चारों ओर २१ बार चक्कर लगा सकता है जबकि विद्याचारण लब्धिवाला इतने समय में सिर्फ तीन बार ही चक्कर लगा सकता है।

(११) आशीविषलब्धि—प्रस्तुत लब्धि से वाणी में एक प्रकार का विष पैदा हो जाता है। वह यदि किसी को भी शाप देता है तो वह उसी क्षण प्रभाव दिखाता है। उसका वचन विष की तरह दूसरे के प्राणों का अपहरण कर लेता है।

(१२) केवलज्ञानलब्धि—प्रस्तुत लब्धि से केवलज्ञान-केवलदर्शन उपलब्ध होता है।

(१३) गणधरलब्धि—प्रस्तुत लब्धि का धारक गणधर जैसे गौरवपूर्ण पद को सम्प्राप्त होता है।

(१४) पूर्वधरलब्धि—प्रस्तुत लब्धि से चौदह पूर्व का ज्ञान होता है या कम से कम ९ पूर्व की तीसरी आचार वस्तु का ज्ञान होता है।

(१५) अर्हत्लब्धि—इससे केवलज्ञान प्राप्त होता है। पर सभी केवली

अर्हन्त नही होते। जिन केवलज्ञानियों को अर्हत लब्धि प्राप्त होती है वे ही अरिहन्त होते हैं। (अरिहन्त=तीर्थंकर)

(१६) चक्रवर्तीलब्धि—प्रस्तुत लब्धि से चौदह रत्न उपलब्ध होते हैं जिससे वह षट्खण्ड पर विजय वैजयन्ती फहराता है।

(१७) बलदेवलब्धि—प्रस्तुत लब्धि वाले को १० लाख अष्टापद का बल प्राप्त होता है।

(१८) वासुदेवलब्धि—प्रस्तुत लब्धि वाला २० लाख अष्टापद-बल का स्वामी होता है। वह महापराक्रमी होता है और तीन खंड धरा का अधिपति बनता है।

(१९) क्षीरमधुसर्पिरास्रवलब्धि—प्रस्तुत लब्धि वाले के वचन श्रवण करने वाले को दूध के समान, मधु के समान और घी के समान मधुर और सरस प्रतीत होते हैं।

(२०) कोष्ठबुद्धिलब्धि—जिस प्रकार कोष्ठ में डाला हुआ धान्य चिर काल तक ज्यों का त्यों रहता है वैसे ही प्रस्तुत लब्धिधारी व्यक्ति की बुद्धि सूत्र और अर्थ को ज्यों का त्यों धारण कर लेता है। आधुनिक युग में उसकी बुद्धि की तुलना किसी अंश तक टेपरिकार्डर के साथ की जा सकती है।

(२१) पदानुसारीलब्धि—प्रस्तुत लब्धि से सूत्र के एक पद का श्रवण करने मात्र से ही सम्पूर्ण पदों का परिज्ञान हो जाता है।

(२२) बीजबुद्धिलब्धि—प्रस्तुत लब्धि के प्रभाव से एक सूत्र के अर्थ के प्रधान शब्द को श्रवण कर सम्पूर्ण अर्थ का ज्ञान हो जाता है। जैसे गणधर उप्पन्नेइ वा विगमेइ वा धुवेइ वा इन तीन पदों का श्रवण कर द्वादशांगी का ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं।

(२३) तेजोलब्धि—प्रस्तुत लब्धि से आत्मा की तेजशक्ति जाग्रत होती है। यह लब्धि छह माह तक निरन्तर छट्ठ छट्ठ तप करने से प्राप्त होती है।

(२४) आहारकलब्धि—चौदह पूर्वधारी मुनि इसे प्राप्त कर सकता है। किसी के पूछने या स्वयं के मानस में ही किसी तत्त्व के विषय में संशय उत्पन्न होने पर इस लब्धि का धारक अपने आत्म प्रदेशों से एक स्फटिक-सा उज्ज्वल एक हाथ का पुतला बनाकर तीर्थंकर के पास भेजकर उनसे समाधान प्राप्त कर लेता है तथा प्रश्नकर्त्ता को उत्तर दे देता है।

(२५) शीतल-तेजोलब्धि—यह तेजोलब्धि का प्रतिरूप लब्धि है।

इसका धारक करुणा भरी दृष्टि से निहारकर समस्त जीवों की रक्षा करता है। इसके द्वारा तेजोलेश्या के प्रभाव को भी नष्ट किया जा सकता है।

(२६) वैक्रियदेहलब्धि—इस लब्धि का धारक अपने शरीर के सैकड़ों रूप बना लेता है और सैकड़ों स्थान पर एक साथ दिखाई पड़ सकता है।

(२७) अक्षीणमहानसलब्धि—इस लब्धि के प्रभाव से थोड़े से भोजन से ही लाखों प्राणियों को भोजन कराया जा सकता है। यह प्रक्रिया तब तक चलती रहती है जब तक लब्धिधारी उसमें से कुछ न खाए। उसके एक ग्रास भी ले लेने पर भोजन समाप्त हो जाता है।

(२८) पुलाकलब्धि—यह लब्धि केवल मुनि को ही प्राप्त होती है और इसके प्रभाव से समृद्धि व बल प्राप्त कर वह चक्रवर्ती की विराट सेना का भी पराभव कर सकता है।

उपर्युक्त सभी लब्धियाँ चारित्र और तप के द्वारा प्राप्त की जा सकती हैं। वस्तुतः कर्म निर्जरा ही तप का मूल फल है जिससे आत्म शक्ति विकसित होती है।

औपपातिक सूत्र में[1] श्रमणों की आध्यात्मिक शक्तियों का वर्णन करते हुए बताया है कि वे महान शक्तिसम्पन्न होते हैं। यदि मन में यह संकल्प कर कि इस व्यक्ति को अमुक वस्तु की उपलब्धि हो जाय तो उनके संकल्प करने मात्र से ही उसे वह वस्तु उपलब्ध हो जाती है। यदि मुनि यह सोचे कि आकाश से स्वर्ण और रजत की वृष्टि हो तो पलक झपकते ही स्वर्ण और रजत की वृष्टि हो जाती है।

पातंजल योगदर्शन में[2] भी योगी को अणिमा, महिमा, लघिमा, गरिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशत्व और वशित्व अष्ट विभूतियाँ प्राप्त बताई हैं जिनका समावेश लब्धियों में किया जा सकता है।

यह ध्यातव्य है कि तप का सीधा फल लब्धियाँ नहीं हैं। उसका वास्तविक फल तो कर्म निर्जरा है किन्तु तप के दिव्य प्रभाव से लब्धियाँ सहज मिल जाती हैं। जैसे पौष्टिक आहार से शरीर में स्फूर्ति का संचार होता है, रक्त और मांस में वृद्धि होती है वैसे ही तप से तेज प्रकट होता है

---

१ अप्पणस्या मणेण सावाणुग्गह समत्था ... आगासाइवाइणो।
—औपपातिक सूत्र १५

२ योगसूत्र विभूतिपाद सू० २६

पर लब्धिया के लिए तप नही करना चाहिए। तप तो कामना से रहित होकर ही करना चाहिए। यदि तप से लब्धियाँ मिल भी गई तो उन्हे प्रकट नही करना चाहिए। लब्धिया का प्रयोग अप्रमत्त स्थिति म नही होता वह तो प्रमत्त स्थिति म ही होता है। और जहाँ प्रमाद है वहाँ कमबन्धन है। जो साधक लब्धि का प्रयोग करने के बाद आलोचना नही करता है वह विराधक होता है। लब्धि का प्रयोग या तो प्रदशन के रूप म या प्रतिष्ठा के लिए या कषाय के वशीभूत किया जाता है। लब्धिवन्त होना आवश्यक है पर लब्धि का प्रयोग करना आवश्यक नही। यदि विशेष परिस्थिति म लब्धि का उपयोग करना अनिवाय हो ही जाय तो अत्यन्त विवेक की आवश्यकता है।

बौद्ध दृष्टि से तप

जन साहित्य की भाँति बौद्ध साहित्य मे तप का व्यवस्थित वर्गीकरण नही मिलता। मज्झिमनिकाय के कन्दरक सुत्त म एक वणन है कि तथागत बुद्ध ने अपने उपासको को चतुथ प्रकार के तप को धारण करने के लिए उत्प्रेरित किया था। उन्होने कहा था—इस प्रकार का तप करना चाहिए जिससे न स्वय को और न दूसरो को ही कष्ट हो। तथागत बुद्ध मध्यम माग के उपदेष्टा थ। इसलिए बुद्ध के तप का तात्पय है कि प्रतिपल प्रति क्षण चित्तविशुद्धि के लिए प्रयत्न करो। जिस प्रयास से चित्तशुद्धि होती है, वही तप है। अनशन तप के सम्बन्ध मे जिस तरह जन परम्परा म लम्बे तप के उल्लेख मिलते है वसे बौद्ध साधको के नही मिलते। बुद्ध ने अपने शिष्यो को एक बार भोजन करने के लिए कहा। उन्होने एक दिन में अनेक बार भोजन करने का निषेध किया। साथ ही बौद्ध श्रमणो के लिए रस म आसक्ति रखने का भी निषेध किया।

बौद्ध साहित्य के अध्ययन से यही भी ज्ञात होता है कि तथागत बुद्ध ने अपने साधना काल के प्रारभ मे छ वष तक बहुत ही उग्र तप की साधना की थी[1] जिससे उनका शरीर अत्यन्त कृश हो गया था। उन्होने केश लुचन आदि भी किया था। पर अनशन तप से उनके अन्तर्मानस म शाति नहीं आई और न उन्हें बोध ही प्राप्त हुआ जिससे उस तप के प्रति जिस प्रकार की निष्ठा अपेक्षित है, वह उनमे नही रही। उन्होने उग्र तप का अवश्य ही निषेध किया और जन परम्परा मे प्रचलित तप का उपहास भी

---

१ मज्झिमनिकाय

किया किन्तु सर्वथा तप का निषेध नहीं किया। उन्होंने चार सर्वश्रेष्ठ मंगल[1] माने हैं उनमें तप को भी एक मंगल माना और उसे तप का सर्वप्रथम स्थान दिया। तथागत बुद्ध ने कहा—'मैं श्रद्धा का बीज वपन करता हूँ और तप की उस पर वृष्टि होती है।'[2] एक बार बुद्ध ने राजा बिम्बसार से कहा—'मैं तपस्या करने के लिए जा रहा हूँ, क्योंकि उस मार्ग में मेरा मन रमता है।'

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि बुद्ध ने तप का सर्वथा निषेध नहीं किया है पर उनका स्पष्ट मानना था कि किसी तप या व्रत के करने से किसी के कुशल धर्म बढ़ते हों, उनमें अभिवृद्धि होती हो और अकुशल धर्म घटते हों तो उसे अवश्य ही तप और व्रत करने चाहिए[3]। डा० राधाकृष्णन ने[4] लिखा है—'बुद्ध ने कठोर तपश्चर्या की आलोचना की है तथापि यह आश्चर्य है कि बौद्ध श्रमणों का अनुशासन किसी भी ब्राह्मण ग्रन्थ में वर्णित अनुशासन से कम कठोर नहीं है।' यद्यपि मज्झिमनिकाय में तथागत बुद्ध निर्वाण की उपलब्धि तपश्चर्या के अभाव में भी मानते हैं तथापि व्यवहार पक्ष में तप उनके अनुसार आवश्यक प्रतीत होता है। संयुत्तनिकाय में कहा है कि तप और ब्रह्मचर्य बिना पानी का अंतरंग स्नान है[6] जो जीवन के विकारों के मल को धोकर साफ कर देता है।

वैदिक धर्म की दृष्टि से तप

वैदिक साहित्य में तप का अनेक स्थलों पर प्रतिपादन हुआ है। वहाँ यत्र-तत्र उल्लेख है—तप से जीवन तेजस्वी, ओजस्वी और प्रभावशाली बनता है। वैदिक संहिताओं में तप के अर्थ में 'तेजस्' शब्द व्यवहृत हुआ है। जीवन को तेजस्वी और वर्चस्वी बनाने के लिए तपस् की साधना के लिए प्रेरणा दी गई है। शतपथ ब्राह्मण में[7] कहा है—तपस्वी तेजस्वी

---

१ महामंगल सुत्त

२ 'सद्धा बीजं तपो वुट्ठि' —कासी भारद्वाज सुत्त

३ सुत्तनिपात पब्बज्जासुत्त

४ अंगुत्तरनिकाय—निम्बिद्ध सुत्त

५ Indian Philosophy भाग १ page 436

६ तपो च ब्रह्मचरियं च तं सिनानमनोदकं। —संयुत्तनिकाय १।१।११

७ तपसा वै लोकं जयन्ति। —शतपथ ब्राह्मण ३।४।४

से मानव संसार में विजयश्री का वरण करता है और समृद्धि उसके चरण चूमने के लिए लालायित रहती है।

कृष्ण यजुर्वेद तैत्तिरीय ब्राह्मण[1] में उल्लेख है कि प्रजापति के अन्तर्मानस में ये विचार लहरियाँ उद्बुद्ध हुई कि इस विश्व में कुछ भी नहीं है, न स्वर्ग है न पृथ्वी है और न अन्तरिक्ष ही है। इस असत् को सत् रूप में बनाया जाय। अतः प्रजापति ने तप किया। तप के दिव्य प्रभाव से पहले धुआँ पैदा हुआ। पुनः तप किया जिससे दिव्य ज्योति प्रकट हुई और पुनः तप किया जिससे ज्वाला प्रकट हुई और उस ज्वाला का भव्य आलोक चारों ओर फैलने लगा। उसके बाद समुद्र और अन्य सारी सृष्टि समुत्पन्न हुई। इससे स्पष्ट है कि प्रजापति में सृष्टि रचना की अपूर्व शक्ति तप के द्वारा प्राप्त हुई थी।

ऋषियों ने कहा है—तप ही मेरी प्रतिष्ठा है।[2] श्रेष्ठ और परम ज्ञान तप से ही प्रकट होता है।[3] जो तपता है और अपने कर्तव्य में संलग्न रहता है वह संसार में सर्वत्र यश को संप्राप्त होता है।[4] ब्रह्मचर्य और तप से देवताओं ने मृत्यु पर विजय वैजयन्ती फहराई।[5] सामवेद में[6] कहा है—तपस व तेज के द्वारा देवताओं ने दुष्ट और धूर्त राक्षसों को जीत लिया। उन्हें पराजित कर दिया। तप से ही ब्रह्मज्ञान और परमात्मपद प्राप्त होता है।[7] तप ही ब्रह्म है।[8] धर्म के जितने भी अंग हैं चाहे वह ऋतु हो, चाहे वह सत्य हो, चाहे वह तप हो चाहे श्रुत हो चाहे वह शान्ति हो और चाहे दान हो, वे सभी तप के ही अंग हैं।[9] तप से आत्मा का साक्षात्कार किया

---

१ इदं वा अग्रेनैव किंचनासीत् न द्यौ नासीन्न पृथिवी नान्तरिक्षम् तदसदेव सन्मनोऽकुरुत स्यामिति तत्तपोऽतप्यत। तस्मात्तपेनाद् धूमोऽजायत। तद्भूयोऽतप्यत

—कृष्ण यजुर्वेद तैत्तिरीय ब्राह्मण २।२।६

२ तपो मे प्रतिष्ठा। —तैत्तिरीय ब्राह्मण ३।७।७०

३ श्रेष्ठो वेदस्तपसोऽधिजातः। —गोपथ ब्राह्मण १।१।६

४ योऽग्नौ तपति स वै शमति। —गोपथ ब्राह्मण २।५।१४

५ ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमुपाघ्नत। —अथर्ववेद ११।५।१६

६ निरविन्दन्नमृतमा स्त्रागो दह। —सामवेद पूर्वार्चिक १।१।१।१०

७ तपसा चीयते ब्रह्म। —मुण्डक उपनिषद् १।१।८

८ तपो ब्रह्मेति —तैत्तिरीय आरण्यक ९।२

९ ऋतं तपः सत्यं तपः श्रुतं तपः शान्तं तपो दानं तपः॥

—तैत्तिरीय आरण्यक १०।८

जा सकता है।[1] स्वर्गप्राप्ति के सात द्वार बताये हैं। उनमें प्रथम द्वार तप है।[2] तप को केन्द्र बनाकर ही धर्म विकसित हुआ है। ऐसा कोई भी कठिन से कठिन कार्य भी नहीं है जो तप से उपलब्ध न हो।[3] तप में वह शक्ति है वह सामर्थ्य है कि उससे जो भी चाहे वह प्राप्त किया जा सकता है।

इस तरह यत्र-तत्र तप की प्रशंसा के गीत मुक्त कण्ठ से गाये गये हैं।

आयुर्वेद की दृष्टि से तप

तप से तन की विशुद्धि होती है। शरीर में रक्त का संचार सही रूप से होता है। पाचन क्रिया ठीक न होने पर अनेक बीमारियाँ उत्पन्न होती हैं। यदि किसी व्यक्ति को कब्ज होती है तो उसकी अग्नि मन्द हो जाती है और गैस आदि अनेक बीमारियाँ उसके कारण उत्पन्न हो जाती है। जब साधक तप करता है तो पेट के सभी यन्त्रों को विश्रान्ति मिल जाती है। नवीन अन्न ग्रहण न करने से जो पहले ग्रहण किया हुआ अन्न है उसका पाचन सम्यक् प्रकार से हो जाता है जिससे पुराने दोष नष्ट हो जाते हैं। मल की विशुद्धि होने से नूतन बीमारियाँ नहीं होतीं। यदि पुराना मल पेट में जमा है तो वह मल भी तप से भस्म हो जाता है।

किंवदन्ती है कि देवताओं के वैद्य अश्विनीकुमार ने एक बार एक अद्भुत योगी का रूप बनाया और महान् चिकित्सक आचार्य वाग्भट के पास पहुँचे और उससे पूछा—"वैद्यप्रवर! ऐसी कौन सी औषध है जो न पृथ्वी पर पैदा होती है न पवन में लगती है और न जल में ही पैदा होती है जिसमें किसी भी प्रकार का रस नहीं है तथापि वह शरीर के लिए अत्यन्त हितकर है।"[4] वाग्भट ने चिन्तन के सागर में डुबकी लगाई और कहा—आयुर्वेद में एक महान् औषध है जो न भूमि पर पैदा होती है न पर्वत पर और न जल में ही। उस औषध का नाम है—'लंघन'।[5] योगी उस उत्तर को सुनकर प्रसन्न मुद्रा में वहाँ से प्रस्थित हो गया।

---

१ सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा। —मुण्डक उपनिषद् ३।१
२ महाभारत शान्तिपर्व १०।२२
३ मनुस्मृति ११।२२९
४ अभूमिजमनाकाशं पथ्यं रसविवर्जितम्।
सम्भवं सर्वशास्त्राणां वद वैद्य किमौषधम्?॥
५ अभूमिजमनाकाशं पथ्यं रसविवर्जितम्।
पूर्वाचार्यैः समाख्यातं लंघनं परमौषधम्॥

इससे यह सिद्ध है कि आयुर्वेद की दृष्टि से भी तप (अनशन) का गहरा महत्त्व रहा है।

प्राकृतिक चिकित्सा की दृष्टि से तप

आधुनिक युग में प्राकृतिक चिकित्सा पद्धति जन मन प्रिय बन रही है। प्राकृतिक चिकित्सा में औषध आदि का उपयोग नहीं होता तथा उपवास के द्वारा शारीरिक शुद्धि करायी जाती है। इस पद्धति में पुराने रोगों को नष्ट करने और शारीरिक शुद्धि के लिए उपवास आवश्यक माना गया है। डा० शरणप्रसाद जो प्राकृतिक चिकित्सक हैं उनका अभिमत है कि उपवास में सादे पानी के अतिरिक्त कोई भी वस्तु नहीं लेनी चाहिए। निंबू या संतरे का थोड़ा सा रस या शहद मिला हुआ पानी आदर्श कोटि में नहीं आता। वह उपवास नहीं किन्तु रसाहार है। उपवास काल में पान, सुपारी सौंफ लौंग आदि का भी उपभोग नहीं करना चाहिए। बीड़ी तंबाकू का सेवन तो उपवास में पूर्णतया निषिद्ध है ही। यदि उपवास में इन व्यसनों का सेवन किया जाता है तो शरीर को अत्यधिक हानि होती है। उपवास में मधुर और हल्का पानी ही हितकर है। यदि भारी पानी है तो उसे उबालकर ठण्डा करके या गुनगुना पानी उपयोग में लाने से वह सुपाच्य बन जाता है।[1]

प्राकृतिक चिकित्सा में पहले चिकित्सक उपवास में निंबू शहद आदि का उपयोग करना आवश्यक मानते थे पर ज्यों-ज्यों अनुसंधान हो रहा है त्यों त्यों वे इस निश्चय पर पहुँच रहे हैं कि उपवास में केवल गरम पानी के अतिरिक्त कुछ भी नहीं लेना चाहिए।[2] उनका यह अभिमत है—जब भी शरीर में भारीपन महसूस हो दर्द या अपच अथवा ज्वर आदि की स्थिति में शीघ्र उपवास कर लेना चाहिए। उपवास से शरीर में निरुपयोगी या गन्दे जो कण हैं वे शीघ्र ही बाहर निकल जाते हैं और शरीर स्वस्थ हो जाता है। उपवास से तन में जो रक्त कणों की कमी होती है वह वह कमी भी शनै शनै पूरी जाती है। उपवास से रक्त के श्वेतकण (white corpsules) क्रमशः घटने लगते हैं और लाल कण (red corpsules) बढ़ने लगते हैं। शरीर में जो अधिक मात्रा में शक्कर होती है वह भी जलकर नष्ट हो जाती है।

---

१ 'उपवास पृ० ३१

२ 'उपवास पृ० ११०

यह सत्य है कि उपवास के प्रारम्भिक काल में शरीर-यन्त्र शुद्धि प्रारम्भ करता है और शरीर में रहे हुए पुराने दोष बाहर निकलते हैं। दोष मूत्र के द्वारा बाहर आते हैं। गुर्दे मूत्र के द्वारा अन्दर में रहा हुआ कूड़ा बाहर फेंकता है। जब सफाई हो जाती है तब मूत्र आदि में भी स्वाभाविकता आ जाती है। शरीर में जो आम्लता बढ़ी होती है वह भी उपवास से कम हो जाती है। कितने ही व्यक्तियों को उपवास काल में सिरदर्द, कमर दर्द, बेचैनी व घबराहट अधिक मात्रा में होती है और वे यह समझते हैं आम्लता में वृद्धि हो रही है पर वास्तविकता यह है कि यह शरीर के शुद्ध होने के लक्षण हैं।

जितना अधिक भोजन किया जाएगा उतना ही शरीरयन्त्रों को पचाने के लिए श्रम करना पड़ेगा। उपवास में जब भोजन बन्द कर दिया जाता है तब शरीर के पाचन संस्थान आदि सभी को विश्रान्ति मिलती है। परिणामस्वरूप शरीर में जमा हुआ विष बाहर निकल जाता है। डा० जे एच टिलडेन[1] का अभिमत है 'मैं निस्सन्दिग्ध रूप में कह सकता हूँ कि शरीर के दूषित पदार्थों को निकालने के लिए उपवास से बढ़कर दूसरी कोई चिकित्सा नहीं है यही एक विशिष्ट और विश्वसनीय उपचार है।' डा० फ्रेंक एम एल आसवाल्ड का अभिमत है—शरीर की भीतरी सफाई के लिए उपवास सब से उत्तम तरीका है। सालभर में केवल तीन दिन के उपवास से शरीर की सफाई करने और विषैले पदार्थों को नष्ट करने में जितनी सफलता मिल सकती है उतनी सफलता रक्तशोधक कड़वी औषधियों की सैकड़ों बोतलों के सेवन से भी नहीं पाई जा सकती।

शरीर के प्रत्येक अवयव में नित नये कोषों का निर्माण होता है। जितना अधिक शारीरिक श्रम किया जाता है श्रम के अनुपात से कोष नष्ट होने की गति में भी अभिवृद्धि हो जाती है। बाल्यकाल से कोशों में अभिवृद्धि होती है। प्रौढ़ अवस्था में कोशों की वृद्धि रुक जाती है और वे स्थिर हो जाते हैं। रुग्णावस्था में कोशों की मात्रा घटने लगती है। उपवास से शरीर में शुद्धि होती है जिससे कोशों की मात्रा घटनी कम हो जाती है। उपवास काल में शरीर में से चर्बी कोषों की मात्रा कम होती है। चर्बी की मात्रा कम होने से शरीर के विभिन्न अवयवों को संचालित करने की अधिक शक्ति प्राप्त होती है। चर्बी कम हो जाने से शरीर में स्फूर्ति और

---

१ उपवास से जीवन रक्षा, पृ० ३२-३३

शक्ति का अभिनव संचार होता है। उपवास काल म मस्तिष्क म चिन्तन शक्ति बढ जाती है, विचारो म स्फुरणाएँ होने लगती हैं। उपवास में समय अधिक श्रम नही करना चाहिए। विश्रान्ति लेने से शरीर म स्फूर्ति का अनुभव होगा। स्फूर्ति और मन म उत्साह होने पर भी विश्रान्ति लेनी चाहिए। कभी-कभी उपवास काल म रोग उभर आते हैं। पर घबराने की आवश्यकता नहीं।

वनानिक दृष्टि से भी उपवास म बहुत लाभ है। वैज्ञानिकों का मानना है कि शरीर का आभ्यन्तर यन्त्र रबड की नलिया क सदृश है। जो व्यक्ति अधिक भोजन करता है उसकी वह नली फल जाती है। नली के फैल जाने से रक्त की जो स्वाभाविक क्रिया होनी चाहिए उसम व्याघात होता है। जब उपवास किया जाता है तो भोजन न ग्रहण करने से नलियाँ सिकुडकर अपनी स्वाभाविक स्थिति म आ जाती हैं। रक्त म से व्यर्थ का पानी निकल जाता है और रक्त गाढा बन जाता है जिससे शरीर म हलकापन अनुभव होता है। किन्तु शीघ्र ही नलिकाओ की दीवार से पुराना श्लेष्म निकलकर रक्त म मिल जाता है जिससे व्यक्ति को बेचनी का अनुभव हो सकता है पर जब श्लेष्म पेशाब के द्वारा बाहर निकल जाता है तो बेचैनी व घबराहट मिट जाती है। यही कारण है कि उपवास क पाँचवे छठे दिन की अपेक्षा बीसवें-पच्चीसवे दिन अधिक शक्ति का अनुभव होता है। शरीर म से दोष निकल जाने के कारण स्वस्थता म अभिवृद्धि हो जाती है।

तप क लिए शरीर बल की अपेक्षा मन म अधिक बल चाहिए। जिसका मन सुन्ढ है भले ही उसका शारीरिक बल कमजोर हो किन्तु वह साहस के साथ तपश्चर्या म अपने आपको लगा सकता है।

उपयु क्त पक्तियो म जन बौद्ध और वदिक दृष्टि तथा आयुर्वेद एव प्राकृतिक चिकित्सा आदि की दृष्टि से 'तप शब्द क महत्त्व और उसकी जीवन म आवश्यकता इस पक्ष पर हमने विचार व्यक्त किय हैं। जन धम का यह स्पष्ट मन्तव्य है कि जो भी तप किया जाय उसम किसी भी वस्तु की कामना नहीं होनी चाहिए। मैं अमुक तप कर रहा हूँ उस तप के फल स्वरूप मुझ अमुक वस्तु की उपलब्धि हो या मुझ सम्पत्ति प्राप्त हो, सुख प्राप्त हो—इस प्रकार की कामना को तप का शल्य माना है। इस प्रकार भविष्य मे भौतिक सुख फल आदि की आकाक्षा करना तप रूपी बहुमूल्य हीरा को कंकड-पत्थर क रूप म बेचना है। यह निदान है। उसम तीव्र

लालसा रहती है उससे साधना विराधना म परिवर्तित हो जाती है। जन धम म ही नही वदिक धम के सुप्रसिद्ध ग्रन्थ गीता म[1] भी साधक को निस्पृह भाव से तप करन के लिए कहा है। तथागत बुद्ध न भी वितृष्णा को ही परम मोक्ष कहा है। जो साधक इस प्रकार कामनारहित तप करता है उसका तप ही प्रशस्त तप है।

तप के लिए यह बहुत ही आवश्यक है कि तप विवेकपूर्वक हो। जिस तप म विवक का अभाव है वह तप वास्तविक तप नहीं है। विवेकी साधक आत्मा को शरीर से पृथक् मानता है। आत्मा पर जो कर्म-परमाणु लगे हुए हैं तप से उन दलिको को हटाया जाय। यदि साधक म विवेक का अभाव है तो उसका वह तप बाल-तप ह अज्ञान-तप ह। अज्ञानी साधक हजारो वर्षो तक उत्कृष्ट तप की साधना करके जितन कर्मों को नष्ट करता ह उतने कर्मों को ज्ञानी साधक एक क्षण म नष्ट कर देता ह।[2] भगवान महावीर और पार्श्वनाथ क युग म हजारो साधक बाल-तप करते थे। उनके तप का जन मानस पर काफी प्रभाव भी था किन्तु महावीर और पार्श्वनाथ न उस तप की अयथार्थता बताते हुए कहा—कि तुम तप से केवल शरीर को कृश करने का ही प्रयास न करो, किन्तु कषाय को कृश करने का प्रयत्न करो।[3] यदि कषाय क्षीण नही हुआ है तो तन को क्षीण करने से कोई लाभ नही। आचारांगनियुक्ति मे आचार्य भद्रबाहु न कहा[4]—केवल तप से मोक्ष नही होता। क्योकि तप साधन ह और मोक्ष साध्य ह। जिस साधना से साध्य की उपलब्धि नही होती उस साधना को करने म लाभ ही क्या ह? भले ही उस बाल तप से स्वर्गीय वैभव प्राप्त हो जाय किन्तु आत्मदर्शन नही हो सकता और न कर्म बधन से साधक मुक्त ही होता है। यदि उसे लब्धि प्राप्त हो भी गई तो वह उस लब्धि का दुरुपयोग कर नवीन कर्म बधन करता है। अत तप विवेकपूर्वक होना चाहिए और वही तप अपना दिव्य प्रभाव दिखाता है।

---

१ (क) गीता २।७१

(ख) कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।

२ ज अन्नाणी कम्म खवेइ भवसय-सहस्स कोडीहिं।
त नाणी तिहि गुत्तो, खवेइ उस्सासमेत्तेण॥ —प्रवचनसार ३।३८

३ कसाहि अप्पाण जरेहि अप्पाण॥ —आचाराग १।४।३

४ न हु बालतवेण मुक्खु त्ति॥ —आचाराग निर्युक्ति

तप के विविध प्रकार

जन आगम साहित्य मे तप को मुख्य रूप से दो भागो म विभक्त किया है—(१) बाह्य तप (२) आभ्यन्तर तप।

जिस तप म शारीरिक क्रिया की प्रधानता होती है और जो बाह्य द्रव्यो की अपेक्षायुक्त होने से दूसरो को दृष्टिगोचर होता है वह बाह्य तप है। जिस तप मे मानसिक क्रिया की प्रधानता होती है, अतएव क्रिया की परिशुद्धि मुख्य रूप से होती है और जो मुख्य रूप से बाह्य द्रव्यो की अपेक्षा न रखने के कारण दूसरो को दिखाई नही देता वह आभ्यन्तर तप है।

यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि बाह्य तप और आभ्यन्तर तप का जो वर्गीकरण किया गया है वह साधक को समझाने की दृष्टि से है। किन्तु बाह्य और आभ्यन्तर दोनो ही प्रकार के तपो का लक्ष्य आत्मशोधन ही है। बाह्य तप मे शारीरिक क्रिया की प्रधानता होने के बावजूद भी उसम अन्तर्मन मिला हुआ होता है। अत बाह्य तप का भी उतना ही महत्त्व है जितना आभ्यन्तर तप का है। दोनो एक दूसरे के पूरक हैं। जो यह समझते हैं कि आभ्यन्तर तप के सामने बाह्य तप बिलकुल नगण्य है, उन्ह यह चिन्तन करना चाहिए कि तीर्थंकर आदि महापुरुष बाह्य तप का आचरण क्या करते रहे ? जसे स्वर्ण को पहले तपाकर शुद्ध किया जाता ह और उसके बाद उस पर पालिश करते हैं इसी तरह बाह्य तप से पहले शारीरिक और मानसिक शुद्धि होती ह और फिर आभ्यन्तर तप से साधना म निखार आता ह। यदि बाह्य तप के साथ आभ्यन्तर तप नही ह तो वह तप केवल शरीर को क्षीण करेगा वासना कषाय और अहकार को क्षीण नही करेगा। जिस तप से कषाय वासना क्षीण होती ह वही वस्तुत तप ह।

बाह्य तप का महत्त्व एक दृष्टात से भी समझा जा सकता ह। मान लीजिए आपको घी मक्खन आदि गम करके शुद्ध करना ह उसका मल निकालना ह तो आप उसे किसी बरतन मे रखकर ही गरम कर सकते हैं और उसकी अशुद्धि दूर कर सकते हैं। यहाँ जो महत्त्व बरतन को गरम करने का है वही महत्त्व बाह्य तप का ह। बाह्य तप किये बिना आत्म शोधन की क्रिया पूर्ण नही हो सकती।

मन में पवित्रता आती है और शरीर में अपार तेज प्रकट होता है।

मैत्रायणी आरण्यक[1] में ऋषि ने यह स्पष्ट आघोष किया है कि अनशन से बढकर इस संसार में कोई बड़ा तप नहीं है। सामान्य मानव के लिए तो यह तप करना बड़ा ही कठिन है। कठिन ही नहीं, कठिनतम है। यह एक प्रकार से अग्निस्नान है जिससे समस्त पापमल नष्ट हो जाते हैं और उसकी साधना इस तप के दिव्य प्रभाव से निखर उठती है।

अनशन तप वही साधक कर सकता है जिसका शरीर के प्रति ममत्व कम हो। तपस्वी को न अपने तन पर मोह रहता है न अपने प्राण पर ही और न जीवन के प्रति ही आसक्ति होती है। अनशन तप से शारीरिक लाभ स्वतः होते हैं। उसके लिए साधक तप नहीं करता। उपवास का मूल उद्देश्य है आत्मा को निर्मल बनाना।

एक साधक ने भगवान महावीर से जिज्ञासा प्रस्तुत की—'भगवन्! एक श्रमण उपवास करता है उस उपवास से कितने कर्म नष्ट होते हैं?'

भगवान ने समाधान देते हुए कहा—'एक उपवास से श्रमण उतने कर्म खपा लेता है जितने कर्म नरयिक जीव हजारों वर्षों तक अपार कष्ट सहन करके भी नहीं खपा सकता। दो दिन की तपस्या में उतने कर्म नष्ट करता है जितने कर्म नरयिक जीव लाखों वर्षों में भी नहीं कर पाता। तीन दिन के उपवास में उतने कर्म नष्ट कर देता है जितने कर्म नरयिक जीव करोड़ों वर्षों में नष्ट नहीं कर पाते।'[2]

इससे स्पष्ट है कि तप से कितने कर्म नष्ट होते हैं।

अनशन तप में अशन का त्याग तो किया ही जाता है इसके साथ ही कषायों का और विषयवासना का भी त्याग किया जाता है। अनशन के समय ब्रह्मचर्य का पालन स्वाध्याय और स्व-स्वरूप का चिन्तन करना चाहिए। कठोर वचन बोलकर किसी का तिरस्कार करना किसी की निन्दा और भर्त्सना करना आदि निषिद्ध है। आचार्य धर्मदासगणी[3] ने

---

१ नानशनात् परं तपः। यद्धि परं तपस्तद् दुर्धर्षम् तद् दुराधर्षम्।
—मैत्रायणी आरण्यक १०/११

[2] भगवती १६ उ० ४

[3] अहिंसकरणं ... मालवा ।
... य सामर्थ्य ॥ —उपदेशमाला [illegible]

लिखा है—यदि कोई साधक किसी का कठोर वचन कहता है तो उसके एक दिन का तप नष्ट हो जाता है। यदि वह किसी की निन्दा करता है, किसी का अपमान करता है और किसी के मर्म को उद्घाटित करता है तो उसके एक माह के तप का जो प्रवल पुण्य है वह नष्ट हो जाता है। यदि किसी को शाप दिया जाता है तो एक वर्ष का तप नष्ट हो जाता है। अतः साधक को सतत सावधानी रखनी चाहिए।

अनशन तप के मुख्य दो भेद हैं[1]—(१) इत्वरिक—कुछ निश्चित समय के लिए आहारादि का त्याग करना (२) यावत्कथिक—जीवनपर्यन्त के लिए आहार आदि का त्याग करना। इत्वरिक तप में निश्चित समय के पश्चात् आहार की आकांक्षा विद्यमान रहती है। इत्वरिक तप उत्कृष्ट छः मास का होता है क्योंकि भगवान महावीर के शासनकाल में छः मास से अधिक तप का नहीं हुआ है। स्वयं भगवान महावीर ने छः माह का तप किया था। भगवान ऋषभदेव ने एक वर्ष तक का तप किया था और अन्य बाईस तीर्थकरों के शासनकाल में उत्कृष्ट तप आठ मास का रहा। इसीलिए उनके शासनकाल में एक वर्ष या आठ मास की सीमा रही है। तात्पर्य यह है कि जिस तीर्थंकर के शासनकाल में जो उत्कृष्ट तप हो उसी को इत्वरिक तप की काल सीमा मानी है।[2]

इत्वरिक तप में श्रेणी तप, प्रतर तप, घन तप, वर्ग तप, वर्ग वर्ग तप और प्रकीर्ण तप—ये छः प्रकार का तप संक्षेप में आता है।[3] प्रकीर्ण तप[4] में नवकारसी, पौरसी, पूर्वार्द्ध, एकासन, एकस्थान, आयंबिल, दिवसचरिम, रात्रिभोजन त्याग, अभिग्रह, चतुर्थ भक्त उपवास—ये दस प्रकार के तप आते हैं। इनके साथ ही कनकावली[5], एकावली[6], महासिंह निष्क्रीडित[7], भिक्षु भद्रप्रतिमा, भिक्षु महाभद्र प्रतिमा[8], सर्वतोभद्र प्रतिमा[9], आयंबिल वर्द्धमान, मासिकी भिक्षु प्रतिमा, द्विमासिकी भिक्षु प्रतिमा, त्रिमासिकी यावत् षट् मासिकी भिक्षु प्रतिमा, प्रथम सप्त अहोरात्रि प्रतिमा, एकरात्रि प्रतिमा[10]

---

१ (क) भगवती २५-७ (ख) उत्तराध्ययन ३०-९
२ आवश्यक नियुक्ति
३ उत्तराध्ययन ३०/१०-११
४ उत्तराध्ययन बृहद्वृत्ति पत्र ६०१
५ अन्तकृतदशा वर्ग ८ अ० ?
६ अन्तकृतदशा व० ८ अ० १
७ वही व० ८ अ० ४
८ प्रवचनसारोद्धार द्वार २७१ पत्र ४३८
९ स्थानांगसूत्रवृत्ति पत्र ६१
१० समवायांग १२ टीका पत्र २१

यवमध्यचन्द्र प्रतिमा[1] वज्रमध्यचन्द्र प्रतिमा[2] इस प्रकार जितने भी तप के प्रकार हैं वे सभी प्रकार इत्वरिक तप के अन्तर्गत आ जाते हैं। भले ही किसी भी प्रकार का तप किया जाय किन्तु उस तप में किसी भी प्रकार की भौतिक कामना नहीं होनी चाहिए। केवल आत्मिक लाभ के लिए ही तप करना जैन परम्परा में इष्ट रहा है।

अनशन का द्वितीय तप यावत्कथिक है। यह यावत्कालिक अनशन जीवन पर्यन्त स्वीकार किया जाता है जिसे संथारा कहा जाता है। संथारा अचानक ही ग्रहण नहीं किया जाता। पहले विविध प्रकार की तप साधना कर शरीर को क्षीण किया जाता है। वह क्षीण करना संलेखना कहलाता है। संलेखना में अनशन से शरीर के साथ साथ कषाय आदि का भी क्षय किया जाता है। संलेखना संथारे की पूर्व भूमिका है जिसमें व्रतों में लगे हुए अतिचारों की आलोचना के साथ तप किया जाता है जिससे दोषों की विशुद्धि होकर आत्मनिर्मलता व समाधि प्राप्त होती है। संलेखना के साथ 'अपश्चिम मारणान्तिकी" शब्द व्यवहृत होता है। उसके पश्चात् अन्य कोई संलेखना नहीं रहती। यह अन्तिम संलेखना होती है जो मृत्युपर्यन्त चलती है। आचार्य समन्तभद्र ने[3] संलेखना का महत्त्व प्रतिपादित करते हुए कहा है—'जीवन में आचरित अनशन आदि विविध तपों का फल है अन्त समय में शुद्ध संलेखना।

संलेखना के सम्बन्ध में विस्तार से इसी खण्ड के अन्तिम अध्याय में विवेचन किया गया है।

(२) ऊनोदरी

द्वितीय तप का नाम ऊनोदरी है। समवायांग[4], भगवती[5] और उत्तराध्ययन[6] में इस तप का ऊनोदरी नाम मिलता है। 'अवमौदरिका' नाम स्थानांग[7] औपपातिक[8] और भगवती[9] में मिलता है। 'अवमौदर्य' नाम उत्तराध्ययन[10] और तत्त्वार्थसूत्र[11] में मिलता है।

१ व्यवहारभाष्य उद्देशक १०
२ (क) व्यवहारभाष्य उ० १० (ख) प्रवचनसारोद्धार द्वार २७१ गा० १५१०
३ रत्नकरण्ड श्रावकाचार श्लोक १२३
४ समवायांग ६
५ भगवती २५-७
६ उत्तराध्ययन ३०-८
७ स्थानांग १८२
८ औपपातिक ३०
९ भगवती २५-७
१० उत्तराध्ययन ३०/१४, २३
११ तत्त्वार्थ सूत्र ९.१९

इस प्रकार ऊनोदरी के तीन नाम आगम साहित्य में मिलते हैं। ऊनोदरी का अर्थ है (ऊन=कम, उदर=पेट) भूख से कम खाना। शब्दों में अंतर होने पर भी तीनों शब्दों का भावार्थ एक ही है।

यह जिज्ञासा हो सकती है कि पूर्णतया आहार का परित्याग करना तो तप है किन्तु भूख से कम खाना कैसे तप हो सकता है? उत्तर में समाधान है कि भोजन के लिए तैयार होकर भूख से कम खाना भोजन करते-करते बीच में ही उसे छोड़ देना बहुत ही कठिन कार्य है। एक दृष्टि से विचार किया जाय तो उपवास करना सरल है किन्तु भोजन सामने आने पर पेट को खाली रखना, स्वाद आते हुए बीच में ही भोजन को छोड़ देना कठिन है। आत्मसंयम और दृढ़ मनोबल के बिना प्रस्तुत तप नहीं किया जा सकता। जिसका शारीरिक संस्थान सुदृढ़ होता है वह उपवास आदि तप कर सकता है। किन्तु ऊनोदरी तप दुर्बल शरीर वाला व्यक्ति भी कर सकता है। ऊनोदरी तप से अनेक रोग भी नष्ट हो जाते हैं।

ऊनोदरी तप में अल्प आहार, परिमित आहार तो किया ही जाता है किन्तु आहार के साथ ही कषाय और उपकरण की भी ऊनोदरी की जाती है। प्रत्येक वस्तु में संयम करना आवश्यकताओं को न्यून करके इच्छाओं का निरोध करना ऊनोदरी तप का उद्देश्य है। इसीलिए स्थानांग में ऊनोदरी तप के तीन भेद किये हैं—(१) उपकरण अवमोदरिका (२) भक्त पान अवमोदरिका और (३) भाव (कषाय-त्याग) अवमोदरिका।[1]

भगवती[2] में द्रव्य ऊनोदरी और भाव ऊनोदरी—ये दो भेद किये गये हैं। उत्तराध्ययन[3] में ऊनोदरी के पांच प्रकार हैं। वे ये हैं—(१) द्रव्य ऊनोदरी—आहार की मात्रा आवश्यकता से कम लेना इसी प्रकार वस्त्र आदि में भी कमी करना। (२) क्षेत्र ऊनोदरी—भिक्षा के लिए स्थान आदि का निश्चय कर वहां से भिक्षा ग्रहण करना। (३) काल ऊनोदरी—भिक्षा के लिए समय निश्चित कर उसी समय भिक्षा ग्रहण करना। (४) भाव ऊनोदरी—भिक्षा के समय अभिग्रह आदि ग्रहण कर भिक्षा के लिए जाना। (५) पर्याय ऊनोदरी—उक्त चारों भेदों को क्रिया रूप में परिणत करना।

उपकरण द्रव्य ऊनोदरी—वस्त्र पात्र कम्बल आदि श्रमण के संयम में

---

१ स्थानांग ३। ३। १८२

२ ओमोयरिया दुविहा दव्वओमोयरिया य भावओमोयरिया।' —भगवती सूत्र

३ उत्तराध्ययन ३०। १४

महात्यागी बनते हैं। अतः उन्हें उपकरण कहा गया है। उपकरणों का मर्यादित करना, अपने पास होने पर भी आवश्यकता से कम वस्त्र, पात्र आदि का उपयोग करना। आवश्यकताएँ जितनी अधिक बढ़ायी जाय उतनी अधिक बढ़ती जाती हैं और जितनी भी कम की जायें उतनी कम हो सकती हैं।

साधक का शरीर मोक्ष साधना के लिए है। जब तक उस शरीर से मोक्ष की साधना होती है तब तक वह उस शरीर की रक्षा करता है। साधक भयंकर सर्दी और गर्मी से बचने के लिए वस्त्र आदि को धारण करता है। लोक लज्जा के कारण शरीर के अंगों को आच्छादित करता है। दंश मशक आदि न काटें इसलिए भी वह वस्त्र को धारण करता है। जब तक संयम यात्रा के लिए वस्त्र आवश्यक होते हैं वहाँ तक वह उन्हें धारण करता है और आवश्यकता न होने पर वह उन्हें छोड़ देता है। संयम यात्रा के लिए आवश्यक होने के कारण उन वस्त्रों की गणना परिग्रह में नहीं की जाती। जिस प्रकार साधना के लिए शरीर आवश्यक है और शरीर रक्षा के लिए भोजन आवश्यक है उसी प्रकार वस्त्र और पात्र भी आवश्यक हैं। भगवती[1] में परिग्रह के—कर्म परिग्रह, शरीर परिग्रह, बाह्य भाण्डमात्र उपकरण परिग्रह—ये तीन प्रकार बताये हैं। जब इन वस्तुओं में मूर्च्छाभाव और ममत्व होता है तो वह परिग्रह कहा जाता है, अन्यथा नहीं। किन्तु संयमी साधक संयम हेतु उपकरण रखता है।

आचारांग आदि में श्रमण के वस्त्र, पात्र आदि उपकरणों की मर्यादा और विधि का निरूपण किया गया है। साधना करने में पूर्ण समर्थ श्रमण के लिए एक वस्त्र और अधिक तीन वस्त्र तथा श्रमणियों के लिए चार वस्त्र एक पात्र व तीन पात्र की मर्यादा है। श्रमण और श्रमणियों के लिए जितने पात्र और वस्त्र की मर्यादा है उस मर्यादा से कम वस्त्र-पात्र रखना—जैसे एक वस्त्र एक पात्र रखना उपकरण ऊनोदरी है।

उपकरण ऊनोदरी श्रमण के लिए ही आवश्यक है यह बात नहीं, गृहस्थ भी इस प्रकार की ऊनोदरी कर सकता है। आज के युग में रंग बिरंगे और विविध डिजाइनों के वस्त्रों को देखकर उन्हें पाने के लिए मन ललचा जाता है और उन्हें प्राप्त करने के लिए वह अनावश्यक रूप में धन का व्यय कर देता है। इस विजनमर्चा में वस्त्रों के लिए ऊनोदरी तप

---

1. भगवती १८-७

क्षण दिया है। इस प्रकार की ऊनोदरी से समाज में सुव्यवस्था स्थापित हो जाएगी।

भक्त-पान ऊनोदरी—जितने भी खान-पान के पदार्थ हैं वे सभी पदार्थ भक्त-पान के अन्तर्गत परिगणित किए जाते हैं। प्रस्तुत तप करने वाला साधक संख्या और परिमाण दोनों दृष्टियों से मर्यादा करता है। पुरुष का पूर्ण आहार बत्तीस ग्रास (कवल) स्त्री का अट्ठाईस कवल और नपुंसक का चौबीस ग्रास माना गया है। अपने आहार से कम आहार ग्रहण करना भक्त पान ऊनोदरी है।

आठ ग्रास खाने वाला अल्पाहारी ऊनोदरी तप करता है बारह ग्रास ग्रहण करने वाला अपार्ध ऊनोदरी तप करता है सोलह ग्रास खाने वाला अर्ध ऊनोदरी तप करता है चौबीस ग्रास खाने वाला पादोन ऊनोदरी तप करता है इकत्तीस ग्रास खाने वाला किंचित ऊनोदरी तप करता है।[1]

जितना ग्रास मुँह में सुखपूर्वक आ सके उतना एक कवल कहलाता है। जिस व्यक्ति का जितना खुराक है उसका बत्तीसवाँ भाग ही सामान्य तया उस व्यक्ति के लिए एक कवल माना जाता है।[2] मूलाराधना में कवल का परिमाण १००० चावलों के पिण्ड का माना है।[3]

व्यवहारतः सभी व्यक्तियों का आहार समान नहीं होता। कुछ व्यक्तियों का आहार मात्रा बहुत अधिक होती है तो कुछ व्यक्ति बहुत ही कम आहार ग्रहण करते हैं। बौद्धिक श्रम करने वाले और शारीरिक श्रम करने वाले के भी आहार की मात्रा में अन्तर होता है तो क्या बौद्धिक श्रम करने वाले ऊनोदरी तप करते हैं? उनका आहार उनकी क्षुधा से किंचित् मात्र भी कम नहीं होता।

वस्तुतः जितनी क्षुधा हो उससे कम आहार करना ही ऊनोदरी तप है। ऊनोदरी तप में साधक पेट को पूरा नहीं भरता वह कुछ खाली रखता है। खाली रखने से पाचन संस्थान विकृत नहीं होता। आयुर्वेद की दृष्टि से उदर का आधा भाग भोजन से भरा जाय एक चौथाई भाग पानी के लिए खाली रखा जाय और बाकी हवा के लिए सुरक्षित रखा जाय। जो

---

१ औपपातिक समवसरण प्रकरण सूत्र ३३

२ जत्तिओ जस्स पुरिसस्स आहारो तस्साहारस्स बत्तीसइमो भागो तप्पुरिसं वेक्खाए कवले। —भगवती ७/१ वृत्ति

३ ग्रासो श्रावि सहस्रतन्दुलमितः। —मूलाराधना दर्पण प ४२७

इस श्रम का भग करना है पर शारीरिक स्वास्थ्य नहीं रह पाता। कभी-कभी स्वादिष्ट और मन के अनुकूल आहार मिलने पर अधिक मात्रा में आहार कर लिया जाता है। उस स्थिति में पानी और यहाँ तक कि हवा का स्थान भी आहार ग्रहण कर लेता है जिससे उसे अत्यधिक बेचैनी का अनुभव होता है श्वास लेने में भी कठिनाई होती है। कभी कभी व्यक्ति को यह भान भी नहीं रहता कि उसे कितना खाना है। वह अपना पेट खाली समझ कर खाता चला जाता है पर जब भोजन के बाद वह पानी पीता है तो उस समय पेट फटने सा लगता है। अधिक आहार से शरीर में आलस्य प्रमाद और भारीपन महसूस होता है। अजीर्ण जैसे भयंकर रोग हो जाते हैं। मुँह में से दुर्गन्ध आती है। पेट में अफारा आ जाता है खराब डकारें आने लगती है और उद्गार आते हैं। जिससे आहार का अधिकांश या कुछ भाग वमन के द्वारा बाहर निकल जाता है। अतिसार भी हो जाता है। अन्य अनेक रोग भी पैदा हो जाते हैं। इसके विपरीत जो कम खाता है वह कभी भी घाटे में नहीं रहता क्योंकि उसका पाचन अच्छी तरह से होने के कारण मन में प्रसन्नता रहती है।

आचार्य शिवकोटि ने[1] लिखा है—ऊनोदरी से कर्मों की निर्जरा और आत्म शुद्धि तो होती ही है, साथ ही निद्रा विजय स्वाध्याय ध्यान संयम इन्द्रियजय और समाधि प्राप्त होती है। अधिक आहार करने से अन्य साधनाओं में आलस्य आने लगता है और शरीर की सम्पूर्ण ऊर्जा पाचन में ही नष्ट हो जाती है।

भाव ऊनोदरी—भाव ऊनोदरी से तात्पर्य है—आन्तरिक वृत्तियों की ऊनोदरी अर्थात् आन्तरिक अशुभ वृत्तियों को कम करना। क्रोध मान, माया लोभ आदि आन्तरिक वृत्तियाँ हैं। इन वृत्तियों का सर्वथा क्षय करना साधक का लक्ष्य है। किन्तु इन कषायों को एकदम नष्ट करना संभव नहीं है। उसके लिए निरन्तर प्रयास आवश्यक है। जैसे आहार की मात्रा धीरे धीरे कम की जाती है वैसे ही कषाय की मात्रा को भी धीरे धीरे कम करने का प्रयास किया जाता है। कषायों को कम करना ही भाव ऊनोदरी है।

शिष्य ने भगवान से जिज्ञासा प्रस्तुत की—भगवन्! भाव ऊनोदरी के कितने प्रकार हैं?

भगवान ने फरमाया—क्रोध की अल्पता, मान की अल्पता, लोभ की

---

१ मूलाराधना ३/२११ अमितगति पृ० ४२८

अल्पता शब्द की अल्पता और कलह की अल्पता—भाव ऊनोदरी के ये पांच प्रकार हैं।

ज्यों ज्यों जीवन में कषाय की मात्रा कम होती है त्यों त्यों शांति की मात्रा बढ़ती है। इसलिए कषायों को कम करना तथा अल्प भाषण आवश्यक है। जो अधिक बोलता है उसे भाषा का विवेक नहीं रहता। वचन एक तरह से रत्न है। मुख रूपी तिजोरी से बाहर निकालने के पूर्व चिंतन करना चाहिए। जितने कम वचन से कार्य हो सके उतना ही बोलना उचित है। साधक के लिए कहा गया है—वह कम बोले, परिमित बोले। जो सुव्रती साधक है वह कम से कम बोले।[1] कम शब्दों में कही जानेवाली बात को अधिक लंबी न करे मर्यादा से अधिक मत बोलो।[2] जो अधिक बोलता है वह सत्य वचन की आराधना नहीं कर सकता। वाचालता सत्यवचन का घातक है। वाचाल व्यक्ति की वही दुर्गति होती है जैसी सड़े कान वाली कुतिया की होती है। वह जहां भी जाती है वहां उसे लोग दुत्कारते हैं। इसीलिए विज्ञ कम बोलते हैं और मूर्ख अधिक बोलता है।

अल्प भाषण भी ऊनोदरी है और कलह को न्यून करना भी भाव ऊनोदरी है। कलह करने में असमाधि होती है।[3] वैदिक ऋषि ने भी कहा है—'कलह करने वाला जीवन में सुख समृद्धि, लक्ष्मी और सौभाग्य को प्राप्त नहीं कर सकता। वह तो धधकते हुए अग्नि पिण्ड की तरह है जो स्वयं तो जलता ही है साथ ही जो भी उसके सम्पर्क में आता है उसे भी जलाता है।'[5] कलह का मूल भी कषाय ही है। कलह से बड़े-बड़े साम्राज्य भी नष्ट हो जाते हैं। इसीलिए भगवान ने साधक को उत्प्रेरित किया कि वह कलह को शान्त करे। यदि परस्पर में कलह हो जाय तो जब तक परस्पर क्षमायाचना न कर ले तब तक श्रमण को आहार पानी ग्रहण नहीं करना चाहिए। जो कलह को शान्त नहीं करता वह आराधक नहीं होता।[6] इसीलिए भाव ऊनोदरी में कलह को भी अल्प करने का संदेश है।

---

१ अप्प भासेज्ज सुव्वए। —सूत्रकृतांग १/८/२५

२ निरुद्धग वा वि न दीहएज्जा। —सूत्रकृतांग १/१४/२

३ नाइवेलं वएज्जा। —सूत्रकृतांग १/१४/२५

४ कलहकरो असमाहिकरे। —दशाश्रुतस्कन्ध १

५ न स श्रियमाप्नोति। —ऋग्वेद ७/३२/२१

६ जो न उवसमइ तस्स णत्थि आराहणा जो उवसमइ तस्स अत्थि आराहणा। —बृहत्कल्पभाष्य १/३५

(३) भिक्षाचरी

यह तृतीय तप है। साधक अपने अन्तर्मानस में नाना प्रकार के संकल्प लेकर आहार की गवेषणा करता है। साधक भिक्षा लेता है किन्तु वह भिखारी नहीं है। उसके जीवन के कण-कण में अहिंसा, सत्य और संयम का साम्राज्य होता है। वह अत्यन्त निष्पापी होता है। केवल जीवन निर्वाह के लिए गृहस्थ के घर से सहज भाव से शुद्ध आहार ग्रहण करता है। श्रमण की जो भिक्षाचरी है उसके लिए आगम साहित्य में गोचरी और कहीं पर मधुकरी वृत्ति और कहीं पर 'भ्रमर वृत्ति' कहा गया है। उत्तराध्ययन,[१] दशवैकालिक,[२] आचारांग[३] प्रभृति आगमों में भिक्षा के लिए "गोचर" शब्द अधिक मात्रा में प्रयुक्त हुआ है और "गोचराग्र" शब्द भी आया है। 'गोचराग्र' अर्थ है 'गाय की तरह चरना' भिक्षा के लिए परिभ्रमण करना।

आचार्य जिनदास गणी महत्तर और आचार्य हरिभद्र ने लिखा है—जैसे गाय, यह घास बढ़िया किस्म की है और यह घास घटिया किस्म की है इस प्रकार का भेद किये बिना अपने उदर पोषणार्थ वह एक किनारे से दूसरे किनारे तक चरती हुई चली जाती है, वह जिस घास को चरती है उसे नष्ट नहीं करती बिना जड़ उखाड़ घास को चरती है वैसे ही श्रमण भी बिना किसी गृहस्थ को कष्ट दिये, भिक्षा ग्रहण करता है। वह यह नहीं सोचता कि यह सरस आहार है या नीरस आहार है। यह श्रेष्ठ का घर है या यह निर्धन घर है। बिना भेद भाव किये भिक्षा ग्रहण करता है।

अतीत काल में श्रमणों की भिक्षा का वर्णन करते हुए कहा गया है कि वह ऊँच, नीच और मध्यम कुलों में समान भाव से भिक्षा ग्रहण करे, पर यह स्मरण रखना चाहिए कि जो गर्हित कुल है या जो व्यक्ति यह कहे कि मेरे घर में मत आना या जिस घर के अधिपति के अन्तर्मानस में यह दुष्ट भावना हो कि कहीं यह श्रमण गुप्तचर के रूप में तो मेरे यहाँ नहीं आ रहा है मेरे पारिवारिक जनों के साथ इसके अनुचित सम्बन्ध तो नहीं हैं, इस प्रकार उसके मानस में द्वेष भावना प्रबुद्ध हो तो श्रमण को उस घर में प्रविष्ट नहीं होना चाहिए।[४] वह ऐसे कुलों में जाये जहाँ उसके

---

१ उत्तराध्ययन ३०।२५
२ दशवैकालिक ५।१।२, हारिभद्रीया टीका पत्र १६३
३ आचारांग २/१
४ दशवैकालिक ५।१।१७

प्रति सम्भावना हो, विशुद्ध आहार प्राप्त हो सकता है। इसीलिए उसकी भिक्षा गोचरी है।

गोचरी को मधुकरी इसलिए कहते हैं[1] कि जैसे मधुकर फूलों पर मंडराता है और थोड़ा थोड़ा रस लेकर उड़ जाता है और फिर अन्य फूल पर बैठकर रस लेता है वह फूलों को कष्ट नहीं देता और स्वयं भी तृप्त होता है वैसे ही श्रमण भी गृहस्थ को कष्ट न देकर भिक्षा ग्रहण करता है। श्रमण मधुकर और गाय की वृत्ति के अनुसार भिक्षा ग्रहण करता है।

वैदिक और बौद्ध परम्परा में भी मधुकरी वृत्ति एक आदर्श वृत्ति मानी गयी है। वृत्तिसंक्षेप जो गोचरी के लिए व्यवहृत हुआ है उसका कारण है गोचरी में मनोवांछित वस्तु उपलब्ध नहीं होती। कभी गरमा गरम आहार की आवश्यकता होती है उस समय बासी और ठंडा मिलता है तथा कभी मधुर आहार की इच्छा होती है, किन्तु रूखा सूखा और नीरस आहार प्राप्त होता है। श्रमण जो भी आहार मिल जाता है उस आहार को प्राप्त कर मन में पूर्ण संतुष्ट होता है। वह रसना इन्द्रिय पर पूर्ण नियन्त्रण करता है। इसीलिए गोचरी को वृत्तिसंक्षेप कहा है।[2]

भिक्षा अपनी इच्छा पर अवलंबित नहीं है। वह पराश्रित है। उसे जो भी उपलब्ध हो जाय उसी में सन्तोष करना होता है। श्रमण की भिक्षा पूर्ण अहिंसक और विशुद्ध होती है। श्रमण भिक्षा के लिए न स्वयं जीव हिंसा करता है, न करवाता है और न करने वाले का ही अनुमोदन करता है। वह न स्वयं अन्न पकाता है न पकवाता है और न पकाते हुए का अनुमोदन करता है। साथ ही न स्वयं खरीदता है न दूसरों से खरीदवाता है और न खरीदकर लाने वाले का अनुमोदन करता है। इस तरह उसकी भिक्षा नौ विधियों से पूर्ण विशुद्ध होती है।[3] वह गृहस्थ के घर भिक्षा के लिए जाता है और जो सहज रूप से मिल जाता है उसे ग्रहण कर लेता है।

श्रमण के पास जो कुछ भी वस्तु होती है वह वस्तु भिक्षा में प्राप्त

---

१ दशवैकालिक १ १

तुलना करें—धम्मपद पुप्फवग्ग ४/६ तथा महाभारत उद्योगपर्व ३४/१७

यथामधुसमादत्ते रक्षन् पुष्पाणि षट्पदः।

तद्वदर्थान् मनुष्येभ्य आदद्याद् अविहिंसया।

२ समवायांग सू० ६

३ नव कोडि परिसुद्धे भिक्खे पण्णत्ते ....। —स्थानांग ८/३

होता है, न दाते गुरुनिन्दा आदि मलिनता भी होती है। इसलिए जब तक साधक का चित्त स्थिर न हो और उसके हृदय में अमूर्च्छाभाव न हो तब तक वह निर्दोष भिक्षा ग्रहण नहीं कर सकता। भिक्षा लेते समय श्रमण को अपना परिचय नहीं देना चाहिए कि मैं अमुक कुल में जन्मा हूँ और मेरा अमुक परिवार है और न उसे ज्ञान प्रदान करने वाले का गुणगान ही करना चाहिए। क्योंकि उससे भिक्षा में दोष लगता है। यह स्पष्ट है कि भिक्षा देने वाला निःस्वार्थ बुद्धि से और त्यागी श्रमण ग्रहण करे। वही भिक्षा निर्दोष मानी जाती है।

भिक्षा लेने के लिए साधक जब प्रस्थित होता है तब वह मन में एक कल्पना करता है कि मुझे आज किस तरह से भिक्षा लेनी चाहिए। यह कल्पना आठ प्रकार से कर सकता है—

(१) पेटिका—पेटिका की तरह गाँव में जो घर हों उन घरों को चार भागों में विभक्त कर चौकोर गति से भिक्षा लेना।

(२) अर्धपेटिका—दो भागों में विभक्त कर भिक्षा लेना।

(३) गोमूत्रिका—गाय के मूत्र की धारा की तरह टेढ़ी-मेढ़ी गति से भिक्षा लेना।

(४) पतंग वीथिका—पतंग की भाँति बीच बीच में घरों को छोड़कर भिक्षा लेना।

(५) गत्वाप्रत्यागता—एक ओर से घरों में भिक्षा ग्रहण करता हुआ चला जाता और उसके किनारे पहुँचकर लौटते समय दूसरी पंक्ति के घरों से भिक्षा लेना।

(६) शम्बूकावर्त—शंख के समान गोल चक्करदार गति से भिक्षा ग्रहण करना।

(७) ऋजुगति—सरल गति से भिक्षा लेना।

(८) वक्रगति—टेढ़ी गति से भिक्षा ग्रहण करना।

जिस गति से भिक्षा के लिए श्रमण गमन करता है उस दृष्टि से ये आठ प्रकार बताये गये हैं।

आचार्य कुन्दकुन्द ने कहा है—जो श्रमण भिक्षा के दोषों से रहित भिक्षा ग्रहण करता है वह वस्तुतः अनाहारी तपस्वी है।[2]

---

१ प्रवचन सारोद्धार गा० ७४५

२ अण्णभिक्खमणेसणमध ते समणा अणाहारा। —प्रवचनसार ३।२७

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि जैन श्रमण की भिक्षाचरी बड़ी अद्भुत है। उसकी भिक्षाचरी में और एक भिखारी के भीख मांगने में दिन रात का अन्तर है। दोनों के लिए भिक्षा शब्द का व्यवहार होता है। किन्तु दोनों की भिक्षा लेने की विधि और प्रक्रिया में बहुत बड़ा अन्तर है। भिखारी का कोई आचार संहिता नहीं होती। उसे जो कुछ भी मिल जाता है चाहे वह सचित्त हो, चाहे अचित्त पदार्थ हो, चाहे नशीले पदार्थ हो, चाहे पैसा आदि भी हो उसे भी वह ले लेता है। भिखारी को जो भी वस्तु प्राप्त होती है उसे वह संग्रह करके रखना चाहता है किन्तु श्रमण संग्रह नहीं करता। भिखारी दीन वृत्ति से याचना करता है किन्तु श्रमण अदीन भाव से भिक्षा लेता है। भिखारी दान प्रदाता के गुणों का उत्कीर्तन करता है किन्तु श्रमण भिक्षा के लिए किसी की गुण गाथा नहीं गाता। यदि भिखारी को भिक्षा न मिले तो वह दान न देने वाले को गाली व शाप भी दे देता है किन्तु श्रमण किसी को भी शाप नहीं देता और न किसी प्रकार का अपशब्द ही कहता है, हृदय में दुर्भाव भी नहीं लाता। जाता जो भी देता है भिखारी उसे उसी क्षण ग्रहण कर लेता है किन्तु श्रमण इस प्रकार ग्रहण नहीं करता, वह देखता है कि जो दिया वस्तु है वह सदोष तो नहीं है। इस प्रकार भिखारी में भिक्षा लेने में विवेक का अभाव होता है किन्तु श्रमण की भिक्षा विवेकयुक्त होती है।

आचार्य हरिभद्र ने भिक्षा के तीन प्रकार बताये हैं—(१) दीनवृत्ति (२) पौरुषघ्नी और (३) सर्वसम्पत्करी।[१] जो व्यक्ति अनाथ हैं अपंग हैं या आपत्ति से संत्रस्त हैं वे भिक्षा मांगकर अपना जीवन निर्वाह करते हैं वह दीनवृत्ति भिक्षा है। जिनके शरीर में सामर्थ्य है कमाने की शक्ति होने पर भी काम से जी चुराकर जो भिक्षा मांगते हैं वह पौरुषघ्नी भिक्षा है। यह भिक्षा पुरुषत्व को नष्ट करने वाली है। एवं भिक्षुक देश के लिए भार रूप होते हैं। तृतीय भिक्षा सर्वसम्पत्करी है। जो श्रमण उदर निर्वाह के लिए गृहस्थ के घर में उसके अपने लिए बना हुआ निर्दोष आहार ग्रहण करते हैं वह सर्वसम्पत्करी भिक्षा है। भिखारी की भिक्षा दीनवृत्ति और पौरुषघ्नी होती है जब कि जैन श्रमण की भिक्षा सर्वसंपत्करी होती है। सर्वसंपत्करी भिक्षा से देने वाले का भी उद्धार होता है और लेने वाले का भी। दोनों को सद्गति प्राप्त होती है।

---

१ सर्वसम्पत्करी चैका पौरुषघ्नी तथापरा।
वृत्तिभिक्षा च तत्त्वज्ञैरिति भिक्षा त्रिधोदिता ॥ —अष्टक प्रकरण ५/१

दान प्रदान करने वाले का। यह ध्यान रखना चाहिए कि देय वस्तु शुद्ध हो, दाता की भावना भी विशुद्ध हो और दान ग्रहण करने वाला भी शुद्ध हो।

स्थानांग[1] भगवती[2] उत्तराध्ययन[3] और औपपातिक[4] में भिक्षाचर्या यह नाम आया है। समवायांग[5] और तत्त्वार्थ सूत्र में[6] क्रमशः वृत्तिसंक्षेप और 'वृत्तिपरिसंख्यान' कहा गया है। श्रमण जब अभिग्रहपूर्वक भिक्षा के लिए पहुँचता है तो भिक्षा में कमी होना स्वाभाविक है इसलिए इसे वृत्तिसंक्षेप कहा गया है। औपपातिक[7] और भगवती[8] में इसके तीस भेदों का उल्लेख है। स्थानांग[9] और उत्तराध्ययन[10] में अन्य भेदों का भी निरूपण है।

प्रसिद्ध टीकाकार आचार्य तिलक[11] ने भिक्षाचर्या का अर्थ केवल भिक्षा के लिए भ्रमण करना ही नहीं लिया है। उनका मन्तव्य है कि 'भिक्षाचर्या' में जो चर्या शब्द आया है वह भक्ति यानि भक्षण का वाचक है। उपलब्ध भिक्षा को खाना। भिक्षा से प्राप्त जो भी पदार्थ है उस पदार्थ को समभाव से खाना उस आहार की निन्दा नहीं करना और आहार को स्वादिष्ट बनाने हेतु संयोजना आदि जो दोष हैं उन दोषों से भी विशुद्ध भोजन करना। आहार लाने के पश्चात जब तक गुरुजनों के समक्ष आलोचना न की जाय तब तक आहार ग्रहण न किया जाय, गुरुजनों के समक्ष आलोचना करने का अर्थ यह है कि यदि भिक्षा में कहीं दोष लगा हो तो उसका प्रायश्चित्त लेकर शुद्धीकरण किया जा सके।

श्रमण प्रतिक्रमण सूत्र में[12] यह विधान है कि यदि घर के द्वार बन्द हों तो उस द्वार को खोलकर श्रमण को भिक्षा के लिए घर के अन्दर प्रवेश नहीं करना चाहिए। क्योंकि गृहस्थ यदि किसी कार्य में व्यस्त हो और श्रमण अचानक किवाड़ खोलकर यदि अन्दर जाता है तो

---

१ स्थानांग ३ ३ १८२ | २ भगवती २५ ७
३ उत्तराध्ययन ३० ८ | ४ औपपातिक ३०
५ समवायांग ६ | ६ तत्त्वार्थसूत्र ९/१९
७ औपपातिक ३० | ८ भगवती २५-७
९ स्थानांग ५ १ ३९६ | १० उत्तराध्ययन ३० २५
११ आचारचर्या शब्दो भ्रमणार्थ द्वितीय पुन भक्षणार्थ । भिक्षाया चर्या भुक्तिरित्यर्थः।
—तिलकाचार्य
१२ गोचरचर्या सूत्र

ा-कर्मी स्निग्ध भाजन का सेवन भी करता है, पर वह यह ध्यान रखता के मुझ स्निग्ध भाजन उतना ही करना है जिससे शरीर म विकार ना उत्प न न हो। जो नित्यप्रति मर्यादा रहित विगय को ग्रहण करता उसे पाप श्रमण कहा गया है।

भगवती[1] म स्पष्ट बताया है कि जिस प्रकार साप बिल म प्रवेश ता है वह प्रवेश सीधा करना है वस ही श्रमण सीधा आहार ग्रहण करे ति वह आहार का स्वाद न ले। आचारांग[2] मे कहा है—श्रमण को ार ग्रहण करते समय स्वाद लेने का भावना उदबुद्ध हो ता उस ग्रास बाएँ दाढ मे दाहिने दाढ का आर नही ले जाना चहिए। स्वाद के लिए ार को चबाना या चूसना भी निषिद्ध है। यह विशेष रूप से ध्यान देने य है कि एक बार विगय ग्रहण किया जा सकता ह, पर स्वाद ग्रहण । किया जा सकता। स्वाद न लने से श्रमण आहार ग्रहण करता हुआ तप करता ह। अस्वादवत्ति के कारण वह सात आठ कर्मों के बन्धना शिथिल कर देता ह। यहाँ तक कि अस्वादवत्ति रखते हुए आहार ण करता हुआ भी श्रमण केवलज्ञान को प्राप्त कर लेता ह।

स्वाद पर विजय प्राप्त करन पर ही रस-परित्याग हो सकता ह। रस-लालुपी ह वह सरस आहार के लिए मर्यादाओ का भी उल्लघन सकता ह। किंचित स्वाद म आसक्त साधक अपने मन को वश म नही सकता। अत साधक को रसासक्ति से बचना चाहिए। अधिक रसो सेवन स शरीर म विकारा की वद्धि हा सकती ह। मन चचल और द्रयाँ उत्तेजित होती हैं अत सरस पदार्थों का अति-सेवन नही करना हिए।

दशवकालिक[3] मे कहा ह—विभूपा स्त्रीससग, और प्रणीतरस न—य तीनो आत्मा वेषणा करने वाले साधक के लिए तालपुट विष के म हैं। तालपुट विष एक क्षण म मानव का समाप्त कर दता ह। रस परित्याग आवश्यक ह। औपपातिक सूत्र[4] म रस-परित्याग का तार से वणन मिलता ह। वहाँ उसके निम्न प्रकार बताये हैं—

---

[1] बिलमिव पन्नगभूएण अप्पाणेण आहारमाहारेइ। —भगवती सू० ७/१
[2] आचारांग ८/६
[3] विभूसा इत्थि ससग्गी पणीयरसभोयण।
नरस्सत्तगवेसिस्स विस तालउड जहा॥ —दशवकालिक ८/५६
[4] औपपातिक सूत्र १६

(७) गोदोहिकासन—गाय दुहने की स्थिति में बैठना।

(८) पर्यंकासन—पलंग की आकृति में बैठना।

इनके अतिरिक्त वज्रासन जिसमें केवल सिर और एड़ियों का ही स्पर्श से स्पर्श होता है तथा भद्रासन आदि के उल्लेख भी प्राप्त होते हैं। जैन परम्परा में किसी आसन विशेष पर विशेष बल नहीं दिया है। वहाँ उसे अधिक उपयोगी माना है जिसमें बैठकर साधना में स्थिरता आती है।

कायक्लेश में आसनों के साथ ही आतापना का भी उल्लेख है। वस्त्र का परिहार कर ग्रीष्म ऋतु में सूर्य रश्मियों की आतापना लेना और सर्दी में वस्त्रों को हटाकर शीत की आतापना लेना और वर्षा में एक स्थान पर अवस्थित होना और दंश मशक आदि के परीषहों को सहन करना।

इस तरह प्रस्तुत तप में साधक विविध प्रकार के कष्टों को समभाव से सहन करता है। शरीर के प्रति निर्ममत्व होने से उसे सजाने और संवारने के प्रति भी वह उदासीन रहता है। आचार्य वसुनन्दि[1] ने आचाम्ल निर्विकृति एक स्थान, उपवास, बेला, छठ आदि के द्वारा शरीर को कृश करने को कायक्लेश माना है। श्रुतसागर गणि[2] के अनुसार ग्रीष्म ऋतु में धूप में, शीत ऋतु में खुले स्थान में और वर्षा ऋतु में वृक्ष के नीचे लेटना, विविध प्रकार की प्रतिमाएँ और आसन करना कायक्लेश है। उन्होंने यह भी लिखा है कि कायक्लेश अपनी इच्छा के अनुसार किया जाता है और परीषह समागत कष्ट है।

(६) संलीनता

संसाराभिमुख आत्मा को विषय कषाय से हटाकर अन्तर्मुखी बनाना और उसके लिए प्रबल प्रयास करना प्रतिसंलीनता तप है। प्रतिसंलीनता में आत्मा को पर भाव से हटाकर स्व भाव में लीन बनाया जाता है। स्वलीनता ही संलीनता है। दूसरे शब्दों में उसे अन्तर्लीनता भी कह सकते हैं। जो साधक स्वलीन है उसे बाह्य पदार्थों के प्रति आसक्ति नहीं होती।

कहा जाता है कि कुछ द्वीपों में ऐसे विराटकाय पक्षी होते हैं कि जब वे अपने पंख फैलाते हैं तो ऐसा प्रतीत होता है जैसे कोई विशाल ...

---

१ आयंबिलणिव्वियडी एयट्ठाणं छट्ठमाइ खवणेहिं।
जं कीरइ तणुतावं कायकिलेसो मुणेयव्वो॥
—वसुनन्दि श्रावकाचार श्लोक ३५१

२ तत्त्वार्थ सूत्र ९/१९ श्रुतसागरीया वृत्ति।

हो। जब उस पर कोई आक्रमण करने आता है तो वह अपने पंखों को इस प्रकार समेट लेता है कि वह पत्र उग रूप में दिखाई नहीं देता और वह आक्रमण करने वाले पर टूट पड़ता है। वह पक्षी बहुत जागरूक होता है। वैसे ही साधक को अपनी इन्द्रियों के विकारों का गोपन करना चाहिए। गोपन करने की कला को प्रतिसंलीनता कहा है।

आगम साहित्य में अनेक स्थलों पर श्रमण के लिए इन्द्रियों को गोपन करने वाला' यह विशेषण दिया है। जैसे कछुआ अपनी इन्द्रियों का गोपन करता है वैसे ही साधक भी अपनी इन्द्रियों को वश में करता है।[1] भौतिकवाद की चकाचौंध में पाला पोसा हुआ इन्सान सोचता है—खाओ पिओ और मौज करो। वह इन्द्रियनिग्रह को अप्राकृतिक मानता है अमर्यादित जीवन जीने में आनन्द की अनुभूति करता है। पर उसे स्मरण रखना चाहिए कि आग में राग रहा हुआ है। उनसे कभी भी तृप्ति नहीं मिल सकती। अतः सुख का मूल मंत्र उद्दाम लालसाएं नहीं, किन्तु उन लालसाओं पर नियंत्रण करना है।

भगवती[2] में प्रतिसंलीनता तप के (१) इन्द्रिय प्रतिसंलीनता (२) कषाय प्रतिसंलीनता (३) योग प्रतिसंलीनता और (४) विविक्त शयनासन सेवना—ये चार प्रकार बताये हैं। उत्तराध्ययन[3] में जो केवल विविक्त शयनासन को ही प्रतिसंलीनता में बताया है वह संक्षेप दृष्टि की अपेक्षा से है।

इन्द्रिय प्रतिसंलीनता में इन्द्रियों को उनके विषयों की ओर से मोड़ कर साधक को स्व स्वरूप में लीन रहने के लिए प्रेरणा दी है।

कषाय प्रतिसंलीनता में कषाय से बचने के लिए उत्प्रेरित किया है। कषाय जन्म मृत्यु चक्र का मूल है।[4] कषाय जन्म मरण की जड़ को सिंचन करता है। वह एसी मादक मदिरा है जिसको पीने के बाद प्राणी को भान नहीं रहता। वह व्यक्ति को विवेकभ्रष्ट बनाता है। इसीलिए आचार्य जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण[5] ने कहा है—देशोन कोटि पूर्व

---

१ नाता सूत्र ४

२ भगवती २४—७ ३ उत्तराध्ययन ३०—२८

४ आचारांगनियुक्ति १८६

५ जं अज्जियं चरित्तं देसूणाए वि पुव्वकोडीए।
तं पि कसायमेत्तो नासइ नरो मुहुत्तेण ॥ —निशीथभाष्य २७९३

उसे लगाने के लिए प्रेरणा दी है। शुभ विचारों की ओर मोड़ना मनोनिग्रह का प्रथम अनिवार्यता है। यदि मन में अशुभ विचारधाराएं अंगड़ाइयाँ ले रही हों और यदि मन एकाग्र हो गया तो वह एकाग्रता तो और भी अधिक कर्मबंधन का कारण बन जायगी। सर्वप्रथम मन की विशुद्धि आवश्यक है जब मन शुद्ध होता है और उसमें एकाग्रता आती है तब उस एकाग्रता में अपूर्व आनन्द आता है। दीघनिकाय में कहा है—प्रशस्त विचारशील का चित्त ही एकाग्र होता है और पवित्र चित्त की एकाग्रता ही समाधि है।

जब मन शुद्ध होता है तो वचन भी शुद्ध होता है क्योंकि मन में जो विचार उठता है वही वाणी के द्वारा व्यक्त होता है। अतः जहां अभद्र विचारों के लिए निषेध किया है वहाँ अभद्र वाणी के उपयोग का भी निषेध किया है। इसीलिए वचनप्रतिसंलीनता भी तीन प्रकार की है—अकुशल वचन का निरोध, कुशल वचन का प्रवर्तन और मौन का अवलंबन। आचार्य जिनदास[1] ने कहा है कि साधक को उसी भाषा का प्रयोग करना चाहिए जिसमें चारित्र की शुद्धि होती है। जिस भाषा के प्रयोग से चारित्र अशुद्ध होता हो वह भाषा असत्य है। साधक सावद्य वचन का प्रयोग नहीं करता, वह निरवद्य भाषा का ही प्रयोग करता है। वचन के साथ ही वह काया की भी संलीनता करता है। साधक के अंगोपांग में चंचलता नहीं होती। शारीरिक चंचलता मानसिक चंचलता व छिछलेपन का प्रतीक है।

स्थिर व शिष्ट आसन और शिष्ट भाषण मूक व्यक्ति को भी ज्ञानी के रूप में प्रस्तुत कर सकता है। भगवान महावीर तथा अन्य अनेक साधकों के सामने सौंदर्य की साक्षात मूर्तियाँ आईं तो भी उन्होंने उनकी ओर आँख उठाकर नहीं निहारा। यह है कायप्रतिसंलीनता।

चतुर्थ प्रतिसंलीनता है विविक्त शयनासन। अतीत काल में जैन श्रमणों के लिए कोई आवास व्यवस्था नहीं थी जैसी कि वैदिक ऋषियों के लिए आश्रम व्यवस्था थी। उनके लिए बड़े-बड़े तपोवन और आश्रम थे। बौद्ध श्रमणों के लिए भी विहारों की व्यवस्था थी। गृहपति अनाथपिण्डक का जेतवन और विशाखा मृगारमाता के द्वारा सत्ताईस करोड़ स्वर्णमुद्राएं व्यय करके महाप्रासाद बौद्ध भिक्षुओं के लिए ही बनाया गया था।[2] बौद्ध श्रमणों के लिए विहार और प्रासाद का निर्माण कराना अत्यन्त पुनीत कार्य

---

१ दशवैकालिक चूर्णि—७

२ विनयपिटक महावग्ग

माना जाता था। भगवान महावीर ने राजगृह में यद्यपि चौदह वर्षावास किये थे, किन्तु एक भी प्रासाद उनके लिए या अन्य श्रमणों के लिए निर्माण नहीं हुआ क्योंकि भगवान महावीर जानते थे कि गृह निर्माण में अनन्त हिंसा होती है और उसके साथ ममत्व बुद्धि भी रहती है। इसी कारण अपरिग्रही श्रमण को उसके निमित्त निर्मित आवास में ठहरने का निषेध कर दिया। जिस श्रमण ने स्वयं अपने गृह का त्याग कर दिया वह अपने लिये निर्मित घर में भी नहीं ठहर सकता।

साथ ही श्रमण के लिए यह भी विधान है कि वह ऐसे आवास में निवास करे जहाँ स्त्री, पशु, नपुंसक आदि का वास न हो, जहाँ पुरुष-स्त्री की वार्तालाप सुनाई न देता हो, और जिस स्थान पर रहने से किसी के मन में द्वेष की भावना उद्बुद्ध न होती हो, अविश्वास न उत्पन्न होता हो। जो स्थान एकान्त हो, शान्त हो और जहाँ रहकर ब्रह्मचर्य की साधना-आराधना सम्यक् प्रकार से हो सकती हो, वहाँ उसे रहना चाहिए। स्थान का प्रभाव साधक के मन पर होता ही है। जैसे शीतल जल अग्नि के संस्पर्श से गरम हो जाता है वैसे ही विकृत वातावरण का प्रभाव भी मन पर हुए बिना नहीं रह सकता। अतः साधक को विकारवर्द्धक स्थान से दूर रहना चाहिए। जिससे वह साधना अच्छी तरह से कर सके। शून्य और एकान्त शान्त स्थान पर रहने से वह भय से मुक्त होकर साधना कर सकता है। विविक्त शयनासन तप के दो प्रमुख उद्देश्य हैं—(१) ब्रह्मचर्य की सुरक्षा और (२) अभय भाव की साधना।

प्रस्तुत तप का नाम भगवती[1] में 'प्रतिसंलीनता' मिलता है तथा उत्तराध्ययन[2] में संलीनता और विविक्त शयनासन ये दो नाम प्राप्त होते हैं। तत्त्वार्थसूत्र[3] में भी यह नाम उपलब्ध होता है। इस प्रकार भिन्न-भिन्न ही ग्रन्थों में 'संलीनता' या 'प्रतिसंलीनता' और भिन्न ही ग्रन्थों में 'विविक्त शय्यासन' या 'विविक्त शय्या' का प्रयोग मिलता है। औपपातिक में इसे 'प्रतिसंलीनता' कहा गया है और 'विविक्त शयनासन' उसका एक अवान्तर भेद है। मूलाराधना[4] में कहा है—जहाँ पर शब्द, रस, गंध और स्पर्श के द्वारा चित्तविक्षेप नहीं होता, स्वाध्याय और ध्यान

---

1 भगवती २५/७/८०२ 2 उत्तराध्ययन ३०—२८

3 तत्त्वार्थसूत्र ९—१९

4 मूलाराधना ३—२२८, २२९, २३१, २३२

प्रायश्चित्त है।[1] प्राकृत भाषा में प्रायश्चित्त के लिए "पायच्छित्त" शब्द आया है। 'पाय' का अर्थ 'पाप' है। जो पाप का छेदन करता है वह 'पायच्छित्त' है।[2] साधक छद्मस्थ है, इसलिए ज्ञात और अज्ञात रूप से उसमें भूल हो जाती है। पाप उसके जीवन में लग जाते हैं। भूल होना उतना बुरा नहीं है, उतना बुरा है भूल को भूल न समझना। भूल को भूल समझकर उसकी शुद्धि के लिए प्रयास करना और भविष्य में पुनः उस प्रकार का दोष न लगे, उसके लिए दृढ़ संकल्प करना तथा भूल की शुद्धि के लिए जो प्रक्रिया है, वह प्रायश्चित्त है।

प्रायश्चित्त और दण्ड में अन्तर है। प्रायश्चित्त में साधक अपने दोषों को अपनी इच्छा से प्रकट कर उसे स्वीकार करता है। प्रमादवश जो दोष लग गया है तो वह साधक उस दोष को गुरुजनों के समक्ष प्रकट कर देता है और उनसे प्रायश्चित्त प्रदान करने के लिए प्रार्थना करता है। गुरुजन उस दोष से मुक्त होने के लिए विधि बताते हैं। इसके विपरीत अपराधी स्वयं दण्ड को अपनी इच्छा से नहीं किन्तु विवशता से स्वीकार करता है। उसके मन में दुष्कृत्य के प्रति किसी भी प्रकार की ग्लानि नहीं होती। अपराधी अपराध को स्वेच्छा से नहीं किन्तु दूसरों के भय से स्वीकार करता है। इस तरह दण्ड ऊपर से थोपा जाता है किन्तु प्रायश्चित्त अन्तर्हृदय से स्वीकार किया जाता है। इसी कारण राजनीति में दण्ड का विधान है तो धर्मनीति में प्रायश्चित्त का विधान है।

जिसका अन्तर्मानस सरल हो, जो पापभीरु हो, जिसके हृदय में आत्मशुद्धि की तीव्र भावना हो उसी के मन में प्रायश्चित्त लेने की भावना जागृत होती है। यदि मन में माया का साम्राज्य होगा तो प्रायश्चित्त से शुद्धीकरण नहीं हो सकता। भूलें अनेक प्रकार की होती हैं। कितनी ही भूलें सामान्य होती हैं और कितनी ही असाधारण होती हैं। सामान्य भूल भी देश-काल और परिस्थिति के कारण असामान्य हो जाती है। अतः सभी प्रकार की भूलों का प्रायश्चित्त एक सा नहीं होता। भूल और परिस्थिति के अनुसार प्रायश्चित्त के भी विविध प्रकार बताये हैं।

---

१ अपराधो वा प्रायः चित्तं शुद्धिः। प्रायस्य चित्तं—प्रायश्चित्तं—अपराध विशुद्धिः।
—राजवार्तिक ९

२ पावं छिन्दई जम्हा पायच्छित्तं त्ति भण्णए तेण ॥
—पंचाशक सटीक विवरण

भगवती[1] तथा स्थानांग में[2] प्रायश्चित्त के दस प्रकार बताये हैं— (१) आलोचनार्ह (२) प्रतिक्रमणार्ह (३) तदुभयार्ह (४) विवेकार्ह (५) व्युत्सर्गार्ह (६) तपार्ह (७) छेदार्ह (८) मूलार्ह (९) अनवस्थाप्यार्ह (१०) पारांचिकार्ह।

तत्त्वार्थसूत्र में प्रायश्चित्त के नौ प्रकार ही बताये हैं। उसमें पारांचिकार्ह प्रायश्चित्त का उल्लेख नहीं है।

(१) आलोचनार्ह

अपना दोष सरल हृदय से गुरुजनों के समक्ष प्रकट कर देना आलोचना है।[3] आलोचना स्व निंदा है। परनिंदा करना सरल है पर स्वयं के दोषों को देखकर उनकी निंदा करना कठिन ही नहीं कठिनतर है। जिसका मानस बालक के सदृश[4] सरल होता है वही अपने दोषों को प्रकट कर सकता है। भगवती आदि आगमों में स्पष्ट निर्देश है—कृत पापों की आलोचना जब तक नहीं की जाती तब तक हृदय में शल्य बना रहता है[5] और जब तक शल्य है तो वह साधक आराधक नहीं बन सकता। आवश्यकनियुक्ति[6] में कहा है— किसी साधक के अन्तर्मानस में आलोचना की भावना उद्बुद्ध हुई हो और वह आलोचना के लिए प्रस्थित हुआ हो कि मुझे गुरु के समक्ष जाकर अपने सभी दोषों की आलोचना कर लेनी है। इस भावना से चलते हुए किसी कारणवश उसका निधन हो जाये तो वह साधक आराधक है क्योंकि उसके अन्तर्मानस में पाप के प्रति पश्चात्ताप भरा हुआ था। आयुष्य पूर्ण हो जाने से यद्यपि वह आलोचना न भी कर सका हो तथापि उसके मन में सरलता होने से वह आराधक बन जाता है।

जो साधक यह विचार करता है कि यदि मैं अपने पापों को प्रकट कर दूंगा तो जन-जन की निगाह से गिर जाऊंगा इस कारण से वह अपने पापों को प्रकट करने में कतराता है। वह यह सोचता है कि यदि मैंने पाप को स्वीकार कर लिया और प्रायश्चित्त ले लिया तो लोग मुझे दोषी

---

१ भगवती २५—७ 　　　　२ स्थानांग स्थान १०

३ आ—अभिविधिना सकला दोषाणां लोचना—गुरुपुरतः प्रकाशना—आलोचना।
—भगवती सूत्र २५/७ टीका

४ जह बालो जपंतो कज्जमकज्जं च उज्जुयं भणइ।
तं तह आलोइज्जा मायामयविप्पमुक्को उ॥ 　　—ओघनियुक्ति—८०१

५ भगवती १०—२ 　　　　६ आवश्यकनियुक्ति—४

[illegible] । [illegible] करने भी [illegible] है । [illegible] आलोचना [illegible] । [illegible] के मन में [illegible] विचार [illegible] प्रकट [illegible] शुद्ध [illegible] होना चाहिए [illegible] है ।

आलोचना [illegible] है जो जातिसम्पन्न [illegible] विनयसम्पन्न [illegible] अनवो अपश्चात्तापी (आलोचना [illegible] किसी भी प्रकार [illegible]) [illegible] गुणों से युक्त हो ।[1]

आलोचना ऐसे व्यक्ति के सामने की जानी चाहिए जो गीतार्थ हो। सर्वप्रथम अपने आचार्य या उपाध्याय के सामने आलोचना करनी चाहिए। यदि वे न हों तो सांभोगिक बहुश्रुत के पास, यह भी न हो तो जिनके साथ सांभोगिक सम्बन्ध न हो उनके पास। यदि वे भी न हों तो जिसने पूर्व संयम धर्म की आराधना की है किन्तु वर्तमान में जो साधना से च्युत होकर गृहस्थ बन गया है उसके पास। वह भी न हो तो श्रावक के पास जा सकता है। और उन सभी के अभाव में जंगल में अरिहंत सिद्ध भगवान की साक्षी से आलोचना करके शुद्ध होना चाहिए। यह अपवादिक स्थिति है पर सामान्यतया साधक को बहुश्रुत के सामने आलोचना करनी चाहिए। आलोचना सुनने वाले में निम्न विशेषताएँ होनी चाहिए—

(१) आचारवान (२) आधारवान (जिसमें ग्रहण व विचारने की शक्ति हो) (३) व्यवहारवान (पाँच व्यवहार का ज्ञाता हो) (४) अपव्रीडक (आलोचक के संकोच को दूर करने वाला), (५) प्रकुर्वक (उसी समय शुद्धिकरण करने में समर्थ) (६) अपरिश्रावी (आलोचक के दोषों को किसी के सामने प्रकट न करने वाला यदि प्रकट कर दे तो उसको उतना ही प्रायश्चित्त आता है जितना कि आलोचक को) (७) निर्यापक (गुरुतर अपराध करने पर भी शरीर अस्वस्थता के कारण तपश्चरण करने में असमर्थ हो तो लघु प्रायश्चित्त देकर उसका शुद्धीकरण करनेवाला) ( ) अपायदर्शी (दोष का प्रायश्चित्त न करनेवाले को दोष का परिणाम बताकर प्रायश्चित्त कराने वाला)।

जो साधक आलोचना करने का अभिनय तो करता है पर वह आलोचना

---

१ (क) भगवती सूत्र २५—७ (ख) स्थानांग, स्थान १०, सूत्र ७३३

व धनता से आलोचना करता है तो वह आलोचना के दोषों का सेवन करता है। आलोचना के भगवती[1] और स्थानांग[2] में दस दोष इस प्रकार बताये गये हैं—

(१) आकंपित्ता—आलोचना करनेवाला चिंतन करे—मैं जिनके पास आलोचना कर रहा हूँ यदि सेवा से उन्हें प्रसन्न करूं तो वे मुझे कम प्रायश्चित्त देंगे।

(२) अणमाणइत्ता—पहले लघु दोषों की आलोचना करके यह देखे कि आचार्य किस प्रकार का दण्ड देते हैं—अधिक दण्ड देते हैं या कम? या पहले ही पूछकर यह अनुमान लगाना कि अमुक पाप का कितना प्रायश्चित्त आएगा। उसके पश्चात आलोचना करना।

(३) दिट्ठ—पाप कृत्य को करते हुए किसी ने देख लिया हो तो उसकी आलोचना करना।

(४) बायर—केवल स्थूल दोषों की आलोचना करना।

(५) सुहुम—लघु दोषों की आलोचना करना।

उपर्युक्त दोनों में यह विचारधारा रही होती है कि जो बड़े से बड़े दोषों की आलोचना कर सकता है वह छोटे दोषों की आलोचना क्यों न करेगा? अथवा छोटे दोषों की आलोचना कर बड़े दोषों को छिपाने की भावना रहती है। इस तरह मन में धनता रखकर आलोचना करना।

(६) छन्न—इस प्रकार लज्जा का प्रदर्शन करना और एकान्त स्थान में ले जाकर इतने धीरे और अस्पष्ट शब्दों में आलोचना करना जिसमें प्रायश्चित्त देने वाला सुन भी न सके।

(७) सद्दाउलय—दूसरों को सुनाने के लिए उच्च स्वर से आलोचना करना। इसमें अपने प्रभाव को जमाने की भावना रहती है।

(८) बहुजण—मैं कितना पापभीरु हूँ लोग मेरी प्रशंसा करें इसलिए अनेकों के सामने एक ही दोष की आलोचना करना।

(९) अव्वत्त—ऐसे अगीतार्थ व्यक्ति के सामने आलोचना करना, जिसे यह भी ज्ञात न हो कि किस दोष का कितना प्रायश्चित्त आता है।

(१०) तस्सेवी—जिस दोष की आलोचना करनी हो उस दोष का

---
१ भगवती २५—७ २ स्थानांग १० ७३३

है। वही व्यक्ति गुरुजनों का अनुशासन मान सकता है जिसके मन में अनुशासन हो। क्योंकि अनुशासन स्वीकार करने में कभी-कभी मन के प्रतिकूल बात को भी स्वीकार करना होता है पर जो मन पर नियन्त्रण कर लेता है उसके लिए किसी प्रकार की कोई कठिनाई नहीं होती। क्योंकि जिसने मन पर अनुशासन करना सीख लिया है उसकी सभी बाधाएँ कपूर की तरह उड़ जाती हैं।

विनय का अर्थ नम्रता और सद्व्यवहार है। विनीत व्यक्ति गुरुजनों के समक्ष सदा विनम्र रहता है। वह गुरुजनों के सामने उच्च आसन पर नहीं बैठता उसका आसन नीचा होता है। वह बद्धाञ्जलि होकर गुरुजनों को नमस्कार करता है।[1] उसके किसी भी व्यवहार में अहंकार नहीं झलकता। सदा नम्रता टपकती रहती है। यदि गुरुजन उसे बुलायें तो वह अपने आसन पर न बैठा रहे किन्तु खड़ा होकर नमस्कार मुद्रा में गुरुदेव से पूछे—क्या आज्ञा है? वह गुरुजनों से अत्यधिक दूर जाकर न बैठे और न अत्यन्त समीप ही जिससे उन्हें कष्ट हो। गुरुजनों के सामने पैर पसारकर बैठना, अभिमान के साथ पैर पर पैर रखकर बैठना, उनके आगे आगे चलना, उनसे चिपककर सटकर चलना, वार्तालाप में उनके बीच में बोलना अविनय है। वह सदा गुरुजनों का विनय करता है। कहा भी है अपने से बड़ों के प्रति सदा विनय रखना चाहिए।[2]

आचार्य अभयदेव ने स्थानांगवृत्ति में[3] लिखा है—जिससे आठ कर्मों का वि + नय (वि—विशेष, नय—दूर होना) होता है, जिससे चार गति का अन्त करने वाले मोक्ष की उपलब्धि होती है उसे सन्तों ने विनय कहा है। कर्म को नष्ट करने वाला होने से उसे विनय कहा गया है।

विनय हमारे सम्पूर्ण जीवन और आचरण को सजाने व सँवारने वाला है। जिसमें विनय का अभाव है वह धर्म की आराधना नहीं कर सकता। नम्रता के अभाव में तप संयम की आराधना नहीं हो सकती। जैसे पृथ्वी समस्त जीवों का आधार है वैसे ही समस्त सद्गुणों का आधार विनय है। विनीत व्यक्ति के पास समस्त विद्याएँ और सद्गुण चुम्बक की तरह खिंचे चले आते हैं। जिस प्रकार सुशील कन्या सत्पुरुष को पाकर अपने आपको

---

१ (क) उत्तराध्ययन १—७ (ख) दशवैकालिक ९—२—१७

२ रायणिएसु विणयं पउंजे। —दशवैकालिक ८/४१

है। वही स्थविर गुरुजनों का अनुशासन मान सकता है जिसके मन में अनुशासन हो। क्योंकि अनुशासन स्वीकार करने में कभी-कभी मन के प्रतिकूल बात को भी स्वीकार करना होता है पर जो मन पर नियन्त्रण कर सकता है उसके लिए किसी प्रकार की कोई कठिनाई नहीं होती। क्योंकि जिसने मन पर अनुशासन करना सीख लिया है उसकी सभी बाधाएं कपूर की तरह उड़ जाती हैं।

विनय का अर्थ नम्रता और सद्व्यवहार है। विनीत व्यक्ति गुरुजनों के समय सदा विनम्र रहता है। वह गुरुजनों के सामने उच्च आसन पर नहीं बैठता, उसका आसन नीचा होता है। वह अंजलिबद्ध होकर गुरुजनों को नमस्कार करता है।[1] उसके किसी भी व्यवहार में अहंकार नहीं झलकता। सदा नम्रता टपकती रहती है। यदि गुरुजन उसे बुलाये तो वह अपने आसन पर न बैठा रहे किन्तु खड़े होकर नमस्कार मुद्रा में गुरुदेव से पूछे—क्या आज्ञा है? वह गुरुजनों से अत्यधिक दूर जाकर न बैठे और न अत्यन्त समीप हो जिससे उन्हें कष्ट हो। गुरुजनों के सामने पैर पसारकर बैठना, अभिमान से साथ पैर पर पैर रखकर बैठना, उनसे आगे आगे चलना, उनसे बिलकुल सटकर चलना, वार्तालाप में उनके बीच में बोलना अविनय है। वह सदा गुरुजनों का विनय करता है। कहा भी है अपने से बड़ों के प्रति सदा विनय रखना चाहिए।[2]

आचार्य अभयदेव ने स्थानांगवृत्ति में[3] लिखा है—जिससे आठ कर्मों का वि + नय (वि—विशेष नय—दूर होना) होता है, जिससे चार गति का अन्त करने वाले मोक्ष की उपलब्धि होती है उस सेवन को विनय कहा है। कर्म को नष्ट करने वाला होने से उसे विनय कहा गया है।

विनय हमारे सम्पूर्ण जीवन और आचरण को सजाने व संवारने वाला है। जिसमें विनय का अभाव है वह धर्म की आराधना नहीं कर सकता। नम्रता के अभाव में तप संयम की आराधना नहीं हो सकती। जैसे पृथ्वी समस्त जीवों का आधार है वैसे ही समस्त सद्गुणों का आधार विनय है। विनीत व्यक्ति के पास समस्त विद्याएँ और सद्गुण चुम्बक की तरह खिंचे चले आते हैं। जिस प्रकार सुशील कन्या सत्पुरुष को पाकर अपने आपको

---

१ (क) उत्तराध्ययन १—७ (ख) दशवैकालिक ९—२—१७

२ रायणिएसु विणयं पउंजे। —दशवैकालिक ८/४१

३ जम्हा विणयइ कम्म अट्ठविहं चाउरंतमोक्खाय।
तम्हा उ वयंति विउ विणय त्ति विलीणसंसारा॥ —स्थानांग ६ टीका

से न अनुभव करता है वैसे ही विनीत साधक का आचार सम्यक् ज्ञानादि अनुभव करते हैं।

भगवती[1] स्थानांग[2] और औपपातिक[3] में विनय के सात भेद बताये हैं—(१) ज्ञान विनय (२) दर्शन विनय (३) चारित्र विनय (४) मन विनय (५) वचन विनय (६) काय विनय और (७) लोकोपचार विनय।

(१) ज्ञानविनय—इसका अर्थ है—ज्ञानी का विनय करना। ज्ञान का आदर करना आवश्यक है। जिस समाज, संघ में ज्ञानियों की उपेक्षा की जाती है वह दिन पर दिन उन्नति के पथ पर बढ़ता है क्योंकि उस समाज का पथ प्रकाशमान होता है।

यूनान के महान दार्शनिक अरस्तू का अभिमत था कि शासक को दार्शनिक यानी विद्वान् होना चाहिए। विद्वान दार्शनिक को शासन सम्भालना चाहिए।

ज्ञानी का विनय होने से ज्ञान की महिमा और गरिमा का सभी को परिज्ञान होता है। जिस समाज में ज्ञानियों का बहुमान हुआ उस समाज का अत्यधिक विकास हुआ।

यहूदी समाज में विद्वानों और गुणवानों का अत्यधिक सम्मान होता है जिसके कारण उस समाज में आईंस्टीन जैसा विश्वविख्यात वैज्ञानिक उत्पन्न हुआ तथा अन्य अनेक वैज्ञानिक चिन्तक भी समय-समय पर उस समाज में उत्पन्न होते रहे हैं। अमरिका और रूस ने ज्ञान-विज्ञान के नित नये क्षितिजों का जो उद्घाटन किया उसका मूल कारण भी वहाँ के वैज्ञानिकों और साहित्यकारों के प्रति आदर भावना है। अतीत काल में भारत में भी ज्ञानियों का और साहित्यकारों का सम्मान होता था जिसके फलस्वरूप यहाँ अनेक मनीषी चिन्तक उत्पन्न हुए जिन्होंने भारतीय संस्कृति की काफी उन्नति की।

आचार्य शय्यंभव ने[4] स्पष्ट शब्दों में लिखा है—जिस गुरुजन से एक भी पद सीखने को प्राप्त हो उसका विनय और सत्कार करना चाहिए। नमस्कार कर उसका अभिवादन करना चाहिए। ज्ञान विनय के मतिज्ञान

---

१ भगवती २५—७ २ स्थानांग ७/५८५

३ औपपातिक—तप वर्णन

४ जस्सन्तिए धम्मपयाइं सिक्खे तस्सन्तिए वेणइयं पउंजे।

—दशवैकालिक ९/१/१२

ा विनय श्रुतज्ञानी का विनय अवधिज्ञानी का विनय मनःपर्यवज्ञानी
ा विनय और केवलज्ञानी का विनय—ये पाच प्रकार हैं।

(२) दर्शन विनय—इसका अभिप्राय है—सम्यग्दृष्टि का आदर और
नकी शुश्रूषा करना, एव अनाशातना। अनाशातना का अर्थ
:—देव, गुरु धर्म आदि रत्नत्रय की अवहेलना व अपमान न हो इस प्रकार
ा व्यवहार करना। जिस व्यवहार से किसी भी प्रकार की असभ्यता
शिष्टता झलके उस प्रकार का व्यवहार न करना। अरिहन्त अरिहन्त
रूपित धर्म आचार्य उपाध्याय स्थविर, कुल गण, सघ क्रियावन्त
ाम आचार वाले सन्त पाच ज्ञान के धारक इन पन्द्रह की आशातना न
रना उनका बहुमान करना, और उनकी स्तुति करना—इस प्रकार
ाशातना के[1] १५×३=४५[2] भेद होते हैं। कहीं कहा पर आशातना के
३ भेद भी बताये हैं।

जैन मनीषियों ने जो शिष्यों का आचार सहिता का निर्माण किया
वह अत्यन्त अद्भुत है। शिष्य को गुरुजनों का किस तरह से सम्मान
रना चाहिए उनके साथ किस तरह का व्यवहार करना चाहिए किस
कार विवेकपूर्वक उनके सामने उपस्थित होना चाहिए, आदि सारी
ात अत्यन्त सुन्दर रूप में प्रस्तुत की गई है।

(३) चारित्रविनय—सामायिक चारित्र, छेदोपस्थापनीय चारित्र
ादि ५ चारित्रनिष्ठ जो चारित्रात्मा हैं उनके प्रति विनय करना, उनकी
ेवा भक्ति और स्तुति करना चारित्र विनय है।

(४) मनोविनय—इसका अर्थ है—मन को पवित्र कार्यों में लगाना
और अप्रशस्त कार्यों से हटाना। हमारा मन सदा सर्वदा पवित्र विचारों से
ओत प्रोत रहे निर्दोष और उच्च विचारों से भावित रहे यह मनो
विनय है।

(५) वचनविनय—इसी प्रकार वचन विनय में भी अप्रशस्त शब्दों
का प्रयोग न कर प्रशस्त वाणी का प्रयोग किया जाता है।

(६) कायविनय—चलना, ठहरना, बैठना सोना जितनी भी काय
सम्बन्धी प्रवृत्तियाँ हैं वे सब उपयोगपूर्वक करना, काय विनय है।

(७) लोकोपचारविनय—इस विनय से लोक व्यवहार की कुशलता
सहज ही उपलब्ध होती है। इसके सात भेद है—(१) अभ्यासवर्तित,

---

१ भगवती सूत्र २५/७ २ दशाश्रुतस्कंध ३/१—३३

(गुरु आदि से सन्निकट रहना), (२) परच्छन्दानुवर्ती, (गुरु आदि वरिष्ठ व्यक्तियों की इच्छानुसार कार्य करना) (३) कार्य हेतु (गुरुजनों के कार्यों में सहयोग करना) (४) कृतप्रतिक्रिया (गुरु द्वारा जो उपकार किये गये हैं उनका स्मरण कर उनके प्रति कृतज्ञ होना) (५) आर्त गवेषणा (रुग्ण श्रमणों के लिए औषधि आदि की गवेषणा करना) (६) देशकाल ज्ञाता (देश और समय के अनुसार व्यवहार करना) और (७) सर्वत्र अप्रतिलोमता (किसी के विरुद्ध आचरण न करना)।

विशेषावश्यकभाष्य में विनय के पाँच प्रकार बताये हैं—(१) लोकोपचार—माता पिता अध्यापक आदि का विनय करना, (२) अर्थ विनय—अर्थ आदि के लिए सेठ, साहूकार आदि का विनय करना, (३) काम विनय—काम वासना की पूर्ति हेतु स्त्री आदि की प्रशंसा करना उनका विनय करना (४) भय विनय—अपराध होने पर अधिकारी व्यक्ति का विनय करना (५) मोक्ष विनय—आत्म-कल्याण हेतु सद्गुरु आदि का विनय करना।

प्रथम चार प्रकार के विनय में चापलूसी करके अपनी सांसारिक इच्छाएँ तृप्त करने की भावना होती है किन्तु मोक्ष विनय में एकान्त निर्जरा रही हुई है। अतः मोक्ष विनय ही सर्वोपरि है।

(६) वैयावृत्त्य

मानव सामाजिक प्राणी है। समाज में रहने से परस्पर एक-दूसरे के सहयोग की अपेक्षा रहती है। यदि कोई व्यक्ति संकट के दलदल में फँसा हुआ है तो दूसरा व्यक्ति उसे उस दलदल से निकालने का प्रयास करता है। यदि कोई व्यक्ति अस्वस्थ है शारीरिक व्याधि से ग्रसित है तो दूसरा उसकी सेवा कर उसे रोग से मुक्त करने का प्रयास करता है। परस्पर सहयोग और सेवा की जो भावना है वही सामाजिकता है।

मानव के सहयोग की भावना के पीछे पवित्र और उच्च विचार अठखेलियाँ करते हैं। उसके हृदय में स्नेह सौजन्य की सरस सरिता प्रवाहित होती है। समय समय पर सेवा परोपकार की उदात्त लहरें भी तरंगित होती हैं। सेवा की निर्मल भावना के कारण मानव पशुता से हटकर देवत्व की ओर अग्रसर होता है। श्रीमद्भगवद्गीता में[१] कहा है—निःस्वार्थ वृत्ति से परस्पर एक दूसरे का सहयोग करते हुए दूसरे के कार्य में हाथ बटाते हुए

१ [illegible] —भगवद्गीता ३/११

दिया कि स्वाध्याय से ज्ञानावरणीय कर्म का क्षय होता है।[1] स्वाध्याय से आत्मा में निर्मल ज्ञान की ज्योति जगमगाती है। ज्ञान का दिव्य व भव्य प्रकाश जीवन को आलोकित कर देता है। जीवन में जो कुछ भी दुःख दर्द के काले कजरारे बादल उमड घुमडकर मंडराते हैं उसका मूल अज्ञान है। साधना का लक्ष्य उस अज्ञान को नष्ट करना है। अज्ञान रूपी रोग को नष्ट करने के लिए स्वाध्याय सजीवनी बूटी है। स्वाध्याय अन्तः प्रक्षण है। बिना स्वाध्याय के ज्ञान दीप प्रज्वलित नहीं हो सकता।

स्वाध्याय नन्दनवन—स्वाध्याय को शास्त्रकारों ने नन्दनवन की उपमा दी है। नन्दनवन में चारों ओर एक से एक रमणीय, मन को आह्लादित करने वाले दृश्य हैं जहाँ पहुँचकर मानव सभी प्रकार की आधि, व्याधि और उपाधि को विस्मृत कर देता है और आनन्द के झूले में झूलने लगता है। उसी प्रकार स्वाध्यायरूपी नन्दनवन में पहुँचकर मानव अलौकिक आनन्द का अनुभव करता है। स्वाध्याय करते समय कभी जीवन को आमूल-चूल परिवर्तन करने वाली शिक्षाएं मिलती हैं तो कभी स्वर्ग और नरक के दृश्यों का वर्णन प्राप्त होता है तो कभी महापुरुषों के जीवन की दिव्य व भव्य झाँकियाँ पढने को मिलती हैं। जब कभी भी आपका मन हताश व निराश हो जीवन भार रूप प्रतीत होता हो तब आप स्वाध्याय कीजिए आपके जीवन में नवीन आशा व उल्लास का सचार हो जाएगा। नवीन स्फूर्ति अगडाइयाँ लेने लगेंगी।

स्वाध्याय और योग—योगदर्शन के भाष्यकार महर्षि व्यास ने कहा—स्वाध्याय से योग की प्राप्ति होती है और योग से स्वाध्याय की साधना होती है। जो साधक स्वाध्यायमूलक योग की सम्यक् साधना करता है उसके समक्ष परमात्मा प्रकट हो जाता है अर्थात् वह स्वयं परमात्मा बन जाता है।[2]

स्वाध्याय वाणी का तप है जिससे हृदय का मल नष्ट होकर वह निर्मल होता है। अन्तस् के ज्ञानदीप को प्रज्वलित करने के लिए स्वाध्याय आवश्यक ही नहीं अनिवार्य है। योगशिखोपनिषत्कार ने कहा है—जैसे लकडी में रही हुई अग्नि बिना घर्षण के प्रकट नहीं होती, उसी प्रकार ज्ञान-दीपक जो हमारे भीतर ही विद्यमान है स्वाध्याय के अभ्यास के बिना प्रदीप्त नहीं हो सकता।

---

१ उत्तराध्ययन २९/१८ २ योगदर्शन १/२८, व्यासभाष्य

स्वाध्याय : आत्मा की खुराक—स्वाध्याय आत्मा की खुराक है जो प्रति दिन आवश्यक है। वैदिक ऋषि ने तो स्वाध्याय का महत्त्व प्रतिपादन करते हुए यहाँ तक कहा है कि यथायोग्य सदाचार पालन, स्वाध्याय एवं प्रवचन कर्म किये जाने योग्य हैं, सत्य, स्वाध्याय एवं प्रवचन कर्म पालन करने योग्य है, इन्द्रिय दमन, स्वाध्याय एवं प्रवचन कर्म किये जाने योग्य हैं, बाह्येन्द्रिय दमन, स्वाध्याय एवं प्रवचन किये जाने योग्य हैं, लौकिक व्यवहार स्वाध्याय एवं प्रवचन किये जाने योग्य हैं। इस प्रकार प्रत्येक कार्य के साथ स्वाध्याय और प्रवचन शब्द को जोड़कर इस ओर संकेत किया गया है कि जीवन में इसका अत्यधिक गहरा महत्त्व है।[1]

ज्ञानरूपी दीप को निरंतर प्रज्वलित रखने के लिए स्वाध्याय रूप स्नेह की नितांत आवश्यकता है।

स्वाध्यायान्मा प्रमदः—प्राचीन युग में बारह वर्ष तक शिष्य गुरुकुल में रहकर अध्ययन पूर्ण कर पुनः घर लौटता तब आचार्य आशीर्वाद रूप में तीन शिक्षाएँ देता—

(१) सत्यं वद। (२) धर्मं चर। (३) स्वाध्यायान्मा प्रमदः।

आचार्य प्रथम सत्य बोलने के लिए और धर्म के आचरण के लिए कहता और फिर स्वाध्याय के लिए। सत्य व धर्म के मर्म को समझने के लिए स्वाध्याय अत्यंत आवश्यक है, इसलिए आचार्य ने उस पर बल देते हुए कहा—वत्स! स्वाध्याय में प्रमाद न करना। यहाँ रहकर तुमने जो कुछ भी ज्ञान प्राप्त किया है उसे कभी भी क्षीण न होने देना। स्वाध्याय से अभिनव ज्ञान की तो वृद्धि होगी ही, साथ ही पहले पढ़े हुए ज्ञान में भी ताजगी आएगी। कितनी सुंदर प्रेरणा है!

स्वाध्याय परम तप—भगवान महावीर ने द्वादश प्रकार के तपों में स्वाध्याय को आभ्यन्तर तप में स्थान दिया है। एक जैनाचार्य ने तो स्वाध्याय को परम तप कहा है। अनशन आदि तप भी स्वाध्याय के लिए ही है।

स्वाध्याय की परिभाषा

अब हम चिन्तन करना है कि स्वाध्याय क्या है? आचार्यों ने स्वाध्याय शब्द के अनेक अर्थ किये हैं—

अध्ययनं अध्यायः शोभनो अध्यायः स्वाध्यायः।[2]—सु—अध्याय अर्थात्

---

१ तैत्तिरीयोपनिषद्   २ आवश्यकसूत्र ४ अ

श्रेष्ठ अध्ययन का नाम स्वाध्याय है। तात्पय यह है कि आत्मकल्याण कारी पठन-पाठन रूप श्रेष्ठ अध्ययन का नाम ही स्वाध्याय है।

आचाय अभयदेव ने सु आङ' और 'अध्याय — सु' का अथ है 'सुष्ठ —भलीभांति आङ'— मर्यादा के साथ तथा अध्याय अध्ययन करने को स्वाध्याय कहा[1] है।

वदिक विद्वान ने स्वाध्याय का अथ किया है कि (स्वयमध्ययनम) किसी अन्य की सहायता के विना स्वय ही अध्ययन करना अध्ययन किये हुए का मनन और निदिध्यासन करना। इसका दूसरा अथ किया कि (स्वस्यात्मनोऽध्ययनम) अपने आपका अध्ययन करना, साथ ही यह चिन्तन करना कि स्वय का जीवन उनत हो रहा है या नही।

स्वाध्याय शब्द का दूसरी प्रकार से भी पद विभाग किया गया है वह है—स्वेन स्वस्य अध्ययन—स्वाध्याय —इसका अथ है—स्वय द्वारा स्वय का अध्ययन करना।

स्वाध्याय के प्रकार

भगवान महावीर ने स्वाध्याय के पाच प्रकार बताये हैं—वाचना, पच्छना परिवतना अनुप्रेक्षा और धमकथा।

वाचना—सदगुरुवय के मुँह से सूत्र-पाठ लेना और जसा उनका उच्चारण करना चाहिए उसी प्रकार उच्चारण करना वाचना है। वाचना म सूत्र के शब्दो पर पूण ध्यान दिया जाता है। हीनाक्षर अत्यक्षर पद हीन घोष-हीन आदि दोषो से पूण रूप से बचा का प्रयास होता है।

पच्छना—स्वाध्याय का यह दूसरा भेद है। सूत्र और उसके अथ पर भली भाति खब तक वितक, चिन्तन मनन करना चाहिए और जहा पर शंका उपबुद्ध हो उ का गुरुदेव से पूछकर समाधान करना चाहिए।

परिवतना—यह स्वाध्याय का तीसरा भेद है। एक ही सूत्र का पुन पुन गिनना परिवतना है। इससे पढा हुआ ज्ञान विस्मृत नही होता है।

अनप्रेक्षा—जो सूत्र वाचना ग्रहण की है उस पर तात्त्विक दृष्टि से गभीर चिन्तन करना। अनुप्रेक्षा से ज्ञान म चमक दमक पदा होती है। यह स्वाध्याय का महत्वपूण भेद है।

धमकथा—सूत्र वाचना पच्छना परिवतना, और अनुप्रेक्षा से जब तत्त्व का रहस्य हृदयगम हो जाय तब उस पर प्रवचन करना धमकथा है। चिन्तन मनन के पश्चात ही विचारामृत को जन-जन के समक्ष प्रस्तुत

---

१ स्थानांग २ २३०

[illegible] की वृद्धि होती है।
[illegible] होती है और
[illegible]
[illegible]
[illegible] है। इसी प्रकार
कथा भी [illegible] जाती है।

[illegible] और ग्रंथ [illegible]
[illegible] जाता है।

स्वाध्याय के नियम

स्वाध्याय के सम्बन्ध में आचार्यों ने कुछ नियम प्रस्तुत किये हैं। इन नियमों का यदि पालन किया जाए तो स्वाध्याय में विशेष आनन्द प्राप्त हो सकता है। वे नियम इस प्रकार हैं—

(१) एकाग्रता—स्वाध्याय में एकाग्रता होना अति आवश्यक है। जब तक मानसिक चंचलता रहती तब तक स्वाध्याय का आनन्द नहीं आ सकता और न सूत्र का रहस्य ही हृदयंगम हो सकता है।

(२) नियमित—स्वाध्याय में नियमितता होनी चाहिए। प्रतिदिन नियमानुसार स्वाध्याय करना चाहिए।

(३) विषयोपरति—स्वाध्याय हेतु ग्रंथों का चयन करते समय इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि उन विषय वासनाओं से ऊपर उठें, रागद्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि दुर्गुणों से बचें और इसके लिए ऐसे ही ग्रंथों का अध्ययन करना चाहिए जिनके पढ़ने से विषय विकार और कषायों की ओर चित्त वृत्ति न जाय।

(४) प्रकाश की उत्कण्ठा—स्वाध्याय करते समय साधक को यह दृढ़ आत्म विश्वास होना चाहिए कि मेरी अन्तरात्मा में अपूर्व प्रकाश फैल रहा है। मेरा शुभ संकल्प पूर्ण हो रहा है।

(५) स्वाध्याय का स्थान—स्वाध्याय के लिए स्थान की अनुकूलता भी आवश्यक है। स्थान एकान्त, कोलाहल रहित व स्वच्छ होना चाहिए।

स्वाध्याय और ग्रंथ—स्वाध्याय किन ग्रंथों का करना चाहिए यह एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। आजकल स्वाध्याय के नाम पर आधुनिक काम प्रधान गंदे उपन्यास, कहानियाँ व नाटकों को पढ़ने की परम्परा निरन्तर बढ़ रहा है और इस प्रकार के साहित्य का अत्यधिक प्रचार हो रहा है

जो सांस्कृतिक व नैतिक दृष्टि से अत्यधिक घातक है। इस प्रकार का विकारवर्धक साहित्य पढ़ना स्वाध्याय नहीं है। वह तो स्वाध्याय के नाम पर आत्म वंचना करना है। अतः स्वाध्याय के लिए वे ही ग्रंथ उपयोगी हैं जिनके पठन-पाठन से अहिंसा, संयम व तप की भावना उद्बुद्ध होती हो।

स्वाध्याय योग्य ग्रंथों के प्रकार

आगम साहित्य को अंग, उपांग, मूल, छेद आदि के रूप में विभक्त किया गया है और कालिक व उत्कालिक रूप में भी। कालिक श्रुत वह है जो प्रथम व अन्तिम प्रहर में पढ़े जाते हैं बीच के प्रहरों में नहीं। उत्कालिक वे हैं जो चारों प्रहरों में पढ़े जा सकते हैं। जिस आगम का जो काल नहीं है, उस काल में उस शास्त्र का स्वाध्याय करना ज्ञानातिचार है और जो काल स्वाध्याय के लिए नियत किया है उस समय स्वाध्याय न करना भी अतिचार है। क्योंकि स्वाध्याय का समय होते हुए भी प्रमाद वश जो साधक स्वाध्याय नहीं करता है वह ज्ञान का अपमान करता है और ज्ञान का द्वार बन्द करता है।

अस्वाध्याय के प्रकार

हम पूर्व बता चुके हैं कि स्वाध्याय करने वाले साधक को सदा विवेक रखना चाहिए। जो स्थान स्वाध्याय के अयोग्य हो वहाँ पर स्वाध्याय नहीं करना चाहिए। अस्वाध्याय के कारण विद्यमान होने पर भी जो स्वाध्याय करता है तो उसे ज्ञानातिचार लगता है और जो स्वाध्याय के अनुकूल स्थान होने पर भी स्वाध्याय नहीं करता उसे भी ज्ञानातिचार लगता है।

अस्वाध्याय के मूल दो भेद किये हैं—आत्म समुत्थ और पर समुत्थ। अपने व्रण में होने वाले रुधिरादि आत्म समुत्थ कहलाते हैं और दूसरों से होने वाले पर समुत्थ कहलाते हैं। आवश्यकनियुक्ति, चूर्णि व आवश्यक हरिभद्रीया वृत्ति में इस विषय पर बहुत ही विस्तार से चर्चा की गई है। स्थानांग में बत्तीस अस्वाध्यायों का वर्णन है। वह इस प्रकार है—दस आकाश सम्बन्धी, दस औदारिक सम्बन्धी, चार महाप्रतिपदा, चार महाप्रतिपदाओं के पूर्व की पूर्णिमाएं और चार संध्याएं।

दस आकाश सम्बन्धी अस्वाध्याय

(१) उल्कापात—आकाश से रेखा वाले तेजः पुंज

से रेखा एवं प्रकाश वाले तारे का टूटना, उल्कापात है। उल्कापात होने पर एक प्रहर तक सूत्र की अस्वाध्याय रहती है।

(२) दिग्दाह—किसी एक दिशा विशेष में मानो बहुत बड़ा नगर जल रहा हो इस तरह ऊपर की ओर प्रकाश दृष्टिगोचर होना और नीचे अन्धकार प्रतीत होना दिग्दाह है। दिग्दाह होने पर एक प्रहर तक अस्वाध्याय रहती है।

(३) गर्जित—बादल गरजने पर दो प्रहर तक शास्त्र की अस्वाध्याय रहती है।

(४) विद्युत—बिजली चमकने पर एक प्रहर तक शास्त्र की अस्वाध्याय होती है।

आर्द्रा से स्वाति नक्षत्र तक अर्थात वर्षा ऋतु में गर्जित और विद्युत की अस्वाध्याय नहीं होती चूंकि वर्षाकाल में ये सामान्य रूप से होते रहते हैं।

(५) निर्घात—बिना बादलवाले आकाश में व्यन्तर आदि द्वारा की गई गर्जना की प्रचण्ड ध्वनि को निर्घात कहते हैं। निर्घात होने पर एक अहोरात्रि तक अस्वाध्याय काल होता है।

(६) यूपक—शुक्ल पक्ष में प्रतिपदा, द्वितीया और तृतीया को सन्ध्या की प्रभा और चन्द्र की प्रभा का मिल जाना यूपक कहलाता है। इन दिनों में चन्द्रप्रभा से आवृत होने के कारण सन्ध्या की समाप्ति का ज्ञान नहीं होता। एतदर्थ इन तीनों दिनों में रात्रि के प्रथम प्रहर में स्वाध्याय करने का निषेध है।

(७) धूमिका—कार्तिक मास से लेकर माघ मास का समय मेघों का गर्भवास कहा जाता है। इस समय जो धूम्र वर्ण की सूक्ष्म जलरूप धूंअर पड़ती है वह धूमिका कहलाती है। वह धूमिका कभी कभी अन्य मासों में भी गिरती है। धूमिका में जल होता है जो भिगो देता है अतः वह जब तक गिरती रहती है तब तक स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

(८) महिका—शीतकाल में जो सफेद वर्ण की सूक्ष्म जल रूप धूंअर गिरती है वह महिका कहलाती है वह जब तक गिरती रहे तब तक अस्वाध्याय काल माना गया है।

(९) यक्षादीप्त—कभी कभी किसी दिशा में विद्युत चमकने जैसा कुछ-कुछ समय के पश्चात प्रकाश होता है वह यक्षादीप्त कहलाता है। जब तक वह दिखाई देता रहे तब तक स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

(१०) रज उद्घात—पवन के कारण आकाश में जो चारों ओर धूल छा जाती है वह रज उद्घात कहलाती है, जहाँ तक रज उद्घात रहे वहाँ तक स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

दस औदारिक सम्बन्धी अस्वाध्याय

(११—१३) अस्थि, मांस और रक्त—पञ्चेन्द्रिय तिर्यंच के अस्थि मांस और रक्त यदि साठ हाथ के अन्दर हो तो सम्भवकाल से तीन प्रहर तक स्वाध्याय करने का निषेध है। यदि साठ हाथ के अन्दर बिल्ली आदि चूहे आदि को मार दे तो एक दिन रात की अस्वाध्याय रहती है।

इसी तरह मानव सम्बन्धी अस्थि, मांस और रक्त का अस्वाध्याय भी जानना चाहिए। अन्तर इतना ही है कि इनका अस्वाध्याय सौ हाथ तक एक एक दिन रात का होता है। महिलाओं के मासिक धर्म का अस्वाध्याय तीन दिन का और बालक एवं बालिका के जन्म का क्रमशः सात और आठ दिन का माना गया है।

(१४) अशुचि—मल और मूत्र यदि स्वाध्याय स्थान के सन्निकट हो और दिखलायी देते हो अथवा उसकी दुर्गन्ध आती हो तो वहाँ पर स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

(१५) श्मशान—श्मशान के चारों ओर सौ सौ हाथ स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

(१६) चन्द्रग्रहण—चन्द्रग्रहण होने पर कम से-कम आठ और अधिक से अधिक बारह प्रहर तक स्वाध्याय नहीं करना चाहिए। यदि उदित हुआ चन्द्रमा ग्रसित हुआ हो तो चार प्रहर उस रात के एवं चार प्रहर आगामी दिवस के इस तरह आठ प्रहर तक स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

यदि चन्द्रमा प्रातःकाल के समय ग्रहण सहित अस्त हुआ हो तो चार प्रहर दिन के एवं चार प्रहर रात्रि के और चार प्रहर दूसरे दिन के, इस प्रकार बारह प्रहर तक स्वाध्याय नहीं करनी चाहिए।

यदि ग्रहण पूर्ण हुआ है तो भी बारह प्रहर तक स्वाध्याय नहीं करनी चाहिए। यदि ग्रहण अपूर्ण है तो आठ प्रहर तक अस्वाध्याय काल रहता है।

(१७) सूर्यग्रहण—सूर्यग्रहण होने पर कम से कम बारह और उत्कृष्ट सोलह प्रहर तक स्वाध्याय नहीं करनी चाहिए। यदि पूरा ग्रहण न हो तो बारह प्रहर तक और पूरा ग्रहण हो तो सोलह प्रहर तक अस्वाध्याय काल रहता है।

सूर्य अस्त होने के समय यदि वह ग्रसित हो तो चार प्रहर रात्रि के और बारह प्रहर आगामी अहोरात्रि के इस प्रकार सोलह प्रहर तक अस्वाध्याय होती है। यदि उदित होता हुआ सूर्य ग्रसित हो तो उस दिन रात के आठ प्रहर और दूसरे दिन रात के आठ प्रहर, इस प्रकार सोलह प्रहर तक स्वाध्याय नहीं करनी चाहिए।

(१८) पतन—राजा के निधन होने पर जब तक दूसरा राजा सिंहासनारूढ न हो तब तक स्वाध्याय नहीं करना चाहिए, नये राजा के सिंहासनारूढ हो जाने पर भी एक दिन रात स्वाध्याय नहीं करनी चाहिए।

राजा के रहने पर भी यदि राज्य में उपद्रव हो, जन-जीवन अशान्त हो, तो जब तक वह शान्त न हो जाय तब तक स्वाध्याय नहीं करना चाहिए। शान्ति और सुव्यवस्था हो जाने पर भी एक अहोरात्रि तक अस्वाध्याय काल माना गया है।

राज मन्त्री, गाँव का प्रमुख, शय्यातर एवं उपाश्रय के सन्निकट सात घरों के अन्दर किसी की मृत्यु हो जाय तो एक अहोरात्र तक स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

(१९) राजव्युद्ग्रह—राजाओं में परस्पर संग्राम हो जाय तो जब तक शान्ति न हो और शान्ति होने पर भी एक अहोरात्र तक स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

(२०) औदारिक शरीर—उपाश्रय में पंचेन्द्रिय तिर्यंच का या मनुष्य का निर्जीव शरीर पड़ा हो तो उस शरीर से सौ हाथ दूरी तक स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि चन्द्रग्रहण और सूर्यग्रहण को औदारिक सम्बन्धी अस्वाध्याय में इसलिए गिना है कि इनके विमान पृथ्वीकायिक जीवों द्वारा निर्मित हैं।

(२१-२८) चार महापूर्णिमा और चार महाप्रतिपदाएँ—आषाढ पूर्णिमा, आश्विन पूर्णिमा, कार्तिक पूर्णिमा और चैत्र पूर्णिमा—इन चार दिनों में महान महोत्सव होते थे। इन पूर्णिमाओं के पश्चात की प्रतिपदाएँ महाप्रतिपदाएँ कहलाती थीं। एतदर्थ इन चार महापूर्णिमाओं को और चार महाप्रतिपदाओं को स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

(२९-३२) प्रातःकाल, मध्याह्न, सायंकाल और अर्द्धरात्रि इन चारों को सन्ध्याकाल कहते हैं। इन सन्ध्याओं में भी दो घड़ी तक स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

अन्य ग्रन्थों में अन्य कुछ बातें और भी दी गई हैं।

आगम ज्ञान विज्ञान का अक्षय कोष—श्रमण भगवान महावीर विश्व की एक अनुपम ज्योति थे जिनका जन्म उस समय के प्रसिद्ध राजकुल में हुआ, पर उनका मन सांसारिकता में नहीं लगा और उस विराट वैभव को छोड़कर वे अनगार बने, उग्र तप जप व संयम की साधना कर करना बने। श्रमण श्रमणी श्रावक और श्राविकारूप तीर्थ की संस्थापना कर वे तीर्थंकर बने। उसके पश्चात उन्होंने जो प्रवचन किये वे आगम या सूत्र के नाम से आज विश्रुत हैं। आगम ज्ञान विज्ञान का अक्षय कोष है। उनमें केवल अध्यात्म और वैराग्य के ही उपदेश नहीं हैं किन्तु नीति व्यवहार और जीवन के हर पहलू को छूने वाले सुविचार रूपी अनमोल रत्न भरे हैं। उन आगमों के अथाह सागर में डुबकी लगाने वाला पुरुष ही उन रत्नों को प्राप्त कर सकता है। उस व्यक्ति की चित्तवृत्ति शांत और एकाग्र हो जाती है उसे परमानन्द की प्राप्ति होती है इसलिए स्वाध्याय को परम तप माना गया है।

(११) ध्यान

साधना पद्धति में ध्यान का अत्यधिक महत्त्व रहा है। कोई भी आध्यात्मिक धारा उसके बिना अपने साध्य तक नहीं पहुंच सकती है। यही कारण है भारत की सभी परम्पराओं ने ध्यान को महत्त्व दिया गया है। उपनिषद् साहित्य में[1] ध्यान का महत्त्व प्रतिपादित है। आचार्य पतंजलि ने योगदर्शन में उसके महत्त्व को स्वीकृत किया है। तथागत बुद्ध ने भी ध्यान को महत्त्व दिया था। भगवान महावीर ने तो ध्यान का अत्यधिक गहराई से विश्लेषण किया ही है।

ध्यान की परिभाषाएँ

ध्यानशतक[2] में मन की दो अवस्थाएँ बताई हैं—(१) चल अवस्था (२) स्थिर अवस्था। चल अवस्था चित्त है और स्थिर अवस्था ध्यान है। चित्त और ध्यान—ये मन के ही दो रूप हैं। जब मन एकाग्र निरुद्ध और गुप्त होता है तब वह ध्यान होता है।

'ध्यै चिन्तायाम्' —धातु से ध्यान शब्द निष्पन्न हुआ है। शब्दोत्पत्ति की दृष्टि से ध्यान का अर्थ चिंतन है किन्तु प्रवृत्तिलभ्य अर्थ उससे जरा पृथक् है। इस दृष्टि से ध्यान का अर्थ है चित्त को किसी एक लक्ष्य पर

---

१ छांदोग्योपनिषद्, ७-६ १/२

१ जं थिरमज्झवसाणं झाणं जं चलं तयं चित्तं। —ध्यान शतक २

स्थिर करना।[1] आचार्य उमास्वाति ने[2] लिखा है—एकाग्र चिन्ता तथा शरीर, वाणी और मन का निरोध ध्यान है। इससे स्पष्ट है कि जैन परम्परा में ध्यान का सम्बन्ध केवल मन से ही नहीं है अपितु शरीर, वाणी और मन की एकाग्र प्रवृत्ति अथवा निष्प्रकम्प स्थिति को ही ध्यान की [illegible] दी गई है।

आचार्य पतंजलि[3] ने—ध्यान का सम्बन्ध केवल मन से ही माना है। उनका अभिमत है जिसमें धारणा की गई हो उस देश में ध्येय विषयक [illegible] की एकतानता जो अन्य ज्ञान से अपरामृष्ट हो, वह ध्यान है। इस प्रवाह से तात्पर्य है जिस ध्येय विषयक प्रथम वृत्ति हो उसी विषय की द्वितीय और तृतीय हो[4]—ध्येय से अन्य ज्ञान बीच में न हो। पतंजलि ने एकाग्रता और निरोध ये दोनों चित्त के ही माने हैं। गरुड पुराण में[5] ब्रह्म और आत्मा की चिन्ता को ध्यान कहा है।

विसुद्धिमग्ग[6] के अनुसार ध्यान मानसिक है। पर जैनाचार्यों की यह विशिष्टता रही है कि उन्होंने ध्यान को मानसिक ही नहीं माना किन्तु वाचिक और कायिक भी माना है। पतंजलि ने[7] जिसे सम्प्रज्ञात समाधि कहा है वह जैन परिभाषा में शुक्लध्यान का पूर्व चरण है। पतंजलि ने जिसे असम्प्रज्ञात समाधि कहा है उसे जैन परम्परा में शुक्लध्यान का उत्तर चरण कहा है।[8] जो केवलज्ञानी हैं, उनके केवल निरोधात्मक ध्यान होता है, किन्तु जो केवलज्ञानी नहीं हैं उनके एकाग्रतात्मक और निरोधात्मक—ये दोनों प्रकार के ध्यान होते हैं।

---

१ आवश्यकनिर्युक्ति गाथा १४६३

२ उत्तमसंहननस्यैकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानमन्तर्मुहूर्तम्। —तत्त्वार्थ सूत्र ९/

३ तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्। —पातंजल योगदर्शन ३

४ पातंजल योगदर्शन ३ २

५ ब्रह्मात्मचिन्ता ध्यानं स्यात्। —गरुडपुराण अ० ४

६ विसुद्धिमग्गो पृ० १४१-१५१

७ तत्र पृथक्त्ववितर्कसविचारैकत्ववितर्कनिर्विचाराख्यशुक्लध्यानभेदद्वये सम्प्रज्ञातः समाधिर्वृत्त्यर्थानां सम्यग्ज्ञानात्। —पातंजल योगदर्शन, यशोविजयजी, १,१

८ वही० यशोविजयजी १/१८

आचार्य भद्रबाहु के सामने एक प्रश्न समुत्पन्न हुआ कि 'यदि ध्यान का अर्थ मानसिक एकाग्रता ही है तो उसकी संगति जैन परम्परा जो मानसिक, वाचिक और कायिक एकाग्रता को ध्यान मानती है उसके साथ किस प्रकार हो सकती है ?'[1] आचार्य भद्रबाहु ने इस प्रश्न का समाधान देते हुए कहा—'शरीर में वात, पित्त और कफ ये तीन धातु है। उनमें से जो प्रचुर होता है उसी का व्यपदेश किया जाता है। जैसे वायु कुपित होने पर वायु कुपित है ऐसा कहा जाता है। उसका तात्पर्य यह नहीं कि पित्त और श्लेष्म ठीक है। इसी तरह मन की एकाग्रता ध्यान है। यह परिभाषा भी प्रधानता को सलक्ष्य में रखकर की गई है।'[2]

मेरा शरीर अकंपित हो इस तरह दृढ संकल्प करके जो स्थिरकाय बनना है उसे कायिक ध्यान कहते है।[3] इसी तरह दृढ संकल्पपूर्वक अकथनीय भाषा का परित्याग करना वाचिक ध्यान है[4] और जहाँ पर मन एकाग्र होकर अपने लक्ष्य के प्रति सलग्न होता है शरीर और वाणी भी उसी लक्ष्य की ओर लगते हैं वहाँ पर मानसिक वाचिक और कायिक—ये तीनों ध्यान एक साथ हो जाते है।[5]

मन सहित काया और वाणी की जब एकरूपता मिलती है वह पूर्ण ध्यान है। उसमें अखण्डता और एकाग्रता होती है। एकाग्रता स्वाध्याय में भी होती है और ध्यान में भी। किन्तु स्वाध्याय में एकाग्रता घनीभूत नहीं होती, जबकि ध्यान में वह घनीभूत होती है।

ध्यान में चेतना की वह अवस्था है जो अपने आलम्बन के प्रति पूर्णतया एकाग्र होती है। एकाग्र चिन्तन ध्यान है। चेतना के विराट आलोक में चित्त विलीन हो जाता है वह ध्यान है।

अतीत काल में त्रियोग के निरुन्धन को ध्यान कहा गया पर उसके बाद आचार्य पतंजलि आदि के प्रभाव से जैनाचार्यों ने भी ध्यान की परिभाषाओं में कुछ परिवर्तन किया। उन्होंने भी वाचिक और कायिक एकाग्रता को गौण करके मानसिक एकाग्रता पर बल दिया। आचार्य भद्रबाहु ने चित्त को किसी भी विषय में स्थिर करने को ध्यान कहा है।[6] आचार्य

---

१ आवश्यकनिर्युक्ति गाथा १४६७

२ आवश्यकनिर्युक्ति गाथा १४६८-६९ ३ वही० १४७४

४ वही० १४७६-७७ ५ वही० १४७८

६ वही० १४५६—चित्तस्सेगग्गया हवइ झाणं।

हेमचन्द्र[१] ने भी अभिधान चिन्तामणि कोश मे इसी परिभाषा का दुहरा… । उन्होंने कहा — अपने विषय मे मन का एकाग्र हो जाना ध्यान है।

जहाँ तक चित्त स्थिर नही होगा वहाँ तक संवर और निर्जरा … हो सकती और बिना संवर और निर्जरा के ध्येय की प्राप्ति नहीं होती। सामान्य रूप मे मानव की शक्तियाँ इधर-उधर बिखरी हुई रहती हैं। सिनेमा के चलचित्रों के समान प्रतिपल प्रतिक्षण उसके विचार परिवर्तित होते रहते हैं। जब तक विकेन्द्रित विचार एकाग्र नही बनते वहाँ तक सिद्धि नहीं मिलती भले ही उसमें प्रसिद्धि मिल जाय। यही कारण है … भगवद्गीता[२] मनुस्मृति[३], रघुवंश[४] और अभिज्ञान शाकुन्तल[५] नामक … ध्यान का महत्त्व बताते हुए स्पष्ट कहा है— 'ज्ञानात् ध्यानं विशिष्यते' … ज्ञान से ध्यान बढ़कर है। ध्यान से मन स्थिर और शान्त हो जाता है उसमे बुद्धि की स्फुरणा होती है—"स्वस्थ चित्ते बुद्धयः प्रस्फुरन्ति"।

चित्त को किसी एक केन्द्र पर स्थिर करना अत्यन्त कठिन है। … सत्य है कि किसी भी एक विषय पर अन्तमुहूर्त से अधिक मन स्थिर … हो पाता।[६] जब तक चचल मन पर विजय प्राप्त नहीं होती तब तक … संभव नही।[७] जैसे जलाशय मे हर क्षण तरग तरंगित होती रहती हैं … ही मन मे विचार-तरगें उठती हैं। उन उठी हुई तरगो को … ही ध्यान है। मन को बिना वश मे किये ध्यान सिद्ध नही हो … दर्पण मे रूप नही निहारा जा सकता वैसे ही रागादि … शुद्ध आत्मस्वरूप का चिन्तन नही किया जा सकता है।

आराधनासा … यहाँ तक कहा …
प्राप्त भी की हो पर … से ध्यान नही
सभी निरर्थक है। … मे आकुल
मिटेगी। आकुलता … के लिये …
चुकी है। ध्यान …

आय तो यत्रतत्र ध्यान छोड़ने की आवश्यकता नहीं है। किंतु निरंतर अभ्यास से शनैः शनैः वह चंचलता भी नष्ट हो जाती है।

ध्यान के भेद प्रभेद

ध्यान के यों अनेक भेद प्रभेद किये जा सकते हैं पर मुख्य रूप से ध्यान के दो भेद होते हैं—(१) अप्रशस्त ध्यान और (२) प्रशस्त ध्यान। इन्हें अशुभ और शुभ ध्यान भी कह सकते हैं। आर्तध्यान और रौद्रध्यान—ये दो ध्यान अप्रशस्त हैं कर्मबंधन के कारण हैं। धर्म और शुक्ल ध्यान ये दोनों प्रशस्त हैं।

वैदिक परम्परा ने उन्हें क्लिष्ट और अक्लिष्ट ध्यान की संज्ञा दी है। बौद्ध आचार्य बुद्धघोष ने प्रशस्त ध्यान के लिए उस कुशल शब्द का और अप्रशस्त ध्यान के लिए अकुशल शब्द का प्रयोग किया है। कुशल ध्यान से समाधि होती है क्योंकि वह अकुशल कर्मों का दहन करता है।[1] जो ध्याया जाय वह ध्येय है और ध्याता का ध्येय में स्थिर होना ध्यान है।[2] निश्चय नय की दृष्टि से आत्मा अपनी आत्मा में, अपनी आत्मा द्वारा अपनी आत्मा के लिए, अपनी आत्मा के हेतु से और अपने आत्मा का ध्यान करता है वही ध्यान कहलाता है।[3] यह प्रशस्त ध्यान ही मोक्ष का हेतु है।[4]

ज्ञानार्णव में[5] ध्यान के अशुभ, शुभ और शुद्ध—ये तीन भेद किये गये हैं। जो आर्त, रौद्र, धर्म और शुक्ल इन चार ध्यानों में समाविष्ट हो जाते हैं।

आचार्य शुभचन्द्र[6] और हेमचन्द्र[7] ने पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ, रूपातीत—धर्मध्यान के इन चार अवान्तर भेदों का वर्णन किया है। इनकी उपयोगिता चित्तवृत्ति को एकाग्र करने की अपेक्षा से ही है। धर्मध्यान के मौलिक रूप आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय और संस्थान

१ विसुद्धिमग्ग
२ (क) तत्त्वानुशासन ६६ (ख) इष्टोपदेश ४७
३ तत्त्वानुशासन ७४
४ (क) वही ३४ (ख) ज्ञानार्णव ३/२४
५ ज्ञानार्णव ३/२८-३१
६ ज्ञानार्णव ३७/१
७ योगशास्त्र ७/८

चिन्तन के स्थान पर पिण्डस्थ आदि ध्यान प्राप्त होते हैं। ज्ञान, दर्शन, चारित्र और वैराग्य भावना के स्थान पर पार्थिवी, आग्नेयी, वायवी और वारुणी—ये चार धारणाएँ मिलती हैं। संभव है इस परिवर्तन का कारण जन-जन के मन में हठयोग और तन्त्र शास्त्र के प्रति जो आकर्षण था जिसके कारण जैनाचार्यों ने भी अपने ग्रन्थों में उन विषयों का समावेश किया हो। विज्ञों का ऐसा मानना है कि पिण्डस्थ आदि जो ध्यान चतुष्टय है उसका मूल स्रोत तन्त्र शास्त्र रहा है। गुणगाना प्रभृति ग्रन्थों में ध्यान चतुष्टय का वर्णन प्राप्त होता है।

नमस्कार स्वाध्याय में[1] ध्यान के अठाईस भेद और प्रभेद भी मिलते हैं। यदि हम गहराई से अनुचिन्तन करें तो ये सभी भेद प्रभेद आर्त, रौद्र, धर्म और शुक्ल—इन चार ध्यानों में समाविष्ट हो जाते हैं। हम यहाँ पर आर्तध्यान, रौद्रध्यान के भेद प्रभेद पर चिन्तन न कर सिर्फ धर्मध्यान और शुक्लध्यान[2] पर ही चिन्तन प्रस्तुत कर रहे हैं। क्योंकि आर्त और रौद्र ध्यान संसार के ही हेतु हैं मोक्ष के हेतु नहीं है, इसलिए मोक्षमार्ग में इनका कोई स्थान नहीं है।

धर्मध्यान

धर्म का अर्थ आत्मा को निर्मल बनाने वाला तत्त्व है। जिस पवित्र आचरण से आत्मा की शुद्धि होती है वह धर्म है। उस धर्म में आत्मा को स्थिर करना धर्मध्यान है। इसी धर्मध्यानरूपी अग्नि के द्वारा आत्मा कर्म रूपी काष्ठ को जलाकर भस्म करता है और अपना शुद्ध-बुद्ध सिद्ध निरंजन स्वरूप प्राप्त कर लेता है।

धर्मध्यान के भेद

धर्मध्यान के भगवती[3] स्थानांग[4] और औपपातिक[5] आदि में आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय, संस्थानविचय—ये चार प्रकार बताये गये हैं। यहाँ विचय का अर्थ निर्णय अथवा विचार है।

(१) आज्ञाविचय—वीतराग भगवान की जो आज्ञा है उनका निवृत्तिमय उपदेश है, उस पर दृढ़ आस्था रखते हुए उनके द्वारा उपदिष्ट

---

१ नमस्कार स्वाध्याय ग्रन्थ पृ० २२५

२ ध्यानाग्नि दग्ध कर्मांशु सिद्धात्मा स्यान्निरंजन ।

—योगशास्त्र (हेमचन्द्र)

३ भगवती २५/७ ४ स्थानांग ४/१

मार्ग पर चलना। निषिद्ध कार्यों का परित्याग करना क्योंकि कहा है आणाए तवो आणाए संजमो[1] आणाए मामगं धम्मं[2] यह धर्मध्यान का प्रथम भेद आज्ञाविचय है।

(२) अपायविचय—अपाय का अर्थ दोष या दुर्गुण है। आत्मा अनन्त काल से मिथ्यात्व अव्रत प्रमाद कषाय और योग के कारण इस विश्व में परिभ्रमण कर रहा है। उन दोषों से आत्मा किस प्रकार मुक्त हो सकता है? दोषों की विशुद्धि कैसे हो सकती है? इस विषय पर चिंतन करना अपायविचय है।

(३) विपाकविचय—आत्मा अनेक दोषों के कारण कर्म का बंधन करता है। मोह की मदिरा में उन्मत्त रहने के कारण कर्म बाँधते समय अत्यन्त आच्छादित होता है। किन्तु ज्ञानी आत्मा कर्मों के विपाक को समझता है। वह जानता है कि आसक्ति अज्ञान व मोह से बाँधे हुए कर्मों का विपाक, जब होता है तो अत्यन्त कष्ट होता है। सुखविपाक और दुःख विपाक में कथाओं के माध्यम से उन विपाकों पर चिंतन किया है। इस ध्यान में कर्मों के कटु परिणामों पर चिंतन होता है और उनसे बचने का संकल्प किया जाता है।

(४) संस्थानविचय—संस्थान का अर्थ आकार है। लोक के आकार पर चिन्तन करते हुए मेरा आत्मा इन विविध योनियों में परिभ्रमण करके आया है ऐसा विचार करके आत्मस्वरूप का चिन्तन करना, संस्थान विचय धर्मध्यान कहलाता है।

ध्याता के लक्षण

धर्मध्यान करने वाले साधक के लक्षण इस प्रकार है।

धर्मध्यान के चार लक्षणों में सर्वप्रथम लक्षण आज्ञा-रुचि है। यहाँ पर रुचि का अर्थ दृढ़ विश्वास—गहरी निष्ठा है। जिनेश्वर देव की आज्ञा में—सद्गुरुजनों की आज्ञा में पूर्ण विश्वास रखना, उस पर आचरण करना। यदि जिनेश्वर देव की आज्ञा में और जिनेश्वर देव पर निष्ठा नहीं है उस कार्य को करने की लगन नहीं है तो वह साधक उस कार्य को किस प्रकार कर सकेगा? इसलिए सर्वप्रथम जिनाज्ञा में रुचि होना आवश्यक है।

दूसरी निसर्ग रुचि है। धर्म पर सत्य पर सहज श्रद्धा होती है।

---

१ उवोघसत्तरि १२   २ आचारांग ६/२

उस श्रद्धा का कारण ज्ञान न होकर मिथ्यात्व मोहनीय कर्म का क्षयोपशम होता है जिसके कारण स्वतः रुचि होती है।

तीसरी है सूत्र रुचि। जिनवाणी को सुनने की जो रुचि होती है वह सूत्र रुचि है। जब तक शास्त्र श्रवण करने की रुचि न होगी वहाँ तक धर्म के गंभीर रहस्य ज्ञात नहीं हो सकते। इसलिए यह रुचि आवश्यक है।

चतुर्थ है अवगाढ रुचि। अवगाढ का अर्थ गहराई में अवगाहन करना है। जैसे समुद्र या जलाशय में गहराई से डुबकी लगाना अवगाहन कहलाता है। साधक शास्त्रों का अध्ययन करता है पर जब तक उस शास्त्र में अवगाहन नहीं करता उसके अर्थ पर चिन्तन नहीं करता तब तक उन शास्त्रों के गुरु गंभीर रहस्य का परिज्ञान नहीं होता। अवगाहन करने की रुचि से ही आगम के रत्न उपलब्ध होते हैं।

इन चार लक्षणों से धर्म ध्यानी की आत्मा की पहचान हो जाती है।

ध्यान के आलंबन

धर्मध्यान के चार आलंबन हैं—(१) वाचना (२) पृच्छना, (३) परिवर्तना और (४) धर्मकथा।[1] इन चार से धर्मध्यान में स्थैर्य प्राप्त होता है।

धर्मध्यान की चार भावनाएँ

धर्मध्यान की चार भावनाएँ बताई गई हैं—(१) एकत्वानुप्रेक्षा (२) अनित्यानुप्रेक्षा (३) अशरणानुप्रेक्षा, (४) संसारानुप्रेक्षा।[2]

इन चार भावनाओं से मन में वैराग्य की लहर तरंगित होती है सांसारिक वस्तुओं के प्रति आकर्षण कम हो जाता है और आत्मा शान्ति के क्षणों में विचरण करता है।

ध्येय के भेद

जैनाचार्यों ने ध्येय के सम्बन्ध में कहा है कि ध्येय तीन प्रकार का होता है—

(१) परालंबन—इसमें दूसरों के आलंबन लेकर चित्त को स्थिर करने का प्रयास किया जाता है। जैसे एक पुद्गल पर दृष्टि को स्थिर रखकर ध्यान करना। भगवान महावीर ने इस प्रकार का ध्यान किया था।

---

१ देखिए—इसी अध्याय का 'स्वाध्याय तप : एक अनुचिन्तन' शीर्षक।

२ देखिए—इसी पुस्तक का 'साधना की सप्राणता : भावना योग' नामक अध्याय।

(२) **स्वरूपावलम्बन**— इसमें बाह्य दृष्टि बन्द कर कल्पना के नेत्रों से स्वरूप का चिंतन किया जाता है। इस आलंबन में अनेक प्रकार की कल्पनाएं संजोई जाती हैं। आचार्य हेमचन्द्र और शुभचन्द्र ने पिण्डस्थ, पदस्थ आदि जो ध्यान व धारणा के प्रकार बताये हैं वे सभी इसी के अन्तर्गत आते हैं।

(३) **निरवलम्बन**—इसमें किसी प्रकार का अवलंबन नहीं होता। मन विचारों से पूर्णतया शून्य होता है। मन में न किसी प्रकार के विचार होते हैं और न विकल्प ही।

स्वरूपावलम्बन के अन्तर्गत परिगणित पिण्डस्थ आदि ध्यान का स्वरूप इस प्रकार है—

पिण्डस्थ ध्यान—पिण्ड का अर्थ शरीर है। एकांत शांत स्थान पर बैठकर पिण्ड अर्थात् शरीर में स्थित आत्मदेव का ध्यान करना पिण्डस्थ ध्यान है। इसमें विशुद्ध आत्मा का चिंतन किया जाता है।

प्रस्तुत ध्यान करने के लिए साधक वीरासन, पद्मासन, सुखासन सिद्धासन या किसी भी आसन में बैठकर आंखें झुकाकर दृष्टि को नासाग्र पर स्थिर कर ले, मेरुदण्ड सीधा और स्थिर रखे। यह ध्यानमुद्रा कहलाती है।[1]

इस ध्यान मुद्रा में अवस्थित होकर शरीरस्थ आत्मा का चिंतन किया जाता है। साधक यह कल्पना करता है कि मेरा आत्मा पूर्ण निर्मल है। वह चन्द्र की तरह पूर्ण कांतिमान है। वह मेरे शरीर में पुरुष आकृति में अवस्थित है। वह स्फटिक सिंहासन पर बैठा हुआ है। इस प्रकार कमनीय कल्पना से आत्मस्वरूप पर साधक चिन्तन करता है।

आचार्य हेमचन्द्र ने पिण्डस्थ ध्यान की पार्थिवी, आग्नेयी, वायवी, वारुणी, तत्त्वरूपवती ये पांच धारणाएं बताई हैं।[2] धारणा का अर्थ ध्येय में चित्त को स्थिर करना है।[3]

पार्थिवी धारणा—अपने शरीर स्थित अथवा सशरीर आत्मा को पृथ्वी का पीतवर्ण की कल्पना के साथ बांधना पार्थिवी धारणा है।

---

१ अन्तश्चेतो बहिश्चक्षुरधः स्थाप्य सुखासनम्।
समत्वं च शरीरस्य ध्यानमुद्रेति कथ्यते॥ —गोरक्षाशतक ६५

२ योगशास्त्र ७/९

३ धारणा तु क्वचिद् ध्येये चित्तस्य स्थिरबंधनम्।
—अभिधानचिंतामणि (हेमचन्द्र) १/८४

प्रस्तुत धारणा मे साधक मध्य लोक या क्षीर समुद्र के सदृश स्वच्छ जल से परिपूर्ण होने की कल्पना करे। उस क्षीर समुद्र मे एक हजार दल वाले स्वर्ण के समान चमकते हुए कमल की कल्पना करे। उस कमल के बीच स्वर्णमय मेरु पर्वत की कल्पना करे। उस मेरु पर्वत के उच्चतम शिखर पर पाण्डुक वन मे अर्द्धचन्द्राकार पाण्डुक शिला पर उज्ज्वल स्फटिक सिंहासन सुशोभित हो रहा है तथा उस सिंहासन पर मेरा आत्मा योगी के रूप मे आसीन है ऐसी कल्पना करे। यह सम्पूर्ण कल्पना चलचित्र के चित्रो के समान दृष्टिपथ मे साकार होती रहनी चाहिए। पृथ्वी का बीजाक्षर 'सोऽहं' का निरतर अजपाजाप भी चलता रहना चाहिए। इस प्रकार की कल्पना से साधक का मन स्थिर हो जाता है।

याज्ञवल्क्य[1] के अनुसार पार्थिवी धारणा सिद्ध होने पर शरीर मे किसी भी प्रकार का रोग नही होता।

(२) आग्नेयी धारणा - पार्थिवी धारणा के पश्चात साधक आग्नेयी धारणा मे प्रविष्ट होता है। वह यह कल्पना करता है कि उसका आत्मा सिंहासन पर विराजमान है और नाभि के भीतर हृदय की ओर ऊपर मुख किये हुए सोलह पखडियो वाला रक्त कमल या श्वेत कमल है। उन पखुडियो पर वह अ, आ, इ, ई उ, ऊ, ऋ, ॠ, ऌ, ॡ, ए ऐ, ओ औ अ, अ इन सोलह स्वरो की स्थापना करता है और कमल के मध्य मे अर्थात कर्णिका पर अग्नि के समान दैदीप्यमान 'ह' अक्षर की कल्पना करता है। फिर वह उस कमल के ठीक ऊपर हृदय स्थान मे नीचे की ओर मुख किये हुए औधा मुख वाले मटिया रग के कमल की कल्पना करता है और उसके प्रत्येक पत्ते पर श्याम रग से लिखे हुए आठ कर्मों (ज्ञानावरण आदि) का चिंतन करता है। प्रस्तुत चिंतन मे नाभि में स्थित कमल के बीच लिखे हुए ह अक्षर के ऊपरी सिर की रेफ में से धुआं निकल रहा है- इस प्रकार की कल्पना करता है। उसी के साथ रक्तवर्ण की ज्वाला की भी कल्पना करता है और यह भी कल्पना करता है कि प्रतिपल बढती हुई उस ज्वाला ने आठ कर्मों को जला दिया है तथा फिर कमल के मध्य भाग को छेदकर वह ज्वाला मस्तक तक पहुच गई है। तदुपरान्त यह चिन्तन करे कि ज्वाला की एक रेखा बाइ ओर से और दूसरी रेखा दाहिनी ओर से निकल रही है तथा दोनो ज्वाला रेखाएँ नीचे आकर पुन मिल गई

---

1 योगवासिष्ठ निर्वाणप्रकरण ७१ से ९२।

हैं। इस आकृति से शरीर के बाहर तीन कोण वाला अग्निमंडल बन गया है तथा उसमें अग्नि का बीजाक्षर 'र' स्फुरित हो रहा है। उस अग्नि मण्डल से तीव्र ज्वालाएँ धधकती है जिससे आठों कर्म पूर्ण रूप से भस्म हो गये हैं। तदुपरान्त साधक यह चिन्तवन करे कि जलाने को कुछ भी नहीं बचा है इसलिए धीरे धीरे अग्नि शांत हो गई है और आत्मा अपने तेजस्वी रूप में दमकने लगा है। उसके दिव्य आलोक में साधक अपना प्रतिबिम्ब देखता है।

उपनिषदों के अनुसार जिसको आग्नेयी धारणा सिद्ध हुई हो उस योगी को धधकती हुई आग में डाल दिया जाये तो भी वह नहीं जलता है।

(३) **वायवी धारणा**—आग्नेयी धारणा से कर्मों को भस्म कर देने के पश्चात पवन की कल्पना की जाती है और उसके साथ मन को जोड़ते हैं। साधक चिन्तन करता है कि तेज पवन चक्राकार गति में चल रहा है साथ ही वायु का बीजाक्षर 'य' भी स्फुरित हो रहा है। उस पवन से आठ कर्मों की राख अनंत आकाश में उड़ गई है। हृदय कमल सफेद और उज्ज्वल हो गया है।

जिसे वायवी धारणा सिद्ध हो जाती है वह योगी आकाश में उड़ सकता है। वायु रहित स्थान में भी वह जीवित रह सकता है। उसे वृद्धावस्था नहीं आती।

(४) **वारुणी धारणा**—वायवी धारणा के पश्चात साधक वारुणी धारणा में प्रविष्ट होता है। वह कल्पना करता है कि आकाश में उमड़ घुमड़कर घटाएँ आ रही हैं, बिजली कौंध रही है तेज वर्षा हो रही है। उस वर्षा से मेरे आत्मा पर लगी हुई कर्मरूपी धूलि साफ हो गयी है। आत्मा पूर्ण निर्मल और पवित्र हो गया है। इस धारणा में जल के बीजाक्षर 'व' का ध्यान किया जाता है। कोई-कोई जल का बीजाक्षर 'प' भी मानते हैं।

कहा जाता है कि जिसे वारुणी धारणा सिद्ध हो जाती है वह साधक अगाध जल में भी डूबता नहीं। उसके समस्त ताप और पाप शांत हो जाते हैं।[1]

तत्वरूपवती धारणा—इसे तत्वभू धारणा भी कहते हैं। इसे आकाशी धारणा भी कहा गया है। इस धारणा में साधक यह चिन्तन करता है—

---

1 योगवाशिष्ठ निर्वाण प्रकरण

रूपातीत ध्यान—यह धर्मध्यान का चतुर्थ प्रकार है। इसमें निरंजन निराकार सिद्ध स्वरूप का ध्यान किया जाता है। आत्मा स्वयं को कर्ममलमुक्त सिद्ध स्वरूप में अनुभव करता है। इस ध्यान में किसी प्रकार की कोई कल्पना नहीं होती न मन या तन का स्मरण ही होता है। साधक अपने मन को इस प्रकार साध लेता है कि बिना किसी आलंबन के मन को स्थिर कर लेता है। वह यह जानता है कि मैं अरूपी हूं। जो कुछ भी दिखाई दे रहा है वह आत्मा का स्वभाव नहीं है वरन कर्मों का स्वभाव है। यह ध्यान निरालम्ब में होता है। इस ध्यान तक पहुंचने के लिए प्रारंभिक भूमिका अपेक्षित है। इस ध्यान में ध्याता, ध्येय और ध्यान के विकल्प मिट जाते हैं। जैसे नदियां समुद्र में अपना अस्तित्व विलीन कर देती है वैसे ही ध्याता और ध्येय ध्यान में एकाकार हो जाते हैं।

शुक्लध्यान

यह ध्यान की सर्वोत्कृष्ट दशा है। जब मन में से विषय वासना नष्ट हो जाती है तो वह पूर्ण विशुद्ध हो जाता है। पवित्र मन पूर्णरूप एकाग्र होता है, उसमें स्थैर्य आता है। शुक्लध्यान के स्वरूप पर चिन्तन करते हुए लिखा है कि जिस ध्यान में बाह्य विषयों का सम्बन्ध होने पर भी साधक का ध्यान उसकी ओर तनिक मात्र भी नहीं जाता, उसके मन में वैराग्य की ही प्रबलता होती है। इस ध्यान की स्थिति में साधक के शरीर पर कोई प्रहार करता है उसका छेदन भेदन करता है तो भी उसके मन में किंचित मात्र भी संक्लेश नहीं होता। भयंकर से भयंकर वेदना होने पर भी वह वेदना का अनुभव नहीं करता। वह देहातीत स्थिति में रहता है।

शुक्लध्यान के भेद प्रभेद

शुक्लध्यान के दो भेद किये गये हैं—(१) शुक्लध्यान और (२) परम शुक्लध्यान। चतुर्दश पूर्वी का ध्यान शुक्लध्यान है और केवलज्ञानी का ध्यान परम शुक्लध्यान है। प्रस्तुत भेद विशुद्धता और अधिकतर स्थिरता की दृष्टि से किया गया है।

स्वरूप की दृष्टि से शुक्लध्यान के—(१) पृथक्त्ववितर्क सविचार (२) एकत्ववितर्क अविचार, (३) सूक्ष्मक्रिया प्रतिपाती और (४) समुच्छिन्न क्रियानिवृत्ति—ये चार प्रकार हैं।

(१) पृथक्त्ववितर्क सविचार—इस ध्यान में तर्कयुक्त चिंतन के माध्यम से श्रुतज्ञान के विविध भेदों का गहराई से चिंतन किया जाता

है। द्रव्य गुण-पर्याय पर चिन्तन करते हुए कभी द्रव्य पर कभी पर्याय पर कभी गुण पर—इस प्रकार भेद प्रधान चिन्तन करना।

(२) **एकत्ववितर्क अविचार**—जब भेद प्रधान चिन्तन करते हुए मन स्थिर हो जाता है तो उसके पश्चात जो अभेद प्रधान चिन्तन किया जाता है वह एकत्ववितर्क अविचार ध्यान कहलाता है। इस ध्यान में वस्तु के एक रूप को ध्येय बनाया जाता है। यथा—किसी एक द्रव्य या उसकी एक पर्याय पर चिन्तन करना। जैसे—जिस स्थान में पवन नहीं होता वहाँ पर दीपक की लौ स्थिर रहती है सूक्ष्म हवा तो उस दीपक को मिलती ही है, किन्तु तेज हवा नहीं, वैसे ही प्रस्तुत ध्यान में सूक्ष्म विचार चलते हैं पर साधारण अथवा स्थूल विचार स्थिर रहते हैं जिसके कारण इसे निर्विचार ध्यान कहा गया है। एक ही वस्तु पर विचार स्थिर होने से यह निर्विचार है।

(३) **सूक्ष्म क्रियाप्रतिपाती**—प्रस्तुत ध्यान में अत्यन्त सूक्ष्म क्रिया चलती है। जिस विशिष्ट साधक को यह स्थिति प्राप्त हो जाती है वह पुनः ध्यान से च्युत नहीं हो सकता इसीलिए इसे सूक्ष्मक्रिया अप्रतिपाती कहा है। यह ध्यान छद्मस्थ व्यक्ति का नहीं होता। जिन्हें केवलज्ञान-केवलदर्शन प्राप्त हो गया है वे सर्वज्ञ ही इस ध्यान के अधिकारी हैं। जब केवलज्ञानी का आयुष्य केवल अन्तर्मुहूर्त अवशेष रहता है उस समय उस वीतरागात्मा में योग निरोध की प्रक्रिया प्रारम्भ होती है। स्थूल काययोग के सहारे वे स्थूल मनोयोग को सूक्ष्म रूप देते हैं और फिर सूक्ष्म काययोग के अवलंबन से सूक्ष्म मन और वचन का निरोध करते हैं। केवल सूक्ष्म काययोग अर्थात श्वासोच्छ्वास की प्रक्रिया ही शेष रहती है। उस स्थिति का ध्यान ही प्रस्तुत ध्यान है।

(४) **समुच्छिन्न क्रिया निवृत्ति**—यह शुक्लध्यान की चतुर्थ भूमिका है। तृतीय ध्यान में केवल श्वासोच्छ्वास की सूक्ष्म क्रिया रहती है पर इस ध्यान में श्वासोच्छ्वास का भी निरुन्धन हो जाता है। आत्म प्रदेश पूर्ण रूप से निष्कम्प बन जाते हैं। मन वचन काया के योगों की चंचलता पूर्ण रूप से समाप्त हो जाती है। आत्मा तेरहवें गुणस्थान से चौदहवें गुणस्थान में पहुँच जाता है। चौदहवें गुणस्थान में आत्म प्रदेशों की निष्कम्प अवस्था होती है। इस क्रिया से पुनः निवृत्त नहीं होता। इसीलिए इसे समुच्छिन्न क्रिया अनिवृत्ति शुक्लध्यान कहा है। इस ध्यान के दिव्य प्रभाव से वेदनीय कर्म नामकर्म गोत्रकर्म और आयुष्य कर्म—ये चारों कर्म नष्ट हो जाते हैं जिससे वह सिद्ध बुद्ध मुक्त हो जाता है।

का गहरा सम्बन्ध भाव संस्थान से है। ज्यों-ज्यों मन में श्वास धीरे-धीरे सूक्ष्म होता चला जाता है। श्वास-प्रश्वास की सूक्ष्मता में ही कायोत्सर्ग घटित होता है। उसी साथ ही साधक को शरीर पृथक है इसका बोध होने लगता है और ऐसा लगने लगता है जब साधक तन और मन से ऊपर उठकर आत्मस्थ हो जाता है।

प्राचीन योग के आचार्यों ने श्वास की कुछ स्थितियाँ बनाई हैं— मन्द श्वास, शांत श्वास, उथली श्वास, विक्षिप्त श्वास और तेज श्वास। साधक सहज पहले श्वास को गहरी और लम्बी करता है। उसके पश्चात लयबद्ध श्वास का अभ्यास करता है फिर उसके बाद सूक्ष्म शांत और लम्बी हुई श्वास का अभ्यास करता है। चतुर्थ अभ्यास में वह अपने आपको मन्द कुम्भक स्थिति में पाता है। प्रस्तुत स्थिति का निर्माण प्राणायाम प्रत्याहार और ध्यान इन तीनों से किया जा सकता है।

कितने ही आचार्य तीव्र श्वास की उपयोगिता स्वीकार करते हैं। उनका यह अभिमत है कि तेज श्वास साधक के लिए उपयोगी नहीं है। क्योंकि तेज श्वास से शरीर और मन में अत्यधिक थकान का अनुभव होता है जिससे वह शिथिल हो जाता है। तथा चेतना के प्रति सावधानता की स्थिति घटित नहीं होती। उस स्थिति में मूर्च्छा और थकान के कारण आने वाली तन्द्रा रूपी शून्यता से अपने आपको बचाना कठिन हो जाता है। श्वास को उखाड़ने की अपेक्षा उसे लम्बा करने का अभ्यास करना चाहिए।

धीमी श्वास धैर्य की निशानी है। श्वास जितना सूक्ष्म होगा शरीर में उतनी ही क्रियाशीलता कम होगी। श्वास की सूक्ष्मता की निष्पत्ति मौन और शांति है। इससे ऊर्जा संचित होती है और वह ऊर्जा मन को एक देहाविष्ट बनाती है। श्वास के शिथिल होने से शरीर निष्क्रिय बन जाता है। प्राण शांत हो जाते हैं और मन निर्विचार हो जाता है। जिससे कषाय की ग्रंथियाँ आहत होने लगती है। क्योंकि उस साधक में तीव्रतम वैराग्य, परद्रव्यात्मभिन्नता और अन्तःप्रवेश की क्षमता समुत्पन्न होती है।

श्वास जब निश्चित डिग्री पर पहुँचता है तो उसके साथ मन का विलय प्रारम्भ हो जाता है। श्वास की निष्क्रियता ही मन की शांति और समाधि है। जब श्वास उखड़ता है तो मन शांत नहीं रह सकता।

शरीर विज्ञान की दृष्टि से हमारे शरीर में फेफड़ा के ६००० कोष्ठक हैं। जब हम श्वास लेते है तो केवल १५०० २००० छिद्रों को ही भरते हैं। जो लोग पूरे प्राणवायुयुक्त (आक्सिडाइज्ड) रहने की इच्छा रखते हैं वे सब लो

के प्रति सजग रहे। कार्बन और आक्सीजन इन दोनों का जीवन से गहरा संबंध है। कार्बन निद्रा, मूर्च्छा और आलस्य का कारण है जबकि आक्सीजन जागरण स्फूर्ति और ताजगी का।

यह सच है कि कायोत्सर्ग में श्वास क्रिया अत्यधिक मन्द हो जाती है जिसके कारण आक्सीजन ग्रहण की मात्रा अत्यल्प हो जाती है तथापि जागरूकता बनी रहती है। क्योंकि बाहर से आने वाली जागृति के लिए श्वास इन्द्रिय आदि का सक्रिय होना आवश्यक है पर आन्तरिक जागृति के लिए केवल सूक्ष्म प्राणतत्व का रहना पर्याप्त है। श्वास आदि साधना की आवश्यकता नहीं रहती।

स्थूल से सूक्ष्म की ओर यात्रा करना योग है। श्वास स्थूल है और और प्राण सूक्ष्म है। श्वास के माध्यम से साधक प्राण यानी ऊर्जा को प्राप्त करता है। प्राण पर नियन्त्रण होने से अनासक्ति अपरिग्रहवृत्ति, ब्रह्मचर्य आदि व्रत सहज रूप से सध जाते हैं और दुष्ट वृत्तियां में परिवर्तन हो जाता है जिससे घृणा नष्ट हो जाती है तथा उसके स्थान पर प्रेम के फूल महकने लगते हैं। क्रोध की अग्नि शान्त हो जाती है और क्षमा की वर्षा होने लगती है।

कायोत्सर्ग का महत्त्व उसके भेद प्रभेद आदि पर 'षडावश्यक' के अन्तर्गत कायोत्सर्ग लेख में विस्तार से लिखा गया है। कायोत्सर्ग व्युत्सर्ग का ही एक प्रकार है। जिसने ममत्व वृत्ति का त्याग कर दिया है, संसार का त्याग कर दिया है वही मोक्ष का अधिकारी है।

व्युत्सर्ग का अर्थ

व्युत्सर्ग का अर्थ विशेष रूप से उत्सर्ग करना है। आचार्य अकलंक ने[1] लिखा है—निःसंगता अनासक्ति निर्भयता और जीवन की लालसा के परित्याग पर ही व्युत्सर्ग का भव्य प्रासाद टिका हुआ है। आत्मसाधना के लिए अपने आपका उत्सर्ग कर देना व्युत्सर्ग है।

व्युत्सर्ग के भेद प्रभेद

भगवती सूत्र में व्युत्सर्ग के (१) द्रव्यव्युत्सर्ग और (२) भावव्युत्सर्ग—ये दो भेद किये हैं। उसके पश्चात् द्रव्य व्युत्सर्ग के (१) गणव्युत्सर्ग (२) शरीरव्युत्सर्ग, (३) उपधिव्युत्सर्ग और (४) भक्तपानव्युत्सर्ग—ये चार प्रकार बताये हैं।

---

१ निःसंगनिर्भयत्व जीविताशाव्युदासाद्यर्थो व्युत्सर्गः।

—तत्त्वार्थराजवार्तिक ९/२६/१०

(१) गणव्युत्सर्ग—प्रश्न है कि साधक को गण में रहना चाहिए या अकेले ? एक अवसर पर भगवान महावीर ने फरमाया है—साधना गाँव में भी हो सकती है और जंगल में भी। जिस साधक में आत्माभिमुखता की तीव्रता नहीं है उसके लिए चाहे जंगल क्यों न हो वह भी गाँव के समान है और जिस साधक में आत्माभिमुखता की तीव्रता है उसके लिए गाँव भी जंगल के समान है। इसी तरह आत्माभिमुख साधक संघ में रहकर भी निःसंग रह सकता है और जिसमें आत्माभिमुखता नहीं है वह एकान्त में रहने पर भी वैचारिक अकेलेपन का अनुभव नहीं कर पाता।

तत्त्वदृष्टि से प्रस्तुत सत्य-तथ्य को झुठलाया नहीं जा सकता। पर मानव मन की यह कठिनता है कि वह साधना के प्रथम चरण में तत्त्वचिन्तन की गहनता का व्यावहारिक जीवन के साथ समन्वय नहीं कर पाता। व्यावहारिक जीवन की अनेक कठिनाइयाँ संघीय जीवन में सहज रूप से आ जाती हैं। संघ में विभिन्न रुचि, संस्कार और चिन्तन वाले व्यक्ति होते हैं। उन्हें साधना की विशिष्ट प्रक्रियाएँ व प्रयोगों में रुचि हो सकती है और नहीं भी हो सकती है। विशिष्ट अभ्यास करने वाले साधकों के लिए विक्षेप भी उपस्थित हो सकते हैं, इसलिए जो विशिष्टतम साधना करने वाले साधक थे वे गण से मुक्त होकर साधना करते थे। संघ से मुक्त होकर ध्यानादि व चारित्र की विशेष आराधना के लिए वे एकाकी साधना करते थे।

जिस प्रकार कवि, लेखक, वैज्ञानिक और विद्यार्थी को एकान्त शान्त स्थान की आवश्यकता होती है जिससे वह अध्ययन चिन्तन मनन कर सके उसी प्रकार साधक को भी प्रारम्भिक काल में अकेलेपन का अभ्यास करना होता है। जब उसे सत्य समुपलब्ध हो जाता है उसके पश्चात् पुनः वह संघ में मिल भी जाता है। यहाँ यह भी स्मरणीय है कि गण से पृथक् होने के लिए गुरुजनों की आज्ञा अत्यन्त अपेक्षित होती है। वे साधक की योग्यता के अनुसार ही उसे एकाकी रहने की अनुमति देते हैं।

(२) [illegible]—अहंकार और ममकार साधना के [illegible] है [illegible] का भी त्याग करना है और ममकार का भी। [illegible] शरीर है। बिना शारीरिक ममत्व का [illegible] [illegible] नहीं। [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]
[illegible] अहंकार और अहंकार के कारण [illegible]

रही है। शरीर का ममकार और अहंकार नष्ट होते ही चैतन्य की ज्योति प्रकट हो जाती है। शरीर व्युत्सर्ग का ही अपर नाम कायोत्सर्ग है।

(३) उपधिव्युत्सर्ग—पदार्थों का संग्रह और उनका ममत्व—ये दोनों ही साधना में विघ्न हैं। यद्यपि पदार्थ तो अपने आप में जड़ हैं किन्तु उनका संग्रह लोभ या ममत्व से किया जाता है। बिना ममत्व के संग्रह नहीं होता और जहाँ पर ममत्व-बुद्धि है वहाँ आत्मानुभूति नहीं होती। ममत्व के कारण उपधि उपाधि बन जाती है।

आगम साहित्य में संयम साधना हेतु मर्यादानुसार वस्त्र पात्र आदि रखने का विधान किया गया है किन्तु उस मर्यादा में भी कमी की जा सकती है। श्रमणों के लिए अप्पोवहि उवगरणजाए। अल्प उपधि और अल्प उपकरण रखकर जीवनचर्या चलाने का विधान है। उपधि व्युत्सर्ग में साधक तीन वस्त्र में से एक वस्त्र का त्याग करता है अथवा दो वस्त्र का त्याग कर एक ही वस्त्र रखता है इसी प्रकार क्रमशः कमी करता है।

(४) भक्तपानव्युत्सर्ग—शरीरधारी के लिए भक्त-पान की अनिवार्य आवश्यकता है। यह सत्य है कि शारीरिक आवश्यकता की पूर्ति भी करनी पड़ती है पर शरीर के लिए मर्यादा का विस्मरण होना सर्वथा अनुचित है। इसलिए जितनी आवश्यकता है उससे कम पूर्ति की जाय यही भक्तपान व्युत्सर्ग है।

भावव्युत्सर्ग के तीन प्रकार हैं—(१) कषाय व्युत्सर्ग (२) संसार व्युत्सर्ग और (३) कर्म व्युत्सर्ग।

(१) कषाय व्युत्सर्ग—चेतना के अथाह महासागर में [illegible] पर कषायों के कारण उफान सदा उठता रहता है जिससे [illegible] में विक्षोभ उत्पन्न होता रहता है।

कषाय के स्वभाव एवं परिणाम पर [illegible] कहा है—आत्मा के [illegible] कलुषित करता है वह कषाय है।[1] कषाय [illegible] है। कषाय [illegible] [2] [illegible] कषाय के [illegible] है। [illegible]

---

१ [illegible] पद ११ टीका

२ [illegible]। —[illegible]

खोदना और कृषि करना है। जिसमें कर्मों की कृषि लहराती है वह कषाय है। जब कषाय की खेती परिपक्व हो जाती है तब सुख व दुःख के फल निकल आते हैं। कषाय मन की मादकता है।

जब कषाय रूपी रावण सद्‌बुद्धि रूपी सीता का अपहरण करता है तब विवेकरूपी राम सद्‌बुद्धि रूपी सीता को मुक्त कराने के लिए कषाय रूपी रावण पर आक्रमण कर उसे नष्ट कर देता है। यही कषाय-व्युत्सर्ग है। इसमें कषायों को क्षीण कर उन पर विजय प्राप्त की जाती है।

(२) संसार व्युत्सर्ग—संसार का अर्थ नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देव रूप चार गतियाँ हैं। संसार के लिए आगमों में यत्र-तत्र चाउरन्त शब्द का तारे शब्द व्यवहृत हुआ है जिसका अर्थ है चार गति रूप संसार का अन्त करने वाला।

जिज्ञासा हो सकती है चार गति का व्युत्सर्ग कैसे किया जाय?

समाधान है—चार गतिरूप द्रव्यसंसार है। वस्तुतः द्रव्य संसार का निर्माण भाव संसार से होता है। भाव संसार ही वास्तविक संसार है। जहाँ कामनाओं का हृदय में वास है वहाँ संसार है। उन्हीं कामनाओं के कारण चतुर्गतिरूपी संसार में जीव परिभ्रमण करता है। उस भाव संसार का त्याग करना ही संसार व्युत्सर्ग है।

(३) कर्म व्युत्सर्ग—जैन दर्शन में कर्म पर बहुत ही विस्तार से चिन्तन किया गया है। श्वेताम्बर मूर्धन्य मनीषियों ने एक लाख से अधिक श्लोक परिमाण कर्म साहित्य का सर्जन किया है तथा दिगम्बर मनीषियों ने तो पाँच लाख श्लोक में भी अधिक कर्म साहित्य लिखा है। कर्मबन्ध के कारणों को समझकर उन कर्मबन्ध के कारणों का परित्याग करना ही कर्म व्युत्सर्ग है।

बाह्य-आभ्यन्तर तप का समन्वय

इस तरह आभ्यन्तर तप से भावों में विशुद्धि होती है। शारीरिक, वाचिक और मानसिक चंचलता नष्ट हो जाती है। शल्यों से मुक्ति मिलती है। जीवन के कण-कण में धार्मिक दृढ़ भावनाएँ उद्‌बुद्ध होती हैं। [illegible] समाधि भाव उत्पन्न होता है। आचार में विशुद्धि होती है। [illegible] प्रवचन में वा [illegible] में [illegible] गहरी जाती है। [illegible] में [illegible] [illegible] के कारण [illegible] व्यवसाय प्रशस्त होते हैं। [illegible] [illegible] भाव [illegible] है। [illegible] भूत [illegible] [illegible] करते। [illegible]

के प्रति अनासक्ति, और मोक्ष मार्ग की ओर द्रुतगति से बढने की तत्परता समुत्पन्न होती है।

आभ्यन्तर तप मे हृदय को विशुद्ध बनाने वाले आचारो का समावेश किया गया है, तो बाह्य तप मे शरीर सबधी साधना के सभी नियम और उपनियम आ जाते हैं। अनशन से लेकर व्युत्सर्ग तक बाह्य और आभ्यन्तर दोनो ही साधनाओ का सुन्दर समन्वय है। प्रस्तुत क्रम मे न केवल कष्ट सहन करने का विधान है और न कष्ट से पलायन कर चित्त को एकाग्र करने का प्रयास है। साधक के लिए सहिष्णुता और एकाग्रता दोनो अपेक्षित है। इन दोनो का सुमेल इस साधना क्रम मे है। अन्य परम्पराओ मे ऐसा सुनियोजित क्रम नहीं मिलता है। अन्य परम्पराओ मे जहाँ केवल कायक्लेश और देह दमन को महत्व दिया है वहाँ जैन परंपरा मे कायक्लेश और देह दमन के साथ ही आभ्यन्तर तप को भी महत्त्व दिया है। जैन संस्कृति का यह वज्र आघोष रहा है कि बाह्य तप के साथ यदि आभ्यन्तर तप का मेल नहीं है तो वह बाह्य तप मिथ्या अथवा बाल तप है। धन्य अनगार[1] तामली तापस[2] और पूरण तापस[3] ने उग्र तप किया था किन्तु आभ्यन्तर तप के अभाव मे उनका उग्र तप अज्ञान तप ही था।

बाह्य तप क्रियायोग का प्रतीक है तो आभ्यन्तर तप ज्ञानयोग का। ज्ञान और क्रिया का समन्वय ही मोक्ष का मार्ग है।[4] उपाध्याय यशोविजयजी ने एतदर्थ श्रमणो को बाह्य और आभ्यन्तर तप करने की प्रबल प्रेरणा प्रदान की है।[5] तथागत बुद्ध ने मज्झिमनिकाय मे जैन संस्कृति के तप का उपहास भी किया है और उसकी निरर्थकता भी बतायी है। पर हमारी दृष्टि से ऐसा लगता है कि उन्होने केवल बाह्य तप को ही असली तप समझा। आभ्यन्तर तप वैयावृत्य स्वाध्याय विनय ध्यान आदि की ओर उन्होने सभवत लक्ष्य नहीं दिया। यदि उस पर वे विचार करते तो उसका उपहास नहीं करते।

उपाध्याय यशोविजयजी ने स्पष्ट शब्दो मे कहा है—जो बाह्य तप

---

१ अनुत्तरोपपातिक वर्ग ३

२ भगवती शतक ३ उ० १

३ भगवती शतक ३ उ० २

४ विज्जाए चेव चरणेण चेव। —स्थानाग २/६३

५ बाह्याभ्यतर चत्थ तप कुर्यात् महामुनि। —ज्ञानसार, तप अष्टक ६

ने लिखा[1] है—इहलोक सम्बन्धी लाभ के निमित्त तप नहीं करना चाहिए, परलोक सम्बन्धी अभ्युदय के निमित्त तप नहीं करना चाहिए, कीर्ति (लोकव्यापी यश), शब्द (लोक प्रसिद्धि) श्लोक (स्थानीय प्रशंसा) के लिए तप नहीं करना चाहिए। निर्जरा के अतिरिक्त अन्य किसी भी उद्देश्य के लिए तप नहीं करना चाहिए।

आचार्य अकलंकदेव[2] ने कहा—जैसे किसान का मुख्य लक्ष्य धान्य के साथ साथ पराल भी मिलता है वैसे ही तप क्रिया का मुख्य प्रयोजन कर्मक्षय ही है, अभ्युदय की प्राप्ति तो पयाल की तरह आनुषंगिक है।

सकाम और निष्काम तप

तप स्वरूपतः एक है, पर तपस्वी की भावना के भेद के कारण उसे सकाम और निष्काम इन दो भागों में विभक्त कर सकते हैं। भौतिक या लौकिक ऋद्धि सिद्धि के उद्देश्य से किया जाने वाला तप सकाम तप है। आत्म उत्थान के लिए या कर्म निर्जरा के लिए जो तप किया जाता है वह निष्काम तप है।

आगम साहित्य के अध्ययन से यह भी ज्ञात होता है कि लौकिक कामना से तप करने वालों को लौकिक सिद्धियाँ भी उपलब्ध हुई हैं। जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति में[3] भरत चक्रवर्ती के प्रसंग को देखा जा सकता है। अन्तकृद्दशा में[4] कृष्ण वासुदेव ने अपनी माता देवकी की पुत्र प्राप्ति की इच्छा पूर्ण करने के लिए तप की साधना की थी। ज्ञाताधर्मकथा में[5] धारिणी के दोहद को पूर्ण करने के लिए अभयकुमार ने तप किया था। इन सब उदाहरणों से स्पष्ट है कि तप से लौकिक कामनाएँ भी पूर्ण होती हैं। पर जैन संस्कृति में आध्यात्मिक दृष्टि से इस प्रकार के तप का महत्त्व नहीं दिया अपितु लौकिक कामना की लालसा से किया जाने वाला तप मोक्ष प्राप्ति के लिए बाधक माना और वह शल्य की तरह बताया गया है।[6]

महात्मा गांधी ने[7] एक स्थान पर लिखा है—तप से जीवन निर्मल

---

1 दशवैकालिक अ० ९ उ० ४ सूत्र ३ 2 तत्त्वार्थसूत्र ९ ३ राजवार्तिक
3 जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति भरत चक्रवर्ती अधिकार
4 अन्तकृद्दशांग तृतीय वर्ग
5 ज्ञाताधर्मकथा १ १६
6 (क) स्थानांग सूत्र अ० ३० निदान वर्णन (ख) स्थानांग ३ १८२ (ग) भगवती
7 गांधीजी की सूक्तियाँ

मन मँजता है वाया वचनमय हाती है । काया के वचनमय हा जाने अथ यही है कि तप स शुष्क शरीर म एक अनठा तप तेज दमक उठता । तप एक प्रकार मे शुद्ध का हुई रसायन है।

आज के वनानिका ने "वायोकेमिस्ट" औपधियो की शोध की उनका अभिमत है शरीर म बारह प्रकार क तत्त्व होते हैं, उन तत्त्वा मे किसी भी एक तत्त्व की यनता होने से शरीर रुग्ण होता है। बारह प्रकार के क्षार तत्त्वा से रागा को नष्ट कर शरीर को पूण स्वस्थ बनाया सकता है। तप के भी बारह प्रकार हैं। व बायोकेमिस्ट औपधियो समकक्ष हैं। इन तपा का शरीर के किस तत्त्व पर कसा प्रभाव पडता है अनसधान का विषय है। तथापि यह निस्सन्देह कहा जा सकता है कि आचरण से कमरूपी राग नष्ट हाते हैं और आत्मा पूण स्वस्थ तथा बनता है।

तप श्रमण सस्कृति की आत्मा है। तप और श्रमण सस्कृति को पृथक-पृथक समझना उचित नही है। तप और सयम के पौधे का फलना फूलना ही श्रमण सस्कृति का सही विकास है।

□

८. श्रमण-साधना का हार्द : दस श्रमण धर्म

धम क्या है

धम एक त्रिकालाबाधित सत्य है। उसे देश, काल, पथ और सम्प्रदाय की सकीण मीमासा म आबद्ध नही किया जा सकता। जितनी भी सीमाएँ हैं वे परिवतनीय होती हैं। अत धम जैसे चिरतन सत्य को उनसे बाँधना सम्भव ही नही है। धम मगलमय है। वह विश्व का कल्याण कारक और प्राणी मात्र के योग क्षेम का वाहक है।

धम' शब्द का विभिन्न अर्थों में प्रयोग

जन बौद्ध और वदिक तीनो परपराओ ने "धम" शब्द पर गहराई से अनुचिन्तन किया है। ऋग्वेद यजुर्वेद ईशावास्योपनिषद् केनोपनिषद् कठोपनिषद श्वेताश्वतरोपनिषद प्रभति वदिक धम के सम्माननीय ग्रन्थों मे यत्र-तत्र धम शब्द का प्रयोग हुआ है। धम शब्द कही पर 'भक्ति' के अथ म व्यवहृत हुआ है तो कही पर 'दान' 'पुण्य' या 'न्याय' के अथ म भी आया है। रामायण, महाभारत और गीता म भी धम के मूल रहस्यो का उद्घाटित किया गया है।

मीमासा दशन का सवप्रथम सूत्र है 'अथातो धमजिज्ञासा'। धम वह है जो प्रेरणा प्रदान करे। वशेषिक दशन म यतोऽभ्युदय नि श्रेयस सिद्धि स धम कहा गया है। न्याय दशन मे धम शब्द का प्रयोग अनेक बार किया गया है पर वहाँ धम की परिभाषा नही की गई है। उनकी दृष्टि से धम का अथ 'तत्त्व' है। आचाय पतजलि न भी 'योगदशन' मे धम की कोई स्पष्ट परिभाषा नही की है पर योग और धम इतना एकमेक हो गया है कि लोक म योग को धम का पर्यायवाची माना है। आचाय मनु ने वद को ही धम माना है।

त्रिपिटक साहित्य मे अनेक बार धम शब्द का प्रयोग हुआ है। साधक धम की शरण म जाने के लिए लालायित है। 'धम्मपद' में धम

की परिभाषा भले ही न की गई हो, पर आचरण संबंधी प्रायः सभी सद्गुणों को उसमें शामिल कर दिया गया है।

जैन आगम साहित्य में विविध दृष्टियों से धर्म पर चिंतन किया गया है। धर्म को उत्कृष्ट मंगल माना है। आगम साहित्य के प्रशस्त व्याख्याकारों में दिगम्बर कुन्दकुन्दाचार्य, स्थविर आचार्य, सिद्धसेन दिवाकर, आचार्य हेमचन्द्र प्रभृति अनेक आचार्यों ने धर्म शब्द की व्याख्याएँ प्रस्तुत की हैं। वस्तुतः धर्म शब्द 'धृ'—धारण धातु से निष्पन्न है—जो धारण करता है, जो दुर्गति से प्राणियों को बचाता है, वह धर्म है।

पाश्चात्य चिंतकों की दृष्टि से धर्म

पाश्चात्य चिन्तकों ने भी धर्म शब्द पर गम्भीरता से चिन्तन किया है। अंग्रेजी में धर्म शब्द के लिए अधिकतर रिलीजन (Religion) शब्द का प्रयोग हुआ है। धर्म शब्द जितना व्यापक अर्थ को लिए हुए है उतना रिलीजन शब्द नहीं। रिलीजन के अतिरिक्त सेक्ट (Sect) और फेथ (Faith) शब्दों का प्रयोग हुआ है। किन्तु सेक्ट विशेष रूप से सम्प्रदाय का बोधक है और फेथ का शाब्दिक अर्थ विश्वास है। अतः ये भी धर्म शब्द की व्यापकता को बताने में असमर्थ हैं। कांट की दृष्टि से 'अपने समस्त कर्तव्यों को ईश्वरीय आदेश समझना धर्म है।' हीगल के मतानुसार 'धर्म सीमित मस्तिष्क के भीतर रहने वाले असीम स्वभाव का परिज्ञान है।' मैथ्यू ने लिखा है कि धर्म 'मानव आत्मा का ब्रह्माण्ड विषयक स्वस्थ और साधारण उत्तर' है। व्हाइटहेड ने धर्म की व्याख्या करते हुए कहा—'मानव अपने एकाकी रूप के साथ जो कुछ व्यवहार करता है वही धर्म है।' यह धर्म का वैयक्तिक लक्षण है। अमेरिका के मनोविज्ञानशास्त्री जेम्स ने धर्म की विशद व्याख्या की है—'जो ईश्वर से प्रेम करता है वह अपने भाई से अवश्य ही प्रेम करेगा।' यह धर्म की सामाजिक व्याख्या है। हर्बर्ट स्पेन्सर के अनुसार 'धर्म विश्व को व्यापक रूप से समझने की काल्पनिक धारणा' है। संसार के समस्त पदार्थ उसी शक्ति की अभिव्यक्ति हैं जो हमारे ज्ञान से परे है। मैक्टागार्ट ने धर्म की परिभाषा करते हुए कहा—'धर्म चित्त का वह भाव है जिसके द्वारा हम विश्व के साथ एक प्रकार से मेल का अनुभव करते हैं।' जेम्स फ्रेजर ने लिखा है—'धर्म मानव से ऊँची गिनी जानेवाली उन शक्तियों की आराधना है जो प्राकृतिक व्यवस्था और मानव जीवन का मार्गदर्शन व नियंत्रण करने वाली बन जाती है।' यह धर्म का क्रियात्मक स्वरूप है। विलियम जेम्स के शब्दों में—'धर्म एक श्रद्धा है जिसे

(१) क्षमा

क्षमा मानव की सबसे बड़ी शक्ति है। मानव की मानवता के पूर्ण दर्शन भगवती क्षमा में ही हो सकते हैं। वह मानव क्या जो जरा सी बात पर ही उबल पड़ता हो, वैर विरोध की आग भड़काता हो, स्वयं उस आग में जलता हो और दूसरों को भी जलाता हो। क्षमाहीन मानव पशुओं से भी गया गुजरा है। क्षमा का अर्थ है—क्रोध न करना। क्रोध न करने से आत्मा में जो शान्तिरूपी पर्याय प्रकट होती है वह क्षमा है। क्षमाशील व्यक्ति सहनशील भी होता है। वह किसी के द्वारा किये गये अपराध को विस्मृत हो जाता है। वह दूसरों के अनुचित व्यवहार को किंचित मात्र भी लक्ष्य न देकर स्नेह की ही वर्षा करता है। बिना क्षमा के मानवता की लता पनप नहीं सकती।

जब मानव क्रोध करता है तब वह अपनी भूल की ओर न देखकर वह दूसरे की भूल को देखता है। यदि स्वयं के हाथ से किसी वस्तु की क्षति हो जाय तब वह यही कहेगा यहाँ पर यह वस्तु किसने रखी? वह दूसरों को उपालम्भ देगा। यदि यही असावधानी अनुचर की होगी तो वह उसे उपालम्भ देगा। क्रोधी व्यक्ति की दृष्टि स्व की ओर न होकर पर की ओर जाती है। आचार्य ने कहा[1]—जब क्रोध का उदय होता है तब किसकी हानि नहीं होती? क्रोध ऐसा मनोविकार है जिसके द्वारा क्रोध करने वाले की मानसिक शान्ति तो भंग होती ही है साथ ही प्रशान्त वातावरण भी कलुषित व अशान्त हो जाता है। क्रोध का भयंकर रूप वैर है। हिन्दी साहित्य के प्रसिद्ध समालोचक आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है—वैर क्रोध का आचार या मुरब्बा है। क्रोध के आवेश में व्यक्ति उसी क्षण बदला लेना चाहता है। जब क्रोध वैर का रूप धारण कर लेता है तो वह वर्षों तक यदि शत्रु प्रबल है दबा रहता है समय आने पर प्रकट हो जाता है। क्रोध में आवेश होता है। वह कुछ समय तक रहता है पर वैर अनेक पीढ़ियों तक भी चलता है। झल्लाहट, चिड़चिड़ाहट, क्षोभ ये सभी क्रोध के ही रूप हैं। क्रोध में तत्काल प्रतिक्रिया होती है और वैर में मन में गाँठ बंधी रहती है। वैर वह आग है जो स्वयं को भी जलाती है और दूसरों को भी।

अनेक अनुभूतियों का सम्मिश्रण

क्रोध अकेली अनुभूति नहीं है। उसमें अनेक अनुभूतियों का

---

१ क्रोधोदयात् भवति कस्य न कार्यहानिः। —आत्मानुशासन छन्द २१६

सम्मिश्रण है। क्रोध उत्पन्न होने के चार कारण हैं—अपमान, अपशब्द, अभाव, प्रतिकूलताएँ आदि इन विपरीत एवं विषम परिस्थितियों से मन में अन्तर्द्वन्द्व होता और अन्तर्दाह होता है। अन्दर क्रोध की आग सुलगती रहती है और ऊपर से वह क्षमा का नाटक करता है।

क्षमा ऐसा कवच है जिसको धारण करने के पश्चात् क्रोध के तीखे भी प्रहार हैं वे सभी निरर्थक हो जाते हैं। क्षमा अन्दर से उत्पन्न होती है, यह आत्मा का स्वभाव है। क्रोध बाहर से आता है और वह [illegible] स्वभाव है। क्षमा में भय नहीं होता। क्षमाशील व्यक्ति निर्भय होता है, क्रोधी व्यक्ति का हृदय काँपता रहता है। क्षमा वीरों का भूषण है। वीर जितना अधिक वीर होगा वह उतना ही अधिक क्षमानिष्ठ भी होगा। क्रोध मृत्युमुख है तो क्षमा जीवन का सुख है। क्रोध के मुख में गया हुआ राख बन जाता है किन्तु क्षमा के मुख में गया हुआ व्यक्ति लाखों वर्ष तक चमकता रहता है।

क्षमा और बुजदिली में अन्तर

कोई भी संकट क्षमावान को हिला नहीं सकता। सहन करना बुजदिली नहीं है। क्षमा और बुजदिली में तो आकाश पाताल का अन्तर है। बुजदिली में घबराहट होती है, चंचलता होती है। क्षमावान में धैर्य होता है, अविचलता होती है। जिसका हृदय पृथ्वी की तरह स्थिर होता है वही क्षमावान हो सकता है।

क्षमा एवं पृथ्वी

कोश में पृथ्वी (धरती) का एक पर्यायवाची शब्द क्षमा भी दिया गया है। पृथ्वी अचला होती है। वह घोरातिघोर प्रहारों से भी विचलित नहीं होती। मनुष्य खान खोदता है, कूएँ खोदता है, पृथ्वी की छाती चीरता है फिर भी पृथ्वी स्वर्ण, कोयला, जल, अन्न आदि देकर उसके जीवन की रक्षा करती है, फल फूल आदि प्राकृतिक सौंदर्य से उसके जीवन को सरस बनाती है।

पृथ्वी की तरह क्षमा भी सर्वरसा है, उसके कण-कण में सरसता है। क्षमा भी जीवन में सरसता का संचार करती है। वह विश्वम्भरा की तरह विश्व के सभी प्राणियों का भरण पोषण करती है। यदि क्षमा न हो तो व्यक्ति का भावात्मक विकास ही अवरुद्ध हो जाए। यद्यपि आधुनिक विज्ञान ने पृथ्वी को परिव्राजिका की भाँति अस्थिर माना है, वह प्रतिपल प्रतिक्षण घूमती रहती है, पर प्राचीन भारतीय मनीषियों

उसे स्थिरा कहा है। उस पर चाहे कितना भी आक्रमण किया जाय वह कभी भी अस्थिर नहीं होती। आघात प्रत्याघात होने पर भी वह अडिग रहती है। क्षमा संसार की संचालिका महान शक्ति है। पृथ्वी की भांति क्षमा में भी अनेक गुण रहे हुए हैं। क्षमा एक ऐसा कल्पवृक्ष है जो मनोवांछित सद्गुण प्रदान कर सकता है।

क्षमा दैवी सद्गुण

क्षमा बड़प्पन की निशानी है। महान व्यक्ति में क्षमा होती है और लघु व्यक्ति में उत्पात होता है। गलती करना मानव का स्वभाव है पर क्षमा करना दैवी सद्गुण है। गहराई में चिंतन करें, तो बुराई किसमें नहीं होती। किसी की गलती पर हम बदला लें उससे दूसरे का क्षति हो भी सकती है और नहीं भी हो सकती, पर स्वयं की तो क्षति होनी ही है। जैन इतिहास को उठाकर देखें तो ज्ञात होगा कुछ व्यक्ति तनिक तनिक बात पर क्रोध करते रहे। उन्होंने क्रोध से निर्मम नर-संहार किया। वे स्वयं भी दुःखी हुए और दूसरों को भी दुःखी करते रहे। जैसे सोमिल ब्राह्मण ने क्रोध की ज्वाला में प्रज्वलित होकर धधकते हुए अंगारे गजसुकुमाल के सिर पर रखे। दूसरी ओर क्षमा के देवता गजसुकुमाल ने क्षमा का ज्वलंत आदर्श उपस्थित किया। चण्डकौशिक सर्प के जीव ने पूर्वभव में क्रोध किया जिससे वह सर्प बना। महावीर की क्षमा का प्रभाव उस पर पड़ा तो उसने भी क्षमा धारण की और स्वर्ग प्राप्त किया।

जैन धर्म तो सदा ही क्षमा का पक्षधर रहा है। जैन धर्म का वज्र आघोष है—विरोधी के प्रति भी उदार बनो। उदार सहृदय और शान्त बनो। प्रमाद के कारण मानव से भूल हो जाती है तब किसी के अपराध को गाँठ बाँधकर हृदय में रखना अनुचित है। साधक विशुद्ध हृदय से पहले स्वयं क्षमा करता है फिर दूसरों से क्षमा कराता है। न साधक के हृदय में विद्वेष की ज्वाला धधकती है और न दूसरों के हृदय में।

क्षमा के अभाव में जप-तप व्यर्थ

उग्र तप और जप भी क्षमा के अभाव में केवल देह-दण्ड है। ईसामसीह ने कहा है—'यदि तुम आहुति चढ़ाने हेतु देवमंदिर में जाते हो और द्वार पर पहुँचकर तुम्हें स्मरण हो जाय कि तुम्हारा अमुक पड़ोसी से मन मुटाव है तो तुम आहुति को देव मंदिर के द्वार पर छोड़कर अपने पड़ोसी के पास जाकर क्षमा मांगो। पड़ोसी से मैत्री करने के बाद ही देवता को भेंट चढ़ानी चाहिए। कितना भव्य और उच्च आदर्श है! बिना क्षमा के हृदय कोमल नहीं बनता और विन-

हृदय कोमल न हो धर्म का बीज अंकुरित नहीं हो सकता। कल्पसूत्र में लिखा है—यदि श्रमण गण में किसी से किसी का कलह हो जाय तो जब तक परस्पर क्षमा न माँग लें तब तक आहार पानी भी नहीं किया जा सकता, [illegible] नहीं जा सकता और स्वाध्याय भी नहीं कर सकता। क्षमा के लिए कितना कठोर आदेश है। किसी भी प्रकार से किसी को भी मानसिक, वाचिक या कायिक पीड़ा पहुँचाई हो तो उसके लिए अन्तःकरण से क्षमा याचना करनी चाहिए।

(२) मार्दव

क्षमा की भाँति मार्दव भी आत्मा का निज स्वभाव है। मृदोर्भावः मार्दवम्—मृदुता यानी कोमलता का नाम मार्दव है। मान-कषाय के कारण आत्मा में कोमलता का अभाव हो जाता है जिससे वह अपने को बड़ा और दूसरे को छोटा समझने लगता है। क्रोध और मान—ये दोनों कषाय द्वेष के अन्तर्गत हैं पर दोनों में अन्तर है। यदि कोई अपशब्द कहता है तो व्यक्ति को क्रोध आता है और कोई उसकी प्रशंसा के गीत गाता है तो मान आता है। मिथ्यात्वी निन्दा और स्तुति दोनों में ही कर्म बाँधता है। जिन व्यक्तियों का स्वास्थ्य पूर्ण स्वस्थ नहीं होता उन व्यक्तियों को अत्यन्त शीत हवा और अत्यन्त गरम हवा ये दोनों परेशान करती हैं। उष्ण हवा से उन्हें लू लग जाती है और शीत हवा से जुकाम हो जाता है। इसी प्रकार जो साधक आध्यात्मिक दृष्टि से पूर्ण स्वस्थ नहीं है उन्हें निन्दा की गरम पवन लगते ही क्रोध की लू लग जाती है और प्रशंसा की शीत हवा लगते ही मान का जुकाम हो जाता है।

शत्रु और मित्र में अन्तर

निन्दा शत्रु लोग किया करते हैं और प्रशंसा मित्र लोग। शत्रु क्रोध को उत्पन्न करने में निमित्त बनते हैं तो मित्र मान के निमित्त बनते हैं। शत्रु का स्वभाव सामान्य मक्खी की तरह होता है जो मिठाई आदि को छोड़कर गंदगी पर बैठना पसंद करती है। वैसे ही शत्रु गुणों को छोड़कर अवगुणों की गंदगी को पसंद करता है। वह राई जितने दुर्गुण को पहाड़ के सदृश प्रस्तुत करता है पर मित्र अवगुण को

---

१ भिक्खू य अहिगरणं कट्टु तं अहिगरणं अविओसवेत्ता नो से कप्पइ गाहावइकुलं भत्ताए वा पाणाए वा निक्खमित्तए वा पविसित्तए वा बहिया विचारभूमिं वा वियारभूमिं वा निक्खमित्तए वा पविसित्तए वा।

—बृहत्कल्पसूत्र—चतुर्थ उद्देशक

ढकना है और गुण का वढ़ा-चढ़ाकर प्रस्तुत करता है। वह चापलूसी भ
करता है। शत्रु और मित्र म यही अ तर है। निन्दा हमशा पीठ क पीछ
की जाती है और प्रशसा मुह के सामन की जाती है। इसीलिए निन्दा स
भी प्रशसा अधिक भयावह है।

प्रतिकूलता म क्रोध उभरता है और अनुकूल स्थिति म मान उद्बुद्ध
हाता है। असफल हान पर व्यक्ति का क्रोध आता है और सफल हाने प
मान। सफलता असफलता दाना ही कपाय का उत्पन्न करती है। लाग क्रा
स घृणा करत है और मान का प्यार करत ह। मानपत्र सभी लना पसन्द करत
हैं किन्तु क्राधपत्र नही। अनाना मानपत्र का मानपत्र समझकर सजाक
सवारकर अपने पास रखता है। मान मीठा जहर है। क्रोध जिस निमित्त स
आता है व्यक्ति उस निमित्त का नष्ट करना चाहता है। पर मान जिस निमित्त
स आता ह उस सदा अपन पास म रखना चाहता हैं, किन्तु दवाकर जिसस
कि उसक अहकार का पाषण हा। क्राध वियाग का पसद करता ह मान
सयाग का पसद करता ह। क्राध दूसर का समाप्त करता ह पर मान उस
अपन समीप बनाय रखना चाहता ह।

मान और दीनता

शास्त्रकारा ने मान कपाय की उत्पत्ति के आठ निमित्त बताये
हैं—जाति, कुल वल रूप तप श्रुत लाभ और ऐश्वय। इन्हा आठ
निमित्ता स मान उत्पन्न हाता ह। इसी तरह क्राध भी किसी न
किसी आश्रय स हाना ह। पर यहा यह समझना चाहिए कि मान और
दीनता य मादव धम नही ह। जिसमे मादव धम होता ह वह दीन नहीं
हाता। ज्ञान हाने पर भी ज्ञानियो म ज्ञान का अहकार नही हाता। निमित्त
हान पर मान हा ही यह बात नहा ह। मादव धम म सहज कामलता
हाती ह। मानी व्यक्ति पीछे की ओर झुकता ह। उसके प्रत्यक क्रिया
कलाप मे अहकार झलकता ह। दीन व्यक्ति आग की ओर झुकता ह
उसका सारा क्रिया-कलाप एसा हाता ह माना उस पर अत्यधिक दवाव
हा। मैं वडा हू और सभी छाट है—य भाव मान मे होने ह तथा मैं छोटा हू
और सभी वड हैं यह भाव दीनता म हाता ह। किन्तु मादव म दाना ही
नही हाने। जिसम मादव धम हाता ह वह पदाथ का पथक समझता ह और
अपने का पथक। वह समझता ह पदाथ क्षणभगुर ह। क्षणभगुर होने क कारण
वह उसम आसक्त नही हाता। वह क्रोध आदि कपाय का हय समझता ह

मान और स्वाभिमान

को पहचान लिया है उसे स्वाभिमान होता है। स्वाभिमान में अहंकार नहीं होता। इसके विपरीत सम्मान व असम्मान दोनों में मान रहता है। मानव में मान की प्रमुखता होती है। वह स्वजन परिजन आदि का सहज रूप से परित्याग कर सकता है पर मान छोड़ना कठिन होता है। जब 'पर' को 'स्व' माना जाता है तब मान होता है किन्तु जब 'पर' को 'पर' और 'स्व' को 'स्व' मान लेते हैं तब ममत्वबुद्धि छूट जाती है।

अधूरा छलकता है

एक वैदिक महर्षि ने लिखा है—शेषनाग अपने फन पर पृथ्वी के भार को उठाये हुए है। उसके पास हजारों तोला जहर भी है, किन्तु उसे अपनी शक्ति और महत्ता पर अहंकार नहीं कि मेरे पास कितना सामर्थ्य है, पर बिच्छू[1] के पास स्वल्प जहर होता है। यदि उसे कोई पकड़ ले तो वह अपने आप को छुड़ा भी नहीं सकता पर अभिमान के कारण वह अपना डंक सदा ऊपर उठाये रखता है। वह अपने जहर का प्रदर्शन करना चाहता है। वैसे ही अल्पज्ञ के भी पैर जमीन पर नहीं रहते। पर यह स्मरण रखना चाहिए उत्तमांग सदा अधमांग की ओर झुकता है। पैरों की ही पूजा होती है। चरण-कमल पे ही झुका जाता है।

शिष्य ने जिज्ञासा प्रस्तुत की—मान को जीतने से मृदुता आती है। और मृदुता आने पर जीव को किस गुण की उपलब्धि होती है?

समाधान देते हुए भगवान महावीर ने कहा—मृदुता से जीव अनुद्धत भाव का ग्रहण करता है। अनुद्धत अर्थात विनय।

एक बार किसी ने महात्मा आगस्टाइन से पूछा—धर्म का सर्वप्रथम और मुख्य लक्षण क्या है?

उन्होंने कहा—धर्म का प्रथम द्वितीय और तृतीय ही नहीं जितने भी लक्षण हैं वे सभी विनय के गुण में निहित हैं।

(३) आर्जव

क्षमा और मार्दव की भांति आर्जव भी आत्मा का स्वभाव है। ऋजोर्भाव आर्जवम्—ऋजुता यानी सरलता का भाव ही आर्जव है। माया के कारण जीवन में जटिलता आती है। मायावी के जीवन में एकरूपता नहीं होती। उसके मन, वचन व आचरण में विविधता होती है। उस

---

१ विषभारसहस्रेण वासुकि नैव गर्वितः ।
वृश्चिको स्तोकमात्रेण ऊर्ध्वं वहति कण्टकम् ॥

माया के द्वारा ही सफलता प्राप्त करना चाहता है। वह यह विस्मृत हो जाता है कि काठ की हाडी दुबारा नहीं चढती। एक बार माया प्रकट हो जाने पर उस पर फिर कोई विश्वास नहीं करता।

आज सभ्यता के नाम पर मायाचार पनप रहा है। सभ्यता के विकास के कारण मानव ऊपर से मीठा बोलता है किन्तु अन्दर से एक दूसरे को काटता है। कपटी व्यक्ति के मन में सदा संशय बना रहता है कि कहीं उसकी दुरंगी नीति प्रकट न हो जाय। वह भयाक्रान्त रहता है जिससे उसका चित्त आकुल व्याकुल रहता है।

पवित्रता की निशानी सरलता

सरलता जीवन की पवित्रता की निशानी है। स्थानांग[1] में चौभंगी के द्वारा ऋजुता का पुष्पों के माध्यम से व्यक्त किया गया है। कितने ही व्यक्ति अन्दर और बाहर दोनों ओर से सरल होते हैं। कितने ही अन्दर से सरल और बाहर से वक्र होते हैं। कितने ही अन्दर से वक्र और बाहर से सरल होते है। कितने ही अन्दर बाहर दोनों रूपों में वक्र होते हैं।

प्रथम प्रकार के व्यक्ति सरल होते है। उनके विचार स्फटिक की भाँति अत्यन्त स्वच्छ होते हैं और उसी तरह उसका आचरण भी होता है।

द्वितीय प्रकार का व्यक्ति अन्दर से सरल होता है किंतु बाहर से वक्र होता है। बाहर से वक्र होने का अर्थ है कि उसका व्यवहार ऐसा होता है कि उसमे प्रतीत होता है कि इसके अन्दर कुटिलता होगी। किन्तु उसकी बाह्य कठोरता में भी आन्तरिक भलाई रही हुई होती है जैसे अभिभावकगण, गुरुजन जो शिष्य को ऊपर से ताड़ना देते हैं किन्तु उनके हृदय में भलाई रही हुई होती है। वह व्यक्ति बादाम की तरह होता है जो ऊपर से कठोर पर अन्दर से कोमल। बादाम की गरी की तरह वह दूसरों को लाभ पहुँचता है।

तीसरे प्रकार के व्यक्ति अन्दर से वक्र होते हैं किन्तु बाहर से सरल प्रतीत होते हैं। ऊपर से उनका आचरण अत्यन्त मधुर होता है किन्तु उनके अन्दर हलाहल जहर भरा रहता है।

मन मलीन तन सुन्दर ऐसे। विष रस भरा कनक घट जैसे।

सन्त कबीर ने भी कहा है कि मायावी व्यक्ति अनार की तरह

उपभोग, जीवन और इन्द्रियों का विषय—इस प्रकार लोभ के चार प्रकार बताये हैं।

लोभी व्यक्ति क्रोध का प्रसंग उपस्थित होने पर भी क्रोध नहीं करता और मानापमान का भी विचार नहीं करता। वह योगियों की भाँति इन्द्रियों का दमन कर सकता है, सुख व वासना का त्याग कर सकता है। यदि कुछ प्राप्त होने की आशा हो तो वह गालियाँ भी सहन कर सकता है। करुण स्वर सुनकर भी उसका हृदय पसीजता नहीं, न वह तुच्छ व्यक्ति के सामने हाथ पसारने से संकोच करता है।

लोभ की विद्यमानता में वीतरागता नहीं होती। क्रोध चले जाने पर भी मान, माया, लोभ ये तीन कषाय रहते हैं। पर लोभ कषाय यदि क्षीण हो गया है तो अन्य सभी कषाय स्वयमेव क्षीण हो जाते हैं। गुणस्थानों के क्रम में भी दसवें गुणस्थान तक ही क्रोध मान माया—इन तीन कषायों का सद्भाव रहता है और ग्यारहवें तथा बारहवें गुणस्थान में उपशांत एवं क्षीण लोभ की सत्ता रहती है। जब बारहवें गुणस्थान के अंतिम समय में लोभ का सर्वथा अभाव हो जाता है तब जीव तेरहवें गुणस्थान में आरोहण करके वीतराग एवं सर्वज्ञ बनता है। इसीलिए लोभ के अभाव को शौच धर्म कहा है। जितना कषाय भाव कम होगा उतनी ही आत्मा की निर्मलता प्रकट होगी। शौच धर्म आत्मा का धर्म है। शरीर तो मल मूत्र का पिण्ड है।

वीतरागी और सर्वज्ञ बनने के लिए वीतदेह होना आवश्यक नहीं किंतु राग का नष्ट होना आवश्यक है। इसलिए प्रस्तुत धर्म में लोभ कषाय का पूर्ण नष्ट करना साधक का लक्ष्य होता है।

(५) सत्य

जैनाचार्यों ने सत्य के सम्बन्ध में गहराई से चिंतन किया है। इसे श्रमणों में उसे द्वितीय महाव्रत बताया गया है और समिति और गुप्ति में भी उसका क्रम द्वितीय है। सर्वप्रथम वाणी का ही निषेध है जिसे वचनगुप्ति कहा गया है। यदि बोलना ही है तो 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' हो ऐसा वचन बोलना है। वचन का विधेयात्मक (Positive) और निषेधात्मक (Negative) दोनों रूप से ग्रहण किया है। वाणी में उसका विधेयात्मक रूप है और गुप्ति में उसका निषेधात्मक रूप है। बोलना और नहीं बोलना—इन दोनों पहलुओं पर चिन्तन किया गया है। पर सत्य केवल वचन तक

हो सीमित नहीं है। वाणी तो केवल पुद्गल की पर्याय है किन्तु सत्य आत्मा का धर्म है। उसका स्थान शरीर व वाणी में नहीं है उसका निवास तो आत्मा में है वचन और शरीर में तो उसकी अभिव्यक्ति होती है।

सत्य में सत् है जिसकी सत्ता है। जिस पदार्थ की जिस रूप में सत्ता है उस पदार्थ को उसी रूप में जानना सम्यग्ज्ञान है सत्य श्रद्धान है और उसी रूप से बोलना सत्य वचन है।

सत्य धर्म वीतरागभाव में रमण

आत्मस्वरूप का सत्य ज्ञान और श्रद्धापूर्वक वीतराग भाव की उत्पत्ति होना सत्य धर्म की प्राप्ति है। प्रत्येक पदार्थ स्वचतुष्टय की अपेक्षा से सत् है और परचतुष्टय की अपेक्षा से असत् है। अपेक्षा दृष्टि से सत् और असत् होना है किन्तु द्रव्यदृष्टि और स्वचतुष्टय की अपेक्षा लोक में सभी सत् है। जो जैसा है उसे वैसा ही मानना जानना और उसी रूप में राग द्वेष से रहित होकर वीतराग भाव में परिणत होना सत्य धर्म है।

सत्य जीवन व्रत

सत्य बोलने के लिए सत्य को जानना आवश्यक है। बिना सत्य को जाने सत्य बोलना सम्भव ही नहीं है।

व्यावहारिक दृष्टि से देखा जाय तो भी सत्य बोलना सरल है पर असत्य बोलने के लिए योजना बनानी पड़ती है। एक झूठ के लिए हजार झूठ बोलने पड़ते हैं। किन्तु सत्य के लिए किसी भी प्रकार के प्रयत्न की आवश्यकता नहीं होती। असत्य भी सत्य का मुखौटा पहनकर ही प्रतिष्ठा प्राप्त करता है। गारंटी सदा असत्य की होती है। सत्य की कोई गारंटी नहीं होती। यदि वस्तु तथ्य की सही जानकारी नहीं तो बोलने के बजाय चुप रहना ही अधिक श्रेयस्कर है।

सत्य बोलना साधक के लिए जीवन व्रत है। जब यह जीवन व्रत जीवन के कण-कण में रम जाता है तो वह सत्य धर्म हो जाता है।

(६) संयम

संयम मुक्ति का साक्षात् कारण है। सम्यक्त्व के बिना संयम नहीं होता। संयम के साथ सम्यक्त्व का अविनाभावी सम्बन्ध है। तीर्थंकरों को भी मोक्ष प्राप्त करने के लिए संयम धारण करना होता है। संयम एक बहुमूल्य रत्न है। पाँच इन्द्रियों के विषय और कषाय रूपी तस्कर संयम रत्न को लूटने के लिए सदा तत्पर रहते हैं इसलिए उनसे संयम रत्न की रक्षा करना अति आवश्यक है।

होता है कि सभी आत्माएँ इन्द्रियों के विषय सुख को प्राप्त करने के लिए लालायित रही हैं और उसी में आनन्द की अनुभूति करती हैं। पर वस्तुतः इन्द्रियों में सच्चा आनन्द नहीं मिलता, आनन्द मिलता है जितेन्द्रिय बनने पर। इन्द्रियाँ विषयों में उलझाती हैं इसीलिए ये संयम में बाधक हैं।

रसना इन्द्रिय के अधीन होकर व्यक्ति खाने में भक्ष्याभक्ष्य का विवेक नहीं रखता। भरपेट बढ़िया भोजन कर लेने पर भी रसनेन्द्रिय के अधीन होकर पान सुपारी आदि पदार्थ खाता रहता है। इसी प्रकार प्रत्येक इन्द्रिय के विषयों के अधीन बनता रहता है। पर संयमी साधक इन्द्रियों के विषयों से हटकर निज भाव में लीन होता है। आत्मा में रमण और रमना संयम है। इन्द्रियों को वश में करने का अर्थ इन्द्रियों को नष्ट करना नहीं अपितु उनके बहिर्मुखी प्रवाह को आत्माभिमुख बनाना है।

उपाध्याय यशोविजयजी[1] से किसी ने पूछा—हम मोक्ष प्राप्त करने के लिए क्या करना चाहिए? उन्होंने कहा—इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करने के लिए प्रबल पुरुषार्थ करना चाहिए।

संयम का अर्थ ही है सं+यम=विवेकपूर्वक अपनी इच्छाओं का नियमन। बिना संयम के आध्यात्मिक जीवन का सर्वतोमुखी विकास नहीं हो सकता। मन वाणी और शरीर पर नियन्त्रण संयम से ही किया जा सकता है। संयम उन पर अंकुश लगाता है, एतदर्थ ही कहा[2]—साधक अपने हाथों को तू संयम में रख पैरों को संयम में रख वाणी को संयम में रख इन्द्रियों को संयम में रख।

जैन संस्कृति का सार-संयम

आचार्य संघदास गणि ने लिखा[3] है—'मन वचन, काया के योग अयुक्त होने पर दोषों को उत्पन्न करते हैं। जब ये तीनों योग नियंत्रित होते हैं तो गुणों की अभिवृद्धि करते हैं। आचार्य हेमचन्द्र से एक जिज्ञासु साधक ने पूछा—आप जैन संस्कृति के महान द्रष्टा व स्रष्टा हैं। जैन

---

१ बिभेषि यदि संसारात् मोक्षप्राप्तिं च कांक्षसि।
तदेन्द्रियजयं कर्तुं स्फोरय स्फार पौरुषम्॥
—उपाध्याय यशोविजय ज्ञानसार इन्द्रिय-जयाष्टक श्लोक १

२ हत्थसंजए पायसंजए वायसंजए, संजइंदिए। —दशवैकालिक १०-१५

३ मणो य वायकाओ य तिविहो जोगसंगहो।
ते अजुत्तस्स दोसाय जुत्तस्स उ गुणावहा॥ —बृहत्कल्प भाष्य

वाङ्मय उस विराट सागर की तरह है जिसका कहीं भी ओर छोर नहीं है। मेरी बुद्धि इतनी तीक्ष्ण नहीं है जिससे कि मैं उसकी गहराई में प्रविष्ट हो सकूं। मैं जैन संस्कृति का मर्म जानना चाहता हूँ कृपया बताइए उसका सार तत्त्व क्या है? आचार्य ने मधुर स्वर में कहा[1]—वत्स! आस्रव संसार की अन्धेरी गलियों में भटकाने का कारण है और संवर याने संयम मोक्ष का साधन है। यही जैन संस्कृति का सार है कि असंयम से हटकर संयम को अपनाओ।

(७) तप

तप के सम्बन्ध में विस्तार से विश्लेषण इससे पहले अध्याय में किया जा चुका है।

तप वह है जिसमें वीतराग भाव की वृद्धि होती है। इसमें शुद्ध उपयोग रूप वीतराग भाव की प्रधानता होती है। तप में बाह्य और अन्तरंग दोनों ही तपों का समावेश होता है। उदाहरण के रूप में किसी ने एकाशन किया। एकाशन में एक बार ऊनोदरी तप होता है किन्तु आज दूनादर (दुगना भोजन) हो गया है। एकाशन में एक समय भी गरिष्ठ भोजन नहीं होना चाहिए। रस-परित्याग उसके लिए आवश्यक है।

इस तरह स्पष्ट है तप में इच्छाओं का निरुन्धन किया जाता है। इच्छाओं का निरुन्धन होने से वीतराग भाव की वृद्धि होती है और वही तप की आत्मा है।

(८) त्याग

आचार्य अकलंक ने[2] सचेतन और अचेतन परिग्रह की निवृत्ति को त्याग माना है। जितने भी मोक्ष के साधन हैं उनमें त्याग को सर्वोत्तम साधन माना है।[3] राग में दुःख है और त्याग में सुख है। आचार्य कुन्दकुन्द ने[4] कहा है—अपने से भिन्न सभी पर-पदार्थों को ये पर हैं इस प्रकार जान कर जब त्याग किया जाता है तब वह प्रत्याख्यान त्याग होता है।

---

१ आस्रवो भवहेतुः स्यात् संवरो मोक्षकारणम्।
इतीयमार्हती दृष्टिरन्यदस्याः प्रपञ्चनम्॥ —वीतराग स्तोत्र

२ परिग्रहस्य चेतनाचेतनलक्षणस्य निवृत्तिस्त्याग इति निश्चीयते। —तत्त्वार्थराजवार्तिक अ० ९ सू० ६

३ त्याग एव सर्वेषां मोक्षसाधनमुत्तमम्।

४ सव्वे भावे जम्हा पच्चक्खाइ परे त्ति णादूण।
तम्हा पच्चक्खाणं णाणं णियमा मुणेदव्वं॥ —समयसार ३४

आचार्य अभयदेव[1] ने 'वियाए—त्याग सभी प्रकार के आनन्द का त्याग अथवा श्रमणों को दान देना किया है। अन्यत्र त्याग[2] का दान भी किया है।

त्याग और दान

त्याग और दान में अन्तर है। त्याग जो अनुपयोगी है अहितकर है उसका किया जाता है किन्तु दान जो उपयोगी है, हितकारी है वस्तु का दिया जाता है। उपकार के लिए वस्तु का देना दान है। दान में परोपकार मुख्य होता है। किन्तु त्याग में स्वयं का उपकार मुख्य होता है।

दूसरों के उपकार के लिए राग द्वेष आदि का त्याग नहीं किया जाता किन्तु स्वयं के उपकार के लिए ही त्याग किया जाता है। त्याग दान का पर्यायवाची नहीं है। दान में कम से कम दो व्यक्ति चाहिए और दोनों को जोड़ने वाला पदार्थ भी चाहिए। यदि वस्तु नहीं है तो वह क्या देगा। पर त्याग के लिए किसी की भी आवश्यकता नहीं। दान पराश्रित क्रिया है जबकि त्याग पूर्ण स्वाधीन क्रिया है। कितनी ही वस्तुएँ ऐसी हैं जिनका त्याग होता है दान नहीं कुछ वस्तुएँ ऐसी भी हैं जिनका त्याग भी होता है और दान भी। जैसे राग द्वेष, स्त्री-पुत्र-पुत्री आदि का त्याग हो सकता है दान नहीं। ज्ञान और अभय आदि का दान होता है त्याग नहीं। औषध आहार आदि का त्याग भी होता है और दान भी होता है।

कहीं कहीं पर त्याग और दान को पर्यायवाची माना गया है किन्तु यहाँ त्याग श्रमण धर्म के रूप में आया है। श्रमण आहार दान आदि नहीं करता। वह ज्ञान दान आदि कर सकता है।

ज्ञान से बढ़कर त्याग है। ज्ञानियों में भी अधिक सम्मान त्यागियों का है। त्याग ऐसा धर्म है जिसे धारण कर आत्मा परम आनन्द को प्राप्त करता है।

(८) आकिंचन्य

आभ्यन्तर और बाह्य परिग्रह का परित्याग कर आत्मभाव में रमण करना आकिंचन्य है। जैन दृष्टि से केवल बाह्य परिग्रह का ही परित्याग प्रमुख नहीं है। प्रमुख है आभ्यन्तर परिग्रह का परित्याग। ...

---

[1] त्यागः सर्वसङ्गानां सविग्नमनोज्ञ साधुदानं वा।
[2] विरक्ति त्यागः ज्ञानधर्म...।

आसक्ति नहीं मिटती वहाँ तक बाह्य परिग्रह का परित्याग करने भी आभ्यन्तर परिग्रह विद्यमान है तो बाह्य परिग्रह स्वतः आ जाएगा। परिग्रह बहुत बड़ा पाप है। विश्व में जितनी हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील आदि की प्रवृत्तियाँ निहारी जाती हैं उन सब का मूल में परिग्रह ही है।

आवश्यकचूर्णि में[1] आकिंचनत्व का अर्थ अपने देह आदि में भी निर्ममता रखना किया है।

बाह्य परिग्रह

बाह्य परिग्रह, यथा धन, वस्तु आदि केवल विनिमय या कृत्रिम साधन हैं अथवा आवश्यकता-पूर्ति के माध्यम हैं। वस्तुतः वस्तु स्वयं में कोई परिग्रह नहीं किन्तु उसके ग्रहण का भाव और संग्रह की इच्छा परिग्रह है। यदि पर-पदार्थों के ग्रहण व संग्रह की भावना नहीं है केवल पर-पदार्थ की उपस्थिति है तो वह परिग्रह नहीं। जैसे तीर्थंकरों के समवसरण में बाह्य परिग्रह का जमघट होता है तथापि वे परिग्रही नहीं होते। इसीलिए भगवान महावीर ने तथा जैन शास्त्रों में मूर्च्छा को परिग्रह कहा है।[2]

पर-पदार्थ न होने पर भी यदि उसके प्रति ममत्व है तो वह परिग्रह है। इस संसार में ममत्व वृत्ति के कारण व्यक्ति पर-पदार्थों को जोड़ने में आनन्द की अनुभूति करता है। पुण्य की प्रबलता होने पर पदार्थ सहज ही में उपलब्ध हो जाते हैं। किन्तु पुण्य के अभाव में प्रबल प्रयास करने पर भी नहीं मिल पाते।

अपरिग्रह और समाजवाद में अंतर

कितने ही आधुनिक चिन्तक अपरिग्रह की तुलना समाजवाद से करते हैं पर दोनों में महान अंतर है। समाजवाद का संबंध बाह्य वस्तुओं से है। उनके समान वितरण से है। किन्तु अपरिग्रह में ममता का त्याग

---

1 नत्थि जस्स किंचण सो अकिंचणो तस्स भावो अकिंचणियं।

2 (क) दशवैकालिक ६ २०   (ख) मूर्च्छा परिग्रहः। —तत्त्वार्थसूत्र ७ १२

(घ) मूर्च्छा तु ममत्वपरिणामः —पुरुषार्थसिद्ध्युपाय छन्द १११

(ग) मूर्च्छा परिग्रहः इति सूत्रं यथाध्यात्मानुसारेण मूर्च्छारूपरागादि—परिणामानुसारेण परिग्रहो भवति न च बहिरंगपरिग्रहानुसारेण।

—प्रवचनसार तात्पर्यवृत्ति टीका गा० २७९

(च) ममेदमिति संकल्पः परिग्रहः। —सर्वार्थसिद्धि अ० ७ सूत्र १७

आचार्य अभयदेव[1] ने 'चियाए—त्याग सभी प्रकार के आन्तरिक त्याग अथवा श्रमणों को दान देना किया है। अन्यत्र त्याग[2] का अर्थ दान भी किया है।

त्याग और दान

त्याग और दान में अन्तर है। त्याग जो अनुपयोगी है अहित है उसका किया जाता है किन्तु दान जो उपयोगी है, हितकारी है वस्तु का दिया जाता है। उपकार के लिए वस्तु का देना दान है। दान में परोपकार मुख्य होता है। किन्तु त्याग में स्वयं का उपकार होता है।

दूसरों के उपकार के लिए राग द्वेष आदि का त्याग नहीं किया जाता किन्तु स्वयं के उपकार के लिए ही त्याग किया जाता है। त्याग दान का पर्यायवाची नहीं है। दान में कम से कम दो व्यक्ति चाहिए और दोनों को जोड़ने वाला पदार्थ भी चाहिए। यदि वस्तु नहीं है तो क्या देगा। पर त्याग के लिए किसी की भी आवश्यकता नहीं। दान पर-क्रिया है जबकि त्याग पूर्ण स्वाधीन क्रिया है। कितनी ही वस्तुएँ ऐसी हैं जिनका त्याग होता है दान नहीं, कुछ वस्तुएँ ऐसी भी हैं जिनका त्याग होता है और दान भी। जैसे राग द्वेष स्त्री पुत्र पुत्री आदि का त्याग हो सकता है दान नहीं। ज्ञान और अभय आदि का दान होता है त्याग नहीं। औषध आहार आदि का त्याग भी होता है और दान भी होता है।

कहीं-कहीं पर त्याग और दान को पर्यायवाची माना गया है। यहाँ त्याग श्रमण धर्म के रूप में आया है। श्रमण आहार दान नहीं करता। वह ज्ञान दान आदि कर सकता है।

दान से बढ़कर त्याग है। दाताओं में भी अधिक सम्मान त्यागी का है। त्याग ऐसा धर्म है जिसे धारण कर आत्मा परम आनन्द को प्राप्त करता है।

(९) आकिंचन्य

आभ्यन्तर और बाह्य परिग्रह का परित्याग कर आत्मभाव में रमण करना आकिंचन्य है। जैन दृष्टि में केवल बाह्य परिग्रह का ही परित्याग प्रमुख नहीं है। प्रमुख है आभ्यन्तर परिग्रह का परित्याग। ...

---

१ त्यागः सर्वसंगानां संविग्नमनोज्ञसाधुदानं वा।

२ चियाए त्यागो दानधर्म इति।

आसक्ति नहीं मिटती वहाँ तक बाह्य परिग्रह का परित्याग करके भी आभ्यन्तर परिग्रह विद्यमान है तो बाह्य परिग्रह स्वतः आ जाएगा। परिग्रह बहुत बड़ा पाप है। विश्व में जितनी हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील आदि की प्रवृत्तियाँ निहारी जाती हैं उन सब का मूल में परिग्रह ही है।

आवश्यकचूर्णि में[1] आकिंचनत्व का अर्थ अपने देह आदि में भी निर्ममता रखना किया है।

बाह्य परिग्रह

बाह्य परिग्रह यथा धन, वस्तु आदि केवल विनिमय या कृत्रिम साधन हैं अथवा आवश्यकता-पूर्ति के माध्यम हैं। वस्तुतः वस्तु स्वयं में कोई परिग्रह नहीं किन्तु उसके ग्रहण का भाव और संग्रह की इच्छा परिग्रह है। यदि पर-पदार्थों के ग्रहण व संग्रह की भावना नहीं है केवल पर-पदार्थ की उपस्थिति है तो वह परिग्रह नहीं। जैसे तीर्थंकरों के समवसरण में बाह्य परिग्रह का जमघट होता है तथापि वे परिग्रही नहीं होते। इसीलिए भगवान महावीर ने तथा जैन शास्त्रों में मूर्च्छा को परिग्रह कहा है।[2]

पर पदार्थ न होने पर भी यदि उसके प्रति ममत्व है तो वह परिग्रह है। इस संसार में ममत्व वृत्ति के कारण व्यक्ति पर-पदार्थों को जोड़ने में आनन्द की अनुभूति करता है। पुण्य की प्रबलता होने पर पदार्थ सहज ही में उपलब्ध हो जाते हैं। किन्तु पुण्य के अभाव में प्रबल प्रयास करने पर भी नहीं मिल पाते।

अपरिग्रह और समाजवाद में अन्तर

कितने ही आधुनिक चिन्तक अपरिग्रह की तुलना समाजवाद से करते हैं पर दोनों में महान अन्तर है। समाजवाद का सम्बन्ध बाह्य वस्तुओं से है। उनके समान वितरण से है। किन्तु अपरिग्रह में ममता का त्याग

---

१ नत्थि जस्स किंचण सो अकिंचणो तस्स भावो अकिंचणियं।

२ (क) दशवैकालिक ६ २०   (ख) मूर्च्छा परिग्रहः। —तत्त्वार्थसूत्र ७ १२
   (घ) मूर्च्छा तु ममत्वपरिणामः —पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, छन्द १११
   (ग) मूर्च्छा परिग्रहः इति सूत्रं यथाध्यात्मानुसारेण मूर्च्छारूपरागादि-परिणामानुसारेण परिग्रहो भवति न च बहिरंगपरिग्रहानुसारेण।
   —प्रवचनसार तात्पर्यवृत्ति टीका गा० २७८

त में जितनी बहुमूल्य वस्तु होगी उतनी ही उसकी बाड मजबूत बनाई जाती है जिससे कि तस्कर उसे बरबाद न कर सके उसी तरह ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए नौ बाडों का विधान किया गया है।

जैसे हाथी के पैर में सभी सद्गुण समा जाते हैं वैसे ही ब्रह्मचर्य में सभी सद्गुण समा जाते हैं। जिसने ब्रह्मचर्य की सम्यक् आराधना कर ली है उसने सपूर्ण शील, तप, विनय संयम क्षमा निर्लोभता गुप्ति आदि सभी व्रतों व गुणों की आराधना कर ली है।

श्रमण के दस धर्म के उल्लेख से श्रमण जीवन की महत्ता स्पष्ट हो जाती है। ये वे सद्गुण हैं जिन्हें धारण कर साधक का जीवन चमक उठता है।

□

९ साधना की सप्राणता : भावना योग

मानव चिन्तनशील प्राणी है। वह चिन्तन शक्ति के कारण ही अन्य प्राणियों से श्रेष्ठ और ज्येष्ठ माना गया है। चिन्तन शक्ति से ही मानव महान बनता है और वह चिन्तन शक्ति के सदुपयोग से ही अन्य शक्तियों को नियन्त्रित तथा संचालित करता है। चिन्तन शक्ति का ही परिणाम वैज्ञानिक विकास है और वैज्ञानिक विकास के फलस्वरूप यान्त्रिक शक्तियों का विकास हुआ है तथा हर प्रकार की जीवन-सुविधाएँ उपलब्ध हो गई हैं। द्रुतगामी संचार-साधना ने जिन्दगी की धड़कन को तीव्रतर बना दिया है। क्षेत्र की परिधि का अत्यधिक विस्तार हो चुका है। किन्तु उन्नत भावनाओं का विकास न होने से जीवन में द्वन्द्व और तनाव उत्पन्न हो गया है। जिससे जन-जीवन संशयग्रस्त भयाक्रान्त, असुरक्षित और भावना शून्य हो गया है।

मानव भौतिक जगत के नित्य नूतन रहस्यों को जानने के लिए जल थल और नभ की अतल गहराइयों को नापने के लिए और निस्सीम ऊँचाइयों को स्पर्श करने के लिए निरन्तर प्रयत्नशील है। भौतिक जगत की यात्रा ने उसे आध्यात्मिक जगत से दूर कर दिया है। वह एक क्षण भी रुककर अपने अन्तर्जगत पर दृष्टिपात नहीं कर रहा है। फलस्वरूप भौतिक वैभव तथा वैज्ञानिक उपलब्धियों के अंबार लगने पर भी उसे शान्ति नहीं है।

जब भी मानव स्वभाव को भूलकर विभाव में विचरण करता है तभी उसे विकास के स्थान पर विनाश के सन्दर्शन होते हैं। शान्ति के स्थान पर अशान्ति ही हाथ लगती है।

अनुप्रेक्षा और भावना

बहिर्भाव से अन्तर्भाव में रमण करना ही अनुप्रेक्षा है। अनुप्रेक्षा में मानव जीव और जगत के सम्बन्ध में गहराई से चिन्तन मनन करता है। अनुप्रेक्षा के अर्थ में ही जैन आगम साहित्य में भावना शब्द का व्यवहृत हुआ है।

भाव और भावना

भाव और भावना ये दो शब्द हैं। भाव एक विचार है मन की तरंग है। वह जल बूँद की तरह है। जब भाव प्रवाह रूप में प्रवाहित होता है तब वह भावना के रूप में परिणत होता है। भावना में अखण्ड प्रवाह होता है, जिससे मन में संस्कार स्थायी हो जाते हैं। भाव पूर्व रूप है तो भावना उत्तर रूप है। सदविचार सुविचार से जीवन का परिष्कार होता है और जीव जन्म मरण के प्रवाह से मुक्त होकर मुक्ति का वरण करता है।

भाव का महत्त्व

भव और भाव इन दोनों शब्दों में केवल एक मात्रा का अन्तर है। भव संसार है[1] और भाव विचार है। इस संसार से मुक्त होने के लिये भाव आवश्यक है। अध्यात्म जगत के दिव्य नक्षत्र आचार्य कुन्दकुन्द ने[2] स्पष्ट कहा है भावना रहित आत्मा कितना ही प्रयास करे वह मुक्ति प्राप्त नहीं कर सकता। आचार्य भद्रबाहु ने[3] कहा है—बिना पवन के श्रेष्ठतम जहाज भी समुद्र में चल नहीं सकता। जैसे नौका को चलाने के लिए पवन आवश्यक है वैसे ही संसार सागर से पार उतरने के लिए भावना आवश्यक है। आचार्य सिद्धसेन दिवाकर ने[4] भी कहा—भावशून्य क्रिया कभी भी फल प्रदाता नहीं होती। भाव एक कुंजी है। जिससे धर्मरूपी द्वार उद्घाटित हो जाता है। भाव एक औषध है, जिससे भव रूपी रोग नष्ट होते हैं।

आयुर्वेद में औषधियों को प्रभावशाली बनाने के लिए उसे विविध रसों में डाला जाता है। विविध रसों में डालना भावना कहलाती है। जितनी अधिक भावना दी जायगी, उतनी ही अधिक औषध गुणकारी होगी। *इसी तरह मन को निर्मल विचारों के रस से भावित किया जाय* तो मन भी पूर्ण संस्कारित बनता है। विमल विचारों के पुनः-पुनः चित्त में आते रहने से संस्कार सुदृढ़ होते हैं। सतत अभ्यास से भावना ही ध्यान का रूप ग्रहण करती है।

---

१ भवन्त्यस्मिन् कर्मवशवर्तिन प्राणिन इति भव संसार। —पंचाशक १

२ भावरहिओ न सिज्झइ। —भावपाहुड ४

३ आवश्यकनियुक्ति ६९

४ यस्मात् क्रिया प्रतिफलन्ति न भावशून्या। —

भावना के दो भेद

भावना के दो भेद हैं—एक ऊर्ध्वगामी भावना, दूसरी अधोगामी भावना। सद्भावना ऊर्ध्वगामी भावना है और असद्भावना अधोगामी भावना है। आचार्य ... ने भावनारूपी सरिता की दो धाराएँ मानी हैं। यह ऊपर भी जाती है और नीचे भी जाती है। यह शुभ की ओर भी गति करती है तो अशुभ की ओर भी बढ़ती है। जल की खाद से इक्षु, द्राक्षा, आम, मोसम्बी आदि मधुर रसदार फल भी पैदा होते हैं और तम्बाकू, अफीम आदि नशीली वस्तुएँ भी उत्पन्न होती हैं। यदि चित्तवृत्ति में शुभ विचारों का प्राधान्य होगा तो सुख, शान्ति और आनन्द का सरसब्ज बाग लहलहा उठेगा। इसके विपरीत यदि अशुभ विचारों का प्राधान्य होगा तो अशान्ति, दुःख, द्वेष आदि दानवी वृत्तियाँ पनपेंगी। आचार्य संघदास गणि[1] ने भावना पर चिन्तन करते हुए उसके दो प्रकार बताये हैं—असंक्लिष्ट भावना और संक्लिष्ट भावना अर्थात् शुभ भावना और अशुभ भावना। साधक को अशुभ भावना से बचने के लिए निरन्तर शुभ भावना की ओर अग्रसर होना चाहिए। शुभ भावना ध्यातव्य है और अशुभ भावना हातव्य है। कोई भी विवेकी यह नहीं चाहता कि कूड़ा-कचरे को अपने घर में भरा जाय। प्रत्येक व्यक्ति यही चाहता है उसका आवास पूर्ण स्वच्छ हो, इसी तरह सुन्दर भावना से हृदय मन्दिर को सजाना सँवारना चाहिए।

अशुभ भावना के प्रकार एवं स्वरूप

अशुभ भावना के नौ[2] और पाँच प्रकार बताये हैं। वे इस प्रकार हैं—

(१) हिंसानुबन्धी भावना (२) मृषानुबन्धी भावना
(३) स्तेयानुबन्धी भावना (४) मैथुन सम्बन्धी भावना
(५) परिग्रह सम्बन्धी भावना (६) क्रोधानुबन्धी भावना
(७) मानानुबन्धी भावना (८) मायानुबन्धी भावना
(९) लोभानुबन्धी भावना

आचार्य संघदास गणी ने[3] अशुभ भावनाओं के पाँच प्रकार बताये हैं, वे इस प्रकार हैं—

---

१ दुविहाओ भावणाओ असंकिलिट्ठा य संकिलिट्ठा य।
मुत्तूण संकिलिट्ठा असंकिलिट्ठाहिं भावंति ॥ —बृहत्कल्पभाष्य १२९१

२ अभिधान राजेन्द्र कोष—भावना शब्द

३ (क) बृहत्कल्पभाष्य १२९३ (ख) ज्ञानार्णव ४४१

करनी चाहिए। इसी तरह अन्य अप्रशस्त भावनाएं भी साधक की प्रगति के लिए बाधक हैं। शुभ भावनाओं का फल आम के फल की तरह है जो दीर्घकाल के पश्चात् फल प्रदान करता है। अशुभ भावनाएं धतूरे की तरह शीघ्र फल प्रदान करने वाली होती हैं।

उत्तराध्ययन[1], स्थानांग[2], दशाश्रुतस्कन्ध[3] और बृहत्कल्पभाष्य आदि में अशुभ भावनाओं का जो उल्लेख हुआ है, वह सम्पूर्ण वर्णन श्रमण को लक्ष्य में लेकर किया गया है। आचार्य संघदास गणि ने[4] स्पष्ट शब्दों में कहा—जो श्रमण होकर अशुभ भावनाओं का आचरण करता है। ... भावनाओं से आत्मा को दूषित करता है, तो वह उसी भावना के अनुरूप गति में जन्म लेता है। यदि देवगति में गया तो किल्विषी देव बनता है। जो चरणहीन है यदि वह मनुष्य गति में जन्म लेता है तो विदूषक, ... तथा अन्य निम्न जातियों में जन्म लेकर असदाचरण करता है। तिर्यंच और नरक गति में भी अशुभतर स्थान में ही उत्पन्न होता है। अशुभ भावना हलाहल विष के समान है, जो अपना प्रभाव दिखाये बिना नहीं रहती।

हम पूर्व ही बता चुके हैं कि चित्तवृत्ति का नाम 'भावना' है। भावना के अशुभ और शुभ ये दो मुख्य भेद हैं। यों भावना के असंख्य भेद हो सकते हैं। जितनी भी चित्तवृत्तियाँ हैं, उतनी ही भावना हो सकती हैं। पर मूर्धन्य मनीषियों ने उन भावनाओं का प्रमुख प्रकारों की सीमा में ... किया है। अशुभ भावना साधक के लिये वर्ज्य है। शुभ भावना ही उसके लिये उपादेय है।

शुभ भावनाओं के भेद-प्रभेद

शुभ भावनाओं को दो भागों में विभक्त किया गया है—एक चारित्र की भावना है दूसरी वैराग्य भावना है। चारित्र भावनाओं में महाव्रतों के सुदृढ़ बनाने के लिए प्रत्येक महाव्रत की पाँच-पाँच भावनाएँ हैं। उत्तरा-ध्ययन[6] में स्पष्ट कहा है—जो श्रमण पाँच महाव्रतों की पच्चीस भावनाओं में सदा यत्नशील रहता है, सम्यग्दर्शनपूर्वक उनका गहराई से अनुचिन्तन करता रहता है वह संसार में परिभ्रमण नहीं करता है। इन भावनाओं ...

---

१ उत्तराध्ययनसूत्र अध्ययन ३६
२ स्थानांग ४/४
३ दशाश्रुतस्कन्ध ६ १
४ बृहत्कल्पभाष्य १३२...
५ बृहत्कल्पभाष्य १२९४
६ उत्तराध्ययन सूत्र ...

मनुचिन्तन से महाव्रता में स्थिरता आती है।[1] मनोवन पूर्ण रूप से सुन्ढ ता है। मन में पवित्र संस्कार सुस्थिर होते हैं। महाव्रता की भावनाओ । विवेचन हम महाव्रता के वणन के सन्दभ म करग। अत उसकी पुनरा त्ति करना यहाँ अपेक्षित नही है।

धमध्यान और शुक्लध्यान की अनप्रेक्षाए

स्थानाग सूत्र म चारित्र की विशुद्धि के लिये ही धमध्यान और शुक्लध्यान की चार-चार अनुप्रेक्षाएँ बतायी हैं।[2] उन अनुप्रक्षाओं से चारित्र म विशुद्धि और स्थिरता आती है। धमध्यान की चार अनुप्रक्षाएँ इस प्रकार हैं—

१—एकत्वानप्रेक्षा—आत्मा के एकत्व पर अनुचिंतन।
२—अनित्यानुप्रेक्षा—बाह्य सयागा की अनित्यता पर चिंतन।
३—अशरणानुप्रेक्षा—सासारिक अशरणता का चिन्तन।
४—ससारानुप्रेक्षा—ससार विषयक विचित्रता का चिंतन।

इसी तरह शुक्लध्यान की भी चार अनुप्रेक्षाएँ हैं—
१—अनन्तवर्तित अनुप्रेक्षा—अनादि भव परम्परा पर चिन्तन।
२—विपरिणामानप्रेक्षा—पदार्थों की परिणमनशीलता पर चिंतन।
—अशुभानुप्रेक्षा—बाह्य सयागा की अशुभता पर चिंतन।
४—अपायानुप्रेक्षा—बध हेतु आश्रव आदि के कटुफला पर चिंतन।

इन अनुप्रेक्षाओं म आत्मा अशुभ ध्यान से हटकर शुभ ध्यान म स्थिर होता है। इनके चिंतन स ससार से विरक्ति होती है। इन आठ अनुप्रेक्षाओं म वराग्य भावनाओ का समावेश हो जाता है। पर आगम साहित्य म एक स्थान पर वैराग्य की द्वादश भावनाओं का व्यवस्थित वणन नही मिलता बीज रूप म अनेक स्थलों पर इन भावनाओं का वणन है। बारह भावनाओं में वैराग्य का प्राधान्य होने से और वैराग्यमूलक चिंतन होने से आचार्यों ने इन्हें वैराग्य भावना कहा है।[3]

आगम साहित्य में से विकीर्ण भावनाओं का आचार्यों ने सकलित कर उसे व्यवस्थित रूप दिया। सवप्रथम आचार्य कुन्दकुन्द ने 'बारस अणुवेक्खा' ग्रथ का निर्माण किया। आचार्य उमास्वाति ने तत्वार्थसूत्र में बहुत ही सक्षेप म अनुप्रक्षा का सूचन किया है। किन्तु प्रशमरति

तत्त्वार्थसूत्र ७   २ स्थानाग ४ १ २४७
तत्त्वार्थसूत्र ७-७

प्रकरण' म अनुप्रेक्षाओ का विस्तार से वणन किया है। आचाय कुन्दकुन्द के और उमास्वाति के वणन क्रम में कुछ अन्तर है, पर भाव एक सदश है।

अनेक जनाचार्यों ने इन अनुप्रेक्षाओ पर अपनी अपनी शैली म अनेक ग्र थो का निमाण किया है। आचाय वटटकेर ने मूलाचार की रचना की। आचाय नेमिचन्द न 'वहदद्रव्यसग्रह' ग्रथ का सजन किया। आचाय सोमदेव ने "यशस्तिलक चम्पू' की रचना की। आचाय शुभचन्द्र ने 'ज्ञानार्णव' का निर्माण किया। आचाय हेमचन्द्र न "योगशास्त्र" की रचना की। स्वामी कार्तिकेय ने 'कार्तिकेयानुप्रेक्षा" ग्रन्थ का सजन किया। उपाध्याय विनय विजयजी ने "शात सुधारस" ग्रथ लिखा और शतावधानी पण्डित रत्न श्री रत्नचद्र जी न 'भावना शतक" ग्रन्थ का निर्माण किया। आचार्य आनन्द ऋषिजी न 'भावनायोग एक परिशीलन' का प्रणयन किया। इस तरह विविध मनीषियो न ग्रथो का निमाण कर अपनी प्रतिभा का परिचय प्रदान किया। हम यहा बहुत ही सक्षेप म उन वराग्य भावनाओं पर चिन्तन प्रस्तुत कर रहे है।

द्वादश वराग्य भावनाएँ

वराग्य को उद्बुद्ध करने वाली जितनी भावनाएँ हैं उन सभी का समावेश वराग्य भावना म होता है। वराग्य का वणन आगम साहित्य में सवत्र मुखरित हुआ है। इन भावनाओ के चिन्तन से वराग्य भावना परि पुष्ट होती है और उसकी प्रेरणा प्राप्त होती है। आचार्यों ने वराग्य भावना के बारह प्रकार बताये ह, व इस प्रकार है—

(१) अनित्य भावना	(५) अन्यत्व भावना	(९) निर्जरा भावना
(२) अशरण भावना	(६) अशुचि भावना	(१०) धर्म भावना
(३) ससार भावना	(७) आश्रव भावना	(११) लोक भावना
(४) एकत्व भावना	(८) सवर भावना	(१२) बोधिदुर्लभ भावना

इन भावनाओ म जो क्रम प्रतिपादित किया गया है। वह बडा ही वज्ञानिक है। जसे भव्य भवन पर चढने के लिए सीढ़ियाँ होती हैं वसे ही भावनाओ के महल पर आरूढ होने के लिए ये क्रमबद्ध सीढ़ियाँ हैं। इन सीढ़ियो पर आरूढ होता हुआ साधक सहज ही आध्यात्मिक उत्कर्ष प्राप्त होता है।

(१) अनित्य भावना

इस विराट विश्व मे परिभ्रमण का मूल कारण मोह है। मोह

मुग्ध बना हुआ मानव जो वस्तुएं या पदार्थ नित्य नहीं है उन्हें नित्य मानता है। क्षणभंगुर जीवन को शाश्वत समझता है। मोह के चक्र व्यूह को भेदने के लिये ही अनित्य भावना आवश्यक है। अनित्य भावना का अर्थ है—कि संसार में जितने भी भौतिक पदार्थ हैं वे सभी अनित्य हैं। चाहे तन हो चाहे धन हो, चाहे परिजन हो चाहे भवन हो—वे सभी विनाशवान हैं। बिजली की चमक की तरह क्षणभंगुर हैं। जिस शरीर, यौवन रूप और सम्पत्ति पर मानव आसक्त है और अहर्निश उसकी सुरक्षा का ध्यान रखता है। लेकिन वह यह चिंतन नहीं करता कि यह शरीर विविध व्याधियों का घर—'शरीर व्याधि मंदिर' है। यौवन, वृद्धावस्था में परिवर्तन होने वाला है। यह शरीर जो प्रतिक्षण गल रहा है फिर उस पर इतना आसक्त क्यों है ? शरीर की भांति ही अन्य पदार्थ भी नश्वर है। धन भी कहां एक स्थान पर स्थिर रहता है। इसी लिए लक्ष्मी को चंचला कहा है। एक पाश्चात्य विचारक ने लिखा है—रिचेज हव विंग्स (Riches have wings) समृद्धि के पंख होते है। वह पक्षी की तरह सदा उड़ती रहती है। एक स्थान पर स्थिर होकर नहीं रहती है। जिस धन के लिये विविध प्रकार के छल छद्म किये माता पिता परिजन से वैर भी मोल लिया। वह धन भी अस्थायी है। परिजनों की प्रीति भी स्वार्थ पर आधारित है। जब तक स्वार्थ है वहाँ तक वे अपने हैं। स्वार्थ नष्ट होने पर वे भी शत्रु की तरह व्यवहार करने लगते हैं। अतः साधक अनित्य भावना का चिंतन करता है और संसार के वास्तविक अनित्य स्वरूप को समझ कर उस से वह विरक्त होता है।

(२) अशरण भावना

अनित्य स्वरूप का चिंतन करने से मन का ममत्व कम होता है। साथ ही यह भी सत्य है कि जो वस्तु अनित्य है वह कभी भी शरणभूत नहीं हो सकती। अस्थिर नींव पर स्थिर भवन कैसे बन सकता है ? जो पदार्थ प्रतिपल प्रतिक्षण विनष्ट हो रहा है वह हमें किस प्रकार शरण दे सकता है ? जैसे शेर के मुँह में जाते हुए मृग को दूसरा मृग बचा नहीं सकता वैसे ही काल के गाल में समाते हुए प्राणियों को कोई दूसरा प्राणी बचा नहीं सकता चाहे वह कितना ही शक्ति सम्पन्न यहाँ तक कि इन्द्र देवता ही क्यों न हो। यदि कोई प्राणी चाहे कि मैं मृत्यु से बच जाऊं और उसके लिए वह सुरक्षित मकान का निर्माण भी करे मृत्यु को ठुकरा कर वह अत्यन्त दीन स्वर से अनुनय भी करे कि मुझे मत मारो' मुझे छोड़ दो।

यदि कल्पना न [illegible] करें तो भी काल उसे नहीं छोड़ेगा। काल एक न एक दिन को [illegible] बनाता [illegible] रहता है और प्राणी को उसे [illegible] मृत्यु के [illegible] निश्चित [illegible] है। जो जन्मा है वह [illegible] मरेगा।[1] [illegible] है [illegible] जो [illegible] हुआ है वह अन्त होगा। [illegible] का आगमन [illegible], पर सभी [illegible] रहा है।[2]

यदि कोई व्यक्ति यह सोचता है कि मेरे पास धन का अम्बार है, मेरा बहुत बड़ा परिवार है। मेरे और मित्रजन हैं। वे मृत्यु से बचा लेंगे। मुझे शरण प्रदान करेंगे। पर उसका यह सोचना केवल भ्रम है।

उत्तराध्ययन सूत्र में अनाथी मुनि का बड़ा सुन्दर प्रसंग है। अनाथी मुनि को श्रमण बनने से पूर्व आँखों में भयंकर पीड़ा हुई थी। उस पीड़ा से वह अत्यन्त व्यथित हो उठा। सभी प्रकार के उपचार किये गये, पर पीड़ा शान्त नहीं हुई। स्वजन और परिजन भी शरणभूत न हो सके। अन्त में सभी को अशरण समझकर अनाथी मुनि ने धर्म की शरण ग्रहण की तब उनकी पीड़ा शांत हुई और वे अनगार बने।

महारानी कमलावती ने इषुकार राजा से कहा—राजन्! एक धर्म ही हमारा त्राता है। इसके अतिरिक्त हमारा कोई भी रक्षक नहीं है।[3]

भगवान पार्श्वनाथ की परम्परा के केशी श्रमण ने गणधर गौतम से कहा—एक विराटकाय महासमुद्र है जिसमें भयानक तूफान उठ रहे हैं मच्छ कच्छ मुँह फैलाकर निगलने को लपलपा रहे हैं। बताइये ऐसा कौन सा द्वीप है जहाँ आत्मा पूर्ण निर्भय हो सके और उस शरण को ग्रहण करने पर शांति और निर्भयता के साथ रह सके। गणधर गौतम ने जिज्ञासा का समाधान करते हुए कहा—जरा और मृत्यु के वेग में प्रवाहित होते हुए प्राणी के लिये धर्म ही एकमात्र शानदार द्वीप है। ऐसी शरण है जहाँ प्राणी शांति और निर्भयता से रह सकता है।[4] धर्म परलोक में भी साथ जाता है। इसलिये साधक अशरण भावना का अनुचिंतन करते हुए सच्चे धर्म को स्वीकार करता है।

---

१ जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः। —गीता २।२७

२ नाणागमो मच्चुमुहस्स अत्थि। —आचारांग १।४।२

३ उत्तराध्ययन १४।४०

४ उत्तराध्ययन २३।६८

(३) संसार भावना

जन्म मरण का चक्र संसार है। आचार्य जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने संसार की परिभाषा करते हुए लिखा है—एक भव से दूसरे भव में, एक गति से दूसरी गति में परिभ्रमण करते रहना 'संसार' है।[1] संसरणशील संसार है। स्थानांग में—संसार के चार प्रकार बताये हैं—द्रव्य संसार, क्षेत्र संसार', काल संसार' और 'भाव संसार'। षट् द्रव्यात्मक रूप संसार द्रव्य संसार है। चौदह रज्जुप्रमाण संसार क्षेत्र संसार है। दिन रात्रि पक्ष मास पुद्गल परावर्तन रूप काल संसार है। कर्म के कारण जीव के राग द्वेषात्मक जो परिणाम होते हैं जिससे जीव संसार में परिभ्रमण करता है वह भाव संसार है। दूसरी दृष्टि से संसार के नरयिक संसार तिर्यंच संसार मनुष्य संसार और देव संसार—ये चार गति रूप संसार हैं।[2] आचार्य हरिभद्र ने[4] लिखा है कि अनादि काल से यह जीव इस संसार में परिभ्रमण कर रहा है। ऐसा कोई भी स्थान नहीं। जहाँ पर इस जीव ने जन्म और मरण नहीं किया हो। एक एक योनि में—अनक बार जन्म मरण ग्रहण करता रहा है।

निगोद में जीव का शरीर बहुत ही सूक्ष्म होता है। सूचिका के नोक जितने भाग पर असंख्यात शरीर समाविष्ट हो जाते हैं और उन शरीरों में भी एक एक शरीर में अनन्त जीव रहते हैं। उन जीवों को अपार वेदना होती है। इस जीव ने अनन्त काल तक निगोद की घोर वेदना सहन की। पृथ्वी पानी आदि स्थावरकाय में असंख्यात काल तक रहा है। द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय असंज्ञी पंचेन्द्रिय, संज्ञी तिर्यंच पंचेन्द्रिय और नरक में भी घोर वेदना सहन की है। स्थानांग सूत्र में स्पष्ट निर्देश है—नरक में भयंकर सर्दी गर्मी भूख प्यास खुजली परवशता भय, शोक जरा और विविध व्याधियाँ जीव ने सहन की हैं। आगम साहित्य में अनेक स्थलों पर नरक के जीवों का रोमांचक वर्णन है। मानव जीवन में भी अनेक प्रकार के कष्ट भरे पड़े हैं। कोई शारीरिक दुःख से संत्रस्त है तो कोई मानसिक दुःख से व्यथित है। कहीं भी सुख नहीं है। सर्वत्र हृदय विदारक हाहाकार है। बड़ा विचित्र संसार है। किसी को यह अपना मित्र मानता है तो किसी को शत्रु समझता है। किसी को माता किसी

---

1 विशेषावश्यक भाष्य—संसरणं संसारः भवाद् भवगमनं नरकादिगतिषु भ्रमणं वा।
2 स्थानांग ४-१-२६१ 3 स्थानांग ४-२८४
4 अनादिरेष संसारो नानागतिसमाश्रयः। —योगबिन्दु ७०

से मुक्त होने के लिए ही साधक अन्यत्व भावना का चिन्तन करता है। उसे यह पूर्ण यह निश्चय हो जाता है कि पर भाव में ममत्व विविध चिन्ताओं को निमंत्रण देना है। अतः वह सदा आत्मभाव में रमण करता है।

(६) अशौच भावना

आत्मा जिस शरीर में रह रहा है, वह शरीर कारागृह की तरह है। जैसे कैदी वर्षों तक कारागृह में रह जाता है तो उसे कारागृह में अपनत्व हो जाता है और वह उसे अपना लगने लगता है। अन्यत्व भावना में यह चिन्तन किया जाता है कि आत्मा अन्य है और शरीर अन्य है तथा अशौच भावना में शरीर के स्वरूप का चिन्तन किया जाता है। ऊपर से देखने पर यह शरीर बहुत ही सुन्दर व सुगठित प्रतीत होता है। पर वस्तुतः यह शरीर सुन्दर नहीं है। वस्त्र-भूषणों के कारण यह सुन्दर ज्ञात होता है। यदि मानव वस्त्राभूषण से रहित नंगा खड़ा हो जाय तो वीभत्स दिखाई देगा। वह कृत्रिम साधनों से अपने आप को सौन्दर्ययुक्त समझता है। वह शरीर-सौन्दर्य पर इठलाता है पर उस नाजुक चमड़ी के अन्दर शरीर दुर्गन्ध से भरा पड़ा है। यह शरीर रस, रक्त, मांस, चर्बी, मज्जा, वीर्य, आंत, विष्ठा आदि अशुद्ध पदार्थों का भाजन है।[1] यदि वही शरीर पर या वस्त्र आदि पर मल-मूत्र आदि का छींटा लग जाये तो मानव उसे धोकर साफ करता है। उस अशुचि को देखकर उसका मन मिचलता है। पर इस शरीर में वे ही पदार्थ भरे हुए हैं। मानव का अन्तर मल, मूत्र, कृमि आदि का भण्डार है। सड़े चमड़े की दुर्गन्ध से भी हमारे शरीर में रहे हुए पदार्थों की गन्ध घिनौनी है। साथ ही यह शरीर व्याधियों का घर है। सड़ना-गलना इसका स्वभाव है। यह ऐसा कारखाना है जो पवित्र वस्तु को भी अपवित्र बनाता है। मधुर और सुगन्धित पदार्थ पेट में जाते ही जुगुप्सित बन जाते हैं। इस अशुचि के भण्डार को कितना ही साफ किया जाय फिर भी यह स्वच्छ नहीं हो सकता। इस तरह शरीर की अशुचिमयता का चिन्तन करने से शरीर के

---

1 मांस मेदोऽस्थि मज्जा शुक्रान्त्रवर्चसाम्।
... पवित्रं तस्य तत्कुतः ॥ —योगशास्त्र ४/७२
... २, १४

प्रति ममत्वबुद्धि नष्ट होती है और आत्मा निज स्वरूप में रमण करता है।

(७) आश्रव भावना

जीव शुद्ध स्वरूपी है, पर अज्ञान के कारण वह कर्मों का संचय कर अशुद्ध बन रहा है। अज्ञान के कारण ही जीव कर्मों का कर्ता है। कर्मों के आगमन का जो मार्ग है वह आश्रव है।[1] जैसे वस्त्र के निर्माण में तन्तु कारण है, घड़े के निर्माण में मिट्टी कारण है, वृक्ष के लिए बीज निमित्त है वैसे आत्मा के साथ कर्मों का संयोग होने का कारण 'आश्रव' है। आश्रव से ही शुभाशुभ कर्म आत्म प्रदेशों में प्रविष्ट होते हैं। जिस प्रकार तालाब में नाली के द्वारा पानी आता है वैसे ही आश्रव के द्वारा कर्म रूपी पानी आता है। आश्रव और कर्म ये दोनों एक नहीं हैं। मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद प्रभृति के द्वारा आत्मा कर्मों का ग्रहण करता है। आश्रव कारण है और कर्म कार्य है। आश्रव जीव का परिणाम है। आश्रव बंध नहीं है। चूँकि योग के निमित्त से प्रथम क्षण में जो कर्मस्कन्धों का आगमन होता है वह आश्रव है।[2] और जो कर्मस्कन्ध आत्मप्रदेशों में एक क्षेत्रावगाह होकर स्थिर हो जाते हैं वह बंध है।

आश्रव के द्रव्याश्रव और भावाश्रव ये दो भेद हैं। योग (मन, वचन, काया) के निमित्त से ज्ञानावरण आदि कर्मों के योग्य जो कार्मण वर्गणा के पुद्गल आते हैं, वह द्रव्याश्रव है। आत्मा के स्व-स्वरूप से पृथक जिन शुभ-अशुभ परिणामों से पुद्गल द्रव्य कर्म बनकर आत्मा में आते हैं वे परिणाम भावाश्रव हैं।

भावाश्रव के भी ईर्यापथ आश्रव और साम्परायिक आश्रव ये दो भेद हैं।

कषाय का सर्वथा अभाव होने पर योग के निमित्त से जो कर्म आते हैं और बिना फल दिये ही वे कर्म नष्ट हो जाते हैं उन्हें ईर्यापथ आश्रव कहते हैं। ईर्यापथ आश्रव केवल योग के निमित्त से ही होता है।

सम्पराय का अर्थ संसार है। जो कर्म संसार की वृद्धि करने वाले हों वह साम्परायिक है। संसारी जीवों में कषायों की प्रमुखता है जिससे योग के निमित्त से आने वाले कर्म आत्मा से चिपक जाते हैं। अतः कषाय

---

१ कम्मासवओ जीवो कम्माणं कारगो होई। —समयसार १२

२ कायवाङ्मनः कर्मयोगः। स आश्रवः। —तत्त्वार्थसूत्र ६।१-२

देश धर्म, बारह अनुप्रेक्षा, बावीस परीषह जय और पाँच चारित्र—ये कुल ५७ भेद किये हैं।[1] प्रश्नव्याकरण[2] आदि में संवर के बीस भेद भी बताये हैं। उन सभी में सम्यक्त्व, विरति, अप्रमाद, अकषाय और अयोग—ये मुख्य भेद हैं। शेष भेद इन्हीं के अन्तर्गत आ जाते हैं। विरति में ही समिति, गुप्ति, दशधर्म, बारह अनुप्रेक्षाएं, बावीस परीषहजय और पाँच चारित्र—इन सभी का समावेश हो जाता है। विस्तार दृष्टि से संवर के भेद प्रभेदों की चर्चा की गई है।

कर्मरूपी रोग को नष्ट करने के लिये संवर आवश्यक है। संवर से अशुभ प्रवृत्तियों की निवृत्ति होती है और शुभ-वृत्तियों में वृद्धि होती है। कर्मबन्धन के जो मूल पाँच कारण हैं। उन सभी का इसमें परिहार होता है। जिससे आत्मा में विशुद्धता बढ़ती है। संवर में नये कर्मों का प्रवाह बिल्कुल ही रुक जाता है। इसलिए साधक इस भावना का चिंतन करता है।

(६) निर्जरा भावना

संवर से नूतन-कर्मों का प्रवाह रुक जाता है किन्तु जो कर्म पहले से ही आत्मा के साथ चिपके हुए हैं उन कर्म-पुद्गलों का—एक देश से नष्ट करना निर्जरा है। निर्जरा का अर्थ है—जर्जरित करना, पूर्वबद्ध कर्मों को झाड़ देना पृथक कर देना।[3] अकेला संवर मुक्ति के लिये पर्याप्त नहीं है। क्योंकि नौका के छिद्रों को बन्द कर पानी के आगमन को रोक देना ही संवर है किन्तु जो पानी आ चुका है उसे निकालना भी आवश्यक होता है, तभी नौका डूबने से बच सकती है। उस पानी को शनैः शनैः उलीच कर बाहर निकाल देना निर्जरा है। निर्जरा शुद्धता की प्राप्ति के लिये सोपान के सदृश है। सोपान पर क्रमशः कदम रखने पर ही व्यक्ति सही मंजिल पर पहुँचता है। वैसे ही निर्जरा कर्म-क्षय के लिये अति आवश्यक है।

निर्जरा के सकाम और अकाम ये दो भेद हैं।[4] स्वतः ही विपाक होने पर, कर्मस्थिति समाप्त होने पर कर्मों का खिरना या नाश होना

---

१ स्थानांगवृत्ति, स्थान १

२ (क) प्रश्नव्याकरण सूत्र—संवर द्वार (ख) स्थानांग १० ७०९

३ (क) तत्त्वार्थराजवार्तिक ७ १४ ४० १७ (ख) द्रव्यसंग्रह ३६ १५०
(ग) भावना शतक ६७—देशतः य संचितकर्मणां क्षयः सा निर्जरा।

४ योगशास्त्र ४ ८६

अकाम निर्जरा है। ज्ञानपूर्वक तप आदि क्रियाओं के द्वारा कर्मों का नाश करना सकाम निर्जरा है। अकाम का अर्थ कामनारहित है। सकाम का अर्थ कामनायुक्त है। कामना के भी दो प्रकार हैं—एक भौतिक कामना, जिसमें भौतिक वस्तुओं की इच्छाएँ रहती हैं, और दूसरी आध्यात्मिक कामना।

साधक के लिये मोक्खकामिकखी एवं 'तम्हा अणाबाहसुहाभिकंखी' आदि विशेषण प्रयुक्त हुए हैं। इससे यह स्पष्ट है कि वह संसार से विरक्त होकर शाश्वत और अव्याबाध सुख की कामना करता है। साधक के लिए भौतिक कामनाएँ त्याज्य मानी गयी हैं।

अकाम निर्जरा में परवश होकर क्षुधा, पिपासा आदि विविध कष्टों को सहन करने से यह निर्जरा होती है। नरक, तिर्यंच आदि गतियों में जीव तीव्र भूख प्यास सहन करता है। उसे अनिच्छापूर्वक घोरातिघोर यातनाएँ सहन करनी पड़ती हैं और उन यातनाओं से मुक्त होने के लिए वह पापाचरण भी कर लेता है। औपपातिक सूत्र में स्पष्ट बताया है कि लोकनिन्दा व लोकभय से जो महिलाएँ शील का पालन करती हैं, वे अकाम निर्जरा करती हैं। इच्छा के विरुद्ध जो भी भूख प्यास आदि सहन किया जाता है वह सभी कायक्लेश के अन्तर्गत है और इस काया कष्ट के द्वारा अकाम निर्जरा करने के कारण वे जीव वाणव्यन्तर देव बनते हैं। यह अकाम निर्जरा अनिच्छापूर्वक होती है।

दूसरी अकाम निर्जरा अज्ञानपूर्वक होती है। जिन जीवों को सम्यक्त्व की उपलब्धि नहीं हुई है, जिन्होंने आत्मा, महात्मा और परमात्मा का सही स्वरूप नहीं समझा है—वे भौतिक सुखों की कामना से उत्प्रेरित होकर अज्ञान तप करते हैं। अज्ञान तप के फलस्वरूप उन्हें स्वर्ग आदि की प्राप्ति हो जाती है।

अकाम निर्जरा अनिच्छापूर्वक हो या अज्ञानपूर्वक हो, उससे यथेष्ट फल अर्थात् मोक्ष प्राप्त नहीं होता। जितने कर्मों को अज्ञानी जीव करोड़ों वर्षों तक साधना करके भी नष्ट नहीं कर सकता उतने कर्म ज्ञानपूर्वक निर्जरा से क्षण मात्र में ही खपा देता है।[1] अज्ञानी साधक मास मास खमण तक तप करके और पारणे में कुशाग्र को नोक पर आवे उतना अन्न ग्रहण कर उग्र तपस्या करे पर वह ज्ञानी के सोलहवें अंश के बराबर

---

१ (क) महाप्रत्याख्यान प्रकीर्णक १०१ (ख) प्रवचनसार ३ ३८

भी कम निजरा नही कर सकता। नानी इस लोक के सुख के लिये अथवा परलोक के सुख के लिए तथा कीर्ति यश प्रतिष्ठा आदि के लिये तप नही करता कि तु वह एका त निजरा के लिए तप करता है। अकाम निजरा अ धे व्यक्ति का दौड है जब कि सकाम निजरा विवकपूवक गति प्रगति है।

तप को निजरा का मुख्य कारण माना गया है। क्याकि तप म सभी आध्यात्मिक क्रियाए आ जाती हैं। तप केवल शरीर का ही कृश नही करता वह अ तर म रह हुए कर्मो का भी कृश करता है। कर्मों का कृश करने से आत्मा पूण निमल बनता है।

तप के बारह प्रकार है। जिन म छ बाह्य तप है और छ आभ्य तर तप। इस सम्ब ध म हमने पृथक लेख म विस्तार स विश्लेषण किया है।

प्रस्तुत भावना का अनुचि तन करन स तप के प्रति गहरी निष्ठा पदा हानी है। उससे महान शक्ति उत्प न होनी है। आत्मा कम दलिका का नष्ट कर विशुद्धता का प्राप्त हाता है।

(१०) धम भावना

दुगति म गिरत हुए प्राणी का जा धारण करता है वह धम है। आचाय समतभद्र ने धम का लक्षण करत हुए बताया है जा जीवा का ससार के दु खा से छुडाकर उत्तम सुख (मुक्ति) म पहुचा देता है वह धम है।"[1] व्यास ने धम का लक्षण आचार किया है।[2] सदाचार म धम के सभी लक्षण समा जाते हैं। जितन भा आचार के नियम है, वे सभी उसम आ जात है। महाव्रत, क्षमा निर्लोभता, दश विध श्रमण धम आचार क रूप म ही आये ह और श्रुतधम म जितन भी विचार सम्ब धी नियम ह, व भी इसी मे आ जाते है। आचार और विचार की उत्कृष्टता ही धम है।

फ कलिन नामक पाश्चात्य विचारक न लिखा है कि— आज ससार म धम विद्यमान है। धम का विद्यमानता म ही जब इतनी बुराइयाँ सत्रास पदा हो गया है तो यदि ससार म धम नहीं रहा ता उसकी क्या दशा होगी ? यह कल्पना ही बडा भयानक है।'

विचारक का प्रस्तुत कथन चि तनीय है। धम क रहत हुए धम का विस्मत हाकर मानव दानव का तरह क्रूर बन रहा है। यदि धम न हाता तो मानव की क्या स्थिति हाती।

प्रस्तुत धम भावना म धम के शुद्ध स्वरूप पर चि तन किया जाता

---

१ (क) योगशास्त्र २ ११ (ख) रत्नकरडश्रावकाचार श्लाक २

२ महाभारत अनुशासनपव १०४

है। धम के सम्बल को लेकर साधक साधना के क्षेत्र मे आगे बढ़ता है और अपने जीवन को पवित्र बनाता है।

(११) लोक भावना

लोक का अथ है—धम, अधम, आकाश काल, पुद्गल और जीव।[1] ये द्रव्य जहाँ पर पाये जाते हैं उस स्थान विशेष को अर्थात इन छ द्रव्यो के समुच्चय को लोक कहते हैं। लोक म ऐसा कोई स्थान नहीं ह जहाँ ये छ द्रव्य न हो।[2] सभी द्रव्यो का आधार लोक है।[3] षड द्रव्यो म से आकाश द्रव्य सवत्र व्यापक है और अन्य द्रव्य व्याप्य है। आकाश के जितने भाग म छ द्रव्य अवस्थित है उतने आकाश भाग को लोक कहते हैं। जिस आकाश भाग म षड द्रव्य न हो, सिफ आकाश ही हो, वह अलोक है।

आगम साहित्य से लेकर दाशनिक युग तक लोक की यह परिभाषा समान रूप से मिलती है। पर द्रव्यो के क्रम मे अन्तर है। उत्तराध्ययन सूत्र[4] म धम, अधम, आकाश, काल पुदगल और जीव यह क्रम है। तत्त्वाथ सूत्र[5] म धम, अधम, आकाश, पुदगल, जीव और काल यह क्रम दिया है। बृहदद्रव्यसग्रह[6] म जीव, पुद्गल धम, अधम, आकाश और काल—यह क्रम है। उत्तराध्ययन सूत्र म जो क्रम है—वह अजीव और जीव—इन दो मूल भेदो को सलक्ष्य मे रखकर किया गया है। उसम सवप्रथम अजीव द्रव्य को लिया है और अजीव म भी पहले अरूपी धम अधम, आकाश और काल का कथन करने के उपरान्त रूपी अजीव द्रव्य पुदगल का कथन किया है। उसके बाद जीव द्रव्य का वणन है क्योकि जीव द्रव्य का स्वरूप अजीव द्रव्य से बिल्कुल अलग थलग है। वाचक उमास्वातिजी न प्रदेशो की अपेक्षा से द्रव्यो के नामो का कथन किया है। धम, अधम, आकाश, पुद्गल और जीव ये बहुप्रदेशी हैं और काल द्रव्य एक प्रदेशी है। अत उसे सब से बाद म लिया है। आचाय नेमिचन्द्र न जीव द्रव्य को प्रधानता प्रदान की है। ससार म जीव ही शुभाशुभ कर्मों का कर्ता और भोक्ता है। धम, अधम, आदि पाँच अजीव द्रव्य जीव के उपकारक होने से जीव के बाद पुद्गल आदि अजीव द्रव्यो का उन्होने वणन किया है। इस प्रकार अपेक्षा दृष्टि से कथन म भिन्नता है किन्तु मूल तथ्यो म किसी भी प्रकार की भिन्नता नही है।

---

१ उत्तराध्ययन २८-७
२ तत्त्वार्थसूत्र ५ १२
३ उत्तराध्ययन २८-९
४ उत्तराध्ययन २८-७
५ तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय ५
६ बृहद्द्रव्यसग्रह १५ १६

षट् द्रव्यों का वर्गीकरण अरूपी और रूपी इन दो रूपों में किया गया है। जिसमें वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श का अभाव है वह अरूपी है और जिसमें इनका सद्भाव है वह रूपी है।[1] जीव द्रव्य अरूपी है। पुद्गल द्रव्य रूपी है। जीव द्रव्य स्वभाव की दृष्टि से अरूपी है पर कर्म वर्गणाओं को रागादि परिणामों से ग्रहण करता है अतः वह रूपी भी कहलाता है। उसी से जन्म मरण का चक्र चलता रहता है। आध्यात्मिक उत्क्रान्ति के द्वारा जब आत्मा कर्मों को पूर्ण रूप से नष्ट कर देता है तब वह अपनी वास्तविक अरूपी अवस्था को प्राप्त कर लेता है। धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये सदा-सर्वदा अरूपी ही रहते हैं। उनकी क्रियाएँ भी स्वाभाविक हैं। ये चारों द्रव्य कभी विकारी नहीं होते हैं। पर जीव द्रव्य और पुद्गल द्रव्य—इन दोनों में स्वाभाविक और वैभाविक ये दोनों परिणतियाँ होती हैं। संयोग होने से ये वैभाविक अवस्था को प्राप्त होते हैं किन्तु अपने मूल स्वभाव का कदापि त्याग नहीं करते हैं। जीव कभी पुद्गल नहीं होता और पुद्गल कभी जीव नहीं बनता।

गति सहायक द्रव्य 'धर्म' है जो जीव और पुद्गल के गमन में सहयोगी बनता है। स्थिति सहायक द्रव्य 'अधर्म' है जो जीव और पुद्गल को अवस्थिति में सहायक बनता है। सभी पदार्थों को आधार देने वाला द्रव्य 'आकाश' है। जीव आदि समस्त द्रव्य आकाश द्रव्य में ही रहते हैं। जितने स्थान पर धर्मादि द्रव्य रहते हैं उतने स्थान को लोकाकाश कहते हैं। जो द्रव्यों की नूतन और पुरातन प्रभृति अवस्थाओं के परिवर्तन में निमित्त रूप से सहयोग प्रदान करता है वह कालद्रव्य है। काल क्रियारूप और वर्तना-रूप है। मुहूर्त, प्रहर, दिन, रात, मास, पक्ष, वर्ष प्रभृति क्रियारूप काल है। यह क्रिया रूप काल का व्यवहार केवल मानव क्षेत्र में ही है। बाल वृद्धावस्था आदि का लोक व्यवहार रूप काल वर्तना कहलाता है। जिसमें रूप, रस, गन्ध और स्पर्श आदि पाये जाते हों, वह पुद्गल है। शरीर, वचन, चिन्तन, भाषण, श्वासोच्छ्वास सभी पुद्गल द्रव्य की ही पर्याय हैं। पुद्गल पूरण और गलन स्वभाव वाला है। वह स्कन्ध रूप में भी होता है और परमाणु रूप में भी होता है।

उपयोग जीव का असाधारण लक्षण है। जीव में साकारोपयोग और निराकारोपयोग दोनों होते हैं। इन दोनों में आत्मा में रहे हुए अन्य

---

1 मुत्ता रूवादिगुणो —बृहद् द्रव्यसंग्रह, गाथा १५

इन भावनाओं के विकास से जन-जीवन में द्वेष, ईर्ष्या, मत्सर और कलह नष्ट हो जाता है। मित्रता, स्नेह, सद्भावना, गुणग्राहकता, करुणा और तटस्थता का विकास होता है जिससे जन-जीवन में शान्ति का संचार होता है।

(१) मैत्री भावना

मैत्री जीवन का आदर्श है। मित्र शब्द में ही स्नेह छिपा रहा है। मित्रता में स्वार्थ नहीं होता, वहाँ तो निःस्वार्थ स्नेह होता है। जहाँ स्वार्थ है वहाँ मित्रता नहीं हो सकती। आचार्य हेमचन्द्र के अनुसार दूसरों के हित की चिन्ता करना मैत्री है। इस संसार में कोई भी प्राणी पापकृत्य न करे। कोई भी प्राणी दुःख का भाजन न हो। सभी प्राणी दुःख से मुक्त हो जायें और सुख का अनुभव करें। यह मैत्री भावना का उद्देश्य है।[1]

साधक यही चिन्तन करता है कि जितने भी संसार में जीव हैं उन सबके प्रति मेरी मित्रता है।[2] किसी के साथ मेरी शत्रुता नहीं है। इस संसार में जितने भी जीव हैं, उनके साथ हमारे विविध सम्बन्ध रहे हैं। वे सभी जीव हमारे कुटुम्बी जन बन चुके हैं। फिर उनके साथ शत्रुभाव किसलिए? इसलिए सभी के साथ मैत्री की भावना करो।

मैत्रीभाव का जितना अधिक विस्तार होगा शत्रुता अपने आप समाप्त हो जायगी। शत्रु को मित्रता से जीता जा सकेगा। यदि मन में मित्रता है तो शत्रुता का भाव रखने वाला एक दिन मित्र बन जायगा। वैदिक महर्षियों ने भी कहा है कि सभी प्राणी मुझे मित्र की दृष्टि से देखें। मैं भी सभी प्राणियों को मित्र की दृष्टि से देखूँ। हम सब परस्पर एक दूसरे को मित्र की दृष्टि से देखें।[3] मैत्री भावना के चिन्तन से विश्व मैत्री जैसी उदात्त भावना विकसित होगी और वैर विरोध की निकृष्ट भावना समाप्त होगी।

---

१ मा कार्षीत्कोऽपि पापानि, मा च भूत्कोऽपि दुःखितः।
मुच्यतां जगदप्येषा मतिर्मैत्री निगद्यते॥ —योगशास्त्र ४।११८

२ मित्ती मे सव्वभूएसु वेरं मज्झ न केणइ।

३ मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्।
मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे।
मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे॥ —यजुर्वेद ३६।१८

(२) प्रमोद भावना

मैत्री भावना का विकास होते ही प्रमोद भावना उद्बुद्ध होती है। प्रमोद का अर्थ है—मुख की प्रसन्नता, अन्तरंग की भक्ति एवं हृदय के असीम अनुराग को व्यक्त करना।[१] गुणों पर चिन्तन करके उन गुणों में हर्ष मानना,[२] प्रमोद भावना का लक्षण है। अन्य शब्दों में कहा जाय तो गुणों के प्रति अनुराग रखना।[३]

गुणों के प्रति प्रमोद भाव में सहज परिणति होती है। प्रमोद भाव से जीवन में नवीन ज्योति जगमगाने लगती है। जीवन में अभिनव आनन्द का मार्ग प्रशस्त होने लगता है। प्रमोद भावना वाला व्यक्ति हर वस्तु में गुण ढूंढता है। जैसे मधुमक्खी प्रत्येक वस्तु में से मिठास ग्रहण करती है, हंस जलमिश्रित दूध में से दूध ही ग्रहण करता है वैसे ही वह सद्गुणों को लेता है। उसका यह मन्तव्य होता है कि स्वर्ण चाहे नीच व्यक्ति के पास क्यों न हो वह ग्राह्य है वैसे ही सद्गुण जहाँ भी हों वह उपादेय हैं। अतः जहाँ से भी गुण मिलें वहाँ से उन्हें ग्रहण करना चाहिये। जो गुणज्ञ होता है वह गुणों के दर्शन करता है। उसकी यही निरन्तर भावना रहती है कि सभी प्राणी सुखी हों सभी रोग शोक आदि से मुक्त हों सभी अपना कल्याण देखें, सभी अपने जीवन को अभ्युदय के शिखर पर आरूढ़ करें। कोई प्राणी दुःखी न हो।[४]

गुणज्ञ व्यक्ति में ईर्ष्या नहीं होती। वह सद्गुणी के गुणों की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा करता है। जिसे महापुरुष बनना हो, वह गुणों का उपासक बने और प्रमोद भावना का पूर्ण विकास करे।

(३) कारुण्य भावना

जो व्यक्ति सद्गुणी होता है उसका हृदय करुणा से आप्लावित होता है। वह यह चिन्तन करता है कि सभी को अपना जीवन प्रिय है।

---

१ वदन प्रसादादिभिरभिव्यज्यमानान्तर्भक्तिरागः प्रमोदः। —सर्वार्थसिद्धि ७-११ ३४६

२ (क) भगवती आराधना वृत्ति १६९६ १५१६ १५
(ख) जैनेन्द्र सिद्धान्त कोष भाग १ पृ० १४७

३ भवेत् प्रमोदो गुणपक्षपातः। —शांतसुधारस भावना १३ ३

४ सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग् भवेत्॥

किसी भी जीव को किसी भी प्रकार का कष्ट न हो। यही उस के अन्तर्मानस की भावना होती है। दूसरों के दुःखों को दूर करने वाली भावना ही करुणा है। दीनों पर दयाभाव रखना करुणा है। आचार्य हेमचन्द्र का अभिमत है कि दीन, दुःखी, भयभीत प्राणों की भीख चाहने वाले प्राणियों के दुःख को दूर करने की भावना होना 'कारुण्य' है।[1] कारुण्य भावना भाने वाले साधक का हृदय अत्यन्त दयालु होता है। वह किसी के भी कष्ट को देख नहीं सकता। करुणा से अनुप्राणित होकर वह सर्वस्व न्यौछावर कर देता है। इस भावना से हृदय फूल सा कोमल हो जाता है।

(४) माध्यस्थ्य भावना

मैत्री प्रमोद और करुणा का विकास होने पर व्यक्ति समभाव का विस्तार करता है। वह सर्वप्रथम अशुभ राग को जीतता है फिर शुभ राग को। राग को जीतने के लिए मध्यस्थता, तटस्थता व अपेक्षा आवश्यक है। चाहे मन के अनुकूल हो या प्रतिकूल हो, उसमें वह आसक्त नहीं होता। वह भावना है कि जिन पदार्थों के प्रति मैं राग करता हूँ वे पवन की भाँति अस्थिर हैं। जो पर्याय क्षणभंगुर हैं उन पर राग और द्वेष करना सर्वथा अनुचित है। क्या विराट समुद्र की लहरें पकड़ी जा सकती हैं? क्या पवन को अपनी मुट्ठी में भरा जा सकता है। यदि कोई व्यक्ति इस प्रकार का प्रयास करता है तो वह मूर्खता की संज्ञा से अभिहित किया जाता है। वैसे ही अस्थिर पदार्थों पर राग और द्वेष करना, मन के अनुकूल वस्तु को प्राप्त कर हर्ष से उछलना और वियोग होने पर खिन्न होना समझदारी का लक्षण नहीं है।[2]

माध्यस्थ्य भावना वाला साधक यही चिन्तन करता है कि सुख और दुःख ये घड़ी के काँटे की तरह हैं जो निरन्तर एक अंक से दूसरे अंक पर जाता है। वैसे ही संयोग और वियोग की स्थिति है। संयोग और वियोग की स्थिति में वह माध्यस्थ्य भावना का अवलम्बन करता है। न वह किसी पर राग करता है और न ताप ही करता है।

भगवान् महावीर के जीवन प्रसंग इस कथन के ज्वलन्त प्रमाण हैं। तीर्थंकर अनन्त शक्ति-सम्पन्न होते हैं। उनके सामने देव-दानव और मानव

---

१ धर्मबिन्दु
२ योगशास्त्र ४-१२८

की शक्ति नगण्य ह। वेचारे ग्वाले का क्या साहस जो उन्हे कष्ट द सके और सगम देव का भी क्या सामर्थ्य जो उनकी ओर आँख उठाकर भी दख सके पर वे सदा उपेक्षा भाव रखते रहे। यदि तीर्थंकर चाहते तो देव शक्ति के बल पर अपना पावन उपदेश जन-जन तक पहुचा सकते थे, उन्हे बलपूर्वक या प्रलोभन देकर धर्म के अभिमुख बना सकते थे। पर उन्होंने कभी भी शक्ति का उपयोग नही किया। जिस किसी ने भी उनके पावन प्रवचनो को श्रवण कर धारण किया, उसका सहज ही कल्याण हो गया। भगवान महावीर ने यहा तक कि अपने विचारो का भी आग्रह नही रखा। मैं कहता हूँ यही सत्य है इसके स्थान पर 'सच्चा सो मेरा' इस सिद्धान्त की उद्घोषणा की। वचारिक जगत मे इस सहिष्णुता के कारण सामाजिक उदारता का विकास हुआ। आज जो जन-जीवन म अशान्ति की आग धधक रही है उसका मूल कारण असहिष्णुता है। माध्यस्थ्य वृत्ति से सहिष्णता की भावना पन्न होती है उपेक्षावृत्ति और तटस्थता का सचार होता है। माध्यस्थ्य भावना की यह फलश्रुति है।

या भावनाओ के अनेक भेद प्रभेद आचार्यों ने किये हैं। उन सभी का अन्तिम लक्ष्य यही है कि अशुभ से हटकर शुभ म स्थिर होना, शुभ म रमण करने के लिये ही भावनाओ का वर्णन है। इन भावनाओ से भावित आत्मा दूसरो को भी श्रद्धाशील बनाता है और स्वय कालजयी बन जाता है। वस्तुत भावनाओ का फल है आत्मा को आत्मा मे रमाना। जब साधक भावनाओ का चिन्तन करता है तो उसकी देहासक्ति शिथिल होकर वह देहातीत अवस्था को प्राप्त होता है। यही श्रमणाचार का मूल है और साधना की सप्राणता है। इसी दृष्टि से यहाँ भावनाओ के सम्बन्ध म बहुत ही सक्षेप म चिन्तन किया गया है।

☐

१०. साधना के विघ्न और विजय : परीषह

श्रमण को अपनी संयम साधना के पथ पर बढ़ते हुए विविध कष्ट सहन करने पड़ते हैं। उसका संपूर्ण जीवन तपोमय होता है। तप की सफलता के लिए और सांसारिक बंधनों से मुक्त होने के लिए कदम-कदम पर उसके समक्ष कष्ट और विघ्न बाधाएं आते रहते हैं। कभी मानवों के द्वारा कभी तिर्यंचों के द्वारा और कभी देव दानवों के द्वारा। साधक उन कष्टों से घबराता नहीं। आचारांग[1] में कहा है—'काया को कसो, उसे जीर्ण करो।' पर यह ऐसा न करना नहीं है। जो श्रमण बहुत ही उग्र तप की साधना करते हैं। साधना करते हुए विविध प्रकार के कष्ट आते हैं और वे शांति से उन्हें सहन करते हैं। जो शांतिपूर्वक कष्टों को सहन करता है वह संसार में परिभ्रमण नहीं करता।

परीषह : परिभाषा

परीषह वह है जो सहा जाय। स्वीकृत मार्ग से च्युत न होने के लिए और निर्जरा के लिए जो कुछ सहा जाता है वह परीषह[2] है। परीषह के अर्थ में ही कहीं कहीं पर 'उपसर्ग' शब्द भी व्यवहृत हुआ है। परीषह सहन करने का अर्थ शरीर इन्द्रिय और मन को कष्ट देना नहीं अपितु उन्हें अहिंसा प्रभृति धर्मों की आराधना व साधना के लिए सुस्थिर बनाना है। आचार्य कुन्दकुन्द[3] जो अध्यात्म जगत के तेजस्वी नक्षत्र रहे हैं उन्होंने कहा – सुख से भावित ज्ञान दुःख समुत्पन्न न होने पर विनष्ट हो जाता है। एतदर्थ योगी को यथाशक्ति अपने आपको दुःख से भावित करना चाहिए।' बीज तभी अंकुरित होता है जब जल के साथ चिलचिलाती धूप भी हो, इसी प्रकार साधना की सफलता के लिए अनुकूलता की शीतलता के साथ

---

१ आचारांगश्रु० १/सू० १४१

२ मार्गाच्यवननिर्जरार्थं परीषोढव्या: परीषहा:। —तत्त्वार्थसूत्र ९.८

३ सुहेण भाविदं णाणं दुहे जादे विणस्सदि।
तम्हा जहाबलं जोई अप्पा दुक्खेहि भावए।।

—अष्टपाहुड, मोक्ष प्राभृत ६२

परीषह की प्रतिकूलता रूपी गर्मी की भी आवश्यकता है। परीषह साधक के लिए बाधक नहीं, साधक है। वह परीषह से घबराता नहीं और न उद्विग्न ही होता है किन्तु द्रष्टा होकर शान्ति से उसे सहन करता है। परीषह समुपस्थित होने पर साधक सोचता है—यह सुनहरा अवसर मुझ स्वयं को नापने और परखने के लिए प्राप्त हुआ है।

परीषह और कायक्लेश

यहाँ यह स्मरण रखना होगा कि परीषह और कायक्लेश में अन्तर है। जो स्वयं की इच्छा से कष्ट लिया जाता है वह कायक्लेश है, और जो बिना इच्छा के क्लेश प्राप्त होता है वह परीषह है। कायक्लेश आसन करने, भीष्म ग्रीष्म में आतापना लेने, रिमझिम वर्षा में वृक्ष के नीचे ठहरने में, सनसनाती हुई सर्दी में, अपावृत स्थान में सोने, विविध प्रकार की प्रतिमाओं को स्वीकार करने में, शरीर में खाज उत्पन्न होने पर भी न खुजलाने में शरीर की विभूषा प्रभृति न करने से होता है। कायक्लेश के सतत अभ्यास से शारीरिक कष्ट सहन करने की अपूर्व क्षमता प्राप्त होती है और शारीरिक दुःखों के प्रति अनाकांक्षा के साथ ही जिनधर्म की प्रभावना भी होती है। परीषह सहन करने से जो अहिंसा आदि महाव्रत स्वीकार किये गये हैं उन महाव्रतों की सुरक्षा होती है।

परीषह क्रम में अन्तर

उत्तराध्ययन[1] समवायांग[2] और तत्त्वार्थसूत्र[3] में परीषह की संख्या बाईस मानी गई है। संख्या की दृष्टि से सभी में समानता है पर क्रम की दृष्टि में कहीं कुछ अन्तर है। समवायांग में परीषह के बाईस भेद इस प्रकार मिलते हैं—

१ क्षुधा
२ पिपासा
३ शीत
४ उष्ण
५ दंश मशक
६ अचेल
७ अरति
८ स्त्री
९ चर्या
१० निषद्या
११ शय्या
१२ आक्रोश
१३ वध
१४ याचना

---

१ उत्तराध्ययन सूत्र दूसरा अध्ययन
२ समवायांग, समवाय २२
३ तत्त्वार्थ सूत्र ९ ८

१५ अलाभ	१९ सत्कार पुरस्कार
१६ रोग	२० ज्ञान
१७ तृण स्पर्श	२१ दर्शन
१८ जल्ल	२२ प्रज्ञा

उत्तराध्ययन में १८ परीषहों के नाम व क्रम वही हैं किन्तु २०, २१ व २२ के नाम में अन्तर है। उत्तराध्ययन में (२०) प्रज्ञा (२१) अज्ञान और (२२) दर्शन है।

स्वामी टीकाकार आचार्य अभयदेव ने[1] 'अज्ञान' परीषह का क्वचित् श्रुति के रूप में वर्णन किया है। आचार्य उमास्वाति ने[2] अचेल' परीषह के स्थान पर 'नाग्न्य' परीषह लिखा है और दर्शन' परीषह के स्थान पर अदर्शन' परीषह लिखा है। आचार्य नेमीचन्द्र ने[3] 'दर्शन' परीषह के स्थान पर सम्यक्त्व' परीषह माना है। दर्शन और सम्यक्त्व इन दोनों में केवल शब्द का अन्तर है भाव का नहीं।

बाईस परीषहों में 'दर्शन' परीषह और 'प्रज्ञा' परीषह ये दो परीषह मार्ग से अच्यवन में सहायक होते हैं और शेष २० परीषह निर्जरा के लिए होते हैं।

(१) क्षुधा

क्षुधा से आकुल व्याकुल होने पर और शरीर के अत्यन्त कृश हो जाने पर भी श्रमण क्षुधा की शान्ति के लिए न तो फल आदि का स्वयं तोड़ता है न दूसरे से तुड़वाता है, न स्वयं पकाता है न दूसरे से पकवाता है अपितु क्षुधाजन्य कष्ट को शान्ति से सहन करता है।[4] श्रमण निरवद्य आहार की अन्वेषणा करता है। आहार के उपलब्ध न होने पर या किंचित मात्रा में मिलने पर भी वह नियमविरुद्ध आहार ग्रहण नहीं करता। वह षट् आवश्यकों की साधना सम्यक् प्रकार से करता है। प्रतिपल प्रतिक्षण ध्यान स्वाध्याय व भावना में लीन रहता है। साथ ही कभी अनशन की साधना करता है कभी ऊनोदरी तप की आराधना करता है। जो भी रूखा नीरस आहार उपलब्ध होता है उसे वह ग्रहण करता है। नीरस आहार के सेवन से उसका शरीर अत्यन्त कृश भी हो जाता है तो भी वह चिन्ता नहीं करता। भिक्षा के अलाभ में भी वह शान्ति रखता है। इस प्रकार श्रमण क्षुधा परीषह पर विजय वैजयन्ती फहराता है।

---

१ समवायांग २२
२ तत्त्वार्थसूत्र ९.९
३ प्रवचनसारोद्धार गाथा ६८६
४ उत्तराध्ययन २.२-३

(२) पिपासा

श्रमण प्यास को शांत भाव से सहन करे, पर प्यास को शान्त करने के लिए सचित्त जल का उपयोग न करे।[1] जो श्रमण स्नान का सर्वथा परित्याग करता है वह अतिक्षार, अत्यन्त स्निग्ध अत्यन्त रूक्ष और अत्यन्त विरुद्ध भोजन से शरीर में भयंकर आतप (दाहज्वर) और तप की आराधना से अति तीव्र प्यास लगने पर भी सचित्त जल का उपयोग नहीं करता और समभाव से पिपासा परीषह को जीतता है।

(३) शीत

श्रमण सनसनाती सर्दी को सहन करे पर उस सर्दी के निवारण के लिए अग्नि का सेवन न करे। श्रमण न स्वयं अग्नि जलाता है और न दूसरों द्वारा प्रज्वलित अग्नि का सेवन करता है। स्वयं का वस्त्र जीर्ण शीर्ण हो जाने पर भी शीत से बचने हेतु अमर्यादित और अकल्पनीय वस्त्रों को ग्रहण नहीं करता।[2] शीत ऋतु में भी श्रमण कई बार वृक्ष के मूल में पर्वत की चट्टान के नीचे या खुले आवास में निवास करता है। वह ठण्डी हवा और हिम को भी समभाव से सहन करता है।[3]

(४) उष्ण

श्रमण गर्मी को सहन करे पर भीष्म ग्रीष्म की उष्णता के निवारण हेतु जलावगाहन स्नान, पंखे से हवा न करे और न छत्र धारण करने की इच्छा करे।[4] श्रमण पवन व जलरहित स्थल पर और वृक्षों से रहित शुष्क प्रदेश में भी विचरण करता है। कभी वह वृक्ष के नीचे ध्यान मुद्रा में खड़ा होता है तो कभी वह पर्वतों की गहन गुफा में भी ध्यान करता है। शरीर में जब पित्त की मात्रा बढ़ जाती है तो उसके शरीर में अन्तर्दाह उत्पन्न होता है और उस दाह से उसके शरीर में भयंकर उष्णता का अनुभव होता है। उष्ण हवा चलने के कारण उसका गला सूख जाता है। उस समय भी वह सचित्त जल का उपयोग नहीं करता। तप्त होने पर भी जलस्नान जल में अवगाहन नहीं करता और न उस गर्मी से बचने के लिए पंखे आदि का ही उपयोग करता है। भयंकर धूप से बचने के लिए वह छाता भी धारण नहीं करता है। समभाव से उष्णता को सहन करता है।

---

१ उत्तराध्ययन २ ४ ५   २ प्रवचनसारोद्धार वृत्ति, पत्र १६३

३ तत्त्वार्थसूत्र—पुज्यपादीया वृत्ति प० २९८

४- उत्तराध्ययन २, ८-९

आचारांग के तृतीय अध्ययन का नाम 'शीतोष्णीय' है। शीतोष्णीय का अर्थ है शीत=अनुकूल उष्ण=प्रतिकूल परीषह। यहाँ बाईस परीषहों का केवल शीतोष्णीय में ले लिया गया है। आचारांगनियुक्ति[1] के अनुसार स्त्री परीषह और सत्कार परीषह ये शीत परीषह के अन्तर्गत आते हैं और शेष बीस, उष्ण परीषह में। इनको श्रमण समभाव से सहन करता है।

(५) दंश मशक

श्रमण दंश मशक[2] के द्वारा काटने से उत्पन्न हुई वेदना का अनुभव करने पर भी उसके निवारण हेतु दंश मशकों को संत्रस्त नहीं करता, न उसके अन्तर्मानस में उनके प्रति द्वेष भावना ही उद्बुद्ध होती है। वह उन दंश मशकों के प्रति उपेक्षा भाव रखता है पर उन्हें नष्ट करने के लिए किंचित मात्र भी चिन्तन नहीं करता। दंश मशक को नष्ट करने के लिए न वह धुआँ आदि का प्रयोग करता है और न उन्हें किसी तरह से कष्ट हो वैसा उपाय ही सोचता है, अपितु जैसे संग्राम में हाथी अडिग रहता है वैसे ही वह भी प्रस्तुत परीषह उपस्थित होने पर अडिग रहता है।

(६) अचेल

वस्त्ररहित या अल्प वस्त्र सहित हो जाने पर भी किसी भी प्रकार की चिन्ता न करना, अचेल परीषह है। श्रमण के अन्तर्मानस में ये विचार लहरियाँ उत्पन्न न हों कि मेरे वस्त्र जीर्ण हो चुके हैं, अब मैं अचेल हो जाऊँगा या वस्त्र मिल जाने पर मैं सचेल हो जाऊँगा। इस प्रकार न उसके मन में दीन भावना आये और न हर्ष से उन्मत्त होकर नाचने ही लगे। आचार्य उमास्वाति[3] ने अचेल परीषह के स्थान पर नाग्न्य परीषह का उल्लेख किया है। प्रवचनसारोद्धार में[4] अचेल और नाग्न्य में किंचित अर्थभेद नग्नता और फटे हुए अल्प मूल्य वाले वस्त्र किया है।

जिनकल्पिक श्रमण प्राय नग्न रहा करते थे और स्थविरकल्पिक

---

१ आचारांगनियुक्ति गा० २०१   २ उत्तराध्ययन २, १०-११

३ तत्त्वार्थसूत्र ९ ९

४ प्रवचनसारोद्धार—

चेलस्य अभावो अचेल जिनकल्पिकादीनां अन्येषां तु यतीनां भिन्न स्फुटित मल्पमूल्य च वसमप्यचेलमुच्यते। —प्र० सा० पत्र १९३ गा० ६८५ की वृत्ति।

मुनि जीर्ण शीर्ण अथवा अल्प मूल्य वाले वस्त्र धारण किया करते थे। कभी श्रमणों को प्रयोजनवश वस्त्र आदि मिल जाते थे और कभी नहीं भी मिलते थे। किन्तु वह दोनों स्थितियों में सम रहता था।[1]

उत्तराध्ययन के टीकाकार[2] ने लिखा है—अचेल परीषह जिनकल्पी श्रमणों के लिए है और जिन स्थविरकल्पी श्रमणों को वस्त्र मिलना अत्यन्त दुर्लभ है जिन श्रमणों के पास वस्त्रों का पूर्ण अभाव है या वर्षा के निमित्त से जिनके वस्त्र जीर्ण शीर्ण हो गये हैं उन स्थविरकल्पी श्रमणों के लिए यह परीषह है। प्रवचनसारोद्धार[3] की टीका में भी प्रस्तुत परीषह वर्णन जिनकल्पी श्रमण के लिए बताया है।

(७) अरति

श्रमण संयम के प्रति समुत्पन्न अरुचि को सहन करे। ग्रामानुग्राम विचरण करते हुए या एक स्थान पर अवस्थित रहते हुए यदि उसके अन्तर्मानस में अरति उत्पन्न हो जाय तो सम्यक् धर्म की आराधना से उसका निवारण करे।

अरति का अर्थ संयम के प्रति अरुचि है। जो श्रमण आत्मवान् होता है उसके मन में उसके प्रति उदासीनता होती है। वह कभी शून्यगृह में रहता है, कभी देवालय में, कभी वृक्ष के नीचे, कभी गिरि गुफा में। वह सतत स्वाध्याय और ध्यान में अनुरक्त रहता है। विश्व के जितने भी प्राणी हैं उसके मन में उनके प्रति करुणा का सागर लहराता है। वह अपने जीवन में भोगे हुए भोगों का स्मरण नहीं करता और न उसकी रुचि विलासिता पूर्ण कथाओं के श्रवण में ही रहती है। ऐसा साधक ही अरति परीषह को जीतता है। यहाँ पर 'अरति' का अर्थ श्रमण संयम के प्रति अरुचि उत्पन्न न होने देना है।

आचार्य वट्टकेर[4] ने मूलाचार में 'अरति' के स्थान पर 'अरति रति' लिखा है।

---

1 उत्तराध्ययन २।१२-१३

2 जिनकल्पिकस्थविरकल्पिकोऽपि दुर्लभवस्त्रोऽपि वा सर्वथा वस्त्राभावेन सति वा वस्त्रे विना वर्षादिनिमित्तमप्रावरणेन जीर्णादिवस्त्रतया वा 'अचेलक' इति अवसेयोऽपि। —बृहद्वृत्ति पत्र ९२-९३

3 प्रवचनसारोद्धार पत्र १९६ गा० ६८५ की वृत्ति

4 मूलाचार ५-७२

(८) स्त्री

स्त्री आदि को निहारकर काम विह्वल न होना स्त्री परीषह जय है।[1] श्रमण यह चिन्तन करे कि स्त्रियाँ अर्गला रूपी हैं। वे संयमी जीवन के लिए बाधक हैं। वे अनन्त प्रपंचों में बाधक हैं। उनके हाव विलास, नेत्र विकार और सुन्दर शृंगार साधना में विकार उत्पन्न करने वाले होते हैं। वह मन को उनसे बचाता है। वह जानता है कि स्त्रियों की चेष्टाएँ मन को विचलित करने वाली होती हैं। अतः वह अपनी इन्द्रियों का कछुए की तरह संकुचित कर लेता है। यही स्त्री परीषह कामवासना का उपशमन है। स्त्री पुरुष को निहारकर संयमी का काम विह्वल न होना भी स्त्री-परीषहजय है।

(९) चर्या

चर्या पर चर्या का अर्थ गमन है। किसी गृहस्थ या घर आदि में आसक्ति न रखते हुए ग्रामानुग्राम विचरण करते हुए सभी प्रकार के कष्टों को सहन करना चर्या परीषह है।[2] जो श्रमण गुरु चरणों में रहता है उसे तत्त्वों का गहरा परिज्ञान होता है। वह संयम हेतु श्रमणों की विनय भक्ति करता है और गुरुजनों के आदेश निर्देशानुसार विचरण भी करता है। वह पवन की तरह निस्संग होता है। कायक्लेश को सहन करता है। कंकड़ आदि की बाधा उपस्थित होने पर भी वह यह चिन्तन नहीं करता कि यदि वाहन आदि मिल जाता तो कितना श्रेयस्कर होता। वह तो अप्रतिबद्ध विहारी होता है। वह ग्राम, नगर, कुल आदि की मोह ममता से ऊपर उठा हुआ होता है। इस प्रकार वह चर्या परीषह पर विजय प्राप्त करता है।

(१०) निषद्या

श्रमण श्मशान शून्य गृह आदि स्थानों में ध्यानस्थ होता है। उस समय सिंह की गंभीर गर्जना का श्रवण कर, हाथी की चिंघाड़ का सुनकर या अन्य पशुओं की भयंकर चीत्कार का सुनकर उसमें भय का संचार नहीं होता। वह नियत काल के लिए वीरासन कुक्कुटासन, आदि विविध आसनों को ग्रहण करता है। उस समय देव, तिर्यंच, मानव, अन्य चेतन, या अचेतन पदार्थों से उत्पन्न उपसर्गों को वह शांति से सहन करता है। उपसर्गों के भय से वह किसी भी प्रकार के मन्त्रादि से उनका प्रतीकार भी नहीं करता और न उस स्थान का ही परित्याग करता है। प्रवचन

---

१ उत्तराध्ययन २, १६ १७ २ वही २, १८ १९

साराद्धार[1] म इसे नषेधिकी ' परीषह माना है और टीकाकार न विकल्प म निषद्या परीषह को मानकर उसकी व्याख्या की है।

(११) शय्या[2]

शयन करने समय यदि शय्या ऊँची नीची या ऊबड खाबड हा ता भी सहन करे। श्रमण की शय्या, भले ही कंकड-पत्थर युक्त हा या रेती स सयुक्त हा ता भी वह उस पर निश्चल साता रहे। किसी प्रकार का उपसग *उपस्थित होने पर भी वह उस शय्या का परित्याग न करे और न मन म उद्विग्न हो हा। वह ता यही साच कि एक रात म कुछ भी नही होगा।* इस प्रकार विचार करता हुआ शय्या परीषह का सहन कर।

(१२) आक्रोश[3]

यदि काई गाली दे कोइ प्रतिकूल वचन भी कह ता भी श्रमण उसकी उपेक्षा कर प्रशा त बना रह । काई उसे कितना भी कठार वचन कहे तथापि वह मन म क्रोध न लाये। प्रतीकार करने का सामर्थ्य हाने पर भी वह उसका प्रतीकार न कर यह साचता है कि यदि मेरी भूल है ता इसने मरा परिष्कार कर मर पर महान उपकार किया है। यदि भूल नही है ता भी मुझ आक्राश करने से क्या लाभ ? इस तरह वह आक्राश पर विजय प्राप्त करता है।

(१३) वध

श्रमण का कोइ मारन के लिए तत्पर हा उस समय वह चिन्तन करे—आत्मा और शरीर य दाना पृथक-पृथक है। शरीर विनाशी है, आत्मा अविनाशी है। तीक्ष्ण शस्त्रास्त्रा स आहत हाने पर भी भेद विज्ञान से उसके मन म द्वेष की चिनगारी नही उछलती। वह ताडना, तर्जना की जाने पर भी सोचता है—यह कर्मो का विपाक है।[4] यदि काई गाली देता है ता वह साचता है इसने मुझे पीटा नही है। यदि काई पीटता है ता वह साचता है कि उसने मुझ प्राणा से अलग नही किया है। यदि प्राणो से अलग करने आता है तो वह साचता है कि इसके निमित्त से

---

१ प्रवचनसारोद्धार गाथा ६८५ टीका पत्र १९३

२ उत्तराध्ययन २ २२ २३ ३ वही २ २४ २५

४ आकृष्टोऽहं हतो नव, हतो वा न निघाद्दत ।
मारिता न हतो धर्मो मदीयोऽनेन बध वा ॥

मैं मुक्ति को वरण कर रहा हूँ। इस प्रकार द्वेष न करके धर्म का अनचिन्तन करता हुआ वह वध परीषह पर विजय प्राप्त कर सकता है।[1]

(१४) याचना[2]

श्रमण को कोई भी वस्तु बिना याचना किये प्राप्त नहीं होती। कई बार राजकुमार या सम्राट तथा सम्पन्न कुल के व्यक्ति भी श्रमण बन जाते हैं। सम्पन्न कुल के होने के कारण उन्हें माँगने में लज्जा का अनुभव होता है। पर आवश्यकता होने पर धर्म व शरीर की सुरक्षा के लिए उसे माँगना पड़ता है। किन्तु यह स्मरण रहे—तप के द्वारा शरीर अत्यन्त कृश हो जाने पर भी श्रमण दीन वचन न कहे और न इस प्रकार का अभिनय ही करे कि जिससे यह ज्ञात हो कि यह क्षुधा से बहुत ही पीड़ित है। जो भी भोजन मिल जाता है उसे शान्त भाव से ग्रहण कर ले। दीन शब्दों में याचना

रोग को नष्ट करने के लिए लब्धि का प्रयोग भी नहीं करता। रोग शान्ति के लिए चिकित्सा की आवश्यकता होने पर वह शास्त्रोक्त विधि से चिकित्सा करवाता है।[1] उत्तराध्ययन सूत्र में लिखा है कि श्रमण चिकित्सा का अभिनन्दन न करे। पर आचार्य नेमीचन्द्र ने[2] लिखा है—चिकित्सा की आवश्यकता होने पर शास्त्रोक्त विधि का उपयोग किया जाय। किन्तु वहाँ पर उन्होंने शास्त्रोक्त विधि क्या है इसका स्पष्टीकरण नहीं किया। उसमें यह भी लिखा है कि चिकित्सा न करवाना यह जिनकल्पी श्रमणों के लिए है स्थविरकल्पी श्रमणों के लिए नहीं। श्रमणोपासक श्रमणों को चौदह प्रकार के दान प्रदान करता है, उन दानों में औषध और भेषज ये दो दान भी हैं। यदि श्रमण उनका उपयोग न करता होता तो इनका उल्लेख क्या होता ? आगम साहित्य में[3] श्रमणों की चिकित्सा के उल्लेख भी प्राप्त होते हैं।

(१७) तृण स्पर्श

तृणों पर शयन करते समय तृणों का कर्कश स्पर्श शरीर में वेदना उत्पन्न करता है। उनकी तीखी चुभन से साधक विचलित भी हो सकता है। उस समय वस्त्र सेवन की अभिलाषा न करे। श्रमण कुछ गीली भूमि पर तृणों को बिछाकर सोते थे। अथवा जिन श्रमणों के वस्त्र तस्करों ने अपहरण कर लिये हों वे भी उन जीर्ण शीर्ण वस्त्रों के अभाव में उस घास पर सोते थे। घास का तीक्ष्णाग्र भाग शरीर में पीड़ा उत्पन्न करता है। ऐसा ज्ञात होता है कि वस्त्र आदि बिछाने की परम्परा अतीत काल में कम रही थी। वस्त्र के स्थान पर घास आदि का ही बिछौना अधिक होता था। जैसा कि उत्तराध्ययन के केशी गौतमीय अध्ययन[4] में केशी श्रमण ने गौतम को बैठने के लिए घास का आसन दिया था। उत्तर काल में श्रमणों के वस्त्र बिछाने की विधि आई है।

---

१ उत्तराध्ययन सूत्र २,३२ ३३

२ प्रवचनसारोद्धार वृत्ति पत्र १६६

३ नायासूत्र भगवती आवश्यकचूर्णि निशीथचूर्णि बृहत्कल्प भाष्य
देखिए—साहित्य और संस्कृति (देवेन्द्र मुनि शास्त्री) पृ० १४३ १६०

४ उत्तराध्ययन २३, १७।

सुत्तनिपात में वर्णन है कि तथागत बुद्ध ने कहा—मुनि शीत, उष्ण, क्षुधा, पिपासा, वात, आतप, दंश और सरीसृप का सामना कर खड्गविषाण की तरह अकेला विचरण करे। यद्यपि बौद्ध साहित्य में कायक्लेश को किंचित मात्र भी महत्त्व नहीं दिया, किन्तु श्रमण के लिए परीषह सहन करने पर उन्होंने भी बल दिया है।

इस प्रकार परीषह के सम्बन्ध में आगम व आगमेतर साहित्य में विस्तार से विश्लेषण किया गया है। हमने यहाँ संक्षेप में उसकी झाँकी प्रस्तुत की है। विशेष जिज्ञासु पाठकगण मूल ग्रन्थों का अवलोकन करें। टीकाकारों ने सभी परीषहों को स्पष्ट करने के लिए कथाएं भी प्रस्तुत की हैं और वे सभी कथाएँ साधक को परीषहों में किस तरह सुदृढ़ रहना चाहिए इस पर चिन्तन करने को उत्प्रेरित करती हैं।

☐

११. समाधिमरण की कला : संलेखना

जीवन और मरण

भारत के मूर्धन्य मनीषियों ने जीवन और मरण के सम्बन्ध में गंभीर अनुचिंतन किया है। जीवन और मरण के सम्बन्ध में हजारों ग्रंथ लिखे गये हैं। जीवन सभी को प्रिय है[1] और मरण सभी को अप्रिय है।

जब कोई भी व्यक्ति जन्म ग्रहण करता है तब चारों ओर प्रसन्नता का सुहावना वातावरण फैल जाता है। हृदय का अपार आनन्द विविध वाद्यों के द्वारा मुखरित होने लगता है। जब भी उसका वार्षिक जन्म दिन आता है तब वह अपने सामर्थ्य के अनुसार समारोह मनाकर हृदय का उल्लास अभिव्यक्त करता है। जीवन को आनन्द व सुमधुर क्षणों में व्यतीत करने के लिए गुरुजनों से वह आशीर्वचन प्राप्त करना चाहता है। वैदिक ऋषि प्रभु से प्रार्थना करता है[2] कि 'मैं सौ वर्ष तक सुखपूर्वक जीऊं। मेरे तन में किसी भी प्रकार की व्याधि उत्पन्न न हो। मेरे मन में संकल्प विकल्प न हों। मैं सौ वर्षों तक अच्छी तरह से देखता रहूँ, सुनता रहूँ जिससे मैं शान्ति अनुभव करता रहूँ। मेरे पैरों में, मेरी भुजाओं में अपार बल रहे जिससे मैं शान्ति के साथ अपना जीवन यापन कर सकूं।'

मानव में ही नहीं प्रत्येक प्राणी में जिजीविषा है। जिजीविषा की भव्य भावना से उत्प्रेरित होकर ही प्रागैतिहासिक काल से आधुनिक युग तक मानव ने अनुसंधान किये हैं। उसने ग्राम, नगर, भव्य भवनों का निर्माण किया। विविध प्रकार के खाद्य पदार्थ, पेय पदार्थ, औषधियाँ, रसायनें, इंजेक्शन, शल्यक्रियाएं आदि निर्माण की। मनोरंजन के लिए उद्यान, कला केन्द्र, प्राकृतिक सौन्दर्य सुषमा के केन्द्र संस्थापित किये। साहित्य, संगीत, नाटक, चलचित्र, टेलिविजन, टेलीफोन, रेडियो, ट्रांजिस्टर आदि का निर्माण किया। अब वह पृथ्वी की परिक्रमा करने वाले उपग्रह आदि का निर्माण कर चन्द्रलोक आदि ग्रहों में रहने के रंगीन स्वप्न देख रहा है।

---

1 सव्वे जीवा वि इच्छंति जीविउं न मरिज्जिउं — [illegible] ६.१०

2 जीवेम शरदः शतं। — यजुर्वेद ३६.२४

पर यह एक परखा हुआ सत्य तथ्य है कि जीवन के साथ मृत्यु का चोली दामन का सम्बन्ध है। जीवन के अगल बगल चारों ओर मृत्यु का साम्राज्य है। मृत्यु का अखण्ड साम्राज्य होने पर भी मानव उसे भुलाने का प्रयास करता रहा है। वह सोचता है कि मैं कभी नहीं मरूँगा किन्तु यह यह एक ज्वलन्त सत्य है कि जो पुष्प खिलता है, महकता है अपनी मधुर सौरभ से जन जन के मन को मुग्ध करता है वह पुष्प एक दिन मुरझा जाता है। जो फल वृक्ष की टहनी पर लगता है अपने सुन्दर रंग रूप से जन मानस को आकर्षित करता है वह फल भी टहनी पर रहता नहीं, पकने पर नीचे गिर पड़ता है। सहस्ररश्मि सूर्य जब उदित होता है तो चारों ओर दिव्य आलोक जगमगाने लगता है, पर सन्ध्या के समय उस सूर्य को भी अस्त होना पड़ता है।

जीवन के पश्चात मृत्यु निश्चित है। मृत्यु जब आती है तब अपनी गंभीर गर्जना से जंगल को कंपाने वाला वनराज भी काँप जाता है। मदोन्मत्त गजराज भी बलि के बकरे की तरह करुण स्वर में चीत्कार करने लगता है। अनन्त सागर में कमनीय क्रीड़ा करने वाली विराटकाय व्हेल मछली भी छटपटाने लगती है। यहाँ तक कि मौत के वारण्ट से पशु-पक्षी और मानव ही नहीं स्वर्ग में रहने वाले देव देवियाँ व इन्द्र और इन्द्राणियाँ भी पके पान की तरह काँपने लगते हैं। जैसे ओलों की तेज वृष्टि से अंगूरों की लहलहाती खेती कुछ क्षणों में नष्ट हो जाती है वैसे ही मृत्यु जीवन के आनन्द को मिट्टी में मिला देती है।

गीर्वाण गिरा के यशस्वी कवि ने कहा—जो जन्म लेता है वह अवश्य ही मरता है—'जातस्य हि मरणं ध्रुवम्'। तन बल, जन बल, धन बल और सत्ता बल के आधार से कोई चाहे कि मैं मृत्यु से बच जाऊँ यह कभी भी संभव नहीं है। आयु-कर्म समाप्त होने पर एक क्षण भी जीवित रहना असंभव है। काल (आयु) समाप्त होने पर काल (मृत्यु) अवश्य आयेगा। बीच कुए में जब रस्सी टूट गई हो उस समय कौन घड़े को थाम सकता है?[1]

मृत्यु का भय सबसे बड़ा

जैन साहित्य में भय के सात प्रकार बताये हैं। उन सभी में मृत्यु का भय सबसे बड़ा है। मृत्यु के समान अन्य कोई भय नहीं है।[2]

---

१ 'रज्जुच्छेदे के घटं धारयन्ति ?'

२ (क) मरण समं नत्थि भयं। (ख) भयं सीमा मृत्यु।

एक बादशाह बहुत मोटा-ताजा था। उसने अपना मोटापा कम करने के लिए उस युग के महान् हकीम लुकमान से पूछा—मैं किस प्रकार दुबला हो सकता हूँ?

लुकमान ने बादशाह से कहा—आप भोजन पर नियन्त्रण करें, व्यायाम करें और दो चार मील घूमा करें।

बादशाह ने कहा—जो भी तुमने उपाय बताये है मैं उनम से एक भी करने म समथ नही हू। न मैं भोजन छोड सकता हूँ न व्यायाम कर सकता हूँ और न घूम ही सकता हूँ।

लुकमान कुछ क्षणा तक चिन्तन करत रहे फिर उन्होंने कहा—बादशाह प्रवर! आपके शारीरिक लक्षण बता रहे है कि आप एक माह की अवधि के अन्दर परलोक चले जाएँगे।

यह सुनते ही बादशाह ने कहा—क्या तुम्हारा कथन सत्य ह?

लुकमान ने स्वीकृतिसूचक सिर हिला दिया।

एक माह के पश्चात जब लुकमान बादशाह के पास पहुचा ता उसका सारा शरीर कृश हो चुका था। बादशाह ने लुकमान से पूछा—अब मैं कितने घटा का मेहमान हू?

लुकमान ने कहा—अब आप नही मरेंगे।

बादशाह ने साश्चय पूछा—यह कसे?

लुकमान ने कहा—आपने कहा था कि मुझे दुबला बनना ह। देखिए, आप दुबले बन गये हैं। मत्यु के भय ने ही आपको कृश बना दिया ह।

भगवान महावीर ने प्राणियो की मन स्थिति का विश्लेषण करते हुए कहा ह "प्राणिवधरूप असाता कष्ट सभी प्राणियो के लिए महाभय रूप ह।"[1]

मत्युकला

भारतीय मूधन्य चिन्तको ने जीवन को एक कला कहा है तो मृत्यु को भी एक कला माना है। जा साधक जीवन और मरण इन दोनो कलाओ मे पारगत है वही अमर कलाकार है। भारतीय सस्कृति का आघोष है कि जीवन और मरण का खेल अन त काल से चल रहा है। तुम खिलाडी बनकर खेल रहे हो। जीवन के खेल को कलात्मक ढग से खेलते हो तो मरने

---

१ असाय अपरिनिव्वाण महब्भय। —आचाराग १ २

के खेल को भी ठाठ से खेलो। न जीवन में झिझको, न मरण से डरो। जिस प्रकार चालक को मोटर गाड़ी चलाना सीखना आवश्यक है उसी तरह उसे रोकना सीखना भी आवश्यक है। केवल उसे गाड़ी चलाना आये, रोकना नहीं आये, उस चालक की स्थिति गंभीर हो जाएगी। इसी तरह जीवन कला के साथ मृत्यु कला भी बहुत आवश्यक है। जिस साधक ने मृत्यु कला का सम्यक् प्रकार से अध्ययन किया है वह हँसते, मुस्कराते शांति के साथ प्राणों का परित्याग करेगा। मृत्यु के समय उसके मन में किंचित मात्र भी उद्वेग नहीं होगा। वह जानता है ताड़ का फल वृन्त से टूटकर नीचे गिर जाता है वैसे ही आयुष्य क्षीण होने पर प्राणी जीवन से च्युत हो जाता है।[1] मृत्यु का आगमन निश्चित है।[2] हम चाहें कितना भी प्रयत्न करें उससे बच नहीं सकते। काल एक ऐसा तन्तुवाय है जो हमारे जीवन के ताने के साथ ही मरण का बाना भी बुनता जाता है। यह बुनाई शनैः शनैः आगे बढ़ती है। जैसे तन्तुवाय दस बीस गज का पट बना लेने के पश्चात ताना बाना काटकर वस्त्र को पूर्ण करता है और उस वस्त्र को समेटता है। जीवन का ताना बाना भी इसी प्रकार चलता है। कालरूपी जुलाहा प्रस्तुत पट को बुनता जाता है। पर एक स्थिति ऐसी आती है जब वह वस्त्र (थान) को समेटता है। वस्त्र का समेटना ही एक प्रकार मृत्यु है। जिस प्रकार रात्रि और दिन का चक्र है वैसे ही मृत्यु और जन्म का चक्र है।

एक वीर योद्धा अपनी सुरक्षा के सभी साधन तथा शस्त्रास्त्रों को लेकर युद्ध के मैदान में जाता है वह युद्ध के मैदान में भयभीत नहीं होता उसके अन्तर्मानस में अपार प्रसन्नता होती है क्योंकि वह युद्ध की सामग्री से सन्नद्ध है।

मृत्यु महोत्सव

एक यात्री है। यदि उसके पास पाथेय है तो उसके मन में एक प्रकार की निश्चिन्तता होती है। यदि उसके पास पर्याप्त अन्न और धन हो तो वह कहीं भी चला जाय उसे कोई कष्ट नहीं होता। इसी तरह जिस साधक ने जीवन कला के साथ मृत्युकला भी सीख ली है उस साधक के मन में मृत्यु से भय नहीं होता। उसका हृत्तंत्री के तार झनझनाते हैं—मैंने सुन्दरि का मार्ग ग्रहण किया है। मैंने जीवन में धर्म की आराधना

1 [illegible] —सूत्रकृतांग २ १ ३

2 [illegible] —आचारांग १ [illegible]

की है सयम की साधना की है। अब मुझे मृत्यु से भय नही है।[1] मेरे लिए मत्यु विषाद का नही, हर्ष का कारण है। वह तो महोत्सव की तरह है।[2]

जीवन और मत्यु एक दूसरे के पूरक

मत्यु से भयभीत होने का कारण यह है कि अधिकाश व्यक्तियो का ध्यान जीवन पर तो केन्द्रित है पर वे मृत्यु के सम्बन्ध मे कभी सोचना भी नही चाहते। उनका प्रबल पुरुषार्थ जीने के लिए ही होता है। उन्होंने जीवन-पट को विस्तार से फला रखा है। किन्तु उस पट को समेटने की कला उन्हे नही आती। वे जाग कर कार्य तो करना चाहते हैं, पर उन्हे पता नही केवल जागना ही पर्याप्त नही है, विश्रान्ति के लिए सोना भी आवश्यक है। जिस उत्साह के साथ जागना आवश्यक है, उसी उत्साह के साथ विश्रान्ति और शयन आवश्यक है जिस प्रकार जागरण और शयन एक दूसरे के पूरक हैं वसे ही जीवन और मत्यु भी।

मरण शुद्धि

महाभारत के वीर योद्धा कर्ण ने अश्वत्थामा को कहा था कि तू मुझे सूतपुत्र कहता है। पर चाहे जो कुछ भी हो मैं अपने पुरुषार्थ से तुझे बता दूंगा कि मैं कौन हूँ। मेरा पुरुषार्थ तुम देखो।

प्रस्तुत कथन से यह स्पष्ट होता है कि व्यक्ति अपने आपको बनाता है। जिस साधक ने जीवन-कला के रहस्य को समझ लिया है वह मत्यु कला के रहस्य का भी समझ लेता है। जिसने वर्तमान का सुधार लिया है उसका भविष्य अपने आप ही सुधर जाता है। आत्मविशुद्धि के मार्ग के पथिक के लिए जीवन शुद्धि का जितना महत्त्व है उससे भी अधिक महत्त्व मरण शुद्धि का है।

पडित आशाधरजी ने कहा—जिस महापुरुष ने ससार परपरा को विनष्ट करने वाले समाधिमरण अर्थात मत्यु-कला म पूर्ण योग्यता प्राप्त की है उसने धर्म रूपी महान निधि को प्राप्त कर लिया है। वह मुक्ति-पथ

---

१ गन्तिओ मुणइ मग्गो नाह मरणस्स बीहेमि। —आतुर प्रत्याख्यान ६३

२ (क) ससारासक्तचित्ताना मृत्युर्भीत्यै भवेन्नृणाम।
मोदायते पुन सोपि ज्ञान वैराग्यवासिनाम्॥ —मृत्यु महोत्सव १७

(ख) सचित तपोधन न नित्यं व्रत नियमं सयमरक्षानाम्।
उत्सवभूत मन्य मरणमनपराधवृत्तीनाम्॥ —वाचक उमास्वाति

का अमर पथिक है। उसका अभियान आगे बढ़ने के लिए है। वह पड़ाव को घर बनाकर रुकना पसन्द नहीं करता किन्तु प्रसन्न मन से अगले पड़ाव की तैयारी करता है—यही मृत्युकला है।

मरण के विविध प्रकार

जो व्यक्ति जीवन-कला से अनभिज्ञ है वह मृत्यु-कला से भी अनभिज्ञ है। सामान्य व्यक्ति मृत्यु को तो वरण करता है, पर किस प्रकार मृत्यु को वरण करना चाहिए, उसका विवेक उसमें नहीं होता। जैन आगम व आगमेतर साहित्य में मरण के सम्बन्ध में विस्तार से विवेचन किया गया है। विश्व के जितने भी जीव हैं उन जीवों के मरण को दो भागों में विभक्त किया है—(१) बालमरण और (२) पण्डितमरण।

भगवती सूत्र में[१] बालमरण के बारह प्रकार बताये हैं और पण्डित मरण के दो प्रकार बताये हैं। इस प्रकार मरण के कुल १४ प्रकार हैं। वे क्रमशः इस प्रकार है—

बालमरण

(१) वलय (२) वसट्ट (३) अन्तोसल्ल (४) तब्भव (५) गिरिपडण (६) तरुपडण (७) जलप्पवेस (८) जलणप्पवेस (९) विषभक्खण (१०) सत्थोवाडण (११) वेहाणस (१२) गिद्धपिट्ठ।

पण्डितमरण

(१) पाओवगमण (२) भत्तपच्चक्खाण।

समवायांग सूत्र में[२] और उत्तराध्ययननियुक्ति में[३] तथा दिगम्बर ग्रंथ मूलाराधना में[४] मरण के १७ भेद प्ररूपित किये हैं। समवायांग में उल्लिखित मरण के १७ भेद इस प्रकार है—

(१) आवीचिमरण (२) अवधिमरण (३) आत्यंतिकमरण (४) वलायमरण (५) वशार्तमरण (६) अन्तःशल्यमरण (७) तद्भवमरण (८) बालमरण (९) पण्डितमरण (१०) बालपण्डितमरण (११) छद्मस्थ

---

१ भगवती २।१।

२ समवायांग १७ सूत्र ६ (मुनि कन्हैयालाल कमल)

३ उत्तराध्ययननियुक्ति, गाथा २१२।१३ पत्र २३०

४ मरणाणि सत्तरस देसिदाणि तित्थयरेहिं जिणवयणे।
तत्थ वि य पंच इह संगहेण मरणाणि वोच्छामि॥

—मूलाराधना आश्वास १ गा० २५, पत्र ८५

मरण (१२) केवलीमरण (१३) वहायसमरण (१४) गृद्धपृष्ठमरण (१५) भक्तप्रत्याख्यानमरण (१६) इंगिनीमरण (१७) पादपोपगमन मरण।

मरण के इन सत्रह प्रकारों में "उत्तराध्ययननियुक्ति" और मूलाराधना की विजयोदयावृत्ति में नाम और क्रम में कुछ अन्तर है। इन सत्रह प्रकार के मरण के सम्बन्ध में उत्तराध्ययननियुक्ति और विजयोदयावृत्ति में अनेक भेद प्रभेदों का निरूपण है। हम यहाँ विस्तार में न जाकर संक्षेप में ही इन १७ प्रकार के मरण के अर्थ का प्रतिपादन करेंगे।

१ आवीचिमरण

आयु कर्म के दलिकों की विच्युति अथवा वुच्छित्ति को आवीचिमरण कहा है। जैसे अंजलि में लिया हुआ पानी प्रतिपल प्रतिक्षण घटता रहता है इसी तरह प्रतिक्षण आयु भी कम होता जाता है। यहाँ वीचि का अर्थ समुद्र की लहर है। समुद्र में प्रतिपल प्रतिक्षण एक लहर उठती है और उसके पीछे ही दूसरी और तीसरी लहर उठती रहती है। असंख्य लहरों का नर्तन समुद्र के विराट वक्षस्थल पर होता रहता है। समुद्र की लहर की भाँति मृत्यु की लहर भी प्रतिक्षण आती रहती है। एक क्षण की समाप्ति जीवन के क्षण की समाप्ति है। नवांगी टीकाकार आचार्य अभयदेव[१] ने आवीचिमरण की व्याख्या करते हुए लिखा है—प्रत्येक समय अनुभूत होने वाले आयुकर्म के पूर्व-पूर्व दलिकों को भोगकर नित नूतन दलिकों का उदय फिर उनका भोग, इस प्रकार प्रतिक्षण दलिकों का क्षय होना आवीचि है।

आचार्य अकलंक ने[२] आवीचिमरण को नित्य मरण कहा है। उन्होंने मरण के दो प्रकार बताये हैं—नित्यमरण और तद्भवमरण। प्रतिक्षण आयुष्य आदि का जो क्षय हो रहा है वह नित्य मरण है और प्राप्त शरीर का पूर्ण रूप से छूट जाना अथवा जीव का उस शरीर को छोड़ देना तद्भव मरण है। सामान्य मानव जिसे आयु वृद्धि कहता है वह वस्तुतः आयु का ह्रास है। हमारा प्रत्येक कदम मृत्यु की ओर ही बढ़ रहा है।

---

१ प्रतिसमयमनुभूयमानायुषोऽपरापरायुर्दलिकोदयात् पूर्वपूर्वायुर्दलिकविच्युतिलक्षणा।
—समवायांगवृत्ति—समवाय १७

२ तत्त्वार्थराजवार्तिक ७।२२।

२ अवधिमरण[1]

जिस गति मे जीव एक बार मरण करता है उसी गति मे दूसरी बार मरण करना अवधिमरण है।

३ आत्यतिकमरण[2]

वर्तमान आयु कर्म के पुदगलो का अनुभव कर मरण प्राप्त होता है, पुन उस भव मे वह जीव उत्पन्न न हो तो वह मरण आत्यतिक मरण है।

४ बलायमरण[3]

जो सयमी सयम पथ से भ्रष्ट होकर मृत्यु को प्राप्त करता है वह वलन् मरण है या भूख से छटपटाते हुए मृत्यु को प्राप्त करना भी बलाय मरण है।

५ वशातमरण[4]

दीप शिखा मे शलभ की भाँति जो जीव इन्द्रियो के वशीभूत होकर मृत्यु को प्राप्त होते हैं उनका मरण वशातमरण है। इस मरण मे आर्त और रौद्र ध्यान की प्रधानता रहती है।

६ अन्त शल्यमरण[5]

शरीर मे शस्त्र आदि शल्य रहने पर मृत्यु होना वह द्रव्य अन्त शल्य मरण है। लज्जा, अभिमान प्रभृति कारणो से अतिचारो की आलोचना न कर दोषपूर्ण स्थिति म मरना, अन्त शल्य मरण है।

७ तद्भवमरण[6]

वर्तमान भव म मृत्यु का वरण करना, तद्भवमरण है।

---

१ (क) समवायांग पत्र ३२ (ख) उत्तराध्ययननिर्युक्ति २११
(ग) मूलाराधना विजयोदयावृत्ति पत्र ८७

२ (क) समवायांग, पत्र ३२ (ख) उत्तराध्ययननिर्युक्ति २११

३ (क) समवायांग पत्र ३२ (ख) उत्तराध्ययननिर्युक्ति २११

४ (क) समवायांग पत्र ३२ (ख) उत्तराध्ययननिर्युक्ति २१७
(ख) भगवती २ १ पत्र २१२

५ (क) भगवती २ १ अभयदेववृत्ति पत्र २१२
(ख) समवायांग १७ सूत्र १२ (ग) उत्तराध्ययननिर्युक्ति २११

६ (क) भगवती २ १ (ख) समवायांग पत्र ३२ ३१
(ग) मूलाराधना विजयोदया टीका, पत्र ८७

८ बालमरण[1]

विश्व म आसक्त, अनानाधकार से आच्छादित ऋद्धि व रसो मे गृद्ध जीवो का मरण, बालमरण कहलाता है।

९ पण्डितमरण[2]

सयतियो का मरण पण्डितमरण है। सम्यक श्रद्धा चारित्र एव विवेकपूवक मरण, पण्डितमरण है।

१० बालपण्डितमरण[3]

सयतासयत मरण बालपण्डितमरण है।

११ छद्मस्थमरण[4]

मतिनानी, श्रुतनानी, अवधिनानी, मन पयवनानी को छद्मस्थ कहत हैं। एस व्यक्ति का मरण, छद्मस्थमरण है।

१२ केवलीमरण

केवलनानी का मरण केवलीमरण ह।

१३ वहायस मरण[5]

वृक्ष की शाखा से लटकने, पवत से गिरने, झपा लेन, प्रभति कारणो स होने वाला मरण वहायसमरण ह।

१४ गृद्धपृष्ठमरण[6]

हाथी आदि के कलेवर म प्रविष्ट हो पर उस कलेवर के साथ उस जीवित शरीर को भी गीध आदि नोचकर मार डालते हैं। उस स्थिति म जो मरण होता है वह गृद्धपृष्ठमरण है।

१५ भक्तप्रत्याख्यानमरण[7]

यावज्जीवन के लिए त्रिविध और चतुर्विध आहार क त्यागपूवक जो मरण होता है वह भक्त प्रत्याख्यानमरण ह।

---

१ (क) समवायांग पत्र ३३ (ख) उत्तराध्ययननियुक्ति २२२

२ मूलाराधना विजयोदया टीका पत्र ८९

३ (क) समवायांग १७ पत्र ३२ (ख) उत्तराध्ययननि॰ २२२

४ उत्तराध्ययननियुक्ति २८३।

५ (क) भगवती २ १ पत्र २५२ (ख) उत्तरा॰ नि॰ गा॰ २२४

६ (क) भगवती २ १ (ख) उत्तरा॰ नि॰ २२४

७ (क) भगवती २ १ (ख) उत्तरा॰ नि॰ गाथा २२५

(ग) मूलाराधना गाथा २६, पत्र ११३ (घ) विजयोदया पत्र ११३

मूलाराधना मे इसका नाम "भक्त पयिण्णा" है और विजयोदया म "भक्तप्रतिज्ञा" है।

१६ इगिणीमरण[1]

प्रतिनियत स्थान पर अनशनपूर्वक मरण को इगिणीमरण कहा है। इस मरण म साधक अपनी शुश्रूषा स्वय कर सकता है पर दूसरे श्रमणो से सेवा ग्रहण न करे उसे भी इगिणीमरण कहा है। इस मरण म चतुर्विध आहार का परित्याग आवश्यक हाता है।

१७ पादपोपगमन मरण[2]

वक्ष के नीचे स्थिर अवस्था म चतुर्विध आहार के त्यागपूर्वक जो मरण होता है वह पादपापगमन मरण है। पादपोपगमन का ही दिगवर ग्रथा मे 'प्रायोपगमन'[3] कहा ह। जो अपनी परिचर्या स्वय न करे और न दूसरा से करवावे ऐसे सयास मरण का प्रायोपगमन अथवा प्रायापनमरण कहते हैं।

पादोपगमन[4] अपन परा से चलकर याग्य प्रदश मे जाकर जा मरण किया जाता ह, उसे पादोपगमनमरण कहा गया ह। प्रस्तुत मरण को चाहने वाला श्रमण अपने शरीर की परिचर्या न स्वय करता है और न दूसरा से ही करवाता ह। प्रस्तुत मरण के लिए 'प्रायोग्र'[5] अथवा "पाउगमण पाठ भी प्राप्त हाता। भव के अ त करने योग्य सहनन और सस्थान का प्रायोग कहा है। विशिष्ट सहनन और सस्थान वाले ही इस मरण का वरण करत हैं।

भगवती सूत्र मे[6] पादपापगमन के निर्हारी और अनिर्हारी ये दो भेद बताय हैं। निर्हारी उपाश्रय म मृत्यु का वरण करने वाले श्रमण के शरीर

---

१ (क) मूला॰ विजयो॰ पत्र ११३
(ख) सयमेव अप्पणो सो करेदि आउन्णादि किरियाओ।
उच्चारादीणि तधा सयमेव विकिन्चि वै विधिणा॥
—मूला॰ आ॰ ८ गा॰ २०४२

२ (क) भगवती २ १, पत्र २५२ (ख) समवायांग, समवाय १७ पत्र ३३
(ग) उत्तरा॰ नि॰ गा॰ २२५ (घ) औपपातिकवृत्ति पत्र ७१

३ (क) गोम्मटसार गाथा ६१ (ख) मू॰ आ॰ ८ गा॰ २०६३

४ मू आ॰ वि॰ पत्र ११३ ५ विज॰ ११३

६ भगवती सूत्र २ १ पत्र २५२।

उनकी पृथक् व्याख्या की है।[1] किन्तु मूलाराधना में[2] भक्तप्रत्याख्यान, इगिणी और पादोपगमन—इन तीनों को पण्डितमरण का माना है।

मरण के जो सत्रह प्रकार बताये हैं उनमें आवीचिमरण प्रतिक्षण होता है। वह सिद्धों के अतिरिक्त सभी संसारी प्राणियों में है। शेष मरण सभी संसारी जीवों में संभव हो सकते हैं।

मरण के दो प्रकार

उत्तराध्ययन सूत्र में मरण के दो प्रकार बताये हैं—अकाममरण और सकाममरण[3] टीकाकार ने अकाममरण का अर्थ विवेकरहित किया है और सकाममरण का चारित्र और विवेकयुक्त मरण कहा। अकाममरण पुन पुन होता है,[4] किन्तु सकाममरण जीवन में एक होता है। पंडितमरण एक बार होता है इसका तात्पर्य है कि साधक क्षय कर मृत्यु को ऐसे वरण करता है जिससे पुन मृत्यु प्राप्त न हो। विभक्ति' में कहा है—तुम ऐसा मरण मरो जिससे मुक्त बन जाओ।

जिस मरण में विषय वासना की प्रबलता हो कषाय की आग कर सुलग रही हो, विवेक की ज्योति लुप्त हो चुकी हो, हीन भा पनप रही हो, वह बालमरण है।

सकाममरण के पंडितमरण और बालपंडितमरण—ये दो भेद हैं।[6] पंडितमरण और बालपंडितमरण—इन दोनों में मुख्य भेद पा है। विषयविरक्त संयमी जीवों का मरण पंडितमरण है और श्राव मरण बालपंडितमरण है। बालपंडितमरण का भी अन्तर्भाव पंडितम अन्तर्गत ही किया गया है क्योंकि दोनों प्रकार ही के मरण में साधक स पूर्वक प्राणों का परित्याग करता है।

स्थानांग में[7] प्रशस्त मरण के पादपोपगमन और भक्तप्रत्य

---

१ भगवती सूत्र ६. १ पत्र २५३

२ पायोपगमण मरणं भत्त पइण्णा य इगिणी चेव।
तिविहं पंडियमरणं साहुस्स जहुत्त चारिस्स ॥ —मून

३ उत्त० अ० ५ ३४। ४ वही० अ० ५, ३४।

५ त मरणं मरियव्व जेणमओ मुक्कओ होई।
—मरणविभक्ति, प्रकरण १

६ उत्तरा० ५ ७ स्थानांग २, ३, ४

ये दो मरण बताये है। भगवती म[1] भी आय स्कन्धक के प्रसग म पण्डित मरण के दो प्रकार बताये हैं। उत्तराध्ययन की प्राकृत टीका म[2] पण्डित मरण के तीन प्रकार और पांच भेद बताये हैं—भक्तपरिज्ञामरण, इगिणी मरण और पादोपगमनमरण छद्मस्थमरण और केवलीमरण।

भक्तप्रत्याख्यान और इगिणीमरण म यह अन्तर ह कि भक्त प्रत्याख्यान म साधक स्वय अपनी शुश्रूषा करता ह और दूसरा से भी करवाता ह। वह त्रिविध आहार का भी त्याग करता ह और चतुर्विध आहार का भी त्याग करता ह। अपनी इच्छा से जहाँ भी जाना चाह जा सकता ह। किन्तु इगिणीमरण मे चतुर्विध आहार का त्याग होता ह वह नियत प्रदेश म ही इधर उधर जा सकता ह उसके बाहर नही जा सकता। वह दूसरा स शुश्रूषा भी नही करवा सकता ह।

शान्त्याचाय ने[3] निर्हारी और अनिर्हारी ये दो भेद पादपोपगमन के बताये हैं, किन्तु स्थानाग म[4] भक्तप्रत्याख्यान के भी दो भेद किये है।

आचाय शिवकोटि ने[5] भक्तप्रत्याख्यान के सविचार और अविचार दो भेद माने हैं। जिस श्रमण के मन म उत्साह है तन मे बल है जिसकी मृत्यु शीघ्र होने वाली नहो है उस श्रमण के भक्तप्रत्याख्यान को सविचार[6] कहा जाता है। आचाय ने इस सम्बन्ध मे चालीस (४०) प्रकरणो के द्वारा विस्तार से विश्लेषण किया है। मत्यु की आकस्मिक सभावना होने पर जो साधक भक्तप्रत्याख्यान करता है वह अविचार भक्तप्रत्याख्यान[7] है। अविचार भक्त प्रत्याख्यान के (१) निरुद्ध (२) निरुद्धतर और (३) परम निरुद्ध ये तीन प्रकार हैं।

निरुद्ध

१ जिस श्रमण के शरीर म व्याधि हो, और वह आतक स पीडित हो, जिसक पैरो की शक्ति क्षीण हो चुकी हो दूसरे गण म जाने असमथ हो, उस श्रमण का भक्तप्रत्याख्यान निरुद्ध अविचार भक्तप्रत्याख्यान कहलाता है।[8] जब तक उसके शरीर म शक्ति का सचार हो वह स्वय अपना काय करन म सक्षम हो वहाँ तक वह अपना काय स्वय कर और जब वह असमथ

---

१ भगवती २ १
२ उत्तरा० प्राकृत टीका ५
३ उत्तरा० शान्त्याचाय टीका
४ स्थानाग २
५ मूला० आ० आश्वास २ गाथा ६५
६ वही आ० २ गा० ६५
७ वही आ० ७, गा० २०११
८ वही आ० ७, गा० २०१३

हो जाय तब अन्य श्रमण उसकी शुश्रूषा करें।[1] पैरों का सामर्थ्य क्षीण हो जाने से दूसरे गण में जाने में असमर्थ होने के कारण जो श्रमण अपने गण में ही निरुद्ध रहता है, एतदर्थ उसके भक्तप्रत्याख्यान को अनिर्हारी भी कहा गया है।[2] निरुद्ध के जनज्ञात और जनअज्ञात[3] ये दो प्रकार हैं।

निरुद्धतर

जहरीले सर्प के काट खाने पर, अग्नि आदि का प्रकोप होने पर तथा ऐसे मृत्यु के अन्य तात्कालिक कारण उपस्थित होने पर उसी क्षण जो भक्तप्रत्याख्यान किया जाता है वह निरुद्धतर है।[4] अथवा ऐसा कोई कारण उपस्थित हो जाय जिससे शारीरिक शक्ति एकदम क्षीण हो जाय तो उसका अनशन निरुद्धतर कहलाता है। यह अनिर्हारी होता है।[5]

परम निरुद्ध

सर्पदंश या अन्य कारणों से जब वाणी अवरुद्ध हो जाती है उस स्थिति में भक्तप्रत्याख्यान को परम निरुद्ध[6] कहा है।

आचार्य शिवकोटि द्वारा प्रतिपादित भक्तप्रत्याख्यान के निरुद्ध और परम निरुद्ध की तुलना औपपातिक में आये हुए पादोपगमन और भक्तप्रत्याख्यान के व्याघात सहित से की जा सकती है। औपपातिकवृत्ति में व्याघात का अर्थ किया है—सिंह दावानल प्रभृति व्याघात उपस्थित होने पर किया जाने वाला अनशन[7]। औपपातिक की दृष्टि से पादोपगमन और भक्तप्रत्याख्यान ये दोनों अनशन व्याघात सहित और व्याघातरहित दोनों ही स्थितियों में होते हैं। सूत्रकृतांग की दृष्टि से शारीरिक बाधा उत्पन्न हो या न हो तब भी अनशन करने का विधान है।

प्रकारान्तर से पण्डितमरण के सागारी संथारा और सामान्य संथारा ये दो प्रकार किये जा सकते हैं। विशेष आपत्ति समुपस्थित होने पर जो संथारा ग्रहण किया जाता है वह सागारी संथारा है। वह संथारा मृत्युपर्यन्त के लिए नहीं होता। जिस परिस्थिति के कारण संथारा किया जाता है यदि वह परिस्थिति समाप्त हो जाती है, आपत्ति के बादल छँ

---

१ मूला० आ० ७ गा० २०१८
२ वही० आ० ७ गा० २०१५
३ वही० आ० ७ गा० २०११
४ मूला० आ० ७ गा० २०१५
५ मूला० आ० ७ गा० २०[illegible]
६ वही० ७ गा० २०२२
७ औपपातिक वृत्ति उ०—
सव्याघातवद्—सिंहदावानलाद्यभिभूतस्य यदनशनादि।

जाते हैं तो उस व्रत की मर्यादा भी पूर्ण हो जाती है। अन्तकृद्दशांग सूत्र में वर्णन है। भगवान् महावीर राजगृह नगर के बाहर पधारे। श्रावक सुदर्शन उनके दर्शन हेतु प्रस्थित हुआ। अर्जुन मालाकार जो यक्ष से आविष्ट था, वह मुद्गर घुमाता हुआ श्रेष्ठी सुदर्शन की ओर लपका। उस समय सुदर्शन श्रेष्ठी ने सागारी संथारा किया और उस कष्ट से मुक्त होने पर उसने पुनः अपनी सम्पूर्ण क्रियाएँ कीं। यह सामान्य संथारा है। इसमें आगार रहता है।[1]

संथारा पोरसी

जैन परम्परा में सोते समय जब मानव की चेतना शक्ति धुंधली पड़ जाती है, शरीर निश्चेष्ट हो जाता है, वह एक प्रकार से अल्पकालीन मृत्यु ही है। उस समय साधक अपनी रक्षा का किंचित् मात्र भी प्रयास नहीं कर सकता, अतः प्रतिदिन रात्रि में सोते समय सागारी संथारा करने का विधान है, जिसे 'संथारा पोरसी' कहते हैं। सोने के पश्चात् पता नहीं प्रातःकाल सुखपूर्वक उठ सकेगा या नहीं। इसीलिए प्रतिपल प्रतिक्षण सावधान रहने का शास्त्रकारों ने संदेश दिया है। मोह की प्रबलता में मृत्यु को न भूला जाय। उसे प्रतिक्षण याद रखा जाय। ममता भाव से मुड़कर समता भाव में रमण किया जाय, बाह्य जगत से हटकर अन्तर जगत में प्रवेश किया जाय। सोते समय यदि विशुद्ध भावना रहती है तो स्वप्न में भी विचार विशुद्ध रहते हैं। इसीलिए साधक सोते समय संथारा पोरसी' करता है।

संथारा या पण्डितमरण एक महान् कला है। मृत्यु को मित्र मान कर साधक उसके स्वागत की तैयारी करता है। वह अपने जीवन का अन्तर्निरीक्षण करता है। उसका मन स्फटिक की तरह उस समय निर्मल होता है। पण्डितमरण को समाधिमरण भी कहते हैं। संथारा ग्रहण करने के पूर्व साधक संलेखना करता है। संलेखना संथारे के पूर्व की भूमिका है। संलेखना के पश्चात् जो संथारा किया जाता है उसमें अधिक निर्मलता और विशुद्धता होती है।

संलेखना का महत्त्व

श्रमण और श्रावक दोनों के लिए संलेखना आवश्यक मानी गई है। श्वेताम्बर परम्परा में 'संलेखना' शब्द का प्रयोग हुआ है तो दिगम्बर पर

---

१ अन्तकृद्दशांग ३

मानता है अब बिल्ली झपटेगी नहीं। आँख मूँद लेने मात्र से बिल्ली कबूतर को छोड़ती नहीं है। इसी तरह यमराज भी मृत्यु को भुला देने वाले को छोड़ता नहीं है। वह तो अपना हमला करता ही है। अतः साधक कायर की भाँति मुँह नहीं मोड़ता अपितु वीर सेनानी की तरह मुस्कराते हुए मृत्यु का स्वागत करता है।

संलेखना : मृत्यु पर विजय पाने की कला

संलेखना मृत्यु पर विजय प्राप्त करने की कला सिखाती है। वह जीवन शुद्धि और मरण शुद्धि की एक प्रक्रिया है। जिस साधक ने मदन के मद को गलित कर दिया है जो परिग्रह पंक से मुक्त हो चुका है सदा सर्वदा आत्म चिन्तन में लीन रहता है वही व्यक्ति उस मार्ग को अपनाता है। संलेखना में सामान्य मनोबल वाला साधक, विशिष्ट मनोबल प्राप्त करता है। उसको मृत्यु असमाधि का नहीं समाधि का कारण है। एक संत कवि ने कहा है—जैसे कोई वधू डोले पर बैठकर ससुराल जा रही हो[1] तब उसके मन में अपार आल्हाद होता है वैसे ही साधक को भी परलोक जाते समय अपार प्रसन्नता होती है।

संलेखना और समाधिमरण

संलेखना और समाधिमरण ये दोनों पर्यायवाची शब्द हैं। आचार्य समन्तभद्र ने रत्नकरण्ड श्रावकाचार में प्रथम संलेखना का लक्षण बताया है और द्वितीय श्लोक में समाधिमरण का। आचार्य शिवकोटि ने 'सल्लेखना' और समाधिमरण को एक ही अर्थ में प्रयुक्त किया है। आचार्य उमास्वाति ने श्रावक और श्रमण दोनों के लिए संलेखना का प्रतिपादन कर संलेखना और समाधिमरण का भेद मिटा दिया है। आचार्य कुन्दकुन्द समाधिमरण श्रमण के लिए मानते हैं और संलेखना गृहस्थ के लिए।

संलेखना क्या शिक्षाव्रत है

श्रावक के द्वादश व्रतों में जो चार शिक्षाव्रत हैं उनमें आचार्य कुन्दकुन्द ने संलेखना को चौथा शिक्षाव्रत माना है।[2] आचार्य कुन्दकुन्द का अनुसरण करते हुए शिवार्यकोटि आचार्य देवसेन आचार्य जिनसेन आचार्य वसुनन्दि आदि ने संलेखना को चतुर्थ शिक्षाव्रत में सम्मिलित किया है। किन्तु

---

१ सजनि ! डोली पर हो जा सवार। लेने आ पहुँचे हैं कहार।

२ सामाइयं च पढमं बिइयं च तहेव पोसहं भणियं।
तइयं अतिहिपुज्जं चउत्थ सल्लेहणा अन्ते॥ —चारित्र पाहुड गाथा २५

आचार्य उमास्वाति ने संलेखना को श्रावक के द्वादश व्रतों में नहीं गिना है। उन्होंने संलेखना का अलग नियम के रूप में प्रतिपादन किया है। आचार्य समन्तभद्र, पूज्यपाद, आचार्य अमितगति, आचार्य वसुनन्दी, आचार्य सोमदेव, अमितगति, स्वामि कार्तिकेय प्रभृति अनेक आचार्यों ने आचार्य उमास्वाति के कथन का समर्थन किया है। इन सभी आचार्यों ने एक स्वर से इस सत्य-तथ्य को स्वीकार किया है कि शिक्षाव्रतों में संलेखना को नहीं गिनना चाहिए क्योंकि शिक्षाव्रतों में अभ्यास किया जाता है। जबकि संलेखना मृत्यु का समय उपस्थित होने पर स्वीकार की जाती है, उस समय अभ्यास के लिए अवकाश ही कहाँ है? यदि द्वादश व्रतों में संलेखना को गिनेंगे तो फिर एकादश प्रतिमाओं को धारण करने का अवसर ही कहाँ रहेगा इसलिए उमास्वाति का मानना उचित है।

श्वेताम्बर जैन आगम साहित्य और आगमेतर साहित्य में कहीं पर भी संलेखना को द्वादश व्रतों में नहीं गिना है। इसलिए समाधिमरण श्रमण के लिए और संलेखना गृहस्थ के लिए है यह कथन युक्तियुक्त नहीं है, क्योंकि आगम साहित्य में अनेक श्रमण श्रमणियों के द्वारा संलेखना ग्रहण करने के प्रमाण समुपलब्ध होते हैं।

संलेखना की व्याख्या

आचार्य अभयदेव ने स्थानांगवृत्ति में[1] संलेखना की परिभाषा करते हुए लिखा है—जिस क्रिया के द्वारा शरीर एवं कषाय को दुर्बल और कृश किया जाता है वह संलेखना है। ज्ञातासूत्र की वृत्ति[2] में भी इसी अर्थ को स्वीकार किया है। प्रवचनसारोद्धार में[3] "शास्त्र में प्रसिद्ध चरम अनशन की विधि को संलेखना कहा है"। निशीथचूर्णि व अन्य स्थलों पर संलेखना का अर्थ छीलना—कृश करना किया है।[4] शरीर को कृश करना द्रव्य संलेखना है और कषाय को कृश करना भाव संलेखना है।

संलेखना यह 'सत्' और 'लेखना' इन दोनों के संयोग से बना है। सत् का अर्थ है सम्यक् और 'लेखना' का अर्थ है कृश करना। सम्यक्

---

१ संलिख्यतेऽनया शरीर कषायादि इति संलेखना। —स्थानांग २, उ० २ वृत्ति

२ कषाय शरीर कृशतायाम्' —ज्ञाता० १ १ वृत्ति

३ आगमोक्तविधिना शरीराद्यपकर्षणम्। —प्रवचनसारोद्धार १३५

४ (क) संलेखन द्रव्यतः शरीरस्य भावतः कषायाणां कृशतापादनं सलेखसलेखनेति। —बृहद्वृत्ति पत्र

(ख) मूला० ३ ०८,—मूला० दर्पण पृ० ४२५

प्रकार से कृश करना । जन दृष्टि से काय और कषाय को कमबन्धन का मूल कारण माना है, इसीलिए उसे कृश करना ही सलेखना ह । आचाय पूज्यपाद ने[1] और आचाय श्रुतसागर ने[2] काय व कषाय को कश करने पर बल दिया ह । श्री चामुण्डराय ने 'चारित्रसार' मे लिखा ह—बाहरी शरीर का और भीतरी कषाया का क्रमश उनके कारणा को घटात हुए सम्यक प्रकार से क्षीण करना सलेखना ह ।[3]

पूव पष्ठा म हमने मरण के दो भद बताये हैं—नित्यमरण और तद्भवमरण । तदभवमरण को सुधारने के लिए सलेखना का वणन है । आचाय उमास्वाति ने लिखा है—मृत्यु काल आने पर साधक को प्रीतिपूवक सलेखना धारण करनी चाहिए ।[4] आचाय पूज्यपाद[5] आचाय अकलक[6] और आचाय श्रुतसागर[7] ने मारणांतिकी सलेखना जोषिता' म जोषिता का अथ 'प्रीतिपूवक' किया है । जिस सलेखना म प्रीति का अभाव है वह सलेखना सम्यक् संलेखना नही है । जब कभी मत्यु पीछा करती है उस समय सामान्य प्राणी की स्थिति अत्यन्त कातर हाती है जसे शिकारी द्वारा पीछा करने पर हरिणी घबरा जाती है । इसके विपरीत वीर योद्धा पीछा करने वाले योद्धाओ स घबराता नहा, आग बढकर उनसे जूझता है, वह जसे-तसे जीवन जीना पसन्द नही करता किन्तु दुगु णा को नष्ट कर जीवन जीना चाहता है । एक क्षण भी जीऊँ किन्तु प्रकाश करते हुए जीऊँ—यही उसके अन्तहृदय की आवाज हाती है । जा साधक जीवन के रहस्य को नही पहचानता है और न मृत्यु के रहस्य को ही पहचानता है उसका निस्तेज जीवन एक प्रकार स व्यक्तित्व का मरण ही है ।[8]

सलेखना के साथ मारणातिक विशेषण प्रयुक्त होता है। इससे अन्य तप कम से सलेखना का पाथक्य और वशिष्टय परिज्ञात हाता है ।

---

१ सम्यक्कायकषायलेखना —तत्त्वार्थसर्वार्थसिद्धि ७ २२ का भाष्य पृ० ३६३

२ सत् सम्यक् लेखना कायस्य कषायाणां च कृशीकरण तनूकरण ।

—तत्त्वार्थ वृत्ति ७-२२ भाष्य प० २४ भारतीय ज्ञानपीठ काशी

३ बाह्यस्य कायस्याभ्यन्तराणां कषायाणां तत्कारणहापनयाक्रमेण सम्यग्लेखना सलेखना ॥ २२ ॥

४ तत्त्वार्थसूत्र ७ २२ ५ तत्त्वार्थसर्वार्थसिद्धि ७-२२ पृ० ६३

६ तत्त्वार्थ राजवार्तिक ७ २२ ७ तत्त्वार्थ श्रुतसागरीया वृत्ति ७-२२

८ यज्जीवति तन्मरणं यन्मरण सास्य विश्रान्ति ।

काय सलेखना को बाह्य सलेखना कहते है और कषाय सलेखना को आभ्यतर सलेखना। बाह्य सलेखना म आभ्यतर कषायो को पुष्ट करने वाले कारणो को वह शन शनै कृश करता है। इस प्रकार सलेखना मे कषाय क्षीण होने से तन क्षीण होने पर भी मन मे अपव आनद रहता है।

सलेखना मे शरीर और कषाय को साधक इतना कृश कर लेता है जिससे उसके अन्तर्मानस म किसी भी प्रकार की कामना नही होती। उसके अनशन मे पूण रूप से स्थय आ जाता है। अनशन से शरीर क्षीण हो सकता है पर आयुकम क्षीण न हो और वह सबल हो तो अनशन दीघ काल तक चलता है, जसे दीपक मे तल और बाती का एक साथ ही क्षय होने से दीपक बुझता है वसे ही आयुष्यकम और देह एक साथ क्षय होने म अनशन पूण होता है।

सलेखना कब करनी चाहिए

आचाय समन्तभद्र[1] ने लिखा है प्रतीकार रहित असाध्य दशा को प्राप्त हुए उपसग, दुर्भिक्ष, जरा व रुग्ण स्थिति मे या अ य किसी कारण के उपस्थित होने पर साधक सलेखना करता है।

मूलाराधना म[2] सलेखना के अधिकारी का वणन करते हुए सात मुख्य कारण दिये हैं—

(१) दुश्चिकित्स्यव्याधि—सयम को परित्याग किये बिना जिस व्याधि का उपचार करना सभव नही हो ऐसी स्थिति समुत्पन्न होने पर।

(२) वृद्धावस्था—जो श्रमण-जीवन की साधना करने मे बाधक हो।

(३) मानव। देव और तियच सबधी कठिन उपसग उपस्थित होने पर।

(४) चारित्र विनाश के लिए अनुकूल उपसग उपस्थित किये जाते हो।

---

१ उपसर्गे दुर्भिक्षे जरसि रुजायां च नि प्रतीकारे।
धर्माय तनुविमोचनमाहु सल्लेखनामार्या ॥

—समीचीन धर्मशास्त्र ६ १ पृ० ११०

२ मूलाराधना २ ७१-७४।

(५) भयकर दुकाल मे शुद्ध भिक्षा प्राप्त होना कठिन हो रहा हो।

(६) भयकर अटवी मे दिग्विमूढ होकर पथभ्रष्ट हो जाय।

(७) देखने की शक्ति व श्रवणशक्ति और पर आदि से चलने की शक्ति क्षीण हो जाय।

इस प्रकार अन्य कारण भी उपस्थित हो जाने पर साधक अनशन का अधिकारी होता है।

वैदिक परम्परा और सलेखना

वैदिक परम्परा म सलेखना के ही अथ मे। प्रायोपवेशन" "प्रायोपवेश 'प्रायोपगमन, प्रायोपवशानका' शब्द व्यवहृत हुए हैं जिनका अथ है वह अनशन व्रत जो प्राण त्यागने के लिए किया जाय अन्न-जल त्याग करके बैठना।[1] वी० एस० आप्टे के शब्दकोश मे 'प्रायोपवेशन' म अन्न जल त्याग की स्थिति और मृत्यु की प्रतीक्षा पर बल दिया है।[2] पर मानसिक स्थिति के सम्बन्ध म कुछ भी चिन्तन नही है। जबकि सलेखना म केवल अन्न जल त्यागना ही पर्याप्त नही है अपितु अन्न जल के त्याग के साथ विवेक सयम और शुभसकल्प आदि अत्यन्त आवश्यक हैं। 'प्रायोपगमन' या 'पादोपगमन एक सदृश शब्द होने पर भी दोनो मे गहन अन्तर है। प्रथम का सीधा सम्बन्ध शरीर से है तो दूसरे का सम्बन्ध मानसिक विशुद्धि से है। मानसिक विशुद्धि होने पर शारीरिक स्थिरता, स्वाभाविक रूप से आ सकती है।

वैदिक पुराणो मे प्रायोपवेशन की विधि का उल्लेख है। मानव से जब किसी प्रकार का कोई महान पाप काय हो जाय या दुश्चिकित्स्य महारोग के उत्पीडित होने से देह के विनाश का समय उपस्थित हो जाय, तब ब्रह्मत्व की उपलब्धि के लिए या स्वग आदि के लिए प्रदीप्त अग्नि मे प्रवेश करे अथवा अनशन से देह का परित्याग करे। प्रस्तुत अधिकार सभी

---

१ सस्कृत शब्दाथ कौस्तुभ, पृष्ठ ११३०

२ Sitting down and abstaining from food thus awaiting the approach of death'

दिगम्बर आचार्य शिवकोटि ने अनशन, ऊनोदरी, भिक्षाचरी रस परित्याग, कायक्लेश, प्रतिसंलीनता इन छः बाह्य तपों को बाह्य संलेखना का साधन माना है।[1] संलेखना का दूसरा क्रम यह भी है कि प्रथम दिन उपवास और द्वितीय दिन वृत्तिपरिसंख्यान तप किया जाय।[2] बारह प्रकार की जो भिक्षु प्रतिमाएँ हैं उन्हें भी संलेखना का साधन माना गया है।[3]

काय संलेखना के इन विविध विकल्पों में आयंबिल तप उत्कृष्ट साधन है। संलेखना करने वाला साधक छट्ठ, अष्टम, दशम, द्वादश आदि विविध तप करके पारणे में बहुत ही परिमित आहार ग्रहण करे, या तो पारणे में आयंबिल करे अथवा कांजी का आहार ग्रहण करे।[4]

मूलाराधना में भक्तपरिज्ञा का उत्कृष्ट काल बारह वर्ष का माना है।[5] उनकी दृष्टि से प्रथम चार वर्षों में विचित्र कायक्लेशों के द्वारा तन को कृश किया जाता है। उसमें कोई क्रम नहीं होता। दूसरे चार वर्षों में विकृतियों का परित्याग कर शरीर को कृश किया जाता है।[6] नौवें और दसवें वर्ष में आयंबिल और विगयों का त्याग किया जाता है। ग्यारहवें वर्ष में केवल आयंबिल किया जाता है। बारहवें वर्ष में प्रथम छः माह में अविकृष्ट तप, उपवास बेला आदि किया जाता है।[7] बारहवें वर्ष के द्वितीय छः माह में विकृष्टतम तेला चौला आदि तप किये जाते हैं।

श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों ही परम्पराओं में संलेखना के विषय में यत्किंचित मतभेद है पर दोनों ही परम्पराओं का तात्पर्य एक सदृश है। मूलाराधना में आचार्य शिवकोटि ने लिखा है—संलेखना का जो क्रम प्रतिपादित किया गया है वही क्रम पूर्ण रूप से निश्चित हो, यह बात नहीं है। द्रव्य, क्षेत्र, काल और शारीरिक संस्थान आदि की दृष्टि से उस क्रम में परिवर्तन भी किया जा सकता है।[8]

---

१ (क) मूलाराधना ३, २०८ (ख) मूलाराधना दर्पण पृ० २४५
२ मूलाराधना ३, २४७
३ वही० ३, २४९
४ वही० ३, २५०-२५१
५ वही० ३, २५२
६ (क) मूलाराधना ३, २५३
(ख) निर्विकृति रसव्यञ्जनादिवर्जितमवग्रहीतौदनादिभोजनम्।
—मूलाराधना दर्पण ३, २५४ पृ० ४७१
७ मूलाराधना ३, २५४
८ वही० ३, २५२

सलेखना मे जो तपविधि का प्रतिपादन किया गया है, उससे यह नही समझना चाहिए कि तप ही सलेखना है। तप के साथ कषायो की मन्दता आवश्यक है। विषयो से निवृत्ति अनिवार्य है। तप कम के साथ ही अप्रशस्त भावनाओ का परित्याग और प्रशस्त भावनाओ का चितन परमावश्यक है।

आचार्य समन्तभद्र ने लिखा है कि सलेखना व्रत ग्रहण करने के पूर्व सलेखना व्रतधारी को विचारो की विशुद्धि के लिए सभी सासारिक सबधो से सम्बन्ध विच्छेद कर लेना चाहिए। यदि किसी के प्रति मन मे आक्रोश हो तो उससे क्षमायाचना कर लेनी चाहिए। मानसिक शान्ति के लिए साधक को सबसे पहले सद्गुरु के समक्ष निशल्य होकर आलोचना करनी चाहिए। आलोचना करते समय मन मे किंचित मात्र भी सकोच नहीं रखना चाहिए। अपने जीवन मे तन से, मन से और वचन से जो पाप कृत्य किये हो, करवाये हो या करने प्रेरणा दी हो उनकी आलोचना कर हृदय को विशुद्ध बनाना चाहिए। यदि आचार्य या सदगुरु का अभाव हो तो अपने दोषो का बहुश्रुत श्रावको एव साधर्मी भाइयो के समक्ष प्रकट कर देना चाहिए। पच परमेष्ठी का ध्यान करना चाहिए।[1]

आचार्य वीरनन्दी ने अपने 'आचारसार'[2] नामक ग्रथ मे लिखा है कि साधक को सलेखना की सफलता के लिए योग्य स्थान का चुनाव करना चाहिए जहाँ के राजा के मन मे धार्मिक भावना हो जहाँ की प्रजा के अन्तर्मानस मे धर्म और आचार्य के प्रति गहरी निष्ठा हो, जहा के निवासी आर्थिक दृष्टि से सुखी और समृद्ध हो, जहाँ का वातावरण तप साधना के लिए व्यवधानकारी न हो। साथ ही साधक को अपने शरीर तथा चेतन अचेतन किसी भी वस्तु के प्रति मोह ममता न हो। यहाँ तक कि अपने शिष्यो के प्रति भी मन मे किंचित मात्र भी आसक्ति न हो। वह परीषहो को सहन करने मे सक्षम हो। सलेखना की अवधि मे पहले ठोस पदार्थों का आहार मे उपयोग करे। उसके पश्चात पेय पदार्थ ग्रहण करे। आहार उस प्रकार का ग्रहण करना चाहिए जिससे शरीर के वात पित्त, कफ विक्षुब्ध न हो।

सलेखना ग्रहण करने के पूर्व इस बात की जानकारी आवश्यक है कि

---

१ रत्नकरण्ड श्रावकाचार श्लोक १२४ १२८

२ आचारसार, १०

जीवन और मरण की अवधि कितनी है। यदि शरीर में व्याधि हो गई हो पर जीवन की अवधि लंबी हो तो साधक को संलेखना ग्रहण करने का विधान नहीं है।

दिगम्बर परम्परा के तेजस्वी आचार्य समन्तभद्र को 'भस्म रोग' हो गया और उससे वे अत्यन्त पीडित रहने लगे। उन्होंने अपने गुरु से संलेखना की अनुमति चाही। पर उनके सद्गुरुदेव ने अनुमति नहीं दी क्योंकि उन्होंने देखा कि इनका आयु बल अधिक है इनसे जिन शासन की प्रभावना होगी।

संथारे की विधि

संलेखना के पश्चात संथारा किया जाता है। श्वेताम्बर आगम ग्रन्थों की दृष्टि से संथाराग्रहण विधि इस प्रकार है—सर्वप्रथम किसी निरवद्य शुद्ध स्थान में अपना आसन जमाये। उसके पश्चात वह दर्भ घास पराल आदि में से किसी का संथारा—बिछौना बिछाए। फिर पूर्व या उत्तर दिशा में मुँह करके बैठे। उसके पश्चात वह कहे 'अपच्छिम मारणंतिय संलेहणा-झूसणा आराहणाए आरोहेमि'—'हे भगवन! अब मैं अपश्चिम मारणान्तिक संलेखना का प्रीतिपूर्वक सेवन एवं आराधना करता हूँ'—इस प्रकार प्रतिज्ञा ग्रहण करे। उसके बाद नमस्कार महामन्त्र तीन बार, वन्दना, इच्छाकारेण, तस्स उत्तरी करणेण लोगस्स का पाठ व उसके पश्चात उपर का पाठ बोलकर तीर्थंकर भगवान की साक्षी से इस व्रत को ग्रहण करे। तदुपरान्त निवेदन करे कि—भगवन्! मैं अभी से सागारी या आगाररहित संथारा—भक्तप्रत्याख्यान करता हूँ—चारों आहार का त्याग करता हूँ। अठारह पापस्थानों का त्याग करता हूँ। मनोज्ञ, इष्ट कान्त प्रिय विश्वसनीय, आदेय अनुमत, बहुमत, भाण्डकरण्डक समान, शीत उष्ण, क्षुधा पिपासा आदि मिटाकर सदा जतन किया हुआ, हवा से, चोरादि से डांस मच्छर आदि से रक्षा किया हुआ, व्याधि पित्त कफ वात सन्निपातिक आदि से भी बचाया हुआ विविध प्रकार के स्पर्शों से सुरक्षित श्वासोच्छ्वास की सुरक्षा प्राप्त इस शरीर पर मैंने जो अब तक मोह ममत्व किया था उसे अब मैं अन्तिम श्वासोच्छ्वास तक त्यागता हूँ मुझे कोई भी चिन्ता न होगी। क्योंकि अब यह शरीर धर्म-पालन करने में समर्थ न रहा, बोझरूप हो गया आतंकित या अत्यन्त जीर्ण, अशक्त हो गया।

उपासकदशाग में आनन्द श्रमणोपासक बहुत वर्षों तक गृहस्थ

जीवन के सुखों का उपभोग करते रहे। जीवन की सान्ध्यवेला में वे स्वयं पौषधशाला में जाते हैं और दब्भ संथारय संथरइ—दर्भ का संथारा बिछाते हैं। धर्मप्रज्ञप्ति स्वीकार कर विविध तप कार्यों द्वारा उपासक प्रतिमाओं की आराधना करते हुए शरीर को कृश करते हैं। जिसे हम संथारा कहते हैं वह अनशन का द्योतक है। आगम साहित्य में संथारा का अर्थ दर्भ का बिछौना' है। संलेखना शब्द का प्रयोग "मासियाए संलेहणाए अत्ताणं झूसित्ता सट्ठिं भत्ताइं अणसणाए छेदेत्ता" इस सूत्र रूप में किया जाता है।

'प्रवचनसारोद्धार" में लिखा है—साधक द्वादशवर्षीय उत्कृष्ट संलेखना करके तदनन्तर कन्दरा, पर्वत, गुफा या किसी निर्दोष स्थान पर जाकर पादपोपगमन या भक्तप्रत्याख्यान या इंगिणीमरण को धारण करे।[1]

सारांश यह है कि संलेखना के पश्चात संथारा ग्रहण किया जाता था। यदि कोई आकस्मिक कारण आ जाता तो संलेखना के बिना भी संथारा ग्रहण कर समाधिमरण को वरण किया जाता था।

संथारा संलेखना का महत्त्व

संथारा संलेखना करने वाला साधक धर्मरूपी अमृत का पान करने के कारण संसार के सभी दुःखों से मुक्त हो जाता है, तथा निःश्रेयस और अभ्युदय के अपरिमित सुखों को प्राप्त करता है।[2] पण्डित आशाधरजी ने कहा है—जिस महासाधक ने संसार परम्परा को सम्पूर्ण रूप से उन्मूलन करने वाले समाधिमरण को धारण किया है उसने धर्मरूपी महान निधि को परभव में जाने के लिए साथ ले लिया है। इस जीव ने अनन्त बार मरण प्राप्त किया, किन्तु समाधि सहित पुण्यमरण नहीं हुआ। यदि समाधि सहित पुण्यमरण होता तो यह आत्मा संसाररूपी पिंजड़े में कभी भी बन्द होकर नहीं रहता।[3] भगवती आराधना[4] में कहा है—जो जीव एक ही पर्याय में समाधिपूर्वक मरण करता है वह सात-आठ पर्याय से

---

१ द्वादशवार्षिकीमुत्कृष्टां संलेखनां कृत्वा गिरिकन्दरं गत्वा उपलक्षणमेतत्, अन्यदपि षट्कायोपमर्द रहित विविक्त स्थानं गत्वा पादपोपगमनं वा शब्दाद् भक्तपरिज्ञां इंगिनीमरणं वा प्रपद्यते। —प्रवचनसारोद्धार द्वार १३४

२ रत्नकरण्ड श्रावकाचार, श्लोक १३०

३ सागार धर्मामृत ७ ५८ और ८ २७-२८ ४ भगवती आराधना

अधिक संसार में परिभ्रमण नहीं करता। आचार्य समन्तभद्र ने[1] कहा है—जीवन में आचरित तप का फल अन्त समय में गृहीत संलेखना है।

'मृत्यु महोत्सव' में लिखा है—जो महान् फल बड़े बड़े व्रतों, संयम आदि का कायक्लेश आदि उत्कृष्ट तप तथा अहिंसा आदि महाव्रतों को धारण करने से प्राप्त नहीं होता वह फल अन्त समय में समाधिपूर्वक शरीर त्यागने से प्राप्त होता है।[2]

'गोम्मटसार' में[3] आचार्य नेमिचन्द्र ने शरीर के त्याग करने के तीन प्रकार बताये हैं—च्युत, च्यावित और त्यक्त। अपने आप आयु समाप्त होने पर शरीर छूटता है वह च्युत है, विषभक्षण, रक्तक्षय, धातुक्षय, शस्त्राघात, संक्लेश, अग्निदाह, जल प्रवेश प्रभृति विभिन्न निमित्तों से जो शरीर छूटता है वह च्यावित है। रोग आदि समुत्पन्न होने पर तथा असाध्य मारणान्तिक कष्ट व उपसर्ग आदि उपस्थित होने पर विवेकयुक्त समभावपूर्वक जो शरीर त्याग किया जाता है, वह त्यक्त है। त्यक्त शरीर ही सर्वश्रेष्ठ है। इसमें साधक पूर्ण जागृत रहता है। उसके मन में संक्लेश नहीं होता। इसी मरण को संथारा, समाधिमरण, पण्डितमरण, संलेखनामरण प्रभृति विविध नामों से कहा गया है।

आगम साहित्य में अनेक स्थलों पर कडाई स्थविरों का वर्णन है। वे संथारा संलेखना करने वाले साधकों के साथ पर्वत आदि पर जाते हैं और जब तक संथारा करने वाले का संथारा पूर्ण नहीं हो जाता, तब तक वे स्वयं भी आहारादि ग्रहण नहीं करते।[4] दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थ भगवती आराधना[5] में भी इस प्रकार के साधकों का विस्तार से वर्णन है।

संलेखना के पाँच अतिचार

(१) इहलोकाशंसा प्रयोग—धन, परिवार आदि इस लोक संबंधी किसी वस्तु की आकांक्षा करना।

(२) परलोकाशंसा प्रयोग—स्वर्ग सुख आदि परलोक से सम्बन्ध रखने वाली किसी बात की आकांक्षा करना।

(३) जीविताशंसा प्रयोग—जीवन की आकांक्षा करना।

(४) मरणाशंसा प्रयोग—कष्टों से घबराकर शीघ्र मरने की आकांक्षा करना।

---

१ रत्नकरण्ड श्रावकाचार श्लोक १२३
२ शान्ति सोपान, श्लोक ८१
३ गोम्मटसार—कर्मकाण्ड ५६ ५७ ५८
४ ज्ञातासूत्र अ० १ सूत्र ४६
५ भगवती आराधना गा० ६५० ६७६

(५) कामभोगाशंसा प्रयोग—अतृप्त कामनाओं की पूर्ति के लिए मृत्यु के बाद काम भोगों की आकांक्षा करना।

सावधानी रखने पर भी प्रमाद या अज्ञान के कारण जिन दोषों के लगने की सम्भावना है उन्हें अतिचार कहा है। साधक इन दोषों से बचने का प्रयास करता है।

जैन परम्परा की तरह ही तथागत बुद्ध ने भी जीवन की तृष्णा और मृत्यु की इच्छा को अनैतिक माना है। बुद्ध की दृष्टि से भवतृष्णा और विभवतृष्णा क्रमशः जीविताशा और मरणाशा की द्योतक है। जब तक ये आशाएँ और तृष्णाएँ चिदाकाश में मंडराती रहती हैं वहाँ तक पूर्ण नैतिकता नहीं आ सकती। इसलिए इनसे बचना आवश्यक है।

साधक को न जीने की इच्छा करनी चाहिए न मरने की इच्छा करनी चाहिए। क्योंकि जीने की इच्छा में प्राणों के प्रति मोह झलकता है और मरने की इच्छा में जीने के प्रति अनिच्छा व्यक्त होती है। साधक को जीने और मरने के प्रति अनासक्त और निर्मोह होना चाहिए। एतदर्थ ही भगवान महावीर ने स्पष्ट शब्दों में कहा—साधक जीवन और मरण दोनों विकल्पों से मुक्त होकर अनासक्त बनकर रहे[1] और सदा आत्मभाव में रत रहे। वर्तमान जीवन के कष्टों से मुक्त होने के लिए और स्वर्ग के रंगीन सुखों को प्राप्त करने की कमनीय कल्पना से जीवन रूपी डोरी को काटना एक प्रकार से आत्महत्या है। साधक के अन्तर्मानस में न लोभ का साम्राज्य होता है न भय की विभीषिकाएँ होती हैं न मन में निराशा के बादल मंडराते हैं और न आत्म ग्लानि ही होती है। वह इन सभी द्वन्द्वों से विमुक्त होकर तथा निर्द्वन्द्व बनकर साधना करता है। उसके मन में न आहार के प्रति आसक्ति होती है और न शारीरिक विभूषा के प्रति ही। उसकी साधना एकान्त निर्जरा के लिए होती है।

संलेखना आत्महत्या नहीं है

जिन विज्ञों को समाधिमरण के सम्बन्ध में सही जानकारी नहीं है, उन विज्ञों ने यह आक्षेप उठाया है कि समाधिमरण आत्महत्या है। पर गहराई से चिन्तन करने पर यह स्पष्ट हुए बिना नहीं रहता कि समाधि

---

[1] जीवियं नाभिकंखेज्जा मरणं नाभिपत्थए।
दुहओ वि न सज्जिज्जा जीविए मरणे तहा॥ —आचारांग ८८४

मरण आत्म हत्या नहीं है। जिनका जीवन भौतिकता से प्रभित है जो जरा सा भी शारीरिक कष्ट सहन नहीं कर सकते, जिन्हें आत्मोद्धार का परिज्ञान नहीं है वे मृत्यु से भयभीत होते हैं, पर जिन्हें आत्म-तत्त्व का परिज्ञान है, जिन्हें दृढ़ विश्वास है कि आत्मा और देह दोनों पृथक हैं उन्हें देहत्याग के समय किंचित मात्र भी चिन्ता नहीं होती, जैसे एक यात्री को सराय छोड़ते समय मन में विचार नहीं आता।

समाधिमरण में मरने की किंचित मात्र भी इच्छा नहीं होती, इसलिए वह आत्म हत्या नहीं है। समाधिमरण के समय जो आहारादि का परित्याग किया जाता है उस परित्याग में मृत्यु की चाह नहीं होती, पर देह पोषण की इच्छा का अभाव होता है। आहार के परित्याग से मृत्यु हो सकती है किन्तु उस साधक को मृत्यु की इच्छा नहीं है। किसी व्यक्ति के शरीर में यदि कोई फोड़ा हो गया है डाक्टर उसकी शल्य चिकित्सा करता है। शल्य चिकित्सा से उसे अपार वेदना होती है। किन्तु वह शल्य चिकित्सा रुग्ण व्यक्ति को कष्ट देने के लिए नहीं, अपितु उसके कष्ट के प्रतीकार के लिए है वैसे ही संथारा संलेखना की जो क्रिया है वह मृत्यु के लिए नहीं पर उसके प्रतीकार के लिए है।[1]

एक रुग्ण व्यक्ति है। डाक्टर शल्य चिकित्सा के द्वारा उसकी व्याधि को नष्ट करने का प्रयास करता है। शल्य चिकित्सा करते समय डाक्टर प्रबल प्रयास करता है कि रुग्ण व्यक्ति बच जाय। उसके प्रयत्न के बावजूद भी यदि रुग्ण व्यक्ति मर जाता है तो डाक्टर हत्यारा नहीं कहलाता। इसी तरह संथारा संलेखना में होने वाली मृत्यु आत्महत्या नहीं हो सकती। शल्य चिकित्सा दैहिक जीवन की सुरक्षा के लिए है और संलेखना संथारा आध्यात्मिक जीवन की सुरक्षा के लिए है।

कितने ही समालोचक जैन दर्शन पर आक्षेप लगाते हुए कहते हैं कि जैन दर्शन जीवन से इन्कार नहीं करता वह जीवन से इनकार करता है। पर उनकी यह समालोचना भ्रान्त है। जैन दर्शन जीवन के मिथ्या मोह से इनकार अवश्य करता है। उसका स्पष्ट मन्तव्य है कि यदि जीवन जीने में कोई विशिष्ट लाभ है तुम्हारा जीवन स्व और परहित की साधना के लिए उपयोगी है तो तुम्हारा कर्त्तव्य है कि सभी प्रकार से जीवन की सुरक्षा करो। श्रुतकेवली भद्रबाहु ने स्पष्ट शब्दों में साधक को

---

१ मरणपडियारभूया एसा एवं च ण मरणनिमित्ता जह गंड छेअकिरिआणो आयविराहणा।
—दर्शन और चिन्तन पृ० ५३६ से उद्धृत

कहा—'तुम्हारा शरीर न रहेगा तो तुम सयम की साधना तप आराधना और मनो मथन किस प्रकार कर सकोगे ? सयम साधना के लिए तुम्हें देह की सुरक्षा का पूर्ण ध्यान रखना चाहिए। उसका प्रतिपालन आवश्यक ही नहीं अनिवार्य भी है।'[1] सयमी साधक के शरीर की समस्त क्रियाए सयम के लिए है। जिस शरीर से सयम की विराधना होती हो मन म सक्लेश पदा होता हो वह जीवन किस काम का ?

जन दशन के मूधन्य मनीषियो का यह स्पष्ट मन्तव्य रहा है कि वही जीवन आवश्यक है जिससे सयमी जीवन की शुद्धि होती है उस जीवन की सतत रक्षा करनी चाहिए। इसके विपरीत जिस जीवन से सयमी जीवन धुधला हाता हो उस जीवन से तो मरना अच्छा है। इस दष्टि स जन दशन जीवन से इनकार करता है किन्तु प्रकाश करते हुए सयम की सौरभ फलाते हुए जीवन से इनकार नही करता।

सलेखना व सथारे के द्वारा जो समाधिपूवक मरण हाता है उसम और आत्महत्या म मौलिक अन्तर है। आत्महत्या वह व्यक्ति करता है जो परिस्थितियो से उत्पीडित है उद्विग्न ह जिसकी मनोकामनाएँ पूण नही हुई हैं। वह सघर्षो से ऊबकर जीवन से पलायन करना चाहता ह या किसी से अपमान हाने पर, कलह होने पर, आवश्यकताओ की पूर्ति न होने पर पारस्परिक मनोमालिन्य हाने पर किसी के द्वारा तीखे व्यग कसने पर वह कुएँ मे कूदकर समुद्र म गिरकर, पट्रोल और तेल छिडककर, ट्रेन के नीचे आकर विष का प्रयाग कर फांसी आदि लगाकर या किसी शस्त्र से अपना जीवन समाप्त करता चाहता है। आत्महत्या म वीरता नहा किन्तु कायरता है, जीवन से भागने का प्रयास है। आत्महत्या के मूल म भय और कामनाए रही हुई हैं। उसम कषाय और वासना की तीव्रता है—उत्तजना है। पर समाधिमरण म सघर्षों से साधक भयभीत भयभीत नही होता। उसके मन मे कषाय वासना और इच्छाएँ नहीं हाती। जब साधक के सामने एक ओर देह और दूसरी आर सयम रत्न इन दो म से एक को चुनने का प्रश्न आता है तो साधक उस समय देह का नश्वर समझकर सयम की रक्षा के लिए सयम के पथ को अपनाता है।

---

१ सजमहेउ देहो धारिज्जइ सो कओ उ तदभावे।
सजम पाइनिमित्तं [illegible] परिपालणा इट्ठा। —ओघनियुक्ति ४७

जीवन की सा ध्य वेला म जब उसे मृत्यु साम ने खडी दिखाई देती है वह निभय होकर उस मृत्यु को स्वीकार करना चाहता है। उसकी स्वीकृति मे अपूव प्रस न्नता होती है। वह मानता है कि यह आत्मा अन त काल से कमजाल म फसी हुई है। उस जाल को तोडने का मुझे अपूव अवसर मिला है। वह सवत त्र स्वत त्र होने के लिए—अविनश्वर आनन्द को प्राप्त करने के लिए शरीर का त्यागता है। समाधिमरण मे सम्यदशन, सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र के द्वारा यह चिंतन करता है कि कमबन्धन का मूल कारण मिथ्यात्व है। मिथ्यात्व के कारण ही मैं देह और आत्मा को एक मानता रहा हू। जसे चना और चने का छिलका पथक हैं वसे ही आत्मा और देह पथक है। मिथ्यात्व से ही पर-पदार्थों मे रति होती है। ज्ञान आत्मा का निजगुण है। मिथ्यात्व के कारण वह निजगुण प्रकट नही हो सका है। आत्मा सही ज्ञान के अभाव म अन त काल से विश्व म परिभ्रमण कर रहा है। जब ज्ञान का पूण निखार होगा तब मुझे केवल ज्ञान प्राप्त होगा।

इस प्रकार वह सम्यग्दशन सम्यग्ज्ञान से आत्मा और देह की पथकता समझकर चारित्र और तप की आराधना करता है। उसकी आराधना म किसी भी प्रकार की आसक्ति और भय नही होता। इसलिए समाधिमरण आत्महत्या नही है।

सलेखना की विशेषताएँ

सक्षेप म सलेखना व समाधिमरण की निम्न विशेषताएँ हैं—

(१) जन धम की दृष्टि से शरीर और आत्मा ये दोनो पथक-पथक हैं। जसे—मौसम्बी और उसके छिलके।

(२) आत्मा निश्चय नय की दष्टि से पूण विशुद्ध है, वह सम्यग्दशन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र अन त आनन्द स युक्त है। जो शरीर हम प्राप्त हुआ है उसका मूल कम है। कम के कारण ही पुनज म है मत्यु है, व्याधियाँ हैं।

(३) दैनंदिन जीवन म जो धार्मिक साधना पर—तप पर बल दिया गया है उसका मूल उद्देश्य है आत्मा म जो कम मल है उस मल को दूर करना।

प्रश्न हो सकता है—कम आत्मा पर चिपके हुए हैं, फिर शरीर को कष्ट क्यो दिया जाय ? उत्तर है—घृत मे यदि मलिनता है तो उस मलिनता को नष्ट करने के लिए घृत को तपाया जाता है, किन्तु घृत अकेला नहीं तपाया जा सकता, वह बरतन के माध्यम स ही तपाया जा सकता

है। वसे ही आत्मा के मन को नष्ट करने के लिए शरीर का भी तपाया जाता है। यही कारण है कि सलेखना मे कषाय के साथ तन को भी कृश किया जाता है।

(४) जब शरीर म वृद्धावस्था का प्रकोप हो, रुग्णता हो अकाल आदि के कारण शरीर के नष्ट होने का प्रसग उपस्थित हो, उस समय साधक को सलेखना व्रत ग्रहण कर आत्मभाव मे स्थिर रहना चाहिए। सलेखना आत्मभाव म स्थिर रहने का महान् उपाय है।

(५) सलेखना व्रत ग्रहण करने वाले को पहले मृत्यु के सम्बन्ध मे जानकारी प्राप्त कर लेनी चाहिए। मृत्यु की जानकारी के लिए श्वेताम्बर आचार्यों ने अनेक उपाय बताये हैं। उपदेशमाला के आम्नाय आदि के द्वारा आयु का समय सरलता से जाना जा सकता है।

(६) सलेखना करने वाले साधक का मन वासना से मुक्त हो उसम किसी भी प्रकार की दुर्भावना नही होनी चाहिए।

(७) सलेखना करने से पूव जिनके साथ कभी भी और किसी भी प्रकार का वमनस्य हुआ हो उनसे क्षमा याचना कर लेनी चाहिए और दूसरा को क्षमा प्रदान भी कर देनी चाहिए।

(८) सलखना मे तनिक मात्र भी विषम भाव न हो मन मे समभाव की मदाकिनी सतत प्रवाहित रहे।

(९) सलेखना अपनी स्वेच्छा से ग्रहण करनी चाहिए। किसी के दवाव मे आकर अथवा स्वग आदि के सुखा की प्राप्ति की इच्छा से सलेखना सथारा नही करना चाहिए।

(१०) सलेखना करने वाला साधक मन मे यह न सोचे कि मेरी सलेखना सथारा लम्बे काल तक चले जिससे लोग मेरे दशन हेतु उपस्थित हो सकें मेरी प्रशसा हो और यह भी न सोचे कि मैं शीघ्र ही मृत्यु को वरण कर लू। सलेखना का साधक न जीने की इच्छा करता है न मरने की। वह तो सदा समभाव मे रहकर सलखना की साधना करता है। उसम न लोकैषणा होती है न वित्तैषणा होती है न पुत्रैषणा होती है।

सलेखना आत्म-बलिदान नहीं

शव और शाक्त सम्प्रदायो मे पशु बलि की भाँति आत्म बलिदान को अत्यधिक महत्त्व दिया गया है। किन्तु जन धम म उसका किंचित भी महत्त्व नही है। सलेखनायुक्त समाधिमरण आत्म-बलिदान नहीं है। आत्म बलिदान और समाधिमरण मे बहुत अन्तर है। आत्म बलिदान म

भावना की प्रबलता होती है जिसमें भावातिरेक से आत्म बलिदान नहीं होता जबकि समाधिमरण में भावातिरेक नहीं, किन्तु विवेक व वैराग्य की प्रधानता होती है।

यदि हम श्रमण-जीवन को सूर्य की उपमा से अलंकृत करें तो कह सकते हैं कि आर्हती दीक्षा ग्रहण करना श्रमण जीवन का उदय काल है, उसके पूर्व की वैराग्य-अवस्था साधक जीवन का उषाकाल है। जब साधक उत्कृष्ट तप-जप व ज्ञान की साधना करता है उस समय उसकी साधना का मध्याह्न काल होता है और जब साधक संलेखना प्रारंभ करता है तब उसका सन्ध्या काल होता है। सूर्योदय के समय पूर्व दिशा मुस्कराती है, उषा सुन्दरी का दृश्य अत्यन्त लुभावना होता है। उसी प्रकार सन्ध्या के समय पश्चिम दिशा का दृश्य भी मन को लुभाने वाला होता है। सन्ध्या की सुहावनी लालिमा भी दर्शक के हृदय को आनन्दविभोर बना देती है। वही स्थिति साधक की है। उसके जीवन में भी संयम का ग्रहण करते समय जो मन में उल्लास और उत्साह होता है वही उत्साह मृत्यु के समय भी होता है।

जिस छात्र ने वर्ष भर कठिन श्रम किया है वह परीक्षा देते समय घबराता नहीं है। उसके मन में एक प्रकार का उत्साह होता है। वह प्रथम श्रेणी में समुत्तीर्ण भी होता है वैसे ही जिस साधक ने निर्मल संयम की साधना जीवन भर की है। वह मृत्यु से घबराता नहीं उसके मन में एक आनन्द होता है। एक शायर के शब्दों में—

> "मुबारक जिन्दगी के वास्ते दुनिया को मर मिटना।
> हमें तो मौत में भी जिन्दगी मालूम देती है॥
> मौत जिसको कह रहे वो जिन्दगी का नाम है।
> मौत से डरना डराना कायरों का काम है॥

जैन आगम साहित्य उसका व्याख्या साहित्य और जैन कथा साहित्य इतिहास में संलेखनायुक्त समाधिमरण प्राप्त करने वाले हजारों साधक और साधिकाओं का उल्लेख है। तीर्थंकरों से लेकर गणधर, आचार्य, उपाध्याय व श्रमण श्रमणियाँ तथा गृहस्थ साधक भी समाधिमरण को वरण करने में अत्यन्त आनन्द की अनुभूति करते रहे हैं।

श्वेताम्बर परम्परा की तरह दिगम्बर परम्परा में भी समाधिमरण का गौरवपूर्ण स्थान रहा है। इस तरह सम्पूर्ण जैन परम्परा समाधिमरण को महत्त्व देती रही है।

भगवान महावीर के पश्चात द्वादश वर्षों के भयकर दुष्काना
सयम साधना म अनेक बाधाएँ उपस्थित होने लगी ता उन वीर श्रम
ने सलेखनायुक्त मरण स्वोकार कर ज्वलन्त आदश उपस्थित किया
विस्तार भय से हम यहाँ प्रागतिहासिक काल से आज तक की सूची नही दे र
हैं। यदि कोई शोधार्थी इस पर काय करे ता उसे बहुत कुछ सामग्री महज
रूप से उपलब्ध हो सकती ह ।

सलेखना और आत्मघात में अन्तर

सलेखना और आत्मघात मे शरीर-त्याग समान रूप से है पर शरीर
का कौन कसे और क्या छोड रहा है ? यह महत्त्वपूण बात है। सलेखना
म वही साधक शरीर का विसजन करता है जिसने अध्यात्म की गहन
साधना की है भेदविज्ञान की प्रक्रिया से जो अच्छी तरह स परिचित
है जिसका चितन स्वस्थ सुचिन्तित है। मैं केवल शरीर ही नही हू
किन्तु मेरा स्वतन्त्र अस्तित्व है। शरीर मरणशील है और आत्मा शाश्वत
है। पुद्गल और जीव ये दोनो पथक-पथक हैं। दोनो के अपने स्वतन्त्र
व्यक्तित्व हैं। पुद्गल कभी जीव नहा हो सकता और जीव कभी पुद्गल
नहा हो सकता। सलेखना जीव और पुद्गल जो एकमेक हो चके हैं उसे
पथक करने का एक सुयोजित प्रयास है।

सलेखना और आत्मघात इन दोनो म पर्याप्त अन्तर है। आत्म
घात करते समय व्यक्ति की मुखमुद्रा विकृत होती है उस पर तनाव होता
है उस पर भय की रेखाएँ झलकती रहती हैं किन्तु सलेखना म साधक
की मुख मुद्रा पूण शान्त होती है उसके चेहरे पर किसी भी प्रकार की
आकुलता व्याकुलता नहा हाती। आत्मघात करने वाले का स्नायु तन्त्र
तनावयुक्त हाता है जबकि सलेखना करने वाले का स्नायु तन्त्र तनावमुक्त
होता है। आत्मघात करने वाले व्यक्ति की मृत्यु आकस्मिक होती है जबकि
सलेखना करने वाले की मृत्यु जीवन दर्शन पर आधारित हाती है।
आत्मघात करने वाला जिस स्थान पर आत्मघात करना चाहता है उस
स्थान का वह प्रकट नही होने देना चाहता वह लुक छिपकर आत्मघात
करता है जबकि सलेखना करने वाला साधक किसी भी प्रकार उस स्थान
को नहा छिपाता है उसका स्थान पूव निर्धारित होता है सभी का ज्ञात
होता है। आत्मघात करने वाले की वत्ति मे कायरता है वह अपने कतव्य
से पलायन करना चाहता है जबकि सलेखना वाले की वत्ति मे प्रबल
पराक्रम है उसम पलायन नही वरन सत्य स्थिति को स्वीकार करना है।

आत्मघात और सलेखना के अन्तर को मनोविज्ञान द्वारा भी स्पष्ट समझा जा सकता है। मानसिक तनाव तथा अनेक सामाजिक विसंगति व विषमताओं के कारण आत्मघात की प्रवृत्तियाँ बढ रही हैं। भौतिकवाद की चकाचौंध में पले पुसे व्यक्तियों का यह कल्पना भी नहीं हो सकती कि शान्ति के साथ योजनापूर्वक मरण को वरण किया जा सकता है। सलेखना विवेक की धरती पर एक सुस्थित मरण है।

सलेखना म केवल शरीर ही नहीं किन्तु कषाय को भी कृश किया जाता है। उसम सूक्ष्म समीक्षण भी किया जाता है। जब तक शरीर पर पूरा नियंत्रण नहीं किया जाता, वहाँ तक सलेखना की अनुमति प्राप्त नहीं होती। मानसिक सयम सम्यक चिन्तन के द्वारा पूर्ण रूप से पा जाता है तभी सलेखना धारण की जाती है। सलेखना पर जितना गहन चिन्तन मनन जन मनीषियों ने किया है उतना अन्य चिन्तकों द्वारा नहीं हुआ है। सलेखना के चिन्तन का सम्बन्ध किसी प्रकार का लौकिक लाभ नहीं। उसका लक्ष्य पार्थिव समृद्धि या सासारिक सिद्धि भी नहीं है, अपितु जीवन दर्शन है। सलेखना जीवन के अन्तिम क्षणों में की जाती है पर आत्मघात किसी भी समय किया जा सकता है।

बौद्ध परम्परा मे

जन परम्परा की तरह बौद्ध परम्परा म समाधिमरण के सम्बन्ध में विशेष चिन्तन नहीं किया है। उन्होंने इस प्रकार के मरण का तक प्रकार से अनुचित ही माना है। बौद्ध साहित्य का पर्यवेक्षण करने पर कुछ ऐसे सन्दर्भ भी प्राप्त होते हैं जिसमें इच्छापूर्ण मृत्यु का वरण करने वाले साधकों की मृत्यु का समर्थन भी किया गया है। सीठ, सप्पदास गोधिक, भिक्षु वक्कलि[1] कुलपुत्र और भिक्षु छन्न[2] य असाध्य रोग से पीड़ित थे। उन्होंने आत्महत्याएं की। जब तथागत बुद्ध को उनकी आत्महत्या का परिज्ञान हुआ तो उन्होंने कहा—वे तृष्णा निर्लिप्त हैं। उन दोनों भिक्षुओं ने आत्महत्या करके परिनिर्वाण प्राप्त किया है।

आज भी जापानी बौद्धों म हाराकीरी (स्वेच्छा से शस्त्र द्वारा आत्महत्या) की प्रथा प्रचलित है जिसके द्वारा मृत्यु का वरण किया जाता

---

१ सयुत्त निकाय २१ २ ४ ५
२ (क) सयुत्त निकाय ३४ २ ४ ४
(ख) History of Suicide in India —Dr Upendra Thakur, p 107

है, पर वह समाधिमरण से पृथक है। बौद्ध परम्परा में शस्त्र के द्वारा तत्काल मृत्यु का वरण करना अच्छा माना गया है। जैन मनीषियों ने शस्त्र के द्वारा मृत्यु का वरण करना सर्वथा अनुचित माना है क्योंकि उसमें मरण की अभिलाषा विद्यमान है। यदि मरण की अभिलाषा न हो तो शस्त्र के द्वारा मरने की आतुरता नहीं होती।

वैदिक परम्परा में

वैदिक परम्परा के साहित्य का पर्यवेक्षण करने पर ज्ञात होता है कि उन्होंने आत्महत्या को महापाप माना है। पाराशर स्मृति में[1] वर्णन है—जो क्लेश भय घमण्ड, क्रोध, प्रभृति के वशीभूत होकर आत्महत्या करता है वह व्यक्ति साठ हजार वर्ष तक नरक में निवास करता है।

महाभारतकार[2] की दृष्टि से भी आत्महत्या करने वाला कल्याणप्रद लोक में नहीं जा सकता।

वैदिक ग्रन्थों में मरण के पाँच प्रकार प्ररूपित किये हैं—

(१) कालप्राप्तमरण—आयु पूर्ण होने पर जीव की जो स्वाभाविक मृत्यु होती है वह कालप्राप्तमरण है। संसार के सभी प्राणी इस मृत्यु को प्राप्त होते हैं।

(२) अनिच्छितमरण—प्राकृतिक प्रकोप वर्षा की अधिकता दुर्भिक्ष विद्युत्पात, नदी की बाढ़ वृक्ष, पर्वत आदि से गिरने पर जो मृत्यु होती है वह अनिच्छित मरण है।[3]

(३) प्रमादमरण[4]—असावधानी से निद्रावस्था में अग्नि जल शस्त्र रज्जु पशु आदि से मृत्यु हो जाना प्रमादमरण है। अनिच्छित और प्रमाद मरण में यही अन्तर है कि प्रमाद में मृत्यु अकस्मात होती है।

(४) इच्छितमरण—क्रोध आदि के कारण मरने की इच्छा से जाज्वल्यमान अग्नि में प्रवेश करना, पानी में डूब जाना पर्वत से गिरना,

---

१ अतिमानादतिक्रोधात्स्नेहाद्वा यदि वा भयात्।
उद्बध्नीयात्स्त्री पुमान्वा गतिरेषा विधीयते॥
पूयशोणितसम्पूर्णे अन्धे तमसि मज्जति।
षष्टिं वर्षसहस्राणि नरकं प्रतिपद्यते॥ —पाराशरस्मृति ४।१, २

२ महाभारत आदिपर्व १७९ २० ३ [illegible] १४११ [illegible]

४ (क) वही० १४११ (ख) [illegible] ३ १० [illegible] टीका—[illegible] से उद्धृत

तीव्र विष का भक्षण करना, शस्त्र से आघात करना आदि से मृत्यु का वरण करना।[1] इस इच्छामरण का वशिष्ठ धर्मसूत्र में विधान नहीं है। स्मृति ग्रन्थों में इस प्रकार मृत्यु का वरण करने वाले को अनुचित माना है। उसका श्राद्ध नहीं करना चाहिए।[2] उसके लिए अश्रुपात और शवदाहादि कर्म भी न करे।[3]

(५) विधिमरण—जिसका शास्त्रों ने अनुमोदन किया है। यह वह मरण है जो इच्छापूर्वक अग्निप्रवेश, जलप्रवेश आदि से होता है।

गौतम धर्मशास्त्र में मरण की आठ विधियाँ[4] प्रतिपादित हुई हैं—

(१) प्राय महाप्रस्थान[5]—महायात्रा कर प्राण विसर्जन करना।

(२) अनाशक[6]—अन्न जल का त्याग कर प्राण त्यागना।

(३) शस्त्राघात—शस्त्र से प्राण त्याग करना।

(४) अग्निप्रवेश—अग्नि में गिरकर प्राणों का परित्याग करना।

(५) विषभक्षण—विष सेवन से प्राणों का त्याग।

(६) जलप्रवेश—जल में प्रवेश कर प्राण त्याग।

(७) उद्बन्धन—गले में रस्सी आदि से फाँसी लगाकर प्राण त्याग।

(८) प्रपतन—पहाड़, वृक्ष प्रभृति से गिरकर प्राण त्याग।

प्रस्तुत सूत्र में 'प्रपतन' के पश्चात 'च' शब्द का प्रयोग हुआ है उससे अन्य मरण भी ग्रहण किये जा सकते हैं।[7] वशिष्ठ स्मृति में (९) लोष्ठ और (१०) पाषाण इन दो मरण विधियों का भी उल्लेख है।

रामायण और महाभारत में ऐसे अनेक प्रसंग हैं। जब किसी व्यक्ति को अपने मन की प्रतिकूल परिस्थिति का परिज्ञान हुआ अथवा प्रियजनों के वियोग के प्रसंग उपस्थित हुए, निराशा के बादल उनके जीवन में उमड़ घुमड़कर मंडराने लगे, युद्ध में पराजय की स्थिति समुत्पन्न हुई तब वे व्यक्ति मरण की इन विधियों को अपनाने की भावना व्यक्त करते हैं।

---

१ वशिष्ठ० २३, १५

२ याज्ञवल्क्यस्मृति ३ २०

३ अपरार्क द्वारा पृ० ८७७ पर उद्धृत।

४ प्रायोऽनाशक शस्त्राग्निविषोदकोद्बन्धनप्रपतनश्चेच्छताम् ॥

—गौतम धर्मशास्त्र, १४ ११

५ प्रायो महाप्रस्थानम् (मस्करि भाष्य)

६ (क) अनाशकमभोजन (मस्करि भाष्य)।

(ख) अनाशकमनशनम्।

—याज्ञ० ३१६ की मिताक्षरा टीका

७ चकारादन्यैरप्येवं भूतैरारमहननहेतुभिरिति द्रष्टव्यम्। —मस्करि भाष्य

उदाहरण के रूप में, सीता को जब राम वन में अपने साथ ले जाने के लिए तैयार नहीं हुए तो उसने इन्हीं विधियों द्वारा अपने प्राण त्यागने की भावना व्यक्त की।[1] इसी प्रकार पंचवटी में भी लक्ष्मण को राम की अन्वेषणा के लिए प्रेषित करने हेतु उत्प्रेरित करते हुए सीता ने इसी बात को दुहराया।[2] राम को वनवास देने के कारण भरत[3] अपनी माँ पर क्रुद्ध हुआ और उसने आवेश में माँ की भर्त्सना करते हुए कहा—या तो तुम धधकती हुई ज्वाला में प्रविष्ट हो जाओ या दंडकारण्य में चली जाओ या फाँसी लगाकर मर जाओ।

इन सभी उदाहरणों से ज्ञात होता है कि रामायण काल में ये उपाय अपनाये जाते थे। रामायण काल के पश्चात महाभारत काल में भी आत्मघात के लिए इन उपायों को अपनाने के लिए तैयारी देखी जाती है। दुर्योधन पांडवों को देखकर ईर्ष्याग्नि में जलता है। वह पांडवों के विराट वैभव को देख नहीं सकता। उनके वैभव को देखकर वह मन ही मन कुढ़ता है और अपने विचार शकुनि के सामने व्यक्त करता है कि मैं अग्नि में प्रविष्ट हो जाऊँगा, विष भक्षण कर लूँगा, जल में डूबकर प्राणों का त्याग कर दूँगा, किन्तु जीवित नहीं रह सकता।[4]

सती दमयन्ती नल के रूप और शौर्य पर इतनी मुग्ध हो गई कि उसने नल से स्पष्ट शब्दों में कहा—यदि आप मेरे साथ पाणिग्रहण नहीं करेंगे तो विष, अग्नि, जल या फाँसी द्वारा अपने प्राण समाप्त कर दूँगी।[5] अग्नि, जल आदि के द्वारा प्राणों का परित्याग करने वाला आत्महा, आत्महन्, आत्मत्यागी या आत्मघाती कहलाता है।[6]

वैदिक साहित्य में आत्मघात का निषेध करने वाले कुछ वचन प्राप्त होते हैं जिनमें यह बताया गया है कि आत्मघात करने वाला महापापी है। ईशावास्योपनिषद् में[7] आत्मघात करने वाले व्यक्ति परभव में कहाँ जाते हैं उसका चित्रण करते हुए कहा है—जो आत्मघात करते हैं वे मरने के

---

१ रामायण २ २९, २१ २ वही० ३ ४५ ३६ ३७

३ वही० २ ७४ ३३ ४ महाभारत २ ४७ ३१ ३ ७ ३६

५ वही० ३ ५६ ४

६ [illegible] आत्मानम्— —[illegible] २१ १५

७ असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः ।
तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः ॥ —ईशा० ३

पश्चात गहन अन्धकार से आवृत आसुरी नाम से पुकारी जानेवाली योनि मे जन्म ग्रहण करते हैं। उत्तररामचरित मे[1] लिखा है कि राजा जनक को सीतापहरण की सूचना मिलने पर उनका हृदय अत्यन्त व्यथित हो जाता है। व कहते हैं—मेरी वृद्धावस्था आ चुकी है जिससे मेरा शरीर रस और धातु से नीरस बन चुका है, तथापि यह निंदित शरीर अभी तक नहीं गिर रहा है। ऋषियो ने कहा कि अन्धकारयुक्त सूर्यरहित लोक उनके लिए नियुक्त है जो आत्मघात करते है। अत मुझसे आत्मघात भी किया नही जा रहा है। वाल्मीकि रामायण,[2] शाकर भाष्य,[3] बृहदारण्यकोपनिषद[4] और महाभारत[5] प्रभृति ग्रथो मे आत्मघात को अत्यन्त हीन, निम्न एव निन्द्य माना है। साथ ही जो आत्मघात करते हैं उनके सम्बन्ध मे भी मनुस्मृति[6] याज्ञवल्क्य,[7] उपनुस्मृति,[8] कूर्मपुराण,[9] अग्निपुराण[10], पाराशरस्मृति[11] प्रभृति ग्रथो म बताया है कि उन्हे जलाजलि नही देनी चाहिए। वे आत्मघाती अशौच और उदक क्रिया के पात्र नही होते हैं।

एक ओर आत्मघात को निन्द्य माना है, दूसरी ओर विशेष पापो के प्रायश्चित्त के रूप म आत्मघात का समर्थन भी किया गया है और उसमे आत्मशुद्धि होती है' ऐसा स्पष्ट प्रतिपादन किया गया है। जैसे मनुस्मृति म[12] ब्रह्मघाती, मदिरापायी ब्राह्मण गुरुपत्नीगामी के लिए उग्र शस्त्र अग्नि आदि के द्वारा आत्मघात करने से शुद्ध होता है—ऐसा विधान है। यात्र

---

१ उत्तररामचरित अक ४ श्लोक ३ व बाद का अश।

२ वाल्मीकि रामायण ८३ ८३

३ आत्मन अनन्तीर्ण्याप्यन्न । के ते जना येऽविद्वांस अविद्यान्तेच विद्यमानस्यात्मनस्तिरस्करणात् प्राकृत विद्वांसो आत्महन उच्यन्ते।

४ बृहदारण्यकोपनिषद् ४ ४ ११

५ महाभारत आदिपर्व १७८ २०

६ मनुस्मृति ५ ८९

७ याज्ञवल्क्य ३ ६

८ उपनुस्मृति ७ २   ९ कूर्मपुराण उत्त० २३-७३

१० अग्निपुराण १६० ३२   ११ पाराशर स्मृति ४ ४-७

१२ सुरा पाश्वा द्विजो मत्तोऽग्निवर्णां सुरां पिबेत्।
तया स काये निर्दग्धे मुच्यते किल्बिषात्तत ॥

—मनुस्मृति ११, ९० ९१ १०३ १०४

वल्क्य स्मृति[1], गौतमस्मति,[2] वशिष्ठ स्मति[3] आपस्तबीय धमसूत्र,[4] महाभारत[5] आदि म इसी तरह के शुद्धि के उपाय बताये गये हैं। सभी म आत्मघात का विधान है। इन विधाना के परिणामस्वरूप ही प्रयाग मे अक्षय वट से गगा मे कूदकर और काशी मे काशी करवट लेकर आत्मघात की प्रथाए प्रचलित हुइ। ये स्पष्ट आत्मघात ही थी, फिर भी इनसे स्वग प्राप्ति मानी जाती थी। पापी लोग इस प्रकार की मत्यु का वरण करते थ और यह समझते थे कि इससे उनके पापो का प्रायश्चित्त हो जायगा, वे शुद्ध हो जायेंग और स्वग के दिव्य सुख भोगेंग।

इस प्रकार मृत्युवरण को पवित्र और धार्मिक आचरण माना गया है। महाभारत के अनुशासनपव[6] वनपव[7] और मत्स्यपुराण[8] म अग्निप्रवेश, जलप्रवेश गिरिपतन विषप्रयोग या अनशन द्वारा देहत्याग करन पर ब्रह्मलोक अथवा मुक्ति प्राप्त हाती है, इस प्रकार का स्पष्ट विधान है।

प्रयाग, सरस्वती, काशी आदि जसे पवित्र तीथ स्थला मे आत्मघात करनेवाला संसार से मुक्त होता है। इन तीथ स्थलो म जलप्रवश या अन्य विधियो से मृत्यु प्राप्त करने के विधान भी मिलत हैं। महाभारत मे स्पष्ट कहा है—वेद वचन से या लाक वचन से प्रयाग मे मरने का विचार नहा त्यागना चाहिए।[9] इसी प्रकार कूमपुराण[10], पद्मपुराण[11] स्कदपुराण[12], मत्स्यपुराण[13], ब्रह्मपुराण[14], लिगपुराण[15], अग्निपुराण[16] मे स्पष्ट

---

१ याज्ञवल्क्य स्मृति ३, २४८ ३ २५३ २ गौतम स्मति २३ १

३ (क) वशिष्ठ स्मृति २०, १३ १४

(ख) आचाय-पुत्र शिष्य भार्यासु चवम् —वशिष्ठ स्मति १२ १५

४ आपस्तबीय धमसूत्र १९ २५ १ २ ३ ४ ५ ६-७

५ महाभारत—अनुशासन पर्व, अ० १२

६ महाभारत अनुशासन पर्व २५ ६१ ६४ ७ वही० वनपव ८५ ८३

८ मत्स्यपुराण १८६ ३४ ३५

९ न वेदवचनात् तात न लोकवचनाऽपि।
मतिरुत्क्रमणीया त प्रयाग मरण प्रति॥ —महाभारत वनपर्व ८५ ८३

१० कूमपुराण १ ३६ १४७ १, ३७१ ४,

११ पद्मपुराण आदिकाण्ड ४४ ३ १ १६ १४ १५ १२ स्कदपुराण २२ ७६

१३ मत्स्यपुराण १८६ ३४ ३५

१४ ब्रह्मपुराण ६८ ७५ १७७ १६ १७ १७७ २५

१५ लिगपुराण ९२ १६८ १६९ १६ अग्निपुराण १११ १३

प्राचीन काल में यूनान में प्लेटो और अरस्तू ने सती प्रथा का विरोध किया था। आधुनिक काल में भारत में राजा राममोहन राय के विशेष प्रयत्न से तत्कालीन ब्रिटिश सरकार ने सती प्रथा के विरुद्ध कानून बनाकर इसका अन्त कर दिया था। रूस में १७-१८वीं सदी में धार्मिक उद्देश्य से पूरे के पूरे परिवार अपने को जला देते थे। इस प्रथा का भी विज्ञ व्यक्तियों ने अत्यधिक विरोध किया था।

इस्लाम धर्म में स्वच्छिक मृत्यु का किंचित मात्र भी समर्थन नहीं है। उनका मानना है—खुदा की अनुमति के बिना निश्चित समय से पूर्व किसी का भी मरना ठीक नहीं है। इसी प्रकार ईसाई धर्म में भी आत्महत्या का विरोध किया गया है। ईसाइयों का मानना है—न तुम्हें दूसरों को मारना है और न स्वयं मरना है।[1]

वैदिक परम्परा के ग्रन्थों में एक ओर जहाँ आत्मघात को महापाप बताया है वहाँ दूसरी ओर आत्मघात से स्वर्ग प्राप्त होता है—ऐसा भी स्पष्ट विधान किया गया है। उदाहरणार्थ वशिष्ठ ने कहा—पर्वत से गिरकर प्राण त्याग करने से राज्य लाभ मिलता है तथा अनशन कर प्राण त्यागने से स्वर्ग की उपलब्धि होती है।[2] व्यास ने कहा—जल में डूबकर प्राण त्याग करने वाला सात हजार वर्षों तक, अग्नि में प्रविष्ट होने वाला चौदह हजार वर्ष तक फल प्राप्त करता है अनशन कर प्राण त्यागने वाले के लिए तो फल प्राप्ति के वर्षों की संख्या की परिगणना नहीं की जा सकती।[3] महाभारत के अनुशासनपर्व[4] में बताया है—जो आमरण अनशन का व्रत लेता है उसके लिए सर्वत्र सुख ही सुख है। अनशन से स्वर्ग की उपलब्धि होती है।

समीक्षा

वैदिक परम्परा में मरण की विविध विधाओं का वर्णन है। उनमें परस्पर विरोधी कथन भी उपलब्ध होते हैं। कहीं पर आत्मघात को निकृष्ट माना गया और उसके लिए वैदिक परम्परा मान्य जो भी धार्मिक अनुष्ठान है उनका भी निषेध किया गया, दूसरी ओर आत्मघात की प्रवृत्तियों को

---

१ Thou shalt not kill neither thyself nor another

२ भृगुपतनाग्न्यनाशकात्।

३ याज्ञ० ३ ६ की टीका में अपरार्क द्वारा उद्धृत।

४ महाभारत—अनुशासन पर्व ७ १८ १९

प्रा माहन भी दिया गया है। जिस प्रकार जन परम्परा मे समाधिमरण का उल्लेख है कुछ इमी प्रकार का मिलता-जुलता वणन वदिक परम्परा म भी कहीं-कहीं पर उपलब्ध हाता है। पर उस वणन की अपेक्षा जल-प्रवेश, अग्नि प्रवेश, विप भक्षण, गिरिपतन, शस्त्राघात द्वारा मरने के वणन अधिक हैं।

इस प्रकार जो मृत्यु का वरण किया जाता है उसमें मृत्यु इच्छा प्र ुख रहती है। कपाय की भी तीव्रता रहती है। इसलिए भगवान महावीर ने इस प्रकार के मरण का वालमरण माना और इस प्रकार मरने के लिए आगम माहित्य म स्पष्ट रूप मे इनकारी की। भगवान महावीर का मानना था कि इम प्रकार जो मृत्यु का वरण किया जाता है उसम समाधि का अभाव रहता है। भगवान महावीर ने युद्ध म मरने वाले को स्वग प्राप्ति की मान्यता का भी खडन किया। उन्होंने अनक अन्धविश्वासा पर प्रहार किया।

समाधिमरण एक मूल्यांकन

जन धम सामान्य स्थिति म चाहे वह स्थिति लौकिक हो धार्मिक हो या अन्य किसी भी प्रकार की हा मरने के लिए अनुमति नहीं देता। किन्तु जव साधक के समक्ष तन और आध्यात्मिक सदगुण इन दाना मे से किसी एक का ग्रहण करने की स्थिति उत्पन्न हा ता वह देह का परित्याग करके भी आध्यात्मिक सद्गुणा का अपनाता है। जिस प्रकार एक महिला अपने सतीत्व नष्ट हान के प्रसग पर सवप्रथम अपने सतीत्व की रक्षा करती है भले ही उसे शरीर का परित्याग करना पड। उमी प्रकार साधक अपने शरीर का माह त्यागकर अपन आत्मिक सद्गुणा और सयम की रक्षा करता है। जन धम का स्पष्ट विधान है—जव तक तन की और आध्यात्मिक जीवन की रक्षा हाती है ता साधक दाना की ही रक्षा करे और दोना की रक्षा करने का वह पूण ध्यान रखे। सामान्य मानव और साधक मे यही अन्तर है कि साधारण मनुष्य का ध्यान देह पर केन्द्रित होता है वह देह के लिए ही सतत प्रयास करता है किन्तु साधक देह की अपेक्षा सयम को साधना का अधिक लक्ष्य रखता है सयम की साधना के लिए ही वह देह का पालन-पोषण करता है और जव वह देखता है कि शरीर मे भयकर व्याधि उत्पन्न हो चुकी ह दुष्काल मे स्वय के साथ ही दूसरे व्यक्ति भी परेशान हो रहे हैं ता नतिकता की सुरक्षा के लिए वह देह विसजन के लिए समाधिमरण को स्वीकार करता है।

श्रीमद्भागवत में राजा परीक्षित को श्री शुकदेव ने कहा—वह जीवन जिस काम का जिसमें आध्यात्मिक सद्गुणों का विनाश होता है। उस जीवन से मरण अच्छा है।

गांधीवादी विचारधारा के समर्थक काका कालेलकर का अभिमत है—जब हम ऐसा अनुभव करें कि जीवन का प्रयोजन समाप्त होने वाला है तो हम मृत्यु का तिरस्कार न कर उस आदरणीय अतिथि समझ कर उसका स्वागत करना चाहिए। किन्तु रोते और बिलखते हुए मृत्यु का वरण करना कायरता है। प्रसन्नता के साथ मृत्यु का स्वीकार करना एक नैतिक आदर्श है। महात्मा गांधी ने भी इस प्रकार की मृत्यु को श्रेष्ठ मृत्यु माना है।

हम पूर्व पृष्ठों में विस्तार के साथ बता चुके हैं कि भारत के तत्त्वदर्शी महर्षियों ने केवल जीने की कला पर ही प्रकाश नहीं डाला किन्तु उन्होंने इस प्रश्न पर भी गहराई से चिन्तन किया कि किस प्रकार मरना चाहिए। जीवन-कला से भी मृत्यु-कला अधिक महत्त्वपूर्ण है। यह नैतिक जीवन की कसौटी है। जीना जीना यदि अध्ययन-काल है तो मृत्यु परीक्षा काल है। जो व्यक्ति परीक्षा काल में जरा सी भी असावधानी करता है, वह परीक्षा में अनुत्तीर्ण हो जाता है। मृत्यु के समय जिस प्रकार की भावना होगी उसी स्थान पर जीव उत्पन्न होता है। जैन कथा साहित्य में आचार्य स्कन्दक का वर्णन आता है। वे अपने ५०० शिष्यों के साथ दण्डकपुर जाते हैं। वहाँ के राजा दण्डक के द्वारा मृत्यु का उपसर्ग उपस्थित होने पर अपने ५०० शिष्यों को समभाव में स्थिर रहकर प्राण त्यागने की प्रेरणा देते हैं। पर स्वयं समभाव में स्थिर न रह सके जिसके कारण वे अग्निकुमार देव बने। अन्तिम समय की भावना अपना प्रभाव दिखाती है। वैदिक परम्परा के ग्रंथों में भी जडभरत का आख्यान है। उसमें यही बताया है भरत को हरिण पर आसक्ति रहने से उसे पशु योनि में जन्म ग्रहण करना पड़ा।

इन सभी अवतरणों से यह सिद्ध है कि मृत्यु के समय अन्तर्मानस में समभाव रहना चाहिए और समभाव रहने के लिए ही संलेखना का विधान है। संलेखना और संथारा आध्यात्मिक उत्कर्ष का मूल मंत्र है।

श्रमण और श्रावक दोनों के लिए संलेखना और संथारे का उल्लेख

---

१ सम्भावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते। —गीता० २, ३४

है। श्रावक द्वादशव्रतों का पालन करने के पश्चात् एकादश प्रतिमाओं को धारण करता है और आयुष्य बल क्षीण होने से पूर्व संलेखना करके शान्ति और स्थिरता से देह त्याग करता है। यदि कोई श्रावक शारीरिक शैथिल्य के कारण प्रतिमाओं को धारण नहीं कर सकता है, तो भी वह अन्तिम समय में संलेखना करता है। संलेखना आत्मा को शुद्ध करने की अन्तिम प्रक्रिया है। यह व्रत नहीं, व्रतान्त है। संलेखना एक प्रकार से प्राणान्त अनशन है। संलेखना निर्दोष साधना है। यदि उसमें भी दोष लग जाय तो उसी समय आलोचना कर चित्त की विशुद्धि करनी चाहिए।

उपर्युक्त विवेचन से संलेखना का महत्त्व स्पष्ट है। यह जीवन भर के व्रत नियम और धर्म-पालन की कसौटी है। जो साधक इस कसौटी पर खरा उतरता है वह अपने मानव जीवन के लक्ष्य मोक्ष के अधिक समीप पहुँच जाता है, फिर मुक्ति रूपी मंजिल उससे दूर नहीं रहती और वह उसे यथाशीघ्र प्राप्त कर लेता है।

□

मृत्युकल्पद्रुमे प्राप्ते येनात्मार्थो न साधित ।
निमग्नो जन्मजम्बाले स पश्चात् किं करिष्यति ॥

जीर्णं देहादिक सर्वं नूतन जायते यत ।
स मृत्यु किं न मोदाय सतां सातोत्थितिर्यथा ॥

सुख दुःख सदा वेत्ति देहस्थश्च स्वयं व्रजेत ।
मृत्युभीतिस्तदा कस्य जायते परमार्थत ॥

ज्ञानिनोऽमृतसंगाय मृत्युस्ताप करोति सन् ।
आमकुम्भस्य लोकेऽस्मिन् भवेत्पाक विधिर्यथा ॥

तप्तस्य तपसश्चापि पालितस्य व्रतस्य च ।
पठितस्य श्रुतस्यापि फल मृत्यु समाधिना ॥
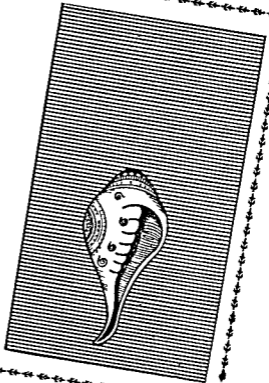
श्रमण व्रत एव समाचारी

१. जीवन का समग्र विवेक : अहिंसा

विश्व के जितने भी धर्म दर्शन और सम्प्रदाय हैं उन सभी में अहिंसा के सम्बन्ध में चिन्तन किया गया है। चाहे वैदिक धर्म हो बौद्ध धर्म हो यहूदी पारसी ताओ, कन्फ्यूशियस ईसाई इस्लाम शिन्तो सिख और जैन धर्म हो—सभी ने अहिंसा के महत्त्व को स्वीकार किया है। किसी ने अहिंसा का आंशिक रूप प्रस्तुत किया तो किसी ने उस पर सर्वांग रूप से चिन्तन किया। हम यहाँ उन सभी मुख्य मनीषियों के चिन्तन का नवनीत प्रस्तुत कर रहे हैं जिससे यह परिज्ञात हो सके कि अहिंसा की उदात्त भावना प्रागैतिहासिक काल से ही विश्व के विविध अंचलों में किस रूप में फैली हुई थी और अहिंसा धर्म का विकास किस प्रकार हुआ ?

जीवन का संगीत अहिंसा

अहिंसा जीवन का एक सरस संगीत है। उसकी सुमधुर स्वर लहरियाँ जन-जन के जीवन को ही नहीं वरन् सम्पूर्ण प्राणी-जगत को आनन्दविभोर बना देती हैं। अहिंसा जीवन को सरसब्ज बनाने वाली एक महा सरिता है। जब वह सरिता मन, वचन और काया में इठलाती हुई कल-कल छल छल करती हुई प्रवाहित होती है तब मानव के जीवन में स्नेह-सद्भावना की हरियाली लहलहाने लगती है अनुकम्पा के अंकुर फूटने लगते हैं दया के सुरभित सुमन खिलने लगते हैं और विश्वमैत्री के मधुर फल जन-जन के मन को आकर्षित करने लगते हैं। अहिंसा से जीवन रमणीय एवं दर्शनीय बनता है।

अहिंसा की विमल धाराएं प्रान्तवाद, भाषावाद, पंथवाद और सम्प्रदायवाद के क्षुद्र घेरे में कभी आबद्ध नहीं हुई हैं और न किसी व्यक्ति विशेष की निजी धरोहर ही रही हैं। वह विश्व का सर्वमान्य सिद्धान्त है मानवता का उज्ज्वल पृष्ठ है। इसीलिए भगवान महावीर ने अहिंसा को भगवती कहा है।[1]

---

१ एसा सा भगवती'। —प्रश्नव्याकरण १/१

—जहाँ हिंसा, वहीं विनाश का नाम शेष है किन्तु वह महामुनि नेमिकुमार के जीवन प्रसंगों से भी अहिंसा का आसार है विराट है। मानव समुदाय ही नहीं विश्व के किनारे भी यह अमर वाणी है न जाने इतनी शताब्दियों से गूंज रहे हैं। जहाँ अहिंसा है वहाँ जीवन है। व्यावहारिक दृष्टि से विचार करें तो अहिंसा के अभाव में जीवन का सद्भाव ही असम्भव रहा है।

जैन दृष्टि से यह विश्व अनादि है। अनादि काल से प्राणी जगत है इसलिए अहिंसा भी अनादि है। अहिंसा और जीवन का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है।

अहिंसा की अमोघ शक्ति

अहिंसा एक विराट शक्ति है। अनादि काल से मानव अपने जीवन में विविध रूपों में उसका प्रयोग करता रहा है। मानव की कठिन से कठिनतम समस्याओं को अहिंसा ने सुलझाया है, उसके मार्ग को प्रशस्त किया है। अहिंसा वह अमोघ शक्ति है जिसके सम्मुख संसार की सभी संहारक शक्तियाँ कुण्ठित हो जाती हैं। अहिंसा संस्कृति का प्राण है, धर्म और दर्शन का मूल आधार है। इसलिए सभी मूर्धन्य मनीषियों ने अहिंसा की महत्ता और उपयोगिता को स्वीकार किया है और उसके स्वरूप पर प्रकाश डाला है।

वैदिक धर्म में अहिंसा

वेदों में अहिंसा

वैदिक परम्परा का आद्य स्रोत वेद हैं। वे मन्त्रद्रष्टा ऋषियों की वाणी का अद्भुत संकलन हैं। ऋषियों ने प्रार्थना के रूप में अहिंसा शब्द का व्यवहार किया है।[1] ऋषि कहता है— हम अभिगमन (सद्गति) प्राप्त करें। मित्रभूत या मित्र के द्वारा दिखाये हुए मार्ग से हम गमन करें। अहिंसक मित्र का प्रिय सुख हम घर में प्राप्त हों।[2]

अहिंसा अत्यन्त हितकारी है। वह सभी के साथ मैत्री सम्बन्ध संस्थापित करती है, आत्मसाम्य की विराट दृष्टि प्रदान करती है

---

१ अहिंसन्ती —ऋग्वेद १० १२ १

अहिंसन्तीरमानया —अथर्ववेद ६ ८ १

२ यन्नूनमश्यां गतिं मित्रस्य यायां पथा।
अस्य प्रियस्य शर्मण्यहिंसानस्य सश्चिरे ॥ —ऋग्वेद ५ ६४.

ऋषि कहता है—"हे वरुण ! यदि हम लोगो ने उस व्यक्ति के प्रति अपराध किया है जो हमे प्रेम करता था, यदि उसके प्रति कोई भूल हो गई है जो हमारा मित्र, साथी या पडोसी है, या किसी अज्ञात व्यक्ति के प्रति कोई घात किया हो तो हमारे अपराधो को क्षमा करो।"[1] मानव के कर्त्तव्य पर प्रकाश डालते हुए ऋषि ने कहा—वह दूसरो की रक्षा करे।[2]

यजुर्वेद का ऋषि प्रार्थना के स्वर मे कहता है—मैं सभी को मित्र के समान देखू। परस्पर सभी एक दूसरे को मित्र के समान देखे।[3] शाति की भावना को व्यापक बनाते हुए ऋषि कामना करता है—पृथ्वीलोक से लेकर द्युलोक अन्तरिक्ष लोक तक सभी को शान्ति प्राप्त हो जल, औषधियाँ वनस्पतियाँ और जितने भी देवता व ब्रह्म है वे सभी को शान्ति प्रदान करें। विश्व ही पूर्ण रूप से शान्तिमय हो।'[4]

अथर्ववेद मे ऋषि कहते हैं—हम सभी एक साथ इस प्रकार प्रार्थना करे जिससे कि परस्पर सुमति और सद्भाव का प्रसार हो।[5] 'भगवन ! आपकी अतीव कृपा से मैं सभी मानवो के प्रति, चाहे मैं उनसे परिचित हूँ अथवा नही, सदभाव रखूँ।'[6]

इस प्रकार स्पष्ट है कि वेदयुग के ऋषियो की वाणी मे अहिंसा की स्वर-लहरियाँ झनझना रही हैं। मानव मात्र तक ही नही, उनकी अहिंसा की विराट भावनाएँ सभी प्राणियो के प्रति व्यक्त हुई हैं। मत्री

---

१ अयम्य वरुण मित्र्य वा सखाय वा सदमिद् भ्रातर वा।
वेश वा नित्य वरुणारण वा यत् सीमागश्चकृमा शिश्रथस्तत्।
—ऋग्वेद० ५ ८५ ७

२ पुमान् पुमांस परिपातु विश्वत। —ऋग्वेद ६ ७५ १४

३ मित्रस्याह चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्ष।
मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे॥ —यजुर्वेद ३६ १८

४ द्यौ शान्तिरन्तरिक्ष शान्ति पृथ्वी
शान्तिराप शान्तिरोषधय शान्ति।
वनस्पतय शान्तिर्विश्वेदेवा शान्ति—
ब्रह्म शान्ति सर्व शान्ति शान्तिरेव
शान्ति सा मा शान्तिरेधि॥ —यजुर्वेद ३६ १७

५ तत्कृण्मो ब्रह्म वो गृहे सज्ञान पुरुषेभ्य। —अथर्ववेद ३ ३० ४

६ यांश्च पश्यामि यांश्च न तेषु मा सुमतिं कृधि। —अथर्ववेद १७ १, ७

भावना का विकास उत्तरोत्तर व्यापक होता गया है। अहिंसा और मैत्री—ये दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू हैं।

उपनिषद् साहित्य में अहिंसा

वेदों के पश्चात उपनिषद् साहित्य का निर्माण हुआ। वेदों में जिन विषयों पर विचार चर्चाएँ नहीं हो सकी या संक्षेप में चर्चाएँ हुई उनकी चर्चाएँ और विस्तार उपनिषदों में प्राप्त होते हैं। छान्दोग्योपनिषद् में ऋषि ने कहा—'जो आत्मा वेदों का अध्ययन करता है सम्पूर्ण इन्द्रियों को अपने अन्तःकरण में संस्थापित करता है, शास्त्र की आज्ञा का पालन करता हुआ अन्य प्राणियों की हिंसा नहीं करता है आयु की परिसमाप्ति तक इस प्रकार आचरण करता है वह ब्रह्मलोक को प्राप्त होता है वह पुनः कभी संसार में नहीं लौटता।"[1]

छान्दोग्योपनिषद में ही आत्म यज्ञ की दक्षिणा के सम्बन्ध में चिन्तन करते हुए कहा गया है—तप, दान, आर्जव (सरलता), अहिंसा और सत्य—ये आत्म यज्ञ की दक्षिणा हैं।'[2] प्राणाग्निहोत्रोपनिषद[3] और आरुणिकोपनिषद[4] में अहिंसा, दया, शांति आदि सद्गुण अग्निहोत्र करने वाले व्यक्ति की पत्नी की कमी की पूर्ति करते हैं। ये सद्गुण जिस व्यक्ति में अंगड़ाई ले रहे हो और यदि उसकी पत्नी नहीं हो तथापि वह यज्ञ कर सकता है। उन्होंने अहिंसा को यज्ञ का इष्ट कहा है। अहिंसा व्रत की परिपूर्णता के लिए ही यज्ञ आदि किये जाते हैं। शाण्डिल्योपनिषद्[5] में दस यम की चर्चा करते हुए अहिंसा को प्रथम स्थान दिया है। यह यमों में प्रथम यम है।

---

१ तद्धैतद् ब्रह्मा प्रजापतये उवाच प्रजापतिर्मनवे मनुः प्रजाभ्य आचार्यकुला द्वेदमधीत्य यथाविधान गुरोः कर्मातिशेषेणाभिसमावृत्य कुटुम्बे शुचौ देशे स्वाध्यायमधीयानो धार्मिकान्विदधदात्मनि सर्वेन्द्रियाणि सम्प्रतिष्ठाप्याहिंसन्सर्व भूतान्यन्यत्र तीर्थेभ्य स खल्वेवं वर्तयन्यावदायुषं ब्रह्मलोकमभिसम्पद्यते न च पुनरावर्तते ॥
—छान्दो० उ० ८, ११ १

२ अथ यत्तपो दानमार्जवमहिंसासत्यवचनमिति ता अस्य दक्षिणा।
—छान्दो० उ० ३, १७, ४

३ स्मृतिर्दया क्षान्तिरहिंसा पत्नी संयाजः। —प्राणाग्निहोत्रोपनिषद् खण्ड ४

४ ब्रह्मचर्यमहिंसा चापरिग्रहं च सत्यं च यत्नेन
हे रक्षतो हे रक्षतो हे रक्षत इति ॥३॥ —आरुणिकोपनिषद्

५ तत्राहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यदयार्जवक्षमाधृतिमिताहारशौचानि चेति यमा दश ॥१॥
—शाण्डिल्योपनिषद्

इस प्रकार उपनिषदों में भी यत्र-तत्र अहिंसा के स्वर गुंजित हुए हैं। उन्होंने अहिंसा का महत्त्व प्रमाणित किया है। आत्म-दर्शन के लिए अहिंसा को अति आवश्यक अंग माना है तथा स्पष्ट कहा है—यदि मन में, वचन में और कर्म में हिंसा की ज्वालाएँ धधकती रहेंगी तो आत्म-दर्शन संभव नहीं है।

स्मृति साहित्य में अहिंसा

उपनिषदों के पश्चात् स्मृति-साहित्य आता है। स्मृतियों में मनुस्मृति का स्थान मूर्धन्य है। मनुस्मृति में हिंसा-अहिंसा के सम्बन्ध में विस्तार से विश्लेषण किया गया है। यह पूर्ण सत्य है कि मनुस्मृति वैदिक विधानों पर विस्तार से चिन्तन करती रही है।

मनुस्मृति में स्पष्ट कहा गया है—'जो कार्य तुम्हें पसन्द नहीं है वह कार्य दूसरों के लिए कभी न करो।'[1] जो किसी भी प्राणी को कष्ट नहीं पहुँचाता उसे बिना प्रयास के ही मनचाहा धर्म उपलब्ध हो सकता है।

वैदिक परम्परा में अश्वमेध यज्ञ का अत्यधिक महत्त्व रहा है। आचार्य मनु ने कहा—'एक व्यक्ति सौ वर्षों तक अश्वमेध यज्ञ करता है, दूसरा व्यक्ति मांस नहीं खाता है। वे दोनों ही समान पुण्य के भागी हैं'।[2] उन्होंने यह भी कहा—'प्राणियों के कल्याण के लिए अहिंसा का पूर्ण अनुशासन चाहिए।'[3] 'इन्द्रिय-निग्रह, राग-द्वेष-परित्याग और अहिंसा के आचरण से संन्यासी मोक्ष प्राप्त करता है।'[4] 'अहिंसा आदि की साधना से ही ब्रह्म की उपलब्धि होती है।'[5] ''अहिंसा, सत्य, अस्तेय, पवित्रता और इन्द्रिय-निग्रह ये ऐसे धर्म हैं जो चारों वर्णों के लिए अत्यावश्यक हैं।[6]

---

१ आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्। —मनुस्मृति

२ वर्षे वर्षेऽश्वमेधेन यो यजेत शतं समाः।
मांसानि च न खादेद्यस्तयोः पुण्यफलं समम्॥ —मनुस्मृति अ० ५ ५३

३ अहिंसयैव भूतानां कार्यं श्रेयोऽनुशासनम्। —मनुस्मृति अ० २ १५८

४ इन्द्रियाणां निरोधेन रागद्वेषक्षयेण च।
अहिंसया च भूतानाममृतत्वाय कल्पते॥ —मनुस्मृति अ० ६ ६०

५ अहिंसयेन्द्रियासंगैर्वैदिकैश्चैव कर्मभिः।
तपसश्चरणैश्चोग्रैः साधयन्तीह तत्पदम्॥ —मनुस्मृति अ० ६ ७५

६ अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
एतं सामासिकं धर्मं चातुर्वर्ण्येऽब्रवीन्मनुः॥ —मनुस्मृति अ० १०, ६३

ऐतिहासिक दृष्टि से स्मृति साहित्य के पश्चात् सूत्र साहित्य का स्थान है। सूत्रों में अन्य चर्चाएँ विस्तार से प्राप्त की गई हैं किन्तु अहिंसा पर विशेष चर्चा नहीं हुई है। गौतम ऋषि ने सभी जीवों पर दया करना, सहिष्णुता, अक्रोध, पवित्रता, शांति, अलोभ आदि आठ आत्मिक गुण बताये हैं और कहा है कि—जो इन गुणों को धारण करता है वह ब्रह्म को प्राप्त होता है या उसे स्वर्ग की उपलब्धि होती है।[1]

महाकाव्यों में अहिंसा

सूत्र साहित्य के पश्चात् काव्य की दृष्टि से संस्कृत साहित्य में वाल्मीकि रामायण का सर्वाधिक गौरव प्राप्त है। वाल्मीकि रामायण में मर्यादा पुरुषोत्तम राम का पवित्र चरित्र अंकित है। उस चरित्र के माध्यम से उन्होंने जीवन के विकास के लिए सद्गुणों का उल्लेख किया है। उन्होंने अहिंसा, सत्य, आत्मसंयम, दया, सहिष्णुता, क्षमा, आतिथ्य, शत्रुओं की सहायता, मन वचन-कर्म की शुद्धि आदि पर अत्यधिक बल दिया है।[2] सामाजिक दृष्टि से अहिंसा पर चिन्तन करते हुए लिखा है—राजा, स्त्री, बालक, वृद्ध और शरणागत की रक्षा करनी चाहिए। उनका वध करना बहुत बड़ा पाप है।[3] इस ग्रन्थ में अहिंसा की चर्चा सीधे रूप से न करके पात्रों के गुणों का उत्कीर्तन करते हुए की गई है। इसके आधार पर भारत की विविध प्रान्तीय भाषाओं में वैदिक परम्परा की दृष्टि से अनेक रामायणों की रचना हुई है, और उन रामायणों में अधिक विस्तार से अहिंसा के सम्बन्ध में यत्र तत्र विश्लेषण हुआ है, राम को केन्द्र बनाकर अहिंसा की प्रबल प्रतिष्ठा की गई है।

रामायण के बाद महाभारत का युग प्रारंभ होता है। महाभारत वेदव्यास की अद्भुत कृति है। ऐतिहासिक दृष्टि से उसका महत्त्व अत्यधिक है। महाभारत में पांडव कौरवों की कथा के माध्यम से मानव-जीवन की दैवी और आसुरी प्रवृत्तियों का चित्रण हुआ है। यत्र तत्र अहिंसा का महत्त्व प्रतिपादित किया गया है। अहिंसा की विराट भावना का महत्त्व बताते हुए वेदव्यास ने कहा—धर्म और अर्थ दोनों ही पुरुषार्थों से अहिंसा

---

१ गौतम धर्मसूत्र ७०, २२ २५

२ वा० रा० २ १०९ ३१ ६ ११३, ४३ ४४ ६ १८ २७ २८

३ राजस्त्री बाल वृद्धानां वधे यत्पापमुच्यते।
भृत्यत्यागे च यत्पाप तत्पाप प्रतिपद्यताम् ॥ —वा० रा० २, ७५ ३१

उच्च कोटि की है। विश्व म जितने भी धम है वे सभी अहिंसा मे आ जाते हैं। हाथी के पर म जसे सभी के पर समा जाते हैं वसे ही अहिंसा मे सभी धम और सद्गुण समा जाते हैं। अहिंसा की परिगणना, क्षमा, धीरता समता प्रभति दमा मे की गई है।[1] अहिंसा एक पूण धम है, और हिंसा अधम है।[2] जो मन, वचन कम से किसी भी प्राणी की जीविका का अप हरण नही करते, उसकी हिंसा नही करते, उस प्राणी को अ य प्राणी भी वध या ब धन के कष्ट मे नही डालते।[3]

महाभारत के अनुशासन पव म अहिंसा का नतिक व धार्मिक दष्टि से महत्त्व प्रतिपादन करते हुए कहा गया है—'अहिंसा परम तत्त्व है, परम धम है, परम तप है परम सत्य है। अ य धर्मों का वह उदगम स्थल है। वह परम सयम, परम दान और परम फल है।'[4]

अहिंसा को सेवा, वेदाध्ययन, यज्ञ, तप, दान, गुरुसेवा तथा तीथ-

---

१ सत्य च समता चव दमश्चैव न सशय ।
अमात्सय क्षमा चव ह्रीस्तितिक्षानसूयता ॥ ८ ॥
त्यागो ध्यानमथार्यत्व धतिश्च सतत स्थिरा ।
अहिंसा चव राजेन्द्र सत्याकारास्त्रयोदश ॥ ९ ॥ —महाभारत अ० १६२

२ अहिंसा सकलो धर्मो हिंसाधमस्तथाहित ॥ २० ॥ —महाभारत अ० २७२

३ यो न हिंसति सत्त्वानि मनोवाक्कर्महेतुभि ।
जीवितार्थापनयन प्राणिभिन स बध्यते ॥
—महाभारत शान्ति पव अ० २७७

४ अहिंसा परमोधमस्तथाहिंसा पर तप ।
अहिंसा परम सत्य यतो धर्म प्रवतते ॥
अहिंसा परमो धर्मस्तथाहिंसा परो दम ।
अहिंसा परम दानमहिंसा परम तप ॥
अहिंसा परमो यज्ञस्तथाहिंसा पर फलम् ।
अहिंसा परम मित्रमहिंसा परम सुखम् ॥
सर्वयज्ञेषु वा दान सवतीर्थेषु वाप्लुतम् ।
सर्वदानफल वापि नतत् तुल्यमहिंसया ॥

यात्रा से भी विशिष्ट माना गया है। ये सारे कार्य जो बताये हैं, वे अहिंसा धर्म की सोलहवीं कला की भी समानता नहीं कर सकते।[1]

अहिंसा सभी से उत्तम है। वह ऐसा पावन और पवित्र धर्म है। मानव को अहिंसा का महत्त्व समझकर चाहिए कि वह किसी प्राणी की हिंसा न करे।[2] क्योंकि जैसे हमें अपने प्राण प्यारे हैं उसी प्रकार सभी प्राणियों को अपने प्राण प्यारे हैं। एतदर्थ जो पुण्यवान हैं वे सभी प्राणियों को अपने समान समझें।[3] जिस प्रकार मानव अपने पर दया भावना की इच्छा करता है उसी प्रकार दूसरे प्राणियों की दया भावना की कामना करे।[4] दयालु आत्मा ही सभी प्राणियों को अभयदान प्रदान करता है। उसे भी सभी अभयदान प्रदान करते हैं।[5]

इस प्रकार महाभारत में अहिंसा धर्म का स्पष्ट प्रतिपादन हुआ है। व्यास ने एक स्वर से अहिंसा की महत्ता को स्वीकार किया है। उनका यह वज्र आघोष रहा कि अहिंसा ही एक मात्र महान धर्म है।

---

१ अहिंसा परमो धर्मो ह्यहिंसा परमं सुखम्।
अहिंसा धर्मशास्त्रेषु सर्वेषु परमं पदम्॥
देवतातिथिशुश्रूषा सततं धर्मशीलता।
वेदाध्ययनयज्ञश्च तपो दानं दमस्तथा॥
आचार्य-गुरु-शुश्रूषा तीर्थाभिगमनं तथा।
अहिंसाया वरारोहे कलां नार्हन्ति षोडशीम्॥

—महाभारत अनुशासन पर्व अ० १४५

२ न हिंस्यात् सर्वभूतानि मैत्रायणगतश्चरेत्।
नेदं जीवितमासाद्य वैरं कुर्वीत केनचित्॥ —महाभारत, शान्तिपर्व १७८ ५

३ प्राणा यथात्मनोऽभीष्टा भूतानामपि वै तथा।
आत्मौपम्येन गन्तव्यं बुद्धिमद्भिर्महात्मभिः॥

—महाभारत अनुशासनपर्व ११५ १९

४ नहि प्राणात् प्रियतरं लोके किंचन विद्यते।
तस्माद् दयां नरः कुर्याद् यथात्मनि तथापरे॥

—महाभारत अनुशासन पर्व ११६ ८

५ अभयं सर्वभूतेभ्यो यो ददाति दयापरः।
अभयं तस्य भूतानि ददतीत्यनुशुश्रुम॥

—महाभारत अनुशासन पर्व ११६ ११

गीता में अहिंसा

श्रीमद्भगवद्गीता महाभारत के भीष्मपर्व का एक अंश है। कुरुक्षेत्र के मैदान में वीर अर्जुन को श्रीकृष्ण ने जो उद्बोधन दिया वही प्रेरणादायी संदेश गीता में है। ज्ञान, भक्ति और कर्म मार्ग का सुन्दर विवेचन इस ग्रंथ रत्न में हुआ है। कर्म मार्ग का निरूपण करते हुए श्रीकृष्ण ने कहा—तप के विभिन्न प्रकार हैं। देवता, ब्राह्मण गुरु और ज्ञानी जनों की पूजा, पवित्रता, सरलता ब्रह्मचर्य अहिंसा आदि यह शारीरिक तप हैं। इसके विपरीत हिंसायुक्त प्रवृत्ति तामसी और राजसी प्रवृत्ति है।[1]

श्रीकृष्ण का यह दृढ मन्तव्य था कि अहिंसा समता सन्तोष दान आदि जितने भी सुकर्म हैं वे सभी मेरे से ही उत्पन्न हुए हैं।[2]

इस तरह गीताकार ने अहिंसा को मुक्ति का साधन माना है।

पुराण साहित्य में अहिंसा

श्रीमद्भगवद्गीता के पश्चात् पुराण साहित्य की गणना की जाती है। पुराण साहित्य में अहिंसा का विवेचन यत्र-तत्र हुआ है। वायुपुराण का मन्तव्य है—मन, वाणी और कर्म से सभी जीवों के प्रति अहिंसा का पालन करना चाहिए।[3] विष्णु पुराण में कहा है—हिंसा अधर्म की स्त्री है। वह सभी पातकों की जड़ है। उसका पुत्र शठ और पुत्री निकृति (दुष्कर्म) है, इनसे नरक का भय रहता है अर्थात्—ये तीनों नरक के ले जाने वाले हैं।[4] अग्निपुराण में भी कहा गया है—अहिंसा, सत्य अस्तेय ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह ये पाँचों यम मुक्ति और भुक्ति दोनों प्रदान करने वाले हैं।[5]

---

१ देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम् ।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते ॥ —गीता १७ १४ तथा देखिए गीता अ० १८ श्लोक २५ ७ तथा २८

२ अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः ।
भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः ॥ —गीता १० ५

३ अहिंसा सर्वभूतानां कर्मणा मनसा गिरा । —वायुपुराण पूर्वार्द्ध अ० १८ ११

४ हिंसा भार्या त्वधर्मस्य ततो जज्ञे तथानृतम् ।
कन्या च निकृतिस्ताभ्यां भयं नरकमेव च ॥
—विष्णुपुराण प्रथम अंश अ० ७ १२ १६

५ [illegible] ।
अहिंसा [illegible] ब्रह्मचर्यापरिग्रहौ ॥
यमाः पञ्च [illegible] । —अग्निपुराण अ० ३७२ १

शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वर अर्चना, प्राणियों को किसी भी प्रकार का कष्ट न देना—ये अहिंसा के ही विभिन्न रूप हैं।[1]

मत्स्यपुराण का मन्तव्य है—अहिंसा मुनिव्रतों में से एक है।[2] चार वेदों के गम्भीर अध्ययन से या सत्य भाषण से जितना पुण्य होता है उससे कई गुना अधिक पुण्य अहिंसा व्रत के पालन से होता है।[3] ब्रह्मपुराणकार का अभिमत है—जो मन से भी किसी भी प्राणी की हिंसा नहीं करता है वह स्वर्गगामी होता है।[4] नारदपुराण में कहा है—वे ही वचन सत्य हैं जिससे किसी का विरोध न हो। किसी भी प्राणी को कष्ट न पहुंचे। यही अहिंसा का रूप है। इसी अहिंसा की निर्मल भावना से सम्पूर्ण कामनाएँ पूर्ण होती हैं।[5] नारद पुराण में ही अहिंसा की गणना यमों में सर्वप्रथम की गई है।[6] शिवपुराण में अहिंसा की पुण्य कर्म में तथा हिंसा की परिगणना पाप कर्म में की है। जो व्यक्ति पापकर्मों में रत है वह नरकगामी है। बृहद्धर्मपुराण में श्रद्धा, अतिथि सेवा, सर्वत्र आत्मीयतापूर्ण सद्व्यवहार आत्मशुद्धि ये सभी अहिंसा की पृथक्-पृथक् विधियाँ हैं।[7] कूर्मपुराण में भी

---

१ शौच सन्तोषतपसी स्वाध्यायेश्वरपूजने ।
भूतदया अहिंसा स्यादहिंसा धर्म उत्तम ॥ —अग्निपुराण अ० ३७२ ३-४

२ मुनिव्रतानां [illegible] परिगाय त्वयाहृतम् । —मत्स्यपुराण अ० ६० ११

३ चतुर्वेदेषु यत्पुण्यं यत् पुण्यं सत्यवादिषु ।
अहिंसायां तु यो धर्मो गमनादेव तत्फलम् ॥ —मत्स्यपुराण अ० १०५ ४३

४ सर्वभूत दयावन्तो विश्वास्याः सर्वजन्तुषु ।
त्यक्तहिंसासमाचारास्ते नराः स्वर्गगामिनः ॥ —ब्रह्मपुराण अ० २२८ ६

५ अहिंसा सा नृप प्रोक्ता सर्वकामप्रदायिनी ।
कर्मकार्य सहायत्वमकार्य परिपंथता ॥ —नारदपुराण ११ २१

६ अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यापरिग्रहौ ।
अक्रोधा च दया चैव [illegible] ॥१५॥
अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यापरिग्रहौ ।
[illegible] ॥१६॥ —नारदपुराण अ० ३३

७ [illegible] [illegible] ।
[illegible] च [illegible] ॥
[illegible] ।
[illegible] ।

—बृहद्धर्मपुराण अ० २ ११-१२

अहिंसा, प्रियवचन, अपिशुनता आदि गुणों को चारों वर्णों के लिए उपादेय माना है।[1] भागवतपुराण मे महर्षि नारद ने धर्मराज से कहा—धर्म के तीस लक्षण हैं। उनमें अहिंसा प्रमुख है।[2]

इस प्रकार पुराण साहित्य मे अहिंसा का वर्णन स्थान-स्थान पर किया गया है। पुराणों में अहिंसा को केवल संन्यासी या ब्राह्मण वर्ण तक ही सीमित न रखकर स्पष्ट निर्देश किया गया है कि अहिंसा का पालन चारों वर्ण वाले यथाशक्ति कर सकते हैं। अहिंसा का पालन सभी के लिए आवश्यक है। वह जीवन को निखारने का अपूर्व साधन है।

दार्शनिक साहित्य में अहिंसा

दार्शनिक युग में तर्क की प्रधानता रही। दर्शन आत्मा परमात्मा और जगत् के सम्बन्ध में चिन्तन करता रहा है। वैदिक परम्परा के दार्शनिक चिन्तकों की दृष्टि से अहिंसा का विषय चिन्तन की अपेक्षा आचरण का अधिक रहा है। यों अहिंसा पर भी उन्होंने चिन्तन किया है किन्तु उसे अपने चिन्तन का प्रधान केन्द्र बिन्दु नहीं बनाया। अतः दार्शनिकों ने उस पर चिन्तन एवं तर्क वितर्क कर उसकी संस्थापना करने का विशेष प्रयास नहीं किया। योगदर्शन में योग के आठ अंग बताये हैं—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि। उसमे अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये पाँच यम के अन्तर्गत है।[3] अहिंसा की प्रतिष्ठा होने पर वैर का सब त्याग हो जाता है।[4] हिंसा-अहिंसा के विविध भेद भी योग दर्शन के व्यास भाष्य में उपलब्ध होते हैं।

वहाँ कहा गया है जो अहिंसक है वह दयालु है और जो दयालु है वह अहिंसक है। अहिंसात्मक दया का ही फल भगवत्प्राप्ति है। सब भूत मित्र उसे कहा गया है जो मांस नहीं खाता और किसी जीव की हिंसा व घात नहीं करता है।[5]

---

१ अहिंसा प्रियवाक्त्विमपैशुन्यमकल्कता।
   सामासिकमिमं धर्मं चातुर्वर्ण्येऽब्रवीन्मनुः॥ —कूर्म पुराण अ० २ ६७

२ अहिंसा ब्रह्मचर्यं च त्यागः स्वाध्याय आर्जवम्।
   त्रिंशल्लक्षणवान् राजन् सर्वात्मा येन तुष्यति॥
   —भागवतपुराण प्रथम खंड स्कन्ध ७ अ० ११० ८-१२

३ अहिंसा सत्यास्तेय ब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः। —योगसूत्र अ० २ ३०

४ अहिंसा प्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः। —योगसूत्र अ० २, ३५

५ पातंजल योगदर्शनभाष्य—साधना पाद सू० ३५

[illegible] ने गीता के नाम पर पोषण किया जो दोषपूर्ण बताया है। उनका यह अभिमत था—जैसे भाव स्वभाव पर की गई हिंसा हिंसा है वैसे ही मन के किन्हीं की गई हिंसा अहिंसा किस प्रकार हो जाती है? वह भी हिंसा ही है।

शंकराचार्य का यह मन्तव्य था कि "ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या"। जब ब्रह्म सत्य है और जगत मिथ्या है तो हिंसा और अहिंसा का प्रश्न ही उपस्थित नहीं हो सकता। क्योंकि हिंसा करने वाला और हिंसित होने वाला ये दोनों ब्रह्म के ही अंश हैं। वेदान्त की विभिन्न शाखाओं ने अहिंसा पर विशेष विस्तार से कोई चिन्तन नहीं किया।

इस प्रकार हम देखते हैं वैदिक परम्परा का मूल स्वर अहिंसा का रहा है। अहिंसा की धारा कभी मन्थर मन्द हो गई तो कभी पुनः तेजी के साथ प्रवाहित होने लगी।

हमने विहगम दृष्टि से वैदिक परम्परा के लगभग सभी सम्माननीय ग्रंथों के आधार पर यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि अहिंसा धर्म का मूल स्रोत है। अहिंसा के आचरण से जीवन में सुख और शांति की वंशी बजती है।

बौद्ध धर्म में अहिंसा

बौद्ध धर्म भारत का एक प्रमुख धर्म रहा है। भारत की पवित्र भूमि में जन्म लेकर विश्व के विविध अंचलों में इस धर्म ने अपना प्रभाव दिखाया। बौद्ध धर्म में अहिंसा को प्रधानता रही। इस धर्म के प्रसिद्ध एवं मान्य ग्रंथों में अहिंसा की प्रेरणा दी गई है। मन, वचन और कर्म से अन्य प्राणियों को कष्ट न दिया जाय।[1] अहिंसा का पथिक न स्वयं किसी को कष्ट देता है, और न अन्य किसी को कष्ट देने के लिए उत्प्रेरित करता है।[2] स्थूल जीवों की ही बात नहीं, वह पेड़ पौधों को भी कष्ट नहीं पहुँचाता।[3]

"आर्य" की परिभाषा देते हुए तथागत बुद्ध ने कहा—प्राणियों की

---

१ संयुत्त निकाय—अनु० भिक्षु जगदीश काश्यप तथा भिक्षु धर्मरक्षित, पहला भाग पृ० ७१

२ धम्मपद २५ । ६-१०

३ विनयपिटक अनु० राहुल सांकृत्यायन पृ० २०७

हिंसा करने से कोई भी व्यक्ति आर्य नहीं कहला सकता किन्तु जो किसी भी प्राणी की हिंसा नहीं करता है वही वस्तुतः आर्य है।[1]

भिक्षुओं को उपदेश देते हुए बुद्ध ने तीन प्रकार के शील पर प्रकाश डाला और कहा—आरम्भिक, मध्यम और महा ये तीन शील हैं जो सभी भिक्षुओं के लिए आवश्यक हैं। इन शीलों में अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, सत्य तथा नशीले पदार्थों का परित्याग समाविष्ट है।[2] बुद्ध ने मैत्री भावना, करुणा भावना, मुदिता भावना, और उपेक्षा भावना पर बल दिया है।[3] इन भावनाओं में अहिंसा की निर्मल विचार-लहरियाँ तरंगित हो रही हैं।

संयुक्तनिकाय में राजा प्रसेनजित से बुद्ध ने कहा—राजन्! अपने मन को सभी दिशाओं में घुमाओ। तुम्हें अपने से प्यारा अन्य कोई भी प्राणी नहीं मिलेगा। जैसे तुम्हें अपना जीवन प्रिय है वैसे ही दूसरों को भी अपना जीवन प्रिय है। जो अपनी भलाई चाहते हैं वे दूसरों को कभी भी नहीं सताते हैं।[4] विश्व के समस्त प्राणियों के साथ असीम मैत्री भावना बढ़ाई जाय।[5] अतः तुम सदा मन में यही भावना भाओ कि विश्व के सभी प्राणी सुखी हों।[6] जिसके अन्तर्मानस में प्राणियों के प्रति दया नहीं है उसे वषल यानी शूद्र (यहाँ शब्द में वष=धर्म ल=लोप करने वाला=धर्म का लोप करने वाला, धर्म का पालन न करने वाला) समझना चाहिए।[7] जैसा मैं हूँ वैसे ही विश्व के सभी प्राणी हैं और जैसे वे सभी प्राणी हैं उसी प्रकार मैं भी हूँ—इस प्रकार अपने समान सभी प्राणियों को समझकर न किसी का वध करे न दूसरे से वध कराये।[8] क्योंकि मारने वाले को मारने

---

१ न तेन आरियो होति येन पाणानि हिंसति।
अहिंसा सब्बपाणानं आरियोति पवुच्चति॥ —धम्मपद १९ १५

२ दीघनिकाय अनु० राहुल सांकृत्यायन तथा ज० काश्यप पृ० २

३ दीघनिकाय पृ० ९० ९२।

४ दीघनिकाय पृ० २४ २८

५ मेत्तं च सब्बलोकस्मिं मानसं भावये अपरिमाणं। —सुत्तनिपात १ ८ ८

६ सब्बे सत्ता भवन्तु सुखितत्ता। —सुत्तनिपात १ ८ ३

७ यस्स पाणे दया नत्थि तं जञ्ञा वसलो इति। —सुत्तनिपात १ ७ –

८ यथा अहं तथा एते यथा एते तथा अहं।
अत्तानं उपमं कत्वा न हनेय्य न घातये॥ —सुत्तनिपात ३ ३७ २७

वाला मिलता है और जीतने वाले को जीतनेवाला।[1] पहले विश्व में केवल तीन ही रोग थे—इच्छा, भूख और जरा। किन्तु पशुवध प्रारम्भ होने पर अठानवे नये रोग पैदा हो गये।[2]

तथागत बुद्ध ने एतदर्थ ही हिंसापरक यज्ञ को अनुचित कहा। जब राजा प्रसेनजित हिंसापरक यज्ञ करने के लिए तत्पर हुआ और तथागत बुद्ध को यह वृत्त परिज्ञात हुआ तो उन्होंने राजा से कहा—राजन! यज्ञ में हिंसा करने के फल अच्छे नहीं होते। यदि तुम्हें यज्ञ ही करना है तो ऐसा यज्ञ करो जिसमें भेड बकरे और गायें न कटती हों। ऐसा यज्ञ ही सुमार्ग पर ले जानेवाला है।[3]

मैत्री भावना का महत्त्व प्रतिपादित करते हुए बुद्ध ने कहा—मैत्री भावना को अधिक विकसित करो। जिसमें मैत्री भावना का विकास होता है, वह सुरक्षित रहता है। जैसे किसी कुल में अधिक पुरुष हों और महिलाएँ कम हों, वह कुल हमेशा तस्करों के भय से मुक्त रहता है। वैसे ही जहाँ मैत्री भावना प्रबल होती है उन्हें किसी भी प्रकार का भय नहीं होता।[4]

सुत्तनिपात में बुद्ध ने कहा—जंगम या स्थावर, दीर्घ या ह्रस्व अणु या स्थूल, दृष्ट या अदृष्ट, दूरस्थ या निकटस्थ उत्पन्न या उत्पद्यमान जितने भी प्राणी हैं वे सभी सुखपूर्वक रहें। वे किसी के साथ वंचना न करें, न किसी का अपमान करें। वे सभी प्राणियों को उसी प्रकार देखें जैसे माता अपने एकलौते पुत्र को देखती है।[5]

एक बार तथागत ने देखा कि कुछ भिक्षु एक दूसरे को पीट रहे हैं। बुद्ध ने कहा—भिक्षु! सभी को अपने समान समझो, क्योंकि दण्ड और मृत्यु सभी के लिए कष्टप्रद होते हैं।

एक बार बालकों को साँप मारते हुए देखा तो बुद्ध ने उन्हें समझाते हुए कहा—जो अपना सुख चाहने के लिए दूसरे प्राणियों को मारते हैं वे मरने के पश्चात भी सुखी नहीं होते।[6]

---

१ हन्ता लभति हन्तारं जेतारं लभते जयं ॥ —संयुत्तनिकाय १ ३ १५

२ तयो रोगा पुरे आसुं इच्छा अनसनं जरा।
पसूनं च समारम्भा अट्ठानवुतिमागमुं ॥ —सुत्तनिपात २ १९ २८

३ संयुत्तनिकाय भाग १ पृ० ७२

४ संयुत्तनिकाय भाग १ पृ० ३०६ ३०७

५ सुत्तनिपात—उरगवग्गो—मेत्तसुत्त १ १०   ६ धम्मपद—दण्डवग्गो ३ ४

इसी प्रकार एक स्थान पर तथागत ने कहा—सभी प्राणी वैर से रहित हों। कोई भी वैर न रखे। सभी प्राणी सुखी हों। कोई दुःख न पावे।[1] मन ज्यों-ज्यों हिंसा से हटता है त्यों-त्यों दुःख शान्त होता है।[2]

तथागत बुद्ध का जीवन एक महाकारुणिक जीवन था। दीन दुखियों को देखकर उनका हृदय दया से द्रवित हो जाता है। उन्होंने सामाजिक, राजनैतिक जीवन में ऐसे अनेक उदाहरण प्रस्तुत किए जिनमें अहिंसात्मक प्रतिकार रहे हैं। उनके अहिंसात्मक प्रतिकार से हजारों प्राणियों के वध होते हुए बच गए। बुद्ध ने हिंसा का निषेध कर अहिंसा की प्रतिष्ठा की।

यहूदी धर्म में अहिंसा

यहूदी धर्म विश्व के प्रमुख धर्मों में से एक है। उसका मन्तव्य है—किसी व्यक्ति के आत्मसम्मान को चोट न पहुँचाओ। किसी के सामने किसी व्यक्ति का अपमानित न करो। उसका अपमान करना उतना ही महान् पाप है जितना कि किसी व्यक्ति का खून करना।[3] वह व्यक्ति दुष्ट कहलाएगा जो किसी व्यक्ति को मारने के लिए हाथ उठाता है, शक्ति के अभाव में भले ही वह न मारे।[4] यदि तुम्हारा कोई शत्रु तुम्हें मारने के लिए तुम्हारे घर आए और यदि वह भूखा प्यासा है तो तुम्हारा प्रथम कर्तव्य है कि तुम उसे भोजन कराओ और पानी पिलाओ।[5]

बन्धुत्व भाव को विकसित करने के लिए कहा है—बन्धुत्व का प्रेम जाति और धर्म की सीमाओं से ऊपर है। एतदर्थ अपने पड़ौसी को प्यार करो। उनके प्रति तुम्हारे मन में किसी भी प्रकार की घृणा की भावना न रहे। उनसे ईर्ष्या न करो। जब तुम्हारे मानस में एक-दूसरे के प्रति स्नेह सौजन्यपूर्ण भाईचारे का भाव संस्थापित हो जाएगा तो सहज ही घृणा का भाव नष्ट हो जाएगा। सभी लोग एक ही पिता के पुत्र हैं अतः सभी से स्नेह करो। पड़ौसियों से प्रेम करो। उनसे घृणा करना ईश्वर से घृणा

---

१ सब्बे सत्ता अवेरिनो होन्तु मा वेरिनो।
सुखिनो होन्तु मा दुक्खिनो॥ —पटिसम्भिदामग्गो २ ४ २ ६

२ यतो यतो हिंसमनो निवत्तति ततो ततो सम्मतिमेव दुक्खं। —धम्मपद २६ ८

३ ता० बावा मेतलिया ५८ (ब)

४ सिफरा लव्य—व्यवस्था १६ २ ५ नीति २५ २१ पर्रामश्राराम

करने के समान है। यदि तुम्हारे भाई या पड़ोसी निर्धन है, तो उन्हें तुम सहयोग करो। तुम अपने पड़ोसियों के साथ वैसा ही व्यवहार करो जैसा तुम अपने प्रति चाहते हो। अपने साथियों की सेवा करना—यह एक प्रकार का सुकर्म है—सुकृति है।[1]

यहूदी धर्म ने मानवता पर बल दिया है। मानवता का विकसित करने के लिए ईमानदारी, ब्रह्मचर्य, सत्य, भक्ति प्रभृति सद्गुणों पर उसने अधिक बल दिया। दया और प्रेम को उन्होंने ईश्वर माना। क्रोध, विनाश, अन्याय आदि दुर्गुणों को नष्ट करने की प्रेरणा दी।[2]

इस प्रकार यहूदी धर्म में भी अहिंसा के विधेयात्मक पहलू पर अत्यधिक बल दिया गया, जिसके फलस्वरूप यहूदियों का विकास हुआ। उनका स्पष्ट मन्तव्य रहा किसी व्यक्ति पर संकट के बादल उमड़-घुमड़ कर मंडरा रहे हों, उस पर हिंसक डाकू प्रहार कर रहे हों, शेर चीते आदि जंगली पशु उस पर झपट रहे हों तो हमारा कर्त्तव्य है कि हम उसकी रक्षा करें। यदि हमारा देह उनके त्राण हेतु शारीरिक दृष्टि से हम उसका रक्षण करने में असमर्थ हों किन्तु हमारे पास यदि धन है तो हमें चाहिए कि धन देकर से भी उनके प्राणों की रक्षा करें।[3] प्राणीमात्र के प्रति हमारे अन्तर्मानस में किसी प्रकार का वैर भाव न हो।[4] यह सन्देश देते हुए कहा—किसी के प्रति वैर भाव न रखो।

इस तरह स्पष्ट है कि यहूदी धर्म में भी अहिंसा की भावनाएँ विकसित हुई हैं।

पारसी धर्म में अहिंसा

पारसी धर्म के प्रवर्तक जरथुष्ट्र थे। उनका प्रमुख ग्रन्थ अवेस्ता है। उनके अभिमतानुसार प्रत्येक व्यक्ति के तीन कर्त्तव्य[5] हैं—

(१) अपने शत्रु को मित्र बनाना।

(२) दानव को मानव बनाना।

(३) अज्ञानी को ज्ञानी बनाना।

यह निर्विवाद सत्य है कि अहिंसा के द्वारा ही शत्रु को स्नेह सद्भावना के आधार पर मित्र बनाया जा सकता है। यदि शत्रु के प्रति मन में दुर्भावनाएँ होंगी, उसके प्रति हिंसापरक व्यवहार होगा तो उसके अन्तर्मानस में मित्रता की हरियाली नहीं लहलहाएगी। अहिंसा से ही सद्भाव की वृद्धि होगी। जरथुस्ट ने कहा—जो व्यक्ति किसी के विकास में बाधाएँ उपस्थित करता है या किसी भी प्राणी का घात कर प्रसन्न होता है तो उसे अहुरा मज्दा निकृष्ट कोटि में रखते हैं।[४] उन्होंने कहा—किसी से भी बदला लेने की भावना अत्यन्त निम्न वृत्ति है। दूसरे से बदला लेने की भावना से अनेक प्रकार के अहित होने की सम्भावना है। बदले की भावना तुम्हें सतत सताती रहेगी। अतः शत्रु से भी बदला मत लो। बदले की भावना से प्रेरित होकर कभी कोई पाप कार्य मत करो। सदा सर्वदा मन में सद्विचारों के दीपक प्रकाशित रखो।

पारसी धर्म ने दान आदि सद्गुणों पर अत्यधिक बल दिया है जो अहिंसा का ही विधेयात्मक पक्ष है।

ताओ धर्म में अहिंसा

ताओ धर्म के प्रवर्तक लाओत्से थे। वे जिस समय पैदा हुए उस समय चीन में राजनीतिक स्थिति अत्यन्त विषम थी। सामाजिक जन जीवन में भ्रष्टाचार पनप रहा था। सामाजिक और राजनैतिक विकृत स्थिति को देखकर लाओत्से ने चीन छोड़ने का निश्चय किया, किन्तु चीन निवासियों की प्रेरणा से उन्होंने अपना विचार स्थगित कर 'ताओ तेह-किंग" नामक ग्रंथ लिखा।

इस ग्रंथ में उन्होंने अपने विचारों को मूर्त रूप दिया है। उन्होंने जीवन में सरलता पर अत्यधिक बल दिया। साथ ही उन्होंने इस बात पर भी अधिक बल दिया कि हिंसा से उत्पन्न घाव पर स्नेह का मरहम और दया की पट्टी लगाओ।

राजनैतिक जीवन में हिंसा का प्राधान्य था। बात बात में रक्त की नदी बहाई जाती थी। मानव-जीवन के साथ खिलवाड़ किया जाता था यह उन्हें बिलकुल ही पसन्द नहीं था। उसका उन्होंने स्पष्ट शब्दों में विरोध किया। उन्होंने कहा—जो बादशाह जनता की निर्मम हत्या करने में विश्वास

---

४ गाथा—हा ३४३

रखता है, दूसरा जो हत्या करने में आनन्द की अनुभूति करता है, वह कभी भी शासक नहीं बन सकता। वह तो कुशासक है।[1]

लाओत्से ने यह भी कहा—जो व्यक्ति मेरे प्रति सद्व्यवहार करते हैं मैं उनके प्रति सद्व्यवहार करता ही हूँ। पर जो लोग मेरे प्रति सद्व्यवहार नहीं करते हैं उनके प्रति भी मैं सद्व्यवहार करता हूँ।[2]

कन्फ्यूशियस और अहिंसा

कन्फ्यूशियस चीन का एक प्रबुद्ध चिन्तक था। लाओत्से की तरह उसने भी नीति सम्बन्धी अपने विचार प्रस्तुत किये। उसने कहा—एक श्रेष्ठ व्यक्ति के लिए तीन बातें[3] आवश्यक ही नहीं अनिवार्य हैं—

(१) जब तक शारीरिक विकास पूर्णता को सम्प्राप्त न हो जाय तब तक उसे मांस ग्रहण करने में स्वतन्त्र नहीं होना चाहिए।

(२) जब युवावस्था हो, शरीर में रक्त उत्साह से उछल रहा हो उस समय युद्ध की प्रवृत्ति पर नियन्त्रण करना चाहिए।

(३) वृद्धावस्था में अभिलाषाओं पर नियन्त्रण करना चाहिए।

इससे स्पष्ट है कि उन्होंने मांस ग्रहण करने का आंशिक रूप से विरोध किया।

अपने शिष्यों की जिज्ञासाओं का उत्तर देते हुए कन्फ्यूशियस ने कहा—जीवन के निर्मल प्रवाह में स्नेह की बाढ़ और मैत्री का पूर्ण संचार कर दो।[4] जो लोग श्रेष्ठ होते हैं वे सभी से स्नेह करते हैं। जो तुम्हें नापसन्द है वह कार्य तुम दूसरों के लिए कभी मत करो।[5]

इस प्रकार कन्फ्यूशियस ने अहिंसा के विधेयात्मक पहलू पर चिन्तन किया है।

ईसाई धर्म में अहिंसा

ईसाई धर्म के प्रवर्तक महात्मा ईसा थे। वर्तमान युग में विश्व के विविध अंचलों में यह धर्म फैला हुआ है। ईसा ने कहा—तुम अपनी तलवार

---

१ Grea Asian Religions p 153
२ ताओ तेह किंग।
३ Glimpses of World Religions p 215
४ Ibid p 233
५ 'पारसी धर्म क्या कहता है ?' पुस्तक से

म्यान म रख लो, क्योंकि जो लोग तलवार चलाते है व सभी तलवार से ही नष्ट किये जाएँगे।

किसी के साथ भी दुर्व्यवहार न करो। तुम्हारे गाल पर कोई तमाचा मारता है तो दूसरा गाल भी उसके सामने कर दो।[1]

इसी का यह स्पष्ट मानना था 'जसा को तसा' का जो सिद्धान्त है वह सवथा अनुचित है। "आंख के बदल आंख दांत के बदले दात और सिर के बदले सिर' लेने के सिद्धान्त से समस्या का सही समाधान नही हो सकता। इससे शाति प्राप्त नहा होती। उ होने आगे चलकर कहा—पडौसी को प्यार करो और शत्रु से घणा करो —इस पुराने सिद्धा त पर ध्यान न दो बल्कि शत्रु से प्यार करो। जो तुम्हे शाप दे, उसे तुम वरदान दो। जो तुम्हारा बुरा करे, उसका तुम भला करो। जो तुमसे ईर्ष्या करता है तुम पर अभियोग लगाता है उस पर तुम स्नेह की वर्षा करो और इस प्रकार की प्रशस्त भावना करो कि उसके विचारो म परिवतन आ जाय।

ईसा ने ईश्वर को प्रेम के रूप म चित्रित किया। वस्तुत प्रेम ही ईश्वर है वही अहिंसा है। प्रेम के अभाव म अहिंसा रह नही सकती। जहाँ पर द्वेष का दावानल सुलग रहा हो प्रतिकार की भावनाए पनप रही हो वहाँ पर प्रेम और विनम्रता रह नही सकती। जहा पर विनम्रता और विश्वबन्धुत्व का साम्राज्य है वह एक प्रकार से ईश्वरीय राज्य है। ईश्वर सेवा का अथ है—मानव समाज की सेवा करना। जिसके हृदय म दया का साम्राज्य नहीं है, उसका ज्ञान शुष्क ज्ञान है।

ईसा ने प्रेम, करुणा, सेवा आदि सद्गुणो को जीवन के लिए आवश्यक माना है।

इस तरह ईसाई धम म भी अहिंसा की भावनाए मानव-सेवा और प्रेम के रूप म विकसित हुई है।

इस्लाम धम म अहिंसा

इस्लाम धम का मुख्य केन्द्र अरब रहा है। इस धम का मन्तव्य है कि खुदा सारे जगत का पिता है और जगत म जितने भी प्राणी हैं वे सभी खुदा के ही बन्दे और पुत्र हैं। कुरान शरीफ के प्रारम्भ म अल्ला ताला का विशेषण बिस्मिल्लाहिरहमानिरहीम" है जिसका अथ है खुदा दयामय है। खुदा के मन के कण कण म दया का निवास है।

---

1 Bible, Mathew, V

मुहम्मद साहब के उत्तराधिकारी हजरत अली ने मानव को संबोधित कर उपदेश देते हुए कहा—"हे मानव ! तू पशु-पक्षियों की कब्र अपने पेट में मत बना।" अर्थात् तू मांस का भक्षण न कर।

इसी प्रकार दीन ए इलाही के प्रवर्तक सम्राट अकबर ने कहा—मैं अपने पेट को दूसरे जीवों का कब्रिस्तान बनाना नहीं चाहता। यदि किसी की जान बचाई, मानो उसने मारे इन्सानों की जिन्दगी बख्शी है।[1]

उपरोक्त कथन से यह स्पष्ट है कि इस्लाम धर्म में भी अहिंसा को प्रधानता दी गई तथा मदिरापान, ईर्ष्या, लालच, असत्य, कृपणता, अभिमान, हिंसा, युद्ध आदि को त्याज्य बताया है। वे जीवन का विकास करने वाले दुर्गुण हैं। कुरान शरीफ में जहाँ तहाँ भ्रातृत्व, दान, क्षमा, मैत्री, प्रेम, कृपा, संयम आदि सद्गुणों के ग्रहण करने पर बल दिया है।[2] ये सद्गुण जीवन को विकसित करते हैं। इन सद्गुणों को धारण करने से जीवन में अहिंसा का पवित्र आचरण करने की भव्य भावना लहराने लगती है। इससे स्पष्ट है कि इस्लाम धर्म में भी अहिंसा की भावना प्रविष्ट होती रही है।

सूफी सम्प्रदाय में अहिंसा

इस्लाम धर्म के अन्तर्गत ही सूफी सम्प्रदाय भी विकसित हुआ। सूफियों का मानना है कि मुहम्मद साहब को दो प्रकार के ईश्वरीय ज्ञान प्राप्त हुए थे। एक ज्ञान को उन्होंने कुरान के द्वारा व्यक्त किया और दूसरा ज्ञान उन्होंने अपने हृदय में धारण किया। कुरान का ज्ञान विश्व के सभी व्यक्तियों के लिए प्रसारित किया गया, जिससे वे सद्ज्ञान के द्वारा अपने जीवन को पावन बनायें। पर दूसरा ज्ञान उन्होंने कुछ प्रमुख शिष्यों को ही प्रदान किया। वह ज्ञान अत्यन्त रहस्यमय था। वह रहस्यमय ज्ञान ही सूफी मत कहलाया है।[3] किताबी ज्ञान जो कुरान का ज्ञान था वह 'इल्म-ए-सफीना' और हार्दिक ज्ञान 'इल्म-ए-सीना' कहलाया।

सूफी दर्शन का लक्ष्य है—परमात्मा सम्बन्धी सत्य का दर्शन करना। परमात्म तत्त्व का उपलब्धि के लिए सांसारिक वस्तुओं से ...

---

1. ... [illegible] ...

—कुरान शरीफ ...

2. [illegible] of World Religions p 203
3. [illegible] of World Religions p 258

त्याग करना।[1] जब परमात्म-तत्त्व की अन्वेषणा सूफियों का लक्ष्य रहा हो, तब हिंसा-अहिंसा का प्रश्न उपस्थित हो नहीं होता। हिंसा अहिंसा का प्रश्न वहीं समुत्पन्न होता है जहाँ राग का प्राधान्य हो द्वेष की दावाग्नि सुलग रही हो, वहाँ पर हिंसा की प्राधान्यता है।

सूफी सम्प्रदाय में प्रेम के आधिक्य पर बल दिया गया है। वे परमात्मा को प्रियतम मानकर सांसारिक प्रेम के माध्यम से प्रियतम के सन्निकट पहुँचना चाहते हैं। मानवीय प्रेम ही आध्यात्मिक प्रेम का साधन है।[2] प्रेम परमात्मा का सार है। ईश्वर की अर्चना करने का प्रेम ही सर्वश्रेष्ठ और सर्वोत्कृष्ट रूप है।[3]

सूफी सम्प्रदाय में, इस प्रकार, प्रेम के रूप में अहिंसा की उदात्त भावना पनपी। प्रेम के विराट रूप का जो चित्रण सूफी सम्प्रदाय में हुआ वह अद्भुत है।

शिन्तो धर्म में अहिंसा

यह जापान का मुख्य धर्म है। जापान में शिन्तो धर्म का जब प्रादुर्भाव हुआ उस समय तक जापान में अन्य धर्म का आगमन नहीं हुआ था। 'शिन्तो वस्तुतः चीनी शब्द है जिसका जापानी नाम कामी नो मीची है जिसका तात्पर्य है श्रेष्ठ जन तक ले जानेवाला मार्ग।"

शिन्तो धर्म के मुख्य सिद्धान्तों में[4] पितृजन के प्रति कृतज्ञता प्रदर्शित की गई है। उनका मन्तव्य है अपने पितृजन के प्रति अपनी कृतज्ञता को न भूलो। यह भी न भूलो कि संसार एक परिवार है। दूसरों के क्रुद्ध हो जाने पर भी तुम स्वयं क्रुद्ध न बनो। कार्य करने में आलस्य न करो। देवों के उदार सद्गुणों को विस्मृत न बनो।

इस प्रकार इस धर्म में 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की निर्मल भावना के रूप में अहिंसा का प्रतिपादन हुआ है।

सिक्ख धर्म में अहिंसा

सिक्ख धर्म का उद्भव भारत में हुआ। भारत के प्राचीन धर्म और दर्शन से अनेक विशेषताएँ ग्रहण कर गुरु नानक ने नवीन धर्म की संस्थापना की। सिक्ख धर्म में कर्ममार्ग, योगमार्ग, ज्ञानमार्ग और भक्तिमार्ग

---

१ सूफीमत—साधना और साहित्य, पृ० २१२ २ वही, पृ० ३१६
३ Glimpses of World Religions p 266
४ Glimpses of World Religions, p 280

इन चार मार्गों का प्रतिपादन किया गया है। कममार्ग को दो भागों में विभक्त किया है—प्रधनप्रद कम और मोक्षप्रद कम। मोक्षप्रद कम में हरि कीतन आध्यात्मिक आदि कम आते हैं। सिक्खों ने वदिक कमकाण्ड का विरोध किया जिसमें यज्ञ में नाम पर हिंसा होती थी। उसका उन्होंने खण्डन करते हुए लिखा—हिंसा करने भस्म लगाने, सिर मुंडा देने से उद्धार नहीं होता। उद्धार उसी का होता है जिसकी दृष्टि में समभाव हो, समभाव वाला व्यक्ति ही वास्तविक योगी है।[1]

अहिंसा के सिद्धान्त का महत्त्व देते हुए गुरु नानक ने कहा—जो सब की भलाई करता है—सभी की भलाई बिना अहिंसा सिद्धान्त को अपनाना सम्भव नहीं है—वही महान है।[2] अहिंसा की निमल भावना से प्रेमभाव की वद्धि होती है। गुरु गोविन्दसिंह ने प्रेम की महत्ता बताते हुए कहा—बिना प्रेम के प्रभु प्राप्त नहीं हो सकता।[3] गुरु अजुनदेव ने कहा—विश्व को अपना समझो, मेरा न कोई शत्रु है न अपरिचित ही। मेरे लिए सभी समान हैं। मेरे सबसे बनती है।[4]

गुरु ग्रंथ साहब में कहा है—रक्त लग जाने से वस्त्र पर दाग लग जाता है, वसे ही रक्तयुक्त मास खाने से मन मला हो जाता है। इसलिए मास ग्रहण करना दोषपूर्ण है।[5]

सिक्ख धर्म में भी सात्त्विक भोजन पर बल दिया। अहिंसा की भावना वहां भी पनपी है। सिक्ख धर्म ने अन्याय को सहन करना हिंसा माना है इसीलिए उसके प्रतिकार के लिए व सतत तयार रहे। उनकी यह

---

१ जोग न हिंसा जोग न डंडे

एक दृष्टि कर समसर जागे
जोगी कहिये सोई ॥

२ नानक नाम चढ़दी कला।
तेरे भाणे सबत का भला॥

३ साच कहूं सुनि लेहु सबहि।
जिन प्रेम कियो तिनही प्रभु पाया॥

४ ना को वरी न ही बगाना।
सकल संगि हम को बन आई॥

५ ज रत लग कपड जामा होए पलीत।
जे रत पीवें मामा तिन क्यों निर्मल चीत॥

भावना अन्याय के प्रतिकार के लिए थी। वे युद्ध के लिए युद्ध नहीं करना चाहते थे।

सन्त साहित्य में अहिंसा

भारतीय साहित्य में सन्त साहित्य का अपना विशिष्ट स्थान और महत्त्व है। सन्त भारत के विविध प्रान्तों में उत्पन्न हुए। पंढरपुर से लेकर पुरी तक और कश्मीर से लेकर कन्याकुमारी तक सन्तों ने जन-जीवन में अंधविश्वास, रूढ़ियों के विरोध में क्रान्ति के स्वर फूंक दिये। क्षत्रिय और ब्राह्मण ही नहीं अपितु हरिजन गिरिजन भी सन्त बनकर जन-जन की श्रद्धा के केन्द्र बने। उन्होंने स्पष्टतया जातिवाद का खंडन किया।[1] 'सौ सयाने एक मता" की उक्ति के अनुसार सभी सन्तों ने हिंसा के विरोध में अपने स्वर बुलन्द किये। दक्षिण भारत के नयनार आल्वार कर्नाटक के वीर शैव एवं दासपंथ के सन्त महाराष्ट्र के सन्त गुजरात राजस्थान बंगाल व उत्तर भारत के सन्त प्रेम अहिंसा और समता का प्रचार करते रहे। विस्तार भय से उन सभी सन्तों के अहिंसापरक उद्गार हम यहाँ नहीं दे रहे हैं। केवल दो-चार प्रमुख सन्तों के ही उदाहरण प्रस्तुत कर रहे हैं—

सम दृष्टि तब जानिए सीतल समता होय।
सब जीवन की आतमा लखै एक सी सोय॥
रज्जब अज्जब काम है जो दिल न दुखाया जाय।
यहाँ खसर उस पर खता आगे खरी खुदाय॥ —रज्जब

हम तो एक-एक करि जाना।
दोइ कहै तिनको है दोजख जिन नाहिन पहचाना॥
एक पवन एक ही पानी, एक जोती संसारा।
एक ही खाक घड़े सब भांडे एक ही सिरजनहारा॥ —कबीर

कुंजर चींटी पशु नर सब में साहब एक।
काटे गला खोदाय का, करे सूरमा लेख॥ —मलूकदास

निरवैरी सब जीव सौं संत जन सोई।
दादू एकै आतमा वैरी नहीं कोई॥ —दादू

मन करि दोष न कीजिए वचन न लाय कर्म।
घात न करिए देह सौं, कहै अहिंसा धर्म॥ —सुन्दरदास

---

१ जाति न पूछो साधु की पूछ लीजिए ज्ञान।
मोल करो तलवार का पड़ा रहन दो म्यान॥ —कबीर

के प्राणों को नष्ट करने के लिए उस पर आक्रमण करता है, उसे पीड़ा देता है, उसका शोषण करता है। वह शरीर को अधिक से अधिक यातना देने का प्रयास करता है। उसकी वे सारी प्रवृत्तियाँ जिनसे दूसरे प्राणियों का अहित या विनाश होता हो, द्रव्यहिंसा है। जब मानव के मन में किसी के प्रति विद्वेष की ज्वाला प्रज्वलित हो रही हो, कषाय और ईर्ष्याएँ मन में भड़क रही हों, इस प्रकार मनोविकारों की उत्तेजना, भावहिंसा है। द्रव्य हिंसा मुख्यतः दूसरे प्राणियों के जीवन का अहित करती है और भावहिंसा अपनी आत्मा का ही अहित करती है। भावहिंसा चिन्तन शक्ति को कुण्ठित करती है। वह आत्मशक्तियों पर आवरण डाल देती है। व्यक्ति मन ही मन अपने विरोधियों का सर्वनाश करने की सोचता है। जिस समय मन में इस प्रकार की दुर्भावनाएँ उठती हैं उसी समय भावहिंसा तो हो ही जाती है। यदि प्रतिपक्षी बहुत ही सबल है, आप उसका विनाश करना चाहते हुए भी उसका बाल भी बाँका नहीं कर सकते, किन्तु कषायपूर्ण दुश्चिन्तन से आपने अपनी आत्मा और आत्मिक गुणों का घात तो कर ही लिया। यही भावहिंसा है।

हिंसा के विविध विकल्प

द्रव्यहिंसा और भावहिंसा के आधार पर आचार्यों ने हिंसा के चार विकल्प[1] किये हैं—

१ भावहिंसा हो, द्रव्यहिंसा न हो।
२ द्रव्यहिंसा हो, भावहिंसा न हो।
३ द्रव्यहिंसा भी हो, भावहिंसा भी हो।
४ न द्रव्यहिंसा हो और न भावहिंसा हो।

प्रथम विकल्प में भावहिंसा का सद्भाव और द्रव्यहिंसा का असद्भाव बताया है। जैसे विरोधी व्यक्ति अधिक शक्तिसम्पन्न हो अथवा अनुकूल साधनों के अभाव में वह भावहिंसा तो करता है किन्तु द्रव्यहिंसा नहीं कर पाता। महात्मा गांधी ने भी सभी प्रकार की असभ्यताओं अशिष्टताओं और दुर्भावनाओं को हिंसा कहा था। इस विकल्प में विद्वेषपूर्ण भावना प्रधानतम होती है।

द्वितीय विकल्प में द्रव्यहिंसा का सद्भाव और भावहिंसा का असद्भाव है। साधक जो साधना के पथ पर प्रतिपल प्रतिक्षण बढ़ रहा है

---

१ दशवैकालिकचूर्णि, प्रथम अध्ययन

उसके अन्तर्मानस में किसी भी प्राणी को कष्ट देने का किंचित मात्र भी विचार नहीं है न उसकी वाणी से ही किसी का कष्ट पहुँचता है और न उसका आचरण ही किसी का कष्ट देने वाला है। वह विवेकपूर्वक प्रत्येक कार्य करता है। तथापि चलते फिरते, उठते बैठते प्रमत्त हिंसा होती ही है। आचार्यों ने कहा है "पक्ष्मणोपि निपातेन तेषां स्यात् स्कंधपर्यय।" आखों के पलक झपकने मे भी असंख्य प्राणी मर जाते हैं। जहा तक शरीर है वहाँ तक हिंसा पूर्ण रूप से रुक नहीं सकती। यहाँ द्रव्यहिंसा तो है पर भाव हिंसा नहीं है। कल्पना कीजिए—एक डाक्टर रुग्ण व्यक्ति की शल्य चिकित्सा कर रहा है। वह रुग्ण व्यक्ति को बचाने का पूर्ण प्रयास करता है तथापि वह मर जाता है। इस स्थिति में द्रव्यहिंसा होने पर भी भावहिंसा नहीं है। इस कोटि की अहिंसा आत्मा के अध पतन का कारण नहीं बनती।

तृतीय विकल्प में द्रव्य और भाव दोनो प्रकार की अहिंसा का सद्भाव है। मन मे किसी को नष्ट करने का विचार उत्पन्न हुआ और उसे नष्ट भी कर दिया। इसमे दुहरी हिंसा हुई। यह हिंसा प्रथम विकल्प की अपेक्षा अधिक अध पतन का कारण है।

चतुर्थ विकल्प में न द्रव्यहिंसा है न भावहिंसा ही। यह विकल्प हिंसा की दृष्टि से शून्य है। आत्मा की जब पूर्ण विशुद्ध दशा होती है जिसे जैन परिभाषा में चौदहवें गुणस्थान की स्थिति कहते हैं उस अयोग अवस्था में आत्मा पूर्ण रूप से मन वचन और काया के योगो का निरुन्धन कर लेता है अत हिंसा का मूलत अभाव हो जाता है।

इन चार विकल्पो में पहला और तीसरा विकल्प हिंसा की कोटि मे हैं। द्वितीय विकल्प में द्रव्यहिंसा होने पर भी भावहिंसा न होने से वह वस्तुत कर्मबन्धन का कारण न होने से हिंसा नहीं मानी जाती है। चतुर्थ विकल्प में हिंसा का पूर्ण अभाव है।

साराश यह है कि राग द्वेष के वशीभूत होकर किसी भी प्राणी को कष्ट देने के जितने भी मानसिक वाचिक और कायिक प्रकार एव क्रिया कलाप हैं वे सभी हिंसा में समाविष्ट होते हैं। आचार्य जिनदासगणि महत्तर ने दशवैकालिकचूर्णि[1] में लिखा है—मन वचन काया के दुरुपयोग से जो प्राणघात होता है वह हिंसा है। सूत्रकृताग[2] मे तिविहेण' तीन विधियां

---

1 दशवैकालिकचूर्णि प्र० अ० ३४४ 2 सूत्रकृतांग १ २ गा० १ १६

से हिंसा न करना बताया है। उपासकदशांग में भी मन, वचन और काया से हिंसा न करने का स्पष्ट आदेश है। आचारांग में षटकाय के जीवों की हिंसा न करने का आदेश है।

स्तर की दृष्टि से हिंसा के दो रूप बनते हैं—परस्पर जीवों के भेद और कषाय की मात्रा। एकेन्द्रिय जीवहिंसा में कषाय की मात्रा कम होती है किन्तु त्रसकाय पंचेन्द्रिय जीवहिंसा में कषाय की मात्रा अधिक होती है। अतः भगवान महावीर ने कहा - 'सब प्राणी, सब भूत, सब जीव और सब सत्वों को न मारना चाहिए, न अन्य व्यक्ति के द्वारा मरवाना चाहिए, न बलात्कार से पकड़ना चाहिए, न परिताप देना चाहिए, न उन पर प्राणापहार उपद्रव करना चाहिए—यह अहिंसा रूप धर्म ही शुद्ध है शाश्वत है।'[1]

हिंसा के तीन रूप

हिंसा के तीन रूप बनते हैं—(१) संरंभ (२) समारंभ (३) आरंभ।

व्यक्ति के अन्तर्मानस में हिंसा की भावना पैदा होना, हिंसा करने के सम्बन्ध में सोचना, मन में एक योजना बनाना संरंभ है। यह एक प्रकार से वैचारिक और मानसिक हिंसा है। समारंभ—मन में जो हिंसक विचार उत्पन्न हुए उन विचारों को मूर्त रूप देने हेतु हिंसक शस्त्रास्त्रों का संग्रह कर उन्हें व्यवस्थित रूप से रखना 'समारंभ' है। आरंभ—मानसिक या वैचारिक दृष्टि से जो योजना बनाई उस योजना के अनुसार शस्त्रास्त्रों का उपयोग करना आरम्भ है।

इससे यह स्पष्ट है कि हिंसा का जन्म सर्वप्रथम मन में होता है फिर वचन में आता है और उसके बाद आचरण में। प्रमाद या कषाय के वशीभूत होकर प्रतिशोध की भावना उसके मन में उत्पन्न होती है। फिर वचन के द्वारा वह प्रतिशोध की भावना कटु शब्दों के द्वारा व्यक्त होती है तत्पश्चात् हिंसा आचरण में व्यक्त होती है।

आचार्य अमृतचन्द्र[2] ने लिखा है जब मन में कषाय उद्बुद्ध होती है तो सर्वप्रथम शुद्धोपयोग रूप, भावप्राणों का घात होता है। यह प्रथम

---

१ आचारांग श्रु० १ अ० ४ उ० १

२ यत्खलु कषाययोगात्प्राणानां द्रव्यभावरूपाणाम्।
व्यपरोपणस्य करणं सुनिश्चिता भवति सा हिंसा ॥ —पुरुषार्थ० श्लोक ४३

हिंसा है। उसके पश्चात कषाय की तीव्रता से दीप श्वासोच्छ्वास हस्त पाद आदि से अपने अंगोपांगों को कष्ट पहुँचाता है, यह दूसरी हिंसा है। उसके बाद मर्मभेदी कुवचनों से सत्पुरुष के अन्तरंग मानस को पीड़ा पहुँचाई जाती है यह तीसरी हिंसा है। फिर तीव्र कषाय व प्रमाद से उस व्यक्ति के द्रव्यप्राणों को नष्ट करता है यह चतुर्थ हिंसा है। इस तरह द्रव्य और भाव रूप प्राणों का घात करना हिंसा है।

संरंभ समारंभ और आरंभ इन तीनों हिंसाओं के मूल में क्रोध, मान माया, लोभ ये चार कषाय हैं। इन चार कषायों के साथ संरंभ आदि तीनों भेदों का गुणा करने से हिंसा के बारह भेद होते हैं। उन बारह भेदों का मन वचन और काय योग के तीन भेदों से गुणा करने से हिंसा के ३६ भेद होते हैं। मन वचन और काया से स्वयं हिंसा करना दूसरों से करवाना और करते हुए का अनुमोदन करना। इस प्रकार ३६ भेदों को ३ से परिगुणन करने पर हिंसा के १०८ प्रकार होते हैं।

हिंसा के इन समस्त प्रकारों से निवृत्ति होना पूर्ण अहिंसा है।

हिंसा के चार विभाग

जीवन को हिंसा की कालिमा से मुक्त करने के लिए जैनाचार्यों ने अन्य दृष्टि से हिंसा के चार विभाग किये हैं—

(१) संकल्पी हिंसा (२) आरंभी हिंसा
(३) उद्योगी हिंसा (४) विरोधी हिंसा

संकल्पी हिंसा—मारने की भावना से जान-बूझकर किसी प्राणी का वध करना या उसे आघात पहुँचाना, संकल्पी हिंसा है। अपने मनोरंजनार्थ अथवा शक्ति के प्रदर्शन हेतु निर्बल व निर्दोष प्राणियों को परस्पर लड़ाना, उनका शिकार करना, अपने स्वार्थ हेतु अर्थोपार्जन के लिए पशु-पक्षियों का वध करना उन्हें बंधन में बाँधना मानवों को नष्ट करना यह संकल्पी हिंसा है।

आरंभी हिंसा—भोजन निर्माण करते समय, घर दुकान व अन्य स्थानों की सफाई करते समय वस्त्र आदि का प्रक्षालन करते समय या अन्यान्य कार्य करते समय होने वाली हिंसा, आरम्भी हिंसा है।

उद्योगी हिंसा—मानव को अपने तथा अपने परिवार के व्यक्तियों के जीवन पालन हेतु सामाजिक एवं राष्ट्रीय दायित्व को निभाने के लिए

निरयावलिका[1] में भी कालकुमार आदि युद्ध करते हुए मरकर चतुर्थ नरक में उत्पन्न होते हैं। यद्यपि युद्ध करते हुए मन में क्रूर भावना आना स्वाभाविक है। प्रवचनसारोद्धार[2] में बताया है—जो राग-द्वेष के अधीन होकर अपनी या दूसरों की घात करता है वह निश्चित रूप से ज्ञानावरण दर्शनावरण आदि आठों कर्मों की प्रकृतिबंध स्थिति बंध आदि बांधता है। हिंसा के आचरण से वह महा उद्यमी, वीतराग से विपरीत हो अशुभोपयोग से मिथ्यात्व को प्राप्त करता है। इस प्रकार हिंसा के आचरण से मिथ्यात्व को प्राप्त होता है।

मूलाचार में[3] भी आचार्य वट्टकेर स्वामी ने लिखा है— 'हिंसा पाप है दोषों के आगमन का द्वार है। उससे जीवों का नाश होता है।" जैसे छिद्रवाली नौका जल में डूब जाती है, वैसे ही हिंसा आदि आश्रवों से जीव संसार सागर में डूब जाता है।

आचार्य अमृतचन्द्र[4] ने लिखा है—दो व्यक्ति एक ही समान कार्य कर रहे हैं। एक को तीव्र बंध होता है और दूसरे को कम होता है। कार्य एक होने पर भी भावों की तीव्रता और मन्दता के कारण बंध में अन्तर पड़ता है।

एक व्यक्ति के अन्तर्मानस में हिंसा करने की भावना उद्बुद्ध हो परन्तु अवसर प्राप्त न होने से वह हिंसा करने में सफल न हो सका, किन्तु हिंसा के संकल्प रूप काषायिक परिणामों द्वारा बंधे हुए कर्मों का फल उदय में आ गया, उसके बाद जिस की हिंसा करने की इच्छा की थी उसको करने में सफल हो सका। ऐसी स्थिति में हिंसा करने से पूर्व ही हिंसा का फल वह भोग लेता है।

इसी प्रकार किसी के अन्तर्मानस में हिंसा करने का विचार आया और उस विचार द्वारा बाँधे हुए कर्मों के फल के उदय में आने की अवधि तक वह प्रस्तुत हिंसा करने में समर्थ हो सका तो ऐसी स्थिति में हिंसा करते ही उसका फल भोगना प्रारम्भ हो जाता है। किसी ने हिंसा करने

---

१ निरयावलिका अ० १ १०६   २ प्रवचनसारोद्धार अ० २ गा० ४७-४६

३ मूलाचार बृहत्प्रत्याख्यानसंस्तरस्तवाधिकार गा० ४१ पंचाचाराधिकार गा० २३८ ३९, द्वादशानुप्रेक्षाधिकार गा० ७३६

४ एकस्य सैव तीव्रं दिशति फलं सैव मन्दमन्यस्य।
व्रजति सहकारिणोरपि हिंसा वैचित्र्यमत्र फलकाले ॥ —पुरुषार्थसिद्ध्युपाय ५३

का आरम्भ किया, पर वह किसी कारण हिंसा करने म समथ न हो सका, तथापि आरम्भजनित वध का फल उसे अवश्य ही भोगना पडता है।

तात्पय यह है कि कषाय भावो की तीव्रता और मन्दता के अनुसार हिंसा का फल प्राप्त होता है।[1]

अहिंसा क दो प्रकार विधयात्मक और निषेधात्मक

अहिंसा के मुख्य रूप से दो प्रकार ह—(१) निषेधात्मक और (२) विधेयात्मक।

निषेध से तात्पय है किसी भी चीज का न होने दना। निषेधात्मक अहिंसा का अथ है किसी भी प्राणी के प्राणा का हनन न होना उन्ह किसी भी प्रकार का कष्ट न पहुँचाना। आचाराग, सूत्रकृताग प्रश्नव्याकरण दशवकालिक आवश्यक प्रभति आगमा म षटकाय का तीन करण तीन योग मे हानि न पहुँचाने का जा सिद्धान्त प्रतिपादित किया गया है वह अहिंसा का निषेधात्मक रूप है। पर अहिंसा का विधयात्मक रूप भी है। यदि हम केवल अहिंसा के नकारात्मक पहलू पर ही सोचत हैं ता यह अहिंसा को अपूण समझना है। अहिंसा का पूण रूप से समझन क लिए उसके विधयात्मक पहलू को भी समझना होगा। प्रश्नव्याकरण म अहिंसा क जा ६० नाम आये हैं उनमे दया रक्षा, अभय आदि नाम अहिंसा के विधेयात्मक पहलू पर प्रकाश डालते हैं।

अहिंसा के व्यावहारिक रूप दया अभय आदि

दया, करुणा, अनुकम्पा के अभाव म धम का बीज अकुरित नही हा सकता। वस्तुत दया एक ऐसी भाषा है जिस बहरे सुन सकते है और मूक बाल सकते हैं। दया के अभाव म समस्त क्रियाएँ केवल पाखण्ड हैं। दया एक ऐसी महान शक्ति है जो जीवन को नया मोड देती है। वह जीवन का विराट और व्यापक बनाती है। जन जन के मन का भय से मुक्त कराती है। उसकी शीतल और सुखद छाया म प्राणी पूण अभय हा जाता है। अहिंसा और दया विश्व के समस्त आतको का दूर करन वाली सजीवनी बूटी है।

दया की परिभाषा करत हुए ज्ञानविमलसूरि ने कहा है—दया से

---

१ प्रायस्य फलति हिंसा क्रियमाणा फलति च कृतापि।
आरभ्यकर्तुमकृतापि फलति हिंसानुभावेन ॥ ५४ ॥ —पुरुषार्थसिद्धयुपाय

असत्य कभी मत बोलो।[1] अथर्ववेद के अनुसार असत्यवादी वरुण के पाश में पकड़ा जाता है। उसका उदर फूल जाता है।[2] आचार्य मनु का मन्तव्य है कि इस लोक में भी असत्य बोलने वालों को घोर पापी माना जाता है। तस्कर केवल दूसरों के धन का अपहरण करता है पर मृषावादी अपनी आत्मा के सद्गुणों का भी अपहरण करता है।[3] सज्जनों के बीच किसी बात को न बतलाना भी असत्य है। शब्द और अर्थ को तोड़ मरोड़कर उल्टे-सीधे रूप में प्रस्तुत करना, असत्य के साथ ही स्तेय-कृत्य की तरह है।[4] शतपथ ब्राह्मण में सत्य को मानव का सर्वश्रेष्ठ गुण कहा है। इसके अभिमतानुसार असत्यभाषी अपवित्र है। वह किसी भी यज्ञ आदि पवित्र कार्यों को करने का अधिकारी नहीं है।[5] सत्य के द्वारा ही मानव में तेजस्विता आती है। उसका नित्य अभ्युदय होता है वह सिद्धि का वरण करता है। जो व्यक्ति सत्य बोलता है उसका तेज प्रतिपल प्रतिक्षण बढ़ता है और असत्य बोलने वाले का तेज क्षीण होता चला जाता है। अतः सदा सत्य भाषण करना चाहिए।[6]

सृष्टि सत्य पर प्रतिष्ठित है

वैदिक के ऋषि ने सत्य को सर्वोच्च स्थान दिया है। उनका अभिमत है कि सृष्टि की उत्पत्ति के क्रम में सर्वप्रथम ऋत और सत्य उत्पन्न हुए। सत्य से ही आकाश पृथ्वी वायु स्थिर हैं। सत्य के [illegible] असत्य की किंचित भी प्रतिष्ठा नहीं है।[7] एक अन्य ऋषि [illegible] कहता है—पृथ्वी सत्य पर आधृत है। सत्य के कारण ही [illegible] चमचमाता हुआ सूर्य सारे विश्व [illegible] प्रकाश और ताप [illegible] कारण ही शीतल मन्द-सुगन्ध [illegible] है। और [illegible] की जितनी भी वस्तुएँ हैं वे सभी [illegible] प्रतिष्ठित हैं।[8]

---

१ (क) सत्यं वद — तैत्तिरीय [illegible]
२ अथर्ववेद ४।१६
४ [illegible]—मनुस्मृति ८।२
५ शतपथ ब्राह्मण ३।१।२।१०
६ शतपथ ब्राह्मण [illegible] २ ११
७ ऋग्वेद ७।१०४।१२
८ सत्येन [illegible] सत्येन
[illegible]

मात्र भूल का पात्र है। जीवन में भूल होना उतना बुरा नहीं है। यदि जीवन में कोई पाप भी हो गया है और उस पाप को सत्य रूप में स्वीकार कर लेता है तो वह उस पाप से मुक्त हो जाता है।[1] उपनिषद्कार का मन्तव्य है कि सत्य से आत्मा उपलब्ध होता है।[2] सत्य आत्म साक्षात्कार का साधन है। आत्मानुभूति का हेतु है।

सत्य पर चलना कठिन

जैन पुराण साहित्य में ऐसे प्रसंग प्राप्त होते हैं जहाँ असत्यभाषण से अनेक व्यक्तियों का पतन हुआ है। किंचित असत्य भाषण भी विविध दुविधाओं और पतन का कारण बन जाता है। जैसे—राजा वसु ने जान बूझकर 'अजर्यष्टव्यम्' पद के मिथ्या अर्थ को सत्य मानकर उसका प्रतिपादन कर दिया था तथा मिथ्या अर्थ के पक्ष में निर्णय कर दिया था जिससे उसका सिंहासन पृथ्वी में धँस गया था।

मानव जीवन में यदि सत्यनिष्ठा नहीं है तो उसके जीवन में धर्म का कोई अस्तित्व ही नहीं है। धर्म की जड़ सत्य पर आधृत है। सामान्य रूप से सत्य पर दृढ़ रहना सहज नहीं है। सत्य का पथ तलवार की धार पर चलने से भी अधिक कठिन है। तलवार पर दो पैसे लेकर बाजीगर भी चल सकता है अपनी कला दिखाकर जन जन के मन को मुग्ध कर सकता है। किन्तु सत्य के मार्ग पर चलना अत्यधिक कठिन है। तलवार की धार पर चलने के लिए सतत जागरूकता अपेक्षित है। बिना तन्मयता के नुकीली धार पर चलना खतरे से खाली नहीं है। जरा सी असावधानी से धार पर को काट सकती है। किन्तु सत्य का मार्ग तलवार की धार से भी अधिक तीखा है। किंचित मात्र भी असावधानी यहाँ नहीं चल सकती।[3] अतः सत्य के पथिक साधक को अत्यन्त जागरूकता के साथ अपने कर्त्तव्य पथ पर बढ़ना चाहिये।

सत्य और आचरण

भारत की शासकीय मुद्रा पर 'सत्यमेवजयते' अंकित है। धार्मिक स्थलों पर भी सत्य बोलने के लिये प्रेरणा प्रदान की जाती है। चाहे धर्म नेता हो, समाजनेता हो या राष्ट्रनेता हो—वे सभी सत्य बोलने की प्रेरणा देते हैं और असत्य के परिहार के लिए कहते हैं। पर आज जीवन में और

---

१ प्रश्न व्याकरण २, ४, २, २० २ बृहदारण्यक उपनिषद् ३, १, ५

व्यवहार मे सत्य कितना अपनाया जा रहा है यह एक चिन्तनीय प्रश्न है।

पाश्चात्य दार्शनिक आर० डब्ल्यू० एमसन ने एक बार कहा था—सत्य का सर्वश्रेष्ठ अभिनन्दन यही है कि हम जीवन मे उसका आचरण करें। राष्ट्रपिता महात्मा गांधी ने भी स्पष्ट शब्दों मे कहा—जो व्यक्ति सत्य को जानता है तथा मन, वचन काया से सत्य का आचरण करता है वह परमात्मा को पहचानता है। एक दिन वह मुक्ति को भी वरण कर सकता है।

सत्य जीवन का आधार

एक पाश्चात्य चिन्तक ने लिखा है कि मानव-जीवन की नींव सत्य पर आधृत है। सत्य सम्पूर्ण जीवन और सृष्टि का एक मात्र आधार है। इमर्सन ने कहा है—सत्य वह है जिस सुन्दरतम और श्रेष्ठतम आधार पर मानव अपना जीवन अवलम्बित कर सकता है। सत्य का आधार ही सर्वोपरि तथा सर्वश्रेष्ठ आधार है।

महाभारत के उद्योग पर्व मे यह बताया गया है कि जिस प्रकार नौका के सहारे से व्यक्ति विशाल समुद्र को पार कर जाता है वैसे ही मानव सत्य के सहारे नरक तिर्यंच के अपार दुःखों को पार कर स्वर्ग प्राप्त कर लेता है।[1]

सत्य का मरहम

शरीर में उष्मा रहती है वहां तक यदि शरीर पर मक्खी मच्छर आदि बैठते हैं तो शरीर उसे सहन नहीं कर पाता। उष्मा समाप्त होने के पश्चात् यदि शरीर के टुकडे-टुकडे भी कर दिये जायें तो भी उसे पता नहीं लगता। साधक के जीवन मे भी सत्य की उष्मा रहती है तब तक कोई भी दुर्गुणरूपी मक्खी मच्छर उसे बर्दाश्त नहीं होता। शास्त्रों में बताया गया है—यदि किसी श्रमण से मोह की तीव्रता के कारण महाव्रत भंग हो गया है और वह आचार्य उपाध्याय या गुरुजन के समक्ष जाकर अपनी उस भूल का उनके सामने यथातथ्य बताकर तथा प्रायश्चित्त लेकर शुद्ध हो जाता है तो उस श्रमण को आचार्य आदि वरिष्ठ पद भी दिया जा सकता है। महाव्रत भंग जैसे भयंकर घाव को भी सत्यरूपी मरहम भर देता है। जिस श्रमण का सत्य महाव्रत पूर्ण रूप से सुरक्षित है, वह श्रमण

---

१ सत्यं स्वर्गस्य सोपानं, पारावारस्तु नौरिव।

जड बहुत ही गहरी होती हैं। वह शताधिक वर्षों तक अपना अस्तित्व बनाये रखता है आँधी और तूफान भी उसे धराशायी नही कर पाते। जब कि लताए बहुत ही शीघ्रता से बढती है और शीघ्र ही नष्ट भी हो जाती हैं। हल्का सा सूर्यताप उन्हें सुखा देता है और मामूली वर्षा से ही वे सड जाती हैं। इसीलिए कहा है, 'सत्य में हजार हाथियो के बराबर बल होता है। सत्यनिष्ठ व्यक्ति में इतना अधिक आत्मबल होता है कि उसके सामने भौतिक व अनैतिक बल टिक नही सकता।

आवश्यकसूत्र और प्रश्नव्याकरणसूत्र मे सत्यवादी का महत्त्व प्रतिपादित करते हुए लिखा है कि सत्यवादी सत्य के दिव्य प्रभाव में विराट काय समुद्र को तैर सकता है। पानी उसे डुबा नही सकता और अग्नि उसे जला नही सकती। खौलता हुआ तेल तप्त लोहा, गर्मागर्म शीशा सत्यवादी के हाथ का संस्पर्श होते ही बर्फ की तरह शीतल हो जाते हैं। पर्वत की ऊँची चोटियों से गिरकर भी वह मरता नही। शत्रुओं से घिरने पर भी शत्रु उसका बाल बाका भी नही कर पाते। यहाँ तक कि देव भी उसके चरणो की धूल लेने के लिये लालायित रहते है।

योगदर्शन में सत्य को अपार शक्ति का परिणाम प्रतिपादित करते हुए कहा है सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम् सत्य का पूर्ण परिपाक हो जाने पर किसी भी प्रकार की कोई कमी नहीं रहती। वह चाहे जिसे वरदान या अभिशाप दे वह सत्य होकर ही रहता है।

सत्य सुदृढ़ कवच है

पाश्चात्य दार्शनिक काट का अभिमत है, सत्य वह तत्त्व है जिसे अपनाने पर मानव भले बुरे की परख कर सकता है। हृदय मे रहे हुए सभी सद्गुणों के विकास की चाबी मानव की सत्यनिष्ठा में सन्निहित है। असत्य दुर्गुणो की खान है। सत्य सभी सद्गुणों में श्रेष्ठ है अत आत्मबल की अभिवृद्धि और ईश्वरत्व संप्राप्त करने के लिए भारतीय तत्त्वचिन्तकों ने सत्य को सभी सद्गुणो में श्रेष्ठ सद्गुण माना है। चीन के महान चिन्तक कन्फ्यूशियस का अभिमत है कि जो सत्यार्थी होगा वह कर्मठ भी होगा। आलस्य और विलासिता असत्य की देन है।

सत्य का पवित्र पथ ऐसा पथ है। जिस पर चलने वाले को न अहंकारी सतायेगा और न माया ही परेशान करेगी। सत्य ऐसा सुदृढ कवच है जिसे धारण करने पर दुर्गुण चाहे कितना भी प्रहार करें किन्तु सत्यवादी

पर उसका कोई असर नहीं होगा। सत्य अभीष्ट फल प्रदान करने वाला है।

एक कवि ने कहा है—इस पृथ्वी पर ऐसा कौन सा मानव है जिसके हृदय को मधुर व सत्य वचन हरण नहीं करता है। वह सभी के हृदय को आकर्षित करने वाला महामन्त्र है। संसार का प्रत्येक प्राणी प्रतिपल प्रतिक्षण सत्य वचन सुनने की ही आकांक्षा करता है। देव भी सत्य वचन से प्रसन्न होकर मनोवांछित फल प्रदान करते हैं। इसलिए तीन लोकों में सत्य से बढ़कर अन्य कोई भी व्रत नहीं है।[1] उपनिषद्कार ने कहा है— सत्य ज्ञानरूप और अनन्त ब्रह्मस्वरूप है।[2]

सत्य महाव्रत की भावनाएँ

गृहस्थ साधक सत्य को स्वीकार तो अवश्य करता है पर परिपूर्ण रूप से वह सत्य का पालन नहीं कर पाता। उसका सत्य अणुव्रत होता है किन्तु श्रमण सत्य को पूर्ण रूप से स्वीकार करता है इसलिए उसका सत्य सिर्फ व्रत नहीं महाव्रत होता है।

क्रोध, लोभ, हास्य, भय, प्रमाद आदि मोहनीय कर्म की प्रकृतियों के अस्तित्व में रहने पर भी मन, वचन और काया से तथा कृत, कारित और अनुमोदना से कभी भी झूठ न बोलकर हर क्षण सावधानीपूर्वक हितकारी, सार्थक और प्रियवचन बोलना सत्य महाव्रत है।[3] निरर्थक और अहितकारी बोला गया सत्य वचन भी त्याज्य है। इसी तरह सत्य महाव्रती को असभ्य वचन भी नहीं बोलना चाहिए।[4] यह भोजन बहुत ही अच्छा बना है, यह भोजन बहुत ही अच्छी तरह से पकाया हुआ है इस प्रकार सावद्य वचन भी उसे नहीं बोलना चाहिए।[5] 'मैं प्रस्तुत कार्य को आज अवश्य ही कर लूँगा' इस प्रकार निश्चयात्मक भाषा का भी प्रयोग श्रमण को नहीं करना चाहिए। क्योंकि सावद्य भाषा से हिंसा की

---

१ प्रियं सत्यं वाक्यं हरति हृदयं कस्य न भुवि ?
गिरं सत्यां लोकः प्रतिपदमिमामर्थयति च ॥
सुराः सत्याद् वाक्याद् ददति मुदिता कामितफलम् ।
अतः सत्याद् वाक्याद् व्रतमभिमतं नास्ति भुवने ॥

२ सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म ।

३ उत्तराध्ययन २५, २४, १९, २७

और निश्चयात्मक भाषा के बोलने से असत्य होने की आशंका रहती है। इसलिए साधक को सदैव हितकारी, प्रिय व सत्य भाषा का ही प्रयोग करना चाहिए।

मन से सत्य बोलने का संकल्प करना भाव सत्य है, सत्य बोलने का प्रयास करना करण सत्य है और सत्य बोलना योग सत्य है। भावसत्य से अन्तःकरण विशुद्ध होता है, करण सत्य से सत्यरूप क्रिया को करने की अपूर्व शक्ति प्राप्त होती है तथा योग सत्य से मन वचन काया की पूर्ण शुद्धि होती है।

अहिंसा के उदात्त संस्कारों को मन में सुदृढ़ बनाने के लिए जैसे पाँच भावनाओं का निरूपण किया है वैसे ही सत्य महाव्रत की सुदृढ़ता के लिए पाँच भावनाएँ प्रतिपादित की गई हैं। जो श्रमण इन भावनाओं का मनोयोगपूर्वक चिन्तन करता है वह संसार सागर में परिभ्रमण नहीं करता।[1] भावनाओं के निदिध्यासन से व्रतों में स्थिरता आती है।[2] मनोबल दृढ़ होता है और निर्मल संस्कार मन में सुदृढ़ होते हैं। अतः भावनाओं का आगम साहित्य में विस्तार से विश्लेषण किया गया है। आचारांग[3] समवायांग[4] और प्रश्नव्याकरण[5] में भावनाओं का निरूपण है पर नाम व क्रम में कहीं कहीं अन्तर है। उनके नाम इस प्रकार हैं—

आचारांग में

(१) अनुवीचिभाषण (२) क्रोध प्रत्याख्यान (३) लोभ प्रत्याख्यान (४) अभय (भय प्रत्याख्यान) (५) हास्य प्रत्याख्यान।

समवायांग में

(१) अनुवीचि भाषण (२) क्रोध विवेक (क्रोध का परित्याग) (३) लोभविवेक (लोभ का परित्याग) (४) भय विवेक (भय का त्याग) (५) हास्य विवेक (हास्य का त्याग)।

प्रश्नव्याकरण में

(१) अनुचिन्त्य समिति भावना (२) क्रोध निग्रहरूप क्षमाभावना

---

१ उत्तराध्ययन ३१ १७

२ तत्स्थैर्यार्थं भावनाः पंच-पंच। —तत्त्वार्थ ७ ३

३ आचारांग द्वितीय श्रुतस्कंध १५वां भावना अध्ययन

४ समवायांग २५वां समवाय

५ प्रश्नव्याकरण सूत्र संवरद्वार सातवां अध्ययन

(३) लाभविजय रूप निर्लोभ भावना (४) भयमुक्ति रूप धैर्ययुक्त अभय भावना (५) हास्यमुक्ति वचन संयम रूप भावना।

चारित्र प्राभृत में[1]

(१) अक्रोध (२) अभय (३) अहास्य (४) अलोभ (५) अमोह।

प्रश्नव्याकरण की भाँति ही तत्त्वार्थ सूत्र की टीकाएं सर्वार्थसिद्धि और राजवार्तिक[2] में भी क्रम मिलता है।

इन पाँचों भावनाओं में जिन कारणों से सत्य की साधना में स्खलना आ सकती है उनसे अलग-अलग रहने के लिए प्रेरणा प्रदान की गई है। प्रतिपल प्रतिक्षण चिन्तन करने से साधक में वे संस्कार बद्धमूल हो जाते हैं जिससे वह किसी भी समय और परिस्थिति में असत्य का उपयोग नहीं कर सकता।

हम यहाँ पर प्रश्नव्याकरण का मूल आधार मानकर ही उन भावनाओं पर चिन्तन कर रहे हैं।

(१) अनुविचिन्त्य समिति भावना

अनुचिन्त्य अथवा अनुविचिन्त्य से तात्पर्य है सत्य के विभिन्न पहलुओं पर पुनः पुनः चिन्तन करके बोलना। जब तक जीवन के कण-कण में एवं मन के अणु-अणु में सत्य पूर्ण रूप से रम नहीं जाता वहाँ तक सत्य की साधना व आराधना पूर्ण नहीं होती। सत्य की महिमा और गरिमा का तभी पता चलता है जब साधक मनोयोगपूर्वक उस पर गहराई से चिन्तन करता है। सत्य के महत्त्व को समझकर साधक उसके बाधक[3] तत्त्वों का परित्याग करता है।

सत्य के बाधक तत्त्व ये हैं—

(१) **अलीक वचन**—जो बात नहीं है उसे कहना, स्वयं की प्रशंसा करने के लिए और दूसरों को नीचा दिखाने के लिए झूठ बोलना।

---

१ कोहभयहासलोहा मोहा विवरीयभावणा चेव।
विदियस्स भावणाए ए पंचेव य तहा होंति॥
—अष्टप्राभृत में चारित्र प्राभृत ३२ आचार्य कुन्दकुन्द

२ तत्त्वार्थ सूत्र ७।५ की टीकाएं

३ अलियपिसुणफरुसकडुयचवलवयणपरिरक्खणट्ठयाए।
—प्रश्नव्याकरणसूत्र संवरद्वार दूसरा अध्ययन

(२) पिशुन वचन अथवा चुगली—नारद की भांति एक दूसरे के विपरीत बात कहकर लड़ाना। एक राजस्थानी कवि ने चुगलखोर का वर्णन करते हुए कहा—वह बहुत ही खतरनाक प्राणी है जिसके कारण सरसब्ज बाग वीरान और शहर उजड़ जाते हैं। पशुन्य ऐसा चालाक तस्कर है जो सत्य रूपी धन को चुरा लेता है।

(३-४) कठोर वचन तथा कटु वचन—ये दोनों भी सत्य के शत्रु हैं। हित की भी बात भी कटु शब्दों में नहीं कहनी चाहिए। दूध को एक मिट्टी के बर्तन में रखकर पिलाया जाय और उसी दूध को चमचमाते हुए चाँदी या स्वर्ण पात्र में पिलाया जाय तो पीने वाले को अधिक आल्हाद किसमें होगा? स्वर्ण या चाँदी के पात्र में। वैसे ही सत्य को भी मधुर शब्दों में कहा जाय तो वह अधिक प्रभावशाली होगा।

(५) चपल वचन—बहुत ही उतावल जल्दबाजी से बिना सोचे बोलना। व्यवहारभाष्य[1] में आचार्य ने लिखा है—अंधा व्यक्ति जैसे अपने साथ आँख वाले व्यक्ति रखता है वैसे ही वाणी जो अंधी है उसे अपने साथ बुद्धि रूपी नेत्र रखना चाहिए अर्थात पहले अच्छी तरह बुद्धि से सोच कर फिर वाणी का प्रयोग करना चाहिए।

साधक को सत्य के इन पांचों बाधक तत्त्वों से बचना चाहिए।

यहाँ पर यह स्मरण रखना होगा कि आचारांग, समवायांग और प्रश्नव्याकरण में उल्लिखित अनुवीचि भाषण या अनुविचिन्त्य समिति के स्थान पर आचार्य कुन्दकुन्द ने अमोहं भावना का उल्लेख किया है पर चारित्र प्राभृत के टीकाकार ने अनुवीचिभाषण ही रखा है[2] और अमोह का अर्थ अनुवीचिभाषणकुशलता किया है। आगम के टीकाकारों ने 'अनुवीचि भाषण' का अर्थ चिन्तनपूर्वक बोलना किया है जबकि चारित्रप्राभृत की टीका में[1]

---

1 पुब्वि बुद्धिए पासेत्ता तत्तो वक्कमुदाहरे।
अचक्खुओ व नेयारं बुद्धिमन्नेसए गिरा॥ —व्यवहारभाष्य पीठिका ७६

2 अकोहणो अलोहो य भय हस्स विवज्जिओ।
अणुवीचि भासकुसलो विदिय वदमिस्सुओ॥
—चारित्रप्राभृत, गाथा ३२ की टीका

1 वीचा वाग्लहरी तामनुकृत्य या भाषा वर्तते सानुवीची भाषा—जिनसूत्रानुसारिणी भाषा—अनुवीची भाषा—पूर्वाचार्यसूत्र परिपाटीमनुल्लंघ्य भाषणीयमित्यर्थः।
—चारित्रप्राभृत गाथा ३२ की टीका

'वीची' का अर्थ 'तरंग' तथा 'तरंग' किया गया है और उस वचन तरंग का अनुसरण करने वाली जो वाणी भाषा को अनुवीची कहा गया है। दूसरे शब्दों में यों कहा जा सकता है कि सूत्र का अनुसरण करने वाली और पूर्वाचार्य व पूर्व परम्परा का अनुसरण करने वाली भाषा अनुवीचि भाषा है। उसके पश्चात् प्रस्तुत भाषा के सम्बन्ध में भी चिन्तन चला। भट्ट अकलंक ने भाषा के अर्थों का स्वीकार किया है।[1]

सारांश यह है कि प्रस्तुत भावना में भाषा व उसके गुण-दोषों पर चिन्तन करके सत्य के प्रति मन में दृढ़ता बनाये रखी जाती है।

(२) क्रोधनिग्रहरूप क्षमा भावना

यह द्वितीय भावना है। प्रथम भावना में चिन्तनपूर्वक विवेकयुक्त वचन बोलने का अभ्यास किया जाता है। निरन्तर अभ्यास करने से संस्कार सुदृढ़ हो जाते हैं।

असत्य भाषा के प्रयोग का प्रथम कारण क्रोध है। क्रोध का भूत जब मस्तिष्क पर सवार होता है तब विवेक लुप्त हो जाता है। वह दूसरों पर मिथ्या दोषों का आरोपण करने लगता है। उसे यह भान ही नहीं रहता कि मैं किसके सामने और क्या बोल रहा हूँ। क्रोध अनेक दुर्गुणों की खिचड़ी है इसीलिए प्रस्तुत भावना में क्रोध से बचकर क्षमा को धारण करने का संकल्प किया जाता है। मन को क्षमा से भावित करने का उपक्रम करना ही इस भावना का मूल उद्देश्य है।

(३) लोभविजयरूप निर्लोभ भावना

क्रोध की तरह लोभ भी सत्य का संहार करने वाला है। क्रोध में द्वेष की प्रधानता होती है तो लोभ में राग की प्रधानता। सूर्य के चमचमाते हुए दिव्य प्रकाश को उमड़ घुमड़कर आने वाली काली कजराली घटाएँ रोक देती हैं और अंधकार मंडराने लगता है वैसे ही लोभ की घटाओं से भी मानव का विवेक धुंधला हो जाता। सत्य सूर्य का प्रकाश मन्द हो जाता है।

लोभ के कारण मानव असत्य भाषण करता है। सत्य का साधक लोभ से बचने के लिए इस प्रकार चिन्तन करता है कि जिन पर-पदार्थों

---

१ अनुवीचि भाषणं अनुलोमभाषणमित्यर्थः विचार्य भाषणं अनुवीचि भाषणमिति वा।

पर मैं मुग्ध हो रहा हूँ। ये सभी वस्तुएँ क्षणिक हैं। संसार के असार वस्तु इन वस्तुओं के प्रति ममत्व एवं लोभ न करे ही है। अतः वह निर्लोभ भावना चिन्तन कर लाभ की क्षति को नष्ट करने में सतत प्रयत्नशील रहता है।

(४) भयमुक्तियुक्त अभय भावना

लोभ मीठा जहर है जो साधक के जीवन रस को चूस लेता है उसे विषमिश्रित कर देता है तो भय कटु जहर है जो साधक के जीवन को ग्रस्त कर देता है। भय का संस्कार होने पर व्यक्ति की बुद्धि कुंठित हो जाती है, वह करणीय तथा अकरणीय का यथातथ्य निर्णय नहीं कर पाता।

स्थानांग[1] में सात भय बताये हैं—(१) इहलोक भय (२) परलोक भय (३) आदान भय (४) अकस्मात् भय (५) वेदना भय (६) मरण भय (७) अपयश भय। इन भयों के कारण मानव असत्य भाषण करता है।

भयभीत व्यक्ति सत्य नहीं बोल पाता। इसीलिए आगम साहित्य में साधक को यह स्पष्ट आदेश दिया है कि तुम्हें भयभीत नहीं होना चाहिए। भय के दुष्परिणामों पर चिन्तन कर अभय बनने का प्रयास करना चाहिए।

सुप्रसिद्ध विचारक इमर्सन ने लिखा है—भय अज्ञान से उत्पन्न होता है।

साधक भयनिर्मुक्ति के लिए अभय भावना से आत्मा को भावित कर सत्य के चिन्तन को सुदृढ़ करता है।

(५) हास्य मुक्ति वचन संयम रूप भावना

स्वास्थ्य के लिए मानव को सदा प्रफुल्लित रहना चाहिए। खिले हुए फूल की तरह उसका चेहरा होना चाहिए।

उत्तम मानवों की आँखें हँसती हैं। जब भी हँसने का प्रसंग आता है उनकी आँखों से ऐसी रोशनी चमकती है कि मानव का मन आनन्द से विभोर हो जाता है। मध्यम मानव खिलखिलाकर हँसता है और अधम मानव अट्टहास करता है। उससे ठहाके से दीवारें गूंजने लगती हैं। इस प्रकार की हँसी असभ्यता व जंगलीपन का प्रतीक है। समझदार व्यक्ति बहुत कम हँसता है। वह हँसी मजाक का परित्याग कर इन्द्रियों को संयत

---

१ स्थानाङ्ग सूत्र स्थान ७

करता है।[१] राजस्थानी कहावत भी है 'रोग की जड़ खांसी लड़ाई की जड़ हांसी।' हास्य सत्य का शत्रु है। एक कवि ने कहा—ए मानव! हँस मत! हँसना उत्तमता का प्रकार नहीं है। हँसी से अनेक दोष आ जाते हैं और गुण चले जाते हैं तथा लोग पागल समझते हैं।[२]

हँसी मजाक करने वाला गंभीर नहीं हो सकता। वह विवेकयुक्त शब्दों का चयन नहीं कर पाता, सत्य असत्य का विवेक नहीं रख पाता। लोगों को हँसाने के लिए वह जोकर विदूषक या भांड की तरह चेष्टा करता है जिससे लोग हँसें। वह दूसरों का उपहास भी करता है जिससे दूसरों के हृदय को आघात लगता है। इसलिए ही शास्त्रकारों ने साधक को हँसी मजाक न करने के लिए प्रेरणा दी है।

यहाँ यह स्मरण रखना होगा कि हँसी मजाक और विनोद में अन्तर है। विनोद में सौम्यता होती है यथार्थता होती है। विनोद में इस प्रकार से शब्दों का प्रयोग होता है जिससे किसी के दिल को पीड़ा नहीं होती किन्तु हँसी मजाक में दूसरों के मन में पीड़ा होती है। 'एक व्यंग वचन हजार गालियों से भी भयानक होता है' तथा 'एक मसखरी सौ गाली' आदि लोकोक्तियाँ व्यंग हास्य की भयंकरता का दिग्दर्शन कराती हैं। अतः साधक हँसी मजाक का परित्याग करता है और संयम के द्वारा ऐसे संस्कार जागृत करता है जिससे उसकी वाणी पूर्ण संयत, निर्दोष और यथार्थ होती है हित, मित, प्रिय, तथ्य व सत्य से संयुक्त होती है।

उपर्युक्त पंक्तियों में सत्य के सम्बन्ध में संक्षेप में कुछ चिन्तन किया है। यों सत्य का स्वरूप बहुत ही विराट है। शब्दों के संकीर्ण घेरे में उसे बांधना सम्भव नहीं है। किन्तु संक्षेप में समझा तो जा ही सकता है। □

---

१ सव्वं हासं परिच्चज्ज अल्लीण गुत्तो परिव्वए। —आचारांग ३१२

२ हसिए नहीं गिंवार हसिया हलकाई हुवे।
हँसिया दोष अपार गुण जावै गहला कह॥

३. अस्तेय व्रत के विविध आयाम

स्तेय

श्रमण संस्कृति ने अहिंसा तथा सत्य के समान ही 'अस्तेय' पर भी बहुत ही गहराई से चिन्तन किया है। जैसे हिंसा में मुख्य रूप से क्रूरता रहती है वैसे ही स्तेय में तृष्णा की मुख्यता रहती है। किसी भी सुन्दर और आकर्षक वस्तु को निहारकर मानव की इच्छा उसे प्राप्त करने की होती है और वह इच्छा इतनी प्रबल हो जाती है जिससे मानव के चित्त में अत्यधिक चंचलता उत्पन्न होती है उसके मन मस्तिष्क उसे प्राप्त करने के लिए लालायित होते हैं तथा शारीरिक अंगोपांग उस वस्तु को उठाने एवं अपने अधिकार में करने के लिए प्रयत्नशील हो जाते हैं। यदि वह वस्तु न्याय और नीति से उपलब्ध हो जाय तो ठीक नहीं तो वह इच्छा का अनुचर अनैतिक कार्य करने के लिए तत्पर हो जाता है। अनैतिक प्रकार से, असामाजिक तरीके से और अनधिकृत रूप से किसी भी पदार्थ को प्राप्त करना स्तेय है।

स्तेय के लिए 'अदत्तादान' शब्द का प्रयोग हुआ है। बिना दी हुई वस्तु को स्वयं की इच्छा से उठाना, स्वामी की अनुमति के बिना किसी भी वस्तु को ग्रहण करना व उसका उपभोग एवं उपयोग करना अदत्तादान है। इसे ही चोरी कहते हैं।

अस्तेय वृत्ति

प्रश्नव्याकरणसूत्र[1] में स्तेय और अस्तेय की विस्तार से व्याख्या की गई है। उसमें स्तेय और अस्तेय के अनेक रूप बताये हैं। किसी की निन्दा करना, किसी के दोषों को देखना, चुगली करना, दान आदि सत्कर्म में अन्तराय डालना, अन्य जीवों के प्राणों का अपहरण करना, दूसरे के अधिकार को छीनना, किसी की भावना को ठेस पहुँचाना, किसी के साथ अन्याय करना आदि सभी तस्कर कृत्य हैं। अस्तेय महाव्रत के साधक को तस्कर वृत्ति के इन सभी प्रकारों से अपने आपको बचाना होता है।

---

१ प्रश्नव्याकरण—आश्रवद्वार अध्ययन ३ तथा संवरद्वार, अध्ययन ३

प्रतिष्ठा प्राप्त करने के लिए मानव नीति-अनीति को विस्मृत होकर तथा कर्त्तव्य अकर्तव्य को भुलाकर धन बटोरने का प्रयास कर रहा है।

संग्रहवृत्ति : तस्करी का मूल

जब संग्रहवृत्ति बढ़ती है तब चोरी पनपती है। उपनिषद का प्रसंग है—राजा अश्वपति ने[1] कहा था—मेरे राज्य में न कोई चोर लुटेरा है, न कोई भ्रष्टाचारी है, न कोई कृपण है और न कोई मदिरा पीने वाला ही है। यूनान के राजदूत मेगास्थनीज ने सम्राट चन्द्रगुप्त के समय भारत की यात्रा की थी। उन्होंने अपने ग्रन्थ में लिखा है कि पाटलीपुत्र आदि में ताले नहीं लगाये जाते थे। वहाँ पर रास्ते में गिरी हुई किसी वस्तु को कोई नहीं उठाता था। कोई भी चोरी करना नहीं जानता था। बड़े से बड़ा लेन देन केवल जबानी होता था। उसके लिए लिखा-पढ़ी की आवश्यकता नहीं थी।

आज भारत वैसा नहीं

जो भारत एक दिन आध्यात्मिकता के उच्च शिखर का स्पर्श कर रहा था, जहाँ एक दिन चोरी आदि दुर्गुण नहीं थे आज वहाँ की स्थिति कितनी दयनीय है? धर्मस्थानों में भी दिन दहाड़े चोरियाँ होती हैं। जब रवीन्द्रनाथ ठाकुर चीन और जापान गये थे, तब वहाँ के लोगों ने उनका भव्य स्वागत किया। उन्होंने कहा—आप उस देश से पधारे हैं जहाँ पर तथागत बुद्ध जैसे विशिष्ट महापुरुषों ने जन्म लिया है। जहाँ पर कोई चोरी नहीं करता, लूट पाट और डकैती नहीं होती। रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने आँखों में आँसू भरकर कहा—तुम्हारा कथन ठीक है। एक दिन भारत ऐसा ही था पर आज भारत वैसा नहीं रहा है। आज भारत में चोरियाँ भी होती हैं लूट-पाट और डकैती भी होती है।

'परद्रव्येषु लोष्ठवत्' माननेवाले भारत में आज ढेले की भी चोरी की जाती है। चोरी का अर्थ है—जिस वस्तु पर अपना स्वामित्व नहीं है उसे लेना अर्थात् किसी दूसरे के अधिकार की वस्तु पर अधिकार करना। भले ही वह वस्तु रास्ते में पड़ी हुई हो किन्तु उसके मालिक की अनुमति के बिना उसका उपयोग करना किसी की धरोहर का छीनना किसी की आँखों में धूल डालकर या उसके घर दुकान आदि में सेंध लगाकर या उसकी अनुपस्थिति में उस वस्तु का अपहरण करना चाहे वस्तु बड़ी हो या छोटी हो, बहुत कीमती हो या अल्प मूल्य वाली हो, बिना मालिक की

---

1 न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न च मद्यप।

इच्छा के तथा बिना उसकी अनुमति लिये उस पर अधिकार करना चोरी है। भगवान महावीर ने[1] स्पष्ट शब्दों में कहा है—वस्तु सजीव हो या निर्जीव हो, कम हो या अधिक हो अल्पमूल्यवाली हो या बहुमूल्यवाली हो, उसे बिना मालिक की आज्ञा के ग्रहण करना उसका उपयोग करना चोरी है। यहाँ तक कि बिना अनुमति के दाँत कुरेदने के लिए तिनका उठाना भी चोरी का अपराध है।

चोरी के विभिन्न प्रकार

यों तो चोरी के अनेक प्रकार हैं किन्तु मुख्य रूप से चोरी के निम्न प्रकार गिनाये जा सकते हैं—

छन्न नजर, ठग, उदघाटक, बलात और घातक।

छन्न चोरी से तात्पर्य है किसी के घर में अनेक वस्तुएँ हैं वे वस्तुएँ चाहे स्वयं के घर पर ही रखी हुई हों तथापि उस वस्तु के मालिक की बिना आज्ञा, परोक्ष में गुप्त रूप से उस वस्तु को उठाकर अपने अधिकार में कर लेना या उपयोग करना।

नजर चौकस—वस्तु के अधिपति या उसके संरक्षक सज्जन की आँख बचाकर वस्तु को ग्रहण कर लेना और फिर उसका उपयोग करना।

ठगी—वस्तु के मालिक के सामने ही वस्तु को लेना। किन्तु इस तरह से लेना जिससे मालिक को ज्ञात न हो सके। अच्छी वस्तु बताकर निम्न कोटि की वस्तु देना या वस्तु में मिलावट करना, नाप-तोल में गड़बड़ करना, वस्तु का जितना दाम है उससे अधिक मूल्य लेना, ये सभी ठग वृत्ति हैं।

उदघाटक—किसी व्यक्ति की गाँठ को खोलकर, जेबकतर कर, सेंध लगाकर ताला तोड़कर तिजोरी तोड़कर जो चोरी की जाती है वह उद्घाटक चोरी है।

बलात—डाका डालकर, जबरदस्ती छीन-झपटकर या मार-पीट कर, शस्त्र दिखाकर किसी की चीज को छीनना। किसी के घर पर जाकर उन्हें भय दिखाकर लूट लेना आदि। अधिकार कर लेना रिश्वत लेना आदि।

घातक—चोरी के साथ-साथ चोर वस्तु के स्वामी अथवा संरक्षक की हत्या भी कर देता है और उसकी सभी चीजें ग्रहण कर लेता है। ऐसी चोरी घातक चोरी कहलाती है।

---

[1] चित्तमन्तमचित्तं वा अप्पं वा जइ वा बहुं।
दंतसोहणमेत्तं पि उग्गहंसि अजाइया॥

से सारी चोरियाँ वस्तु के अधिपति की असावधानी से होती हैं और प्रत्यक्ष में भी दिखाई देती हैं।

ये सभी अर्थ चोरी के ही प्रकार हैं।

कुछ चोरियाँ अप्रत्यक्ष भी होती हैं। किसी के द्वारा अत्यधिक सुन्दर कार्य किया गया हो तो "यह कार्य मैंने किया है" या किसी कवि या लेखक वक्ता के भावों को लेकर अपने नाम से लिखना या शब्दों के हेर फेर कर अपना नाम लगाना आदि नाम चोरी है। जिस व्यक्ति ने तप नहीं किया है किन्तु किसी को उसी के नाम से भ्रम हो गया हो और कोई उसे कहे—'धन्य है आपको! आप जैसे तरुण तपस्वी को देखकर मेरा हृदय आनन्द से झूम रहा है।' इस प्रकार प्रशंसात्मक शब्द सुनकर भी जो स्पष्टीकरण नहीं करता कि आप जिसके लिए कह रहे हैं, वह मैं नहीं हूँ। वे दूसरे हैं। दूसरे के नाम को छिपाकर यश प्राप्त करने का प्रयास करना यह भी नामचोरी ही है। चाहे वह गृहस्थ हो या साधु दोनों के लिए त्याज्य है।

चोरी के अन्य प्रकार

किसी दूसरे की वस्तु को उसकी सम्मति लिये बिना उपयोग करना चोरी का अन्य प्रकार है। जैसे किसी संस्था की किसी वस्तु को उस संस्था को बिना पूछे उपयोग करना तथा मन में सोचना कि जब माँगेंगे तब दे देंगे तब तक तो उपयोग में ले लें। यदि किसी व्यक्ति से कोई वस्तु माँगकर लाई गई है तो वह कार्य पूर्ण होते ही वह वस्तु उस व्यक्ति को लौटा देनी चाहिए। यह नहीं सोचना चाहिए कि जब तक वे नहीं माँगेंगे तब तक हम इसका उपयोग करते रहें। यह भी एक प्रकार से चोरी ही है।

आवश्यकता से अधिक संग्रह कर रखना भी चोरी का एक प्रकार है। क्योंकि एक स्थान पर संग्रह हो जाने से वह वस्तु जरूरतमंद व्यक्ति को नहीं मिल पाती। वह उससे वंचित रहता है। इसलिए यह भी चोरी है।

जिस व्यक्ति के पास जो शक्तियाँ हैं चाहे वह धन की हो बुद्धि की हो या किसी अन्य प्रकार की शक्तियाँ हों उन शक्तियों को यदि वह उपयोग में नहीं लेता है तो वह भी एक तरह से चोरी ही है। इस प्रकार का व्यक्ति स्वयं भी अशान्त होता है।

चोरी का एक प्रकार यह भी है कि किसी ने किसी पर उपकार किया तो उस उपकार को भूल जाना। अथवा अहंकारवश अपने उपकारी का नाम छिपाना। किसी से कोई कला सीखी हो और यदि कोई उसे पूछे

कि यह कला आपने किससे सीखी तो गुरु के नाम को बतलाने में कतराना तथा यह कहना कि यह साधना तो मैंने स्वयं ही अपने बुद्धिबल से प्राप्त की है। यह उपकार विस्मरण चोरी है।

तस्कर व्यापार भी चोरी का एक प्रकार है।

माता पिता के प्रति सतान का क्या कर्त्तव्य है? शिष्य का गुरुजनों के प्रति क्या कर्त्तव्य है? प्रत्येक व्यक्ति का राष्ट्र के प्रति क्या कर्त्तव्य है? जो काम स्वल्पतम समय में हो सकता है उस काय को लम्बे समय तक न करना। डाक्टर, अध्यापक, व्यापारी, सनिक, पुलिस सेनापति वकील वैज्ञानिक, बालक और साधु आदि का क्या कर्त्तव्य है? यदि वे कर्त्तव्य से विमुख होते हैं तो यह भी चोरी है।

अस्तेय महाव्रत

अस्तेय व्रत का यह व्यापक रूप है जो साधक को प्रतिपल जागरूक रहने की प्रेरणा देता है। श्रमण अस्तेय महाव्रत का धारक होता है। जरा सी भी यदि चोरी का सेवन होगा तो पतन अवश्यम्भावी है। श्रमण मन वचन-कर्म से न स्वयं किसी प्रकार की चोरी करता है न दूसरों से करवाता है और न चोरी करने वाले का अनुमोदन ही करता है। वह बिना आज्ञा कोई भी वस्तु ग्रहण नहीं करता। यहाँ तक कि यदि उसे कोई आज्ञा देने वाला न हो तो पृथ्वी के अधिपति शक्रेन्द्र की ही आज्ञा लेकर वह वस्तु ग्रहण करे किन्तु बिना आज्ञा के न कोई वस्तु ग्रहण करे और न उसका उपयोग ही करे। व्रतपालन करने में किंचित शैथिल्य भी भारी अनर्थ का कारण बन जाता है। तम्बू की प्रत्येक रस्सी खूटे से कसकर बंधी हुई होना अनिवार्य है। यदि एक भी डोरी ढीली रह गई तो तम्बू में पानी आने की अथवा पवन के वेग से उड जाने की संभावना रहेगी।

आज्ञा से ग्रहण करे

अचौर्य महाव्रत की रक्षा के लिए श्रमण को पुन-पुन आज्ञा ग्रहण करने का अभ्यास करना चाहिए। गृहस्थ की कोई भी चीज वह बिना उसकी आज्ञा ग्रहण न करे और जितने समय तक रखने की वह आज्ञा दे उतने समय तक ही रखे। यदि किसी वस्तु के लिए गृहस्थ आज्ञा भी दे दे तो भी यदि वह साधु मर्यादा के अनुकूल नहीं है तो साधु उस वस्तु को ग्रहण न करे।

गृहस्थ किसी वस्तु के लिए आज्ञा दे दे और वह वस्तु साधु-मर्यादा के अनुकूल भी हो किन्तु गुरुदेवश्री उस वस्तु को ग्रहण करने के लिए

इस तरह अनगार होकर आगार निर्माण करना भगवान की आज्ञा की चोरी है। अत प्रथम भावना म श्रमण चिन्तन करता है कि मैं अनगार हूँ। मुझे जो भी निर्दोष मकान मिल जाय उसमे रहना चाहिए। वहाँ कुछ असुविधा भी हो सकती है पर वह असुविधा क्षणिक है। मुझे अपने व्रतो की रक्षा करनी चाहिए। इस तरह के चिन्तन से साधक इस भावना को परिपुष्ट बनाता है।

(२) अनुज्ञात सस्तारक ग्रहण रूप अवग्रह समिति भावना

श्रमण आवास की चिन्ता से तो मुक्त होता ही है वह सस्तारक की चिन्ता से भी मुक्त होता है। वह बढिया बिस्तर को देखकर यह नही सोचता कि मुझे यह बिस्तर मिल जाय। वह तो यही सोचता है मही रम्या शय्या विपुलमुपधान भुजलता यह पृथ्वी का सुन्दर सेज है और यह भुजा ही मुलायम तकिया है। वह कभी भी मन म बिना अनुज्ञा दी हुए शय्या सस्तारक लेने की भावना नहा करता। साथ ही अवग्रह आदि पर चिन्तन करते हुए मर्यादा के अनुकूल शय्या आदि को ही ग्रहण करता है।

(३) शय्या सस्तारक परिकर्म वर्जना रूप शय्या समिति भावना

यह तृतीय भावना दोनो पिछली भावनाओ का सम्मिलित रूप है। पूर्व भावनाओं म मकान और बिछोना आदि की याचना न करने का सस्कार जगाया गया है और इस भावना म शय्या सस्तारक की सजावट का निषेध किया गया है। कभी-कभी मकान मिल जाता है किन्तु मकान हवादार न हो, जीर्ण शीर्ण हो, सुविधायुक्त न हो तो उसकी मरम्मत करवाने का चिन्तन किया जाता है। इसी तरह बिस्तर आदि को मुलायम आदि बनाने के बारे मे सोचता है। इन कार्यों म हिंसा स्वाभाविक है, और जहाँ हिंसा होती है वहाँ चोरी स्वत हो जाती है। क्योकि जिन जीवो के प्राण अपहरण किये गये हैं उन जीवो ने तो अनुमति दी नहा है। अर्थात जीवहिंसा चोरी है। अत श्रमण आवास और सस्तारक आदि को सुखप्रद बनाने के लिए ऐसा कार्य न करे जिससे जीवहिंसा हो। अत्यधिक मच्छर हो, तो मच्छरो को नष्ट करने के लिए धूप धुंआ आदि करने की न सोचे। वह सदा समता भाव मे रहे और चारित्र को निर्मल रूप म पालन करे।

(४) अनुज्ञात भक्तादि भोजन लब्ध साधारण पिण्डपात लाभ समिति भावना

आवास और शय्या के पश्चात् भोजन का क्रम है। श्रमण स्वय भोजन पकाता नहा। भिक्षा म जो भी निर्दोष आहार मिलता है उसका

वह उपयोग करता है। श्रमण का जीवन संघीय जीवन है। संघ में अनेक श्रमण अपनी शक्ति के अनुसार साधना करते हैं। संघ में कितने श्रमण पूर्ण स्वस्थ होते हैं और कितने ही रुग्ण भी होते हैं, कितने हृष्ट पुष्ट होते हैं तो कितने दुर्बल भी। आचार्य सभी के संयमी जीवन के सम्बन्ध में ऐसी व्यवस्था करते हैं जिससे किसी को बाधा न हो। संघीय जीवन तभी सुन्दर होता है जब उसमें मर्यादा और स्नेह मुख्य होता है। श्रमण शास्त्रविहित नियमों का अच्छी तरह से पालन करे। दूसरी बात, एक दूसरे पर विश्वास और स्नेह रखा जाय। यदि स्नेह और विश्वास न होगा तो संघीय व्यवस्था लड़खड़ा जाएगी। संघ में सभी को एक सदृश न्याय मिलना चाहिए।

यह प्रस्तुत भावना का उद्देश्य है कि वह चिन्तन करे कि वस्त्र, पात्र, आहार आदि जो भी वस्तुएँ प्राप्त हुई हैं उन पर किसी अकेले का अधिकार नहीं है। मुझे जो वस्तु प्राप्त हुई है उस पर संघ के प्रत्येक सदस्य का अधिकार है। अतः जो भी प्राप्त हुआ है मैं उसे गुरुजनों को समर्पित कर दूँ और कह दूँ आप जिसे आवश्यकता समझें उसे प्रदान करें। इस तरह गुरुजन भी उसे वितरण करते हैं।

प्रस्तुत भावना का प्रतिपल प्रतिक्षण चिन्तन करने से अन्तर्वृत्तियाँ उदार होती हैं। श्रेष्ठ वस्तु का केवल स्वयं उपयोग करना चोरी है। यह संघ व गुरुजनों की चोरी है। सहधार्मिकों के अधिकार का हनन भी है। अकेले के उपयोग करने से अविश्वास, अप्रीति और अप्रतीति बढ़ती है और उसका स्वयं का चारित्र भी दूषित होता है।

दशवैकालिक में[1] स्पष्ट कहा है—जो समविभाग नहीं करता है उसकी मुक्ति नहीं होती। उत्तराध्ययन[2] में ऐसे श्रमण को पाप श्रमण कहा है। उसके व्यवहार से संघ में जो स्नेह सद्भावना उत्पन्न होनी चाहिए, वह नष्ट हो जाती है। एतदर्थ ही इस भावना में स्वधर्मियों में संविभाग की निर्मल भावना जागृत की गई है।

(५) साधर्मिक विनयकरण समिति भावना

समान धर्म और आचरण वाले साधर्मिक कहलाते हैं। श्रमण के नियम, मर्यादा, आचार एक समान होते हैं। इसीलिए वे साधर्मिक

---

१ असंविभागी न हु तस्स मोक्खो। —दशवैकालिक ९, २, २३

२ असंविभागी अचियत्ते। —उत्तराध्ययन १७, ११

कहलाते हैं। श्रमणो मे परस्पर स्नेह सदभावना की अभिवृद्धि हेतु विनय और सदभाव आवश्यक है। लघु श्रमण का कर्तव्य है कि वह वडा के प्रति गहरी निष्ठा व्यक्त करे। उनका विनय आदि करे। वडा का कर्तव्य है कि व छोटा पर स्नेह सदभावना की अमृत वर्षा करें। इस तरह परस्पर एक दूसरे म स्नेह सदभावना जागृत होती है जिससे प्रच्छन्न वृत्ति नष्ट होती है। परस्पर एक दूसरे को भावित करते हुए परम श्रेय को प्राप्त कर सकते हैं।

इस भावना के अन्तर्गत श्रमण अपना मानसिक वातावरण इस प्रकार का बनाता है जिससे सेवा सहयोग और विनय की भावना स उसका हृदय सदा आल्हादित रहता है।

नाम व क्रम में अन्तर

अचौर्य महाव्रत की भावनाओ के क्रम व नामा मे काफी अन्तर है। समवायाग सूत्र म[1] इस महाव्रत की पाच भावनाओ का क्रम इस प्रकार है—

(१) अवग्रह की पुन पुन याचना करना।

(२) अवग्रह की सीमा जानना।

(३) स्वय अवग्रह की पुन पुन याचना करना।

(४) साधर्मिको की अवग्रह का अनुज्ञाग्रहणपूर्वक परिभोग करना।

(५) सर्वसाधारण आहार पानी का गुरुजनो आदि की अनुज्ञा ग्रहण करके परिभोग करना।

आचाराग[2] मे पच भावना इस प्रकार हैं—

(१) श्रमण प्रथम विचार करके परिमित अवग्रह की याचना करता है। इसके विपरीत जो विना चिन्तन किये ही मितावग्रह की याचना करता है वह अदत्त ग्रहण करता है। इसलिए परिमित अवग्रह की याचना करने की भावना करना।

(२) श्रमण निग्रंथ गुरु आदि की आज्ञा से भाजन आदि का उपयोग करता है जो विना अनुज्ञा ग्रहण किये आहार पानी का सेवन करता है तो वह अदत्तादान ग्रहण करता है। प्रस्तुत भावना म अनुज्ञा लेने के सबध में चिन्तन करता है।

(३) तृतीय भावना मे क्षेत्र और काल की मर्यादापूर्वक अवग्रह

---

१ समवायाग सूत्र समवाय ५

२ आचाराग २, १५ ७८४

ग्रहण नही करता है वह अदत्त ग्रहण करता है अत श्रमण क्षेत्र और काल की सीमा का स्पष्ट कर अवग्रह ग्रहण करने की इच्छा करता है।

(४) जो निग्रंथ अवग्रह की अनुज्ञा ग्रहण कर लेने पर पुन पुन अवग्रह की अनुज्ञा नही लेता है वह अदत्तादान के दोष से ग्रसित होता है। अत प्रस्तुत भावना म पुन पुन अनुज्ञा ग्रहण के सम्बन्ध म चिन्तन करता है।

(५) जो विना विचार किये साधर्मिका से परिमित अवग्रह की याचना करता है उस साधर्मिको के अदत्त ग्रहण करने का दोष लगता है। इसलिए विचारपूर्वक मर्यादित अवग्रह की याचना का चिन्तन करना।

आचारागचूर्णि[1] म पाँच भावना इस प्रकार है—

(१) यथायोग्य विचारपूर्वक अवग्रह की याचना करना।

(२) अवग्रह अनुज्ञा ग्रहणशील हो।

(३) अवग्रह की क्षेत्र, काल सम्बन्धी जो भी मर्यादा ग्रहण की हो, उसका उल्लघन न करना।

(४) गुरुजनो की अनुज्ञा ग्रहण करके आहार-पानी आदि का उपयोग करना।

(५) साधर्मिका से भी विचारपूर्वक अवग्रह की याचना करना।

आवश्यकचूर्णि मे[2] पच भावना इस प्रकार है—

(१) स्वय पुन पुन अवग्रह याचना करना।

(२) विचारपूर्वक मर्यादित अवग्रह की याचना करना।

(३) अवग्रह की गृहीत सीमा का उल्लघन न करना।

(४) गुरु आदि से अनुज्ञा ग्रहण करके आहार-पानी का सेवन करना।

(५) साधर्मिको से अवग्रह की याचना करना।

तत्त्वार्थसूत्र[3] मे पाँच भावना इस प्रकार हैं—

(१) शून्यागारावास—पर्वत की गुफा, वृक्ष आदि मे रहना।

(२) विमोचितावास—दूसरा के द्वारा छोडे हुए मकान आदि मे रहना।

(३) परोपरोधाकरण—दूसरा को ठहरने से न रोकना।

---

१ आचारागचूर्णि मूल पाठ टिप्पण पृ० २८०

२ आवश्यकचूर्णि प्रतिक्रमणाध्ययन १४३ १४७

३ (क) तत्त्वार्थसूत्र सर्वार्थसिद्धि ७ ६ पृ० ३४५ ४६

(ख) तत्त्वार्थ राजवार्तिक पृ० ५३६

(४) भक्त शुद्धि—आचारशास्त्र मे बतलाई हुई विधि के अनुसार भिक्षा ग्रहण करना।

(५) साधर्मीविसंवाद—यह मेरा है, यह तेरा है इस प्रकार साधर्मिकों से विसंवाद न करना।

आचारांगचूर्णि के[1] अनुसार अदत्तादानविरमण व्रत की सुरक्षा के लिए ये भावनाएं निरूपित की गई हैं। यात्रीशालाओं आदि में ठहरते समय क्षेत्र काल की मर्यादा का विचार करके उसके स्वामी द्वारा नियुक्त अधिकारी से अवग्रह की याचना करे। सदा अवग्रह की अनुज्ञा ग्रहणशील साधक घास, ढेला, राख सकोरा, उच्चार के स्थान, प्रभृति स्थानों के अवग्रह की अनुज्ञा ग्रहण करके उसे उपलब्ध करता है। श्रमण ने जितने अवग्रह की अनुज्ञा ली हो, वस्तुओं का छोटे बड़े क्रम के अनुसार उपभोग करे। गमनादि करे। साधर्मिकों के अवग्रह याचना करके वहाँ पर ठहरे शयनादि करे।

उक्त भावनाओं के अनुचिंतन से श्रमण का हृदय सरल और निश्चल बनता है। उसके मन में अचौर्यभाव के संस्कार सुदृढ बनते हैं। वह भूल कर भी अज्ञातरूप में भी किसी की वस्तु का अपहरण नहीं करता अधिकारों का हरण नहीं करता, उपकारी के उपकार को भूलता नहीं। उसका जीवन बहुत ही प्रशस्त होता है। □

---

१ आचारांगचूर्णि, मूल पाठ टिप्पण, पृ० २८५

वीर्य ही जीवन है

आयुर्वेदशास्त्र के ममन विज्ञ वाग्भटट ने[1] लिखा है—शरीर में वीर्य का होना जीवन है। रस से लेकर वीर्य तक जो सप्त धातु हैं उनका जो तेज है वही 'ओजस' कहलाता है। ओजस मुख्य रूप से हृदय में रहता है तथापि वह सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त रहता है। जैसे-जैसे ओजस की अभिवृद्धि होती है वैसे वैसे शरीर में शक्ति की मात्रा भी बढ़ती जाती है। ओजस से ही प्रतिभा, मेधा बुद्धि, लावण्य, सौन्दर्य और उत्साह की वृद्धि होती है।

महर्षि सुश्रुत का[2] अभिमत है—रस से शुक्र तक सप्तधातुओं के परम तेज भाग को ओजस कहते हैं। यह ओजस बल और शक्तियुक्त है।

शारंगधर[3] का कथन है—ओजस सम्पूर्ण शरीर में रहता है। वह अत्यन्त स्निग्ध शीतल स्थिर श्वेत, सौम्य तथा शरीर को बल तथा पुष्टि प्रदान करने वाला है।

शरीर में सबसे पहला तत्त्व रस है और अंतिम तत्त्व वीर्य है जो शक्ति का केन्द्र है। आयुर्वेद के ग्रन्थों के अनुशीलन से यह भी परिज्ञात होता है—एक धातु से द्वितीय धातु का निर्माण होने में पाँच दिन लगता है। भोजन करने के पश्चात जो उसमें सार भाग है वह रह जाता है और जो असार भाग है वह प्रस्वेद तथा मल मूत्र बाहर निकल जाता है। रस से वीर्य तक प्रत्येक धातु के निर्माण में दिन लगते हैं इस दृष्टि से वीर्य निर्माण में इकतीस दिन लगते यह भी मन्तव्य है कि चालीस सेर भोजन से एक सेर रक्त और

---

१ ओजस्तु तेजो धातूनां शुक्रान्तानां परं स्मृतम्।
हृदयस्थमपि व्यापि देहस्थितिनिबन्धनम्॥
यस्य प्रवृद्धौ देहस्य तुष्टि-पुष्टि-बलोदयाः।
यन्नाशे नियतो नाशो यस्मिंस्तिष्ठति जीवनम्॥
निष्पाद्यन्ते यतो भावा विविधा देहसंश्रयाः।
उत्साह-प्रतिभा-धैर्य-लावण्य-सुकुमारताः॥

२ रसादीनां शुक्रान्तानां धातूनां यत्परं तेजस्तत् खल्वोजस्तदेव बलम्।
—सुश्रुत ११।१९

३ ओजः सर्वशरीरस्थं स्निग्धं शीतं स्थिरं सितम्।
सोमात्मकं शरीरस्य बलपुष्टिकरं मतम्॥

सोना वीर्य बनता है। सामान्य व्यक्ति एक बार के सहवास में उतने श्रम से प्राप्त शक्ति को नष्ट कर देता है। एतदर्थ ही कहा है—वीर्य धारणं हि ब्रह्मचर्य—वीर्य का धारण करना ही ब्रह्मचर्य है।

शिवसंहिता[1] में बिन्दु के पात में मरण और बिन्दु के धारण से जीवन बताया है। इसी बिन्दु का धारण करने से महादेव ने कामदेव को भस्म कर दिया था और विषपान करके भी वे पूर्ण स्वस्थ और प्रसन्न रहे।

वीर्य की अद्भुत शक्ति

पाश्चात्य वैज्ञानिकों की दृष्टि से भी वीर्य में अद्भुत शक्ति है। वे वीर्य को सात धातुओं का सार नहीं मानते। उनके अभिमतानुसार वीर्य का निर्माण सीधे रक्त से होता है। वीर्य संपूर्ण शरीर में नहीं किन्तु अण्डकोष में रहता है। जैसे उत्तेजक पदार्थ के सम्पर्श से आंखों में आंसू आ जाते हैं और मुँह से लार टपकने लगती है वैसे ही कामोत्तेजक पदार्थों को निहारकर अन्तःकरण की प्रक्रिया में से वीर्य का बहिःस्राव होता है। वीर्य स्राव के दो रूप होते हैं—एक अन्तःस्राव और एक बहिःस्राव। अन्तःस्राव प्रतिपल प्रतिक्षण होता रहता है और वह संपूर्ण शरीर में व्याप्त हो जाता है। वह आंखों में तेज, मुख को कांतिमान और शरीर के सभी अवयवों को परिपुष्ट करता है। अन्तःस्राव के कारण ही बालक के शरीर में अभिवृद्धि होती है। बहिःस्राव में शुक्र कीटाणुओं के साथ प्रजनन प्रदेश के अन्य अनेक स्थलों से उत्पन्न हुए स्राव भी मिल जाते हैं। शुक्र कीटाणु और उन स्रावों के मेल का नाम ही वीर्य है। डा० गाडनर का कथन है—वीर्य कीटाणु रुधिर का सारतम भाग है। इसके शरीर में खप जाने से संपूर्ण देह में संजीवनी शक्ति का संचार हो जाता है।

शरीरशास्त्रियों का मत

शरीरशास्त्रियों का यह मानना है कि आभ्यन्तर या बाह्य किसी भी रूप में वीर्य शक्ति का ह्रास मानव की शक्ति के लिए हानिकर है। यद्यपि भारतीय आयुर्वेद के ग्रन्थों में अन्तःस्राव और बहिःस्राव भेद नहीं मिलते हैं पर आयुर्वेद के ग्रन्थों में तेजस और ओजस शब्द का प्रयोग हुआ

---

१ सिद्धे बिन्दौ महायत्ने किं न सिध्यति भूतले।
यस्य प्रसादान्महिमा ममाप्येतादृशोऽभवत्॥ — शिवसंहिता

ब्रह्मचर्य : अपूर्व कला

ब्रह्मचर्य जीवन की साधना है। वह एक अपूर्व कला है, जो विचार और व्यवहार को आचार में परिणत करती है। उससे शारीरिक सौन्दर्य में निखार आता है, मन विशुद्ध बनता है। वह कहने की चीज नहीं, आचरण करने की चीज है।

ब्रह्मचर्य में अमित शक्ति है, वह शक्ति मन में एक अपूर्व क्षमता का संचार करती है। अन्तरात्मा में एक प्रबल प्रेरणा उद्बुद्ध करती है। प्रचण्ड शक्ति व देदीप्यमान तेज के कारण जीवन में अपूर्व ज्योति जगमगाने लगती है। ब्रह्मचर्य ऐसी धधकती हुई आग है जिसमें तप कर आत्मा कुन्दन की तरह दमकने लगता है। ऐसी अद्भुत औषध है जिससे अपूर्व बल प्राप्त होता है। परमात्म तत्त्व के दर्शन करने के लिए विकारों का दमन करना आवश्यक है। ब्रह्मचर्य जहाँ बाह्य जगत में हमारे तन को स्वस्थ रखता है वहाँ अन्तर्जगत में विचारों को भी विशुद्ध रखता है। मानव में जब तक विकार उत्पन्न नहीं होता तब तक उसका सर्वांगीण विकास होता जाता है। ज्यों ही वासनाएँ मन में समुत्पन्न होती हैं त्यों ही जीवन का विकास रुक जाता है।

मानव का तन सामान्य तन नहीं है। वह बहुत ही मूल्यवान् है। इस शरीर का यदि सदुपयोग करे तो वह नर से नारायण बन सकता है, इन्सान से भगवान हो सकता है। पर मानव का अत्यन्त दुर्भाग्य है कि युवावस्था प्रारम्भ होते ही उसमें वासना की आग सुलगने लगती है। वह उस पर नियन्त्रण नहीं कर पाता। वातावरण के वायु से यह आग और भड़क उठती है जिससे उसके शरीर का तेज और ओज झुलसने लगता है। विकास की जो कल्पनाएँ उसके अन्तर्मानस में पनपती हैं वे कल्पनाएँ वासनाओं की चिनगारी से भस्म हो जाती हैं। वह प्रगति नहीं कर पाता। एतदर्थ ही भारत के तत्त्वदर्शी महर्षियों ने ब्रह्मचर्य पर बल दिया है। उन्होंने कहा है ब्रह्मचर्य जीवन को सुन्दर, सुन्दरतर और सुन्दरतम बनाता है।

आत्मा अनन्तकाल से अपने शुद्धस्वरूप को विस्मृत हो चुका है और जो उसका निज स्वभाव नहीं है उसे वह अपना स्वभाव मान बैठा है। अनन्त काल से विकार और वासनाएँ आत्मा के साथ हैं। पर वह आत्मा का स्वभाव नहीं है। पानी स्वभाव से शीतल है। अग्नि के संस्पर्श से वह उष्ण हो जाता है पर उष्णता उसका स्वभाव नहीं है। आग का स्वभाव उष्ण है, मिर्चों का स्वभाव तीखापन है, मिश्री का स्वभाव मधुरता है

वैसे ही आत्मा का स्वभाव विकाररहित है। विकार कर्मों का स्वभाव है। इसलिए वह औपाधिक भाव है। विभाव है। उस विभाव से हटकर निज स्वभाव में रमण करना ही ब्रह्मचर्य है। हम विभाव को स्वभाव मानकर उन विकारों को अपनाते रहे हैं। पर अनन्त काल से विकार साथ में रहने पर भी वे कभी स्वभाव नहीं बन सकते। विभाव परिणति से हटकर स्व-स्वभाव में रमण करना अर्थात आत्मभाव में रमण करना ब्रह्मचर्य है।

परधर्म भयावह

स्थानांग[1] में स्पष्ट कहा है कि आत्मा एक है। यह कथन संख्या की दृष्टि से नहीं, स्वभाव की दृष्टि से है। इस विराट विश्व में जितनी भी आत्माएँ हैं वे स्वभाव की दृष्टि से चैतन्य स्वरूप हैं, अनन्त शक्तिसंपन्न हैं और पूर्ण निर्मल हैं। जो विभिन्नता आत्माओं में दिखायी दे रही है वह विकारों के कारण है। जिसमें अधिक विकार हैं वह अधिक दूषित है और जिसमें जितने कम विकार हैं वह उतनी पवित्र है। जितने जितने अंशों में विकार भावना की मात्रा कम होगी उतनी ही आत्मा की पवित्रता अभिव्यक्त होगी। हम बाह्य शत्रुओं से लड़ना चाहते हैं उन्हें नष्ट करना चाहते हैं पर असली शत्रु हमारे मनोगत विकार हैं। हमें उन्हें दुर्बल और क्षीण करना है तथा अपना बल बढ़ाना है। स्वधर्म श्रेयकारी है[2] और परधर्म भयावह है।

ब्रह्मचर्य विद्याध्ययन

ब्रह्मचर्य का तीसरा अर्थ "विद्याध्ययन" है। अथर्ववेद[3] में लिखा है कि ब्रह्मचर्य से तेज, धृति साहस और विद्या की उपलब्धि होती है। यह शक्ति का स्रोत है। उससे मन में बल साहस निर्भयता, प्रसन्नता और शरीर में अपूर्व तेजस्विता आती है।

ब्रह्मचर्य जीवन धन

वैदिक परम्परा ने आश्रम व्यवस्था को मान्य किया है। उसमें सर्वप्रथम आश्रम ब्रह्मचर्याश्रम है। ब्रह्मचर्य की सुदृढ़ नींव पर ही अन्य आश्रम टिके हुए हैं। ब्रह्मचर्य से बुद्धि पूर्ण रूप से निर्मल रहती है। इसलिए वह प्रत्येक विषय को सहज रूप में ग्रहण कर सकती है। ब्रह्मचर्याश्रम में

---

१ स्थानांग १, १

२ स्वधर्मे निधनं श्रेयः, परधर्मो भयावहः। —भगवद्गीता

३ ब्रह्मचर्येण वै विद्या। —अथर्ववेद ११ । ५ । १७

ब्रह्मचर्य की आराधना के साथ अध्ययन करता था। ब्रह्मचारी वासना से कलुषित और विलासिता के वातावरण से पूर्णतया अलग थलग रहता था। केवल अध्ययन करना ही उसका मन था।

वेदों के प्रसिद्ध भाष्यकार सायण ने[1] ब्रह्मचारी शब्द का अर्थ करते हुए लिखा है—वेदात्मक ब्रह्म का अध्ययन करना जिसका स्वभाव है वह ब्रह्मचारी है। वेद ब्रह्म है। उसके अध्ययन के लिए आचरणीय कर्म ब्रह्मचर्य है। यहाँ पर कर्म का अभिप्राय समिधादान, भिक्षाचर्या, और ऊर्ध्वरेतस्त्व आदि है।

ऋग्वेद[2] अथर्ववेद[3] तैत्तिरीय संहिता[4] आदि में ब्रह्मचर्य और ब्रह्मचारी शब्द प्राप्त होते हैं। शतपथ ब्राह्मण[5] ग्रन्थ में भी ब्रह्मचर्य शब्द आया है। वैदिक काल में चारों आश्रमों की स्पष्ट धारणा नहीं पाई जाती है। छान्दोग्योपनिषद्[6] में पहले तीन आश्रमों के ही उल्लेख प्राप्त होते हैं। जाबालोपनिषद्[7] में चारों आश्रमों का स्पष्ट उल्लेख है। किन्तु धर्मसूत्रों[8] में आश्रम व्यवस्था का रूप पूर्ण रूप से निखरा हुआ है।

पर यह निश्चित है कि सभी आश्रमों का मूल ब्रह्मचर्याश्रम है। उसी पर अन्य आश्रमों की व्यवस्था टिकी है। ब्रह्मचर्याश्रम में विद्यार्थी गुरु की सेवा करता हुआ भूमि पर शयन करता तथा ब्रह्मचर्य का पूर्ण पालन करता है। ब्रह्मचर्य विद्यार्थी का जीवन व्रत था। कम से कम उसे विद्याध्ययन के लिए १२ वर्ष रुकना पड़ता था। कितने ही नैष्ठिक ब्रह्मचारी भी होते थे। नैष्ठिक ब्रह्मचारियों के वर्णन के संकेत छान्दोग्योपनिषद् आदि में देखे जा सकते हैं।

वैदिक साहित्य के अध्ययन से यह स्पष्ट है कि ब्रह्मचर्याश्रम में तो ब्रह्मचर्य की प्रधानता थी ही, वानप्रस्थाश्रम और संन्यासाश्रम में भी ब्रह्मचर्य का ही महत्त्व दिया गया था। केवल गृहस्थाश्रम में अब्रह्म की छूट थी, किन्तु वह छूट बहुत ही सीमित थी। केवल सन्तानोत्पत्ति के लिए

---

१ अथर्ववेद ११ ५ १ ११ ५ १७ (सायणभाष्य)
२ ऋग्वेद १० १०९ ५
३ अथर्ववेद ५ १७ ५ ११ ५ । २६
४ तैत्तिरीय संहिता ३ १० ५
५ शतपथ ब्राह्मण ६ ५ ४ १२
६ छान्दोग्य उप० २ २३ १
७ जाबाल उप० ४
८ (क) गौतम धर्मसूत्र ३ १ ३५ (ख) बौधायन धर्मसूत्र २ ६ २९

कुछ समय तक अब्रह्म सेवन का विधान था अन्यथा तो गृहस्थाश्रम में भी अधिक समय ब्रह्मचर्य का पालन ही अभिप्रेत था।

उद्देश्य परिभाषा

जैन दर्शन में ब्रह्मचर्य के लिए मैथुनविरमण और शील शब्द व्यवहृत हुए हैं। सूत्रकृतांग में[1] आचार्य शीलांक ने ब्रह्मचर्य की व्याख्या करते हुए लिखा है—सत्य, तप, भूतदया, इन्द्रियनिरोधरूप ब्रह्म की चर्या अनुष्ठान ब्रह्मचर्य है। आचार्य उमास्वाति ने गुरुकुलवास को ब्रह्मचर्य कहा है। सम्यक् प्रकार से व्रतों का पालन करना, कषाय पर विजय वैजयन्ती फहराना यह ब्रह्मचर्य का उद्देश्य है। तत्त्वार्थभाष्य में[2] मैथुन शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए कहा—स्त्री पुरुष का 'युगल मिथुन' कहलाता है। मिथुन के भाव का मैथुन कहते हैं। आचार्य पूज्यपाद[3] ने सर्वार्थसिद्धि में लिखा है—मोह का उदय होने पर राग परिणाम से स्त्री पुरुष में जो परस्पर संस्पर्श की इच्छा होती है, वह मिथुन है और उसका कार्य मैथुन है। अर्थात दोनों के पारस्परिक भाव और कर्म मैथुन नहीं अपितु राग परिणाम के निमित्त से होनेवाली चेष्टा एवं क्रिया मैथुन है। योगशास्त्र में[4] आचार्य हेमचन्द्र ने मैथुन को एक रमणीय सुखद प्रतीत होने वाला परिणाम कहा है। पर यह परिणाम अत्यन्त घातक है क्योंकि उससे अत्यधिक सूक्ष्म जीवों की हिंसा होती है। आचार्य वात्स्यायन[5] भी इस सत्य तथ्य को स्वीकार करते हैं।

अब्रह्मचर्य और हिंसा

आधुनिक वैज्ञानिकों का मानना है कि एक बार के सम्भोग में दस करोड़ सेल वीर्याणु छूटते हैं और वे कुछ समय के बाद नष्ट हो जाते हैं। वैज्ञानिक यह भी मानते हैं आधुनिक जनसंख्या की दृष्टि से साढे तीन अरब से अधिक मानव विश्व में हैं। एक व्यक्ति के पास इतने जीव के जीवाणु हैं, वे जीवाणु यदि जीवित रहें तो उनसे साढे तीन अरब बच्चे उत्पन्न हो सकते हैं पर चार छह बच्चों से अधिक सामान्यतः एक साधारण मनुष्य उत्पन्न नहीं कर पाता अतः शेष सभी जीवाणु समाप्त हो जाते हैं। इस तरह अब्रह्मचर्य के द्वारा बहुत बड़ी हिंसा होती है।

---

१ सूत्रकृतांग (शीलांक वृत्ति)
२ तत्त्वार्थभाष्य ६.६
३ सर्वार्थसिद्धि ७-१६
४ योगशास्त्र २.७७
५ कामशास्त्र

महाभारत में तो अठारह अक्षौहिणी दल का विनाश हुआ और द्वितीय विश्वयुद्ध में भी लाखों की जनसंख्या का संहार हुआ, पर अब्रह्मचर्य से करोड़ों जीवों का विनाश होता है। संभवतः इसी दृष्टि से ब्रह्मचर्य की महत्ता का प्रतिपादन करते हुए एक आचार्य[1] ने कल्पना की है कि तराजू के एक पलड़े में चारों वेद रखे जायें और दूसरे पलड़े में ब्रह्मचर्य रखा जाय तो ब्रह्मचर्य का पलड़ा भारी हो जाता है।

तपों में श्रेष्ठ

सूत्रकृतांग[2] में ब्रह्मचर्य को सभी तपों में श्रेष्ठ माना है। प्रश्न व्याकरण[3] में ब्रह्मचर्य को सर्वश्रेष्ठ बताते हुए लिखा है कि वह तप, नियम, ज्ञान, दर्शन, चारित्र, सम्यक्त्व, विनय सभी को शक्ति प्रदान करता है। क्योंकि बिना ब्रह्मचर्य के सभी व्रत भली भांति संपन्न नहीं हो सकते।

ब्रह्मचर्य श्रेष्ठतम व्रत है। वह ध्रुव है, नित्य है, शाश्वत है और जिनों के द्वारा उपदिष्ट है।[4] अत्यन्त दुष्कर ब्रह्मचर्य की साधना करने वाले ब्रह्मचारी को देव, दानव, गंधर्व, यक्ष, राक्षस, किन्नरादि सभी नमस्कार करते हैं।[5]

बौद्ध परम्परा में ब्रह्मचर्य

जैन परंपरा में ही नहीं बौद्ध परंपरा में भी ब्रह्मचर्य का महत्त्व एक स्वर से स्वीकार किया गया है। धम्मपद[6] में कहा है—अगरु और चन्दन की सुगंध फैलती है, वह सुगंध तो बहुत ही अल्प मात्रा में होती है, पर ब्रह्मचर्य (शील) की ऐसी सुगन्ध है जो देवताओं के दिल को भी लुभा देती है। वह सुगन्ध इतनी व्यापक होती है, मानव लोक में तो क्या देवलोक में भी व्याप्त हो जाती है।

---

१ एकतश्चतुरो वेदा ब्रह्मचर्यं च एकतः।

२ तवेसु वा उत्तमं बंभचेरं। —सूत्रकृतांग १।६।२३

३ बंभचेरं उत्तमतव-नियम-णाण-दंसण-चरित्त-सम्मत्त-विणयमूलं। —प्रश्नव्याकरण संवरद्वार ४ अध्ययनसूत्र १

४ उत्तराध्ययन १६।१७ ५ वही १६।१६

६ चन्दनं तगरं वापि उप्पलं अथ वस्सिकी।
एतेसं गन्धजातानं सीलगन्धो अनुत्तरो॥ —धम्मपद ४।१२

विसुद्धिमग्ग में[1] कहा है—शील की गंध के समान दूसरी गंध कहाँ होगी ? दूसरी गंध तो जिधर हवा का रुख होता है उधर ही बहती है पर शील की गंध ऐसी गंध है जो विपरीत हवा में भी उसी तरह से बहती है जैसी प्रवाह में बहती है। उसमें यह भी कहा है यदि किसी को स्वर्ग व उच्च स्थल पर पहुँचना है तो ब्रह्मचर्य के समान उस स्थल पर पहुँचने के लिए अन्य कोई सीढ़ी नहीं।[2] निर्वाण नगर में प्रवेश करने के लिए ब्रह्मचर्य के समान और कोई द्वार नहीं।

बोधि प्राप्त करने के लिए मार (काम) पर विजय प्राप्त करना आवश्यक है। साधना में तल्लीन तथागत बुद्ध को साधना से विचलित करने के लिए मार मनमोहक मादक वातावरण प्रस्तुत करता है। महाकवि अश्वघोष ने बुद्धचरित में उसका अत्यन्त सुन्दर चित्रण करते हुए लिखा है—मार ने तथागत बुद्ध को विचलित करने हेतु सुन्दर अप्सराएँ प्रेषित कीं। वे अप्सराएँ अत्यन्त सुन्दर नृत्य करने लगीं। हाव भाव और कटाक्ष द्वारा वे बुद्ध को साधना से विचलित करने लगीं। पर बुद्ध उन अप्सराओं के हाव भाव विभाव पर मुग्ध न हुए। वे मेरु की तरह अकंप व अडोल थे। मार पराजित हो गया और बुद्ध विजेता बन गये।

बौद्ध त्रिपिटक साहित्य के अनुशीलन से यह भी परिज्ञात होता है कि वहाँ पर 'ब्रह्मचर्य' तीन अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। दीघनिकाय[3] में 'ब्रह्मचर्य' का प्रयोग बुद्ध द्वारा प्रतिपादित 'धर्म मार्ग' के अर्थ में व्यवहृत हुआ है। दीघनिकाय के पोटठपाद में उसका अर्थ 'बौद्ध धर्म में निवास'[4] है जिससे निर्वाण की प्राप्ति होती है। ब्रह्मचर्य का तीसरा अर्थ मैथुन विरमण'[5] है।

एक बार तथागत बुद्ध कपिलवस्तु के न्यग्रोधग्राम में विचरण कर रहे थे। उस समय महाप्रजापति गौतमी वहाँ पर उपस्थित हुई और

---

१ सीलगंधसमो गंधो कुतो नाम भविस्सति।
यो समं अनुवाते च पटिवाते च वायति ॥ —विसुद्धिमग्ग परि० १

२ सग्गारोहण सोपानं अञ्ञं सीलसमं कुतो।
द्वारं वा पन निब्बान-नगरस्स पवेसने ॥ —विसुद्धिमग्ग परि० १

३ दीघनिकाय महापरिनिब्बाणसुत्त पृ० १३१

४ दीघनिकाय पोट्ठपाद पृ० ७५

५ विसुद्धिमग्ग प्रथम भाग पृ० १९५

भी जिन कारणों से ब्रह्मचर्य में दूषण लगने और स्खलना होने की संभावना है उन उन कारणों का त्याग इन भावनाओं में किया गया है। श्रमण जीवन को टिकाने के लिए भोजन की आवश्यकता होती है और सर्दी, गर्मी तथा धूप वर्षा से बचने के लिए मकान स्थान की भी आवश्यकता होती है। न वह स्वयं भोजन पकाता है और न अपने लिए मकान निर्माण करता है। उसे सभी वस्तुएं मांगने से मिलती हैं।

स्थान प्राप्त होने पर उसे यह चिन्तन करना होता है कहीं यह स्थान मेरी संयम-साधना के लिए बाधक तो नहीं है? कहीं यह स्थान ऐसा तो नहीं है जिससे मेरा संयम धन नष्ट हो जाय। संयम के विघातक तत्त्व वे हैं जहाँ पर महिलाएं आती हों, बैठती हों पुन पुन उनका आगमन होता हो जहाँ पर महिलाएं स्नान करती हुई, शृंगार करती हुई दिखाई देती हों सन्निकट ही वेश्यालय हो। इस प्रकार के स्थान पर रहने से सहज ही विकार भावनाएँ उद्बुद्ध हो जाती हैं। श्रमण को तो क्या किसी भी ब्रह्मचारी को वहाँ नहीं रहना चाहिए। जैसे मुर्गी के बच्चे को[1] बिल्ली का भय बना रहता है वैसे ब्रह्मचारी को स्त्री का भय बना रहता है। जैसे बिल्ली की दृष्टि मुर्गी के बच्चे पर रहती है वैसे ही कामासक्त नारी की दृष्टि पुरुष पर रहती है। ऐसा निवास जैसा प्रसंग उपस्थित होने पर वह कभी भी साधना से च्युत हो सकता है। अत उनसे बचने की आवश्यकता है जिससे दोष लगने की सम्भावना का ही समूल विनाश हो सके।

प्रस्तुत भावना के द्वारा मन को इस प्रकार तैयार किया जाता है जिससे मन में संक्लेश भी न हो और दोष भी न लगे।

(२) स्त्री कथाविरति भावना

जिस प्रकार स्त्री संसक्त आवास साधक के लिए खतरनाक है उसी तरह स्त्री कथा का कथन भी खतरनाक है। जैसे स्त्रीदर्शन कामवासनाओं को जागृत करता है उसी तरह स्त्री का कीर्तन और चिन्तन भी।

श्रमण को अपना समय आगम के चिन्तन मनन व आत्मचिन्तन में व्यतीत करना चाहिए। वह चर्चा भी करता है तो त्याग वैराग्य की चर्चा करता है। वह शृंगार रस की चर्चा नहीं करता। नव विवाहिता

---

१ जहा कुक्कुडपोयस्स निच्चं कुललओ भयं।
एवं खु बंभयारिस्स इत्थी विग्गहओ भयं॥ —दशवैकालिक ८, ५४

दपति की कहानियाँ नही सुनाता। जिसको सुनकर मन मे भावना विकृत होती हो उनका स्मरण करने मे ज्ञान ध्यान से मन उचटता हो, मन मे अधीरता पदा होती हो स्वय के तथा दूसरे के भ्रष्ट होने की आशका होती हो वसी कथा नही करता। वह अपने अन्तर्मानस को स्त्रीकथा से मोडकर पवित्र विचारो मे लगाता है ताकि सस्कार सयम म सुदृढ रहे। इसीलिए प्रस्तुत भावना का उल्लेख है।

(३) स्त्री रूप निरीक्षण विरति भावना

स्त्रीकथा के साथ ही उसका रूप भी साधना के लिए घातक है। सुन्दरतम रूप प्राप्त होना यह पुण्य का फल है। सुन्दर रूप बुरा नही है, बुरी है उसके प्रति आसक्ति। दीपक के जाज्वल्यमान प्रकाश को देखकर पतगा दीवाना बनकर अपने आपको उसम भस्म कर देता है। वसे ही रूप को देखकर कितने ही विचलित हो जाते हैं। रूप का सदुपयोग होना चाहिए, दुरुपयोग नही।

साधक के सामने सुन्दर से सुन्दर रूप आता है। उस समय वह अपनी आंख बन्द नही कर लेता, देखता भी है, किन्तु सिर्फ देखना अलग बात है और उस पर आसक्त होना अलग चीज है। आसक्ति होने पर पुन पुन निहारने का प्रयत्न होता है और उसमे राग होने के कारण उससे चरित्र दूषित हो जाता है। जसे सूय के सामने देखने से आँखें चौंधियाँ जाती हैं वस ही स्त्री का सौन्दय कामुक दृष्टि से देखने पर मन की आँख चौंधिया जाती हैं और ब्रह्मचय का विवेक नष्ट हो जाता है। वह रूप का दीवाना अपना सवस्व उसके लिए न्यौछावर कर देता है। रूप-लावण्य का चिन्तन करने से सुदृढ मन भी चचल हो जाता है।

दशाश्रुतस्कध म[1] वणन है—चेलना के अद्भुत रूप को देखकर श्रमणो के मन विचलित हो गये थे। तब भगवान ने उन्हे उद्बोधन दिया कि प्रायश्चित्त ग्रहण करो, शुद्धीकरण करो।

इसलिए आवश्यक है कि मन मे स्त्री के सौन्दय, रूप, लावण्य निरीक्षण का विचार न आये और उसके लिए प्रस्तुत भावना का वणन है जिससे स्त्री रूप निरीक्षण के प्रति विरक्ति पदा होती है।

(४) पूवरत—पूर्वक्रीडित विरति भावना

ब्रह्मचय व्रत की यह चतुथ भावना है। कभी-कभी ऐसा भी होता

---

१ दशाश्रुतस्कध १०

भी जिन कारणों से ब्रह्मचर्य में दूषण लगने और स्खलना होने की सम्भावना है उन उन कारणों का इन पाँच भावनाओं में निषेध किया गया है। श्रमण जीवन को टिकाने के लिए भोजन की आवश्यकता होती है और सर्दी, गर्मी तथा धूप वर्षा से बचाने के लिए शान्त स्थान की भी आवश्यकता होती है। न वह स्वयं भोजन पकाता है और न अपने लिए मकान निर्माण करता है। उसे सभी वस्तुएँ माँगने से मिलती हैं।

स्थान प्राप्त होने पर उसे यह चिन्तन करना होता है कहीं यह स्थान मेरी संयम-साधना के लिए बाधक तो नहीं है? कहीं यह स्थान ऐसा तो नहीं है जिससे मेरा संयम धन नष्ट हो जाय। संयम के विघातक तत्त्व वे हैं जहाँ पर महिलाएँ आती हों, बैठती हों, पुनः पुनः उनका आगमन होता हो, जहाँ पर महिलाएँ स्नान करती हुई, शृंगार करती हुई दिखाई देती हों, सन्निकट ही वेश्यालय हो। इस प्रकार के स्थान पर रहने से सहज ही विकार भावनाएँ उद्बुद्ध हो सकती हैं। श्रमण को तो क्या किसी भी ब्रह्मचारी को वहाँ नहीं रहना चाहिए। जैसे मुर्गी के बच्चे को बिल्ली का भय बना रहता है वैसे ब्रह्मचारी को स्त्री का भय बना रहता है। जैसे बिल्ली की दृष्टि मुर्गी के बच्चे पर रहती है वैसे ही कामासक्त नारी की दृष्टि पुरुष पर रहती है। एकान्तवास जैसा प्रसंग उपस्थित होने पर वह कभी भी साधना से च्युत हो सकता है। अतः उनसे बचने की आवश्यकता है जिससे दोष लगने की सम्भावना का ही समूल विनाश हो सके।[1]

प्रस्तुत भावना के द्वारा मन को इस प्रकार तैयार किया जाता है जिससे मन में संक्लेश भी न हो और दोष भी न लगे।

(२) स्त्री कथाविरति भावना

जिस प्रकार स्त्री संसक्त आवास साधक के लिए खतरनाक है उसी तरह स्त्री-कथा का कथन भी खतरनाक है। जैसे स्त्रीदर्शन कामवासनाओं को जागृत करता है उसी तरह स्त्री का … चिन्तन भी।

श्रमण को अपना समय आग… व आत्मचिन्तन में व्यतीत करना चाहिए। वह चर्चा भी … ग व वैराग्य की चर्चा करता है। वह शृंगार रस की चर्चा न… विवाहिता

---

१ जहा कुक्कुडपोयस्स निच्चं कुललओ भयं।
एवं खु बंभयारिस्स इत्थीविग्गहओ भयं॥

म्पति की कहानियाँ नही सुनाता। जिसको सुनकर मन मे भावना विकृत होती हो उनका स्मरण करने से ज्ञान ध्यान से मन उचटता हो, मन मे अधीरता पदा होती हो स्वय के तथा दूसर के भ्रष्ट होन की आशका होती हो वसी कथा नही करता। वह अपने अन्तर्मानस को स्त्रीकथा से मोडकर पवित्र विचारो मे लगाता है ताकि सस्कार सयम म सुदढ रह। इसीलिए प्रस्तुत भावना का उल्लेख है।

(३) स्त्री-रूप निरीक्षण विरति भावना

स्त्रीकथा के साथ ही उसका रूप भी साधना के लिए घातक है। सुन्दरतम रूप प्राप्त होना यह पुण्य का फल है। सुन्दर रूप बुरा नही है, बुरी है उसके प्रति आसक्ति। दीपक के जाज्वल्यमान प्रकाश को देखकर पतगा दीवाना बनकर अपने आपको उसमे भस्म कर लेता है। वसे ही रूप को देखकर कितने ही विचलित हो जाते हैं। रूप का सदुपयोग होना चाहिए, दुरुपयोग नही।

साधक के सामने सुन्दर से सुन्दर रूप आता है। उस समय वह अपनी आँख बन्द नही कर लेता, देखता भी है, किन्तु सिफ देखना अलग बात है और उस पर आसक्त होना अलग चीज है। आसक्ति होने पर पुन पुन निहारने का प्रयत्न होता है और उसम राग होने के कारण उससे चरित्र दूषित हो जाता है। जसे सूय के सामने देखने से आँखें चौंधियाँ जाती हैं वसे ही स्त्री का सौन्दय कामुक दृष्टि से देखने पर मन की आख चौंधिया जाती ह और ब्रह्मचय का विवेक नष्ट हो जाता है। वह रूप का दीवाना अपना सवस्व उसके लिए न्यौछावर कर देता है। रूप-लावण्य का चिन्तन करने से सुदढ मन भी चचल हो जाता है।

[1]दशाश्रुतस्कध म[1] वणन है—चेलना के अदभुत रूप को देखकर श्रमणो के मन विचलित हो गये थे। तब भगवान ने उन्हें उदबोधन दिया कि प्रायश्चित्त ग्रहण करो शुद्धीकरण करो।

इसलिए आवश्यक है कि मन मे स्त्री के सौन्दय, रूप लावण्य निरीक्षण का विचार न आये और उसके लिए प्रस्तुत भावना का वणन है जिससे स्त्री रूप निरीक्षण के प्रति विरक्ति पदा होती है।

(४) पूवरत—पूवक्रीडित विरति भावना

ब्रह्मचय व्रत की यह चतुथ भावना है। कभी-कभी ऐसा भी होता

---

१ दशाश्रुतस्कध १०

कल्पना कीजिए—एक व्यक्ति ने बढ़िया से बढ़िया पचास घड़ियाँ एकत्रित की हैं किन्तु एक बार में वह एक ही घड़ी बाँध सकता है। यदि दस घड़ी एक साथ बाँधे तो लोग उसे पागल समझेंगे।

इसी प्रकार एक व्यक्ति ने आधुनिक साज सज्जा, सुख सुविधा की दृष्टि से दस भव्य भवन बनाये हैं। किन्तु एक समय में वह एक ही भवन में रह सकेगा। अन्य भवन बेकार पड़ रहेंगे।

अतः यह स्पष्ट है कि आवश्यकताएं सीमित हैं।

एक व्यक्ति को तीव्र क्षुधा सता रही हो। वह कई दिनों से भूखा हो, प्यासा हो। यदि उसे चार रोटी और दो लोटा पानी मिल जाय तो उसका पेट भर जाएगा उसकी भूख प्यास मिट जाएगी। उसके बाद भले ही स्वादिष्ट से स्वादिष्ट पदार्थ भी कोई लाये तो वह खाना पसन्द नहीं करेगा और न बढ़िया से बढ़िया पेय पदार्थ पीना ही चाहेगा। 'पेट भर सकता है किन्तु पेटी कभी नहीं भरती।' एक पेटी भर जाने पर दूसरी पेटी भरने की चिन्ता सताती है। इस प्रकार अनावश्यक धन सम्पत्ति और पदार्थों का संग्रह करना तथा उन वस्तुओं के प्रति ममत्व बुद्धि और आसक्ति रखना परिग्रह है।

मूर्च्छा परिग्रह

आचार्य उमास्वाति ने[1] परिग्रह की परिभाषा करते हुए लिखा है—'मूर्च्छा भाव परिग्रह है।' आचार्य शय्यंभव ने[2] भी यही बात कही है। भगवान महावीर ने कहा—आत्मा के लिए यदि कोई सबसे बड़ा बन्धन है तो वह परिग्रह है। परिग्रह के जाल में बँधा हुआ आत्मा विविध पाप मय प्रवृत्तियाँ करता है। किसी वस्तु को मोहबुद्धि से आसक्तिपूर्वक ग्रहण करना परिग्रह है। परिग्रह हिंसा आदि का जन्म देने वाला है। आत्म विकास के लिए बाधक तत्त्व है। उससे आत्म विकास की क्रिया अवरुद्ध हो जाती है। जैन धर्म ने आसक्ति को परिग्रह कहा। मनुष्य की सांसारिक पदार्थों के प्रति जितनी अधिक आसक्ति होगी उसका उतना ही अधिक परिग्रह होगा।

---

१ मूर्च्छा परिग्रहः। —तत्त्वार्थ सूत्र ७ १७

२ न सो परिग्गहो वुत्तो, नायपुत्तेण ताइणा।
मुच्छा परिग्गहो वुत्तो इइ वुत्तं महेसिणा॥ —दशवैकालिक ६, २०

रोड़पति कोड़पति

भौतिक पदार्थ तो जड़ है। वह अपने आप में न पुण्य रूप है और न पाप रूप है तथा न वह वस्तु एकान्त रूप से परिग्रह है। शास्त्रों में धन वैभव को नहीं किन्तु धन वैभव के प्रति जो मन में आसक्ति की भावना लहरा रही है उसे परिग्रह कहा है। एक भिखारी है जिसके पास तन ढकने को न पूरे वस्त्र हैं और न खाने को अन्न ही है तथा रहने को न झोंपड़ी ही है। परन्तु उसके मन में चलचित्र की तरह एक के बाद दूसरी इच्छाएँ आ रही हैं। उसके मन में पदार्थों के प्रति इतनी आसक्ति है कि न पूछो रोड़पति होने पर भी करोड़पति की इच्छाएँ भी उसकी इच्छाओं के सामने कम हैं। वह चाहता है कि पलक झपकते ही वह अखिल विश्व का स्वामी बन जाय। वह दरिद्र होने पर भी महान् परिग्रही है। क्योंकि उसके मन में परिग्रह है।[1]

उपासकदशांग सूत्र[2] में आनन्द श्रमणोपासक का वर्णन है। उसने भगवान महावीर से श्रावक के द्वादशव्रत ग्रहण किये थे। वहाँ पाँचवें व्रत में जहाँ परिग्रह की मर्यादा का वर्णन है वहाँ इच्छाओं का वह परिमाण करता है। वह अपनी अनन्त और असीम इच्छाओं को समेटता है। ज्यों ही इच्छाएँ समेटी जाती हैं त्यों ही पदार्थ भी अपने आप सीमित हो जाते हैं। जब इच्छाएं सीमित हो जाती हैं तो पदार्थों का अधिकाधिक एकत्रित करने का प्रश्न ही नहीं उठता। इसलिए इच्छाओं को नियन्त्रित करना ही अपरिग्रह की ओर कदम बढ़ाना है।

अनासक्ति की साधना : अपरिग्रह

मानव पदार्थों का पूर्ण त्याग नहीं कर सकता। जैसे एक स्टीमर सागर को पार कर रही है तो उसके लिए पानी आवश्यक है। नौका के भी नीचे पानी रहना कोई खतरा नहीं है। वह जल उस नौका को आगे बढ़ाने में सहायक होता है। खतरा तभी पैदा होता है जब पानी स्टीमर में प्रविष्ट हो जाता है। थोड़ा सा पानी भी यदि नौका में प्रविष्ट हो गया तो नौका को ले डूबता है। यही स्थिति साधक के जीवन की है। सारे संसार में सम्पत्ति के अंबार लगे रहें, भौतिक वैभव अठखेलियाँ करता

---

१ मूर्च्छाछन्नधियां सर्वं जगदेव परिग्रहः।
मूर्च्छया रहितानां तु जगदेवापरिग्रहः॥

२ इच्छापरिमाणं करेइ।

रहे, कोई खतरा नहीं है। वैभव का वह विराट प्रवाह साधक के मुस्तैदी कदमों को रोक नहीं सकता। यदि मन में आसक्ति है तो वह परिग्रह का कारण है। आसक्ति सचित्त और अचित्त दोनों प्रकार के पदार्थों पर हो सकती है। जितनी आसक्ति कम होगी उतनी ही परिग्रह की मात्रा कम होगी। पदार्थों के परित्याग के साथ ही आसक्ति का परित्याग आवश्यक है। इच्छा आकांक्षाओं पर नियन्त्रण करने के लिए अनासक्त होना आवश्यक है। अनासक्ति की साधना ही वस्तुतः अपरिग्रह की साधना है।

अनर्थों की जड़

परिग्रह व्यक्तिगत जीवन के लिए भी हानिप्रद है। साथ ही वह समाज के लिए भी महाघातक है। वह अनेक अनर्थों की जड़ है। एक व्यक्ति अधिकाधिक पदार्थों का संग्रह करता है जिसके कारण दूसरे व्यक्तियों को वे पदार्थ उपलब्ध नहीं हो सकते और उन पदार्थों के अभाव में उनके जीवन में विषमताएँ आती हैं। परिग्रह वृत्ति समाज के लिए महान घातक है। परिग्रह ऐसी तीक्ष्ण कुल्हाड़ी है जो सद्गुणों के हरे भरे वन को जड़ को काट देती है। महाराष्ट्र के सुप्रसिद्ध सन्त तुकाराम ने[1] इसीलिए कहा—कि आवश्यकता से अधिक संग्रह करना गोमांस के समान त्याज्य होना चाहिए।

परमेश्वर नहीं पिशाच

परिग्रह वृत्ति एक ऐसा जहरीला कीटाणु है जो धर्म रूपी तथा सद्गुण रूपी कल्पवृक्ष को नष्ट कर देता है। एक बार राष्ट्र सन्त विनोबा ने अपने प्रवचन में कहा—जिस पैसे को तुम परमेश्वर समझ कर अर्चना करते हो वह पैसा परमेश्वर नहीं है, अपितु पिशाच के सदृश है। वह तुम्हारे मन और मस्तिष्क पर सवार हो गया है जो तुम्हें सतत सताता रहता है। तुम्हें किंचित मात्र भी आनन्दपूर्वक रहने नहीं देता। इस रूपी पिशाच को कब तक तुम देवतुल्य समझकर उसकी अर्चना करते रहोगे?

पापों की जननी

परिग्रह वृत्ति सभी पापों की जननी है। वह अनेक पापों के कीटाणुओं का पोषण करने वाली है। जैसे कितने ही रोग के कीटाणु

---

[1] तुका म्हणे धन आम्हा गोमांसा समान

हजारों-लाखों की संख्या में दनादन बढ़ते हैं वैसे ही परिग्रह की वृत्ति चिन्ता को जन्म देती है क्रोध मान, माया लोभ राग द्वेष को पैदा करती है।

आचार्य शंकर ने कहा— अर्थमनर्थं भावय नित्यं अर्थ अनर्थकारी है। तो उस पर चिन्तन करो। अर्थ की तृष्णा ने कितना अनर्थ किया है? अर्थ के पीछे पागल बनकर पुत्र ने पिता की हत्या की। भाई ने भाई का खून किया। एक राष्ट्र ने दूसरे राष्ट्र पर आक्रमण किया। हजारों निरपराध व्यक्तियों के खून की होली खेली गई। हजारों स्त्रियाँ असमय में विधवा हुई। हजारों माताएँ पुत्रों के बिना बिलखती रहीं। अर्थ के अनर्थ की कहानी इतनी लम्बी है कि यदि उस कहानी का उट्टंकन किया जाय तो पृष्ठ के पृष्ठ भर सकते हैं। हमें यहाँ अधिक विस्तार में न जाकर अपरिग्रह महाव्रत के बारे में चिन्तन करना है।

परिग्रह परिभाषा

प्रश्नव्याकरण सूत्र के टीकाकार ने[1] परिग्रह की व्याख्या करते हुए लिखा है—जो सम्पूर्ण रूप से ग्रहण करता है वह परिग्रह है। सम्पूर्ण रूप से ग्रहण करने का अर्थ है मूर्च्छा बुद्धि से ग्रहण करना। संयमी साधक संयम साधना करते हुए कुछ धार्मिक उपकरण रखता है किन्तु उन पर उसकी ममत्व बुद्धि नहीं होती इसलिए वह परिग्रह नहीं है।

यहाँ सहज ही जिज्ञासा उद्बुद्ध हो सकती है कि हम बहुमूल्य वस्तुएँ हीरे पन्ने, माणक मोती धन धान्य, भव्य भवन आदि रखें किन्तु उसमें हमारी ममता न हो तो फिर वह परिग्रह नहीं है न?

समाधान है—यदि आपकी उसमें ममता नहीं है तो सिद्धान्तत वह परिग्रह नहीं है। किन्तु आप उस विराट वैभव को अपना कहते हैं जैसे— 'यह भव्य भवन मेरा है ये हीरे मोती आदि बहुमूल्य वस्तुएँ मेरी हैं।' ऐसी भावना आपके मन मस्तिष्क में रहती है। उस भव्य भवन एवं धन की रक्षा के लिए आप सतत सन्नद्ध रहते हैं। यदि आपकी उनके प्रति ममता नहीं है तो आप उनकी चिन्ता क्यों करते हैं? नगर में हजारों भव्य भवन हैं। यदि वे गिर रहे हों तो आप उनकी चिन्ता करते हैं क्या? कभी-कभी आप कह भी देते हैं—धन मेरा नहीं है। किन्तु कोई दान लेने वाला आपके

---

१ परि सामस्त्येन ग्रहणं परिग्रहणं मूर्च्छावशेन परिगृह्यते आत्मभावेन मर्यादि बुद्ध्या गृह्यते इति परिग्रह।

—प्रश्नव्याकरण वृत्ति २१५

द्वार खटखटाता है आपका मन और स्वयं को सुरक्षा मानकर आता है। आप उस समय देते हैं न कहते हैं तो क्या है? आपका ममत्व उस समय बाधक तो नहीं बन जाता? यदि ऐसा होता है तो फिर आप कैसे कहते हैं—धन मेरा नहीं है? धन वैभव के साथ आपका आंतरिक सम्बन्ध है। आपकी ममत्व बुद्धि उसमें रही हुई है। फिर "मेरा नहीं है" यह कहना केवल आत्मवंचना है।

दूसरी जिज्ञासा यह भी हो सकती है—जिसके पास भौतिक वैभव नहीं है तो क्या वह अपरिग्रही है?

समाधान है—वह भी अपरिग्रही नहीं है। क्योंकि बाह्य परिग्रह न होने पर भी उसके अन्तरंग में परिग्रह विद्यमान है। केवल बाह्य परिग्रह के आधार पर ही कोई परिग्रही या अपरिग्रही नहीं होता। पशु पक्षियों के पास बाह्य परिग्रह कुछ भी दिखाई नहीं देता, तथापि वे अपरिग्रही नहीं हैं। बाह्य परिग्रह न होने का कारण उनके पास संग्रह करने की योग्यता का अभाव है। उनमें बुद्धि का विकास नहीं है। जिसके कारण वे बाह्य परिग्रह का संग्रह करने में अयोग्य हैं। किन्तु परिग्रह के प्रति ममता उनमें भी है। उन्हें भी अपनी सन्तान के प्रति, खाद्य पदार्थों के प्रति उतनी ही आसक्ति है जितनी मानव के मन में है। अभाव, अक्षमता, पराधीनता और विवशता से त्याग नहीं होता। त्याग तो स्वेच्छा से होता है। जो व्यक्ति कान्त, प्रिय भोगों का, वस्त्र, शयन, आसन और स्त्रियों का विवशता से उपभोग नहीं कर पाता है वह त्यागी नहीं है। त्यागी वही है जो ये सभी वस्तुएं प्राप्त होने पर भी स्वेच्छा से त्याग करता है।[1] स्वाधीनतापूर्वक किया गया त्याग ही वस्तुतः सच्चा त्याग है।

परिग्रह के भेद

परिग्रह के मुख्य दो भेद हैं—अंतरंग परिग्रह और बाह्य परिग्रह। भगवती सूत्र में[2] परिग्रह के तीन भेद बताये हैं—

(१) कर्म परिग्रह—राग द्वेष के वशीभूत होकर अष्ट प्रकार के कर्मों को ग्रहण करना।

---

१ वत्थगन्धमलंकारं इत्थिओ सयणाणि य।
अच्छन्दा जे न भुंजंति न से चाइत्ति वुच्चई॥
जे य कन्ते पिये भोए लद्धे विपिट्ठिकुव्वई।
साहीणे चयइ भोए से हु चाइत्ति वुच्चई॥ —दशवैकालिक २ २ ३

२ कम्म परिग्गहे, सरीर परिग्गहे, बाहिर भंडमत्त परिग्गहे। —भगवती सूत्र १८, ७

(२) शरीर परिग्रह—विश्व में जितने भी जीव हैं वे सभी शरीर धारी हैं।

(३) बाह्य भाण्डमात्र परिग्रह—बाह्य वस्तु और पदार्थ आदि।

ये तीनों इसीलिए परिग्रह हैं कि ये जीव के द्वारा ग्रहण किये जाते हैं। ये राग-द्वेष की अभिवृद्धि करते हैं, आसक्ति के कारण बनते हैं, इसलिए इन्हें परिग्रह कहते हैं। आत्मा के वे परिणाम जो कर्मबंध या मूर्च्छा आदि के प्रत्यक्ष हेतु हैं वह अंतरंग परिग्रह है। वे कारण यद्यपि बाहर दृग्गोचर नहीं होते किन्तु अन्तर्मानस में चोर की तरह छिपे रहते हैं। प्रश्नव्याकरण में[1] अन्तरंग परिग्रह का विश्लेषण करते हुए कहा है—लालसा, तृष्णा, इच्छा आशा और मूर्च्छा ये सभी असंयम रूप अन्तरंग परिग्रह हैं। इसी से बाह्य परिग्रह होता है।

अन्तरंग परिग्रह

अन्तरंग परिग्रह के मिथ्यात्व, अविरति प्रमाद, कषाय और अशुभ योग ये पाँच कारण बताये हैं।[2] आगम के व्याख्या साहित्य में परिग्रह के भेद प्रभेदों की विचार चर्चा करते हुए चौदह कारण बताये हैं।[3] मिथ्यात्व राग द्वेष, क्रोध, मान, माया लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, और वेद—ये अन्तरंग परिग्रह के १४ भेद हैं। कहीं कहीं पर राग और द्वेष को कषाय में सम्मिलित कर वेद के स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसक वेद, ये तीन भेद किये हैं।

वस्तुतः मिथ्यात्व और कषाय ये कलुषित चित्तवृत्तियाँ हैं जो अनादि काल से आत्मा के साथ लगी हैं और उन्हीं के कारण मूर्च्छा करता हुआ आत्मा कर्मबंधन करता है।

बाह्य परिग्रह

जब अन्तरंग में परिग्रहवृत्ति होती है तभी बाह्य वस्तुओं को ग्रहण

---

१ प्रश्नव्याकरण पृ ७६१

२ वही वृत्ति पृ० ७६१ (सन्मति ज्ञानपीठ प्रकाशन)

३ (क) प्रश्नव्याकरण टीका पृ० ४५१

(ख) कोहो माणो माया लोभो पेज्ज तहेव दोसो अ।
मिच्छत्त वेद अरइ रइ हासो सोगो भय-दुगुंछा॥ —बृहत्कल्पभाष्य ८३१

(ग) मिच्छत्त-वेद रागा दोसा हासादि भया होंति छद्दोसा।
चत्तारि तह कसाया चोद्दस अब्भंतरा गंथा॥

—प्रतिक्रमणत्रयी पृ० १७५

संसार में कोई भी पदार्थ ऐसा नहीं है जिसमें रूप का सर्वथा अभाव हो। प्रकृति नटी में सर्वत्र रूप बिखरा पड़ा है। रंग बिरंगे सुमन दिल को लुभाते हैं। पशु पक्षियों के सुहावने रूप को देखकर कौन मुग्ध नहीं होता? विविध रंगों से चित्रित मोर के पंख मन को मोहते हैं। जलाशय, उद्यान, वस्त्र, आभूषण, भव्य भवन किसके मन को नहीं उलझाते हैं? दूसरी ओर काले कलूटे, बेडौल, घिनौने दृश्य मन में नफरत की भावना पैदा करते हैं। उन पदार्थों को देखकर मानव नाक मुँह सिकोड़ने लगता है। किन्तु साधक मनमोहक दृश्य पर आसक्त नहीं होता और न अमनोज्ञ दृश्यों को देखकर घृणा ही करता है। वह रूप की क्षणभंगुरता पर चिन्तन करता है।

एक सुन्दरी का चित्ताकर्षक रूप है जिसके रूप को देखकर कामुक पतंगे की तरह उसके चारों ओर मंडराते हैं, पर चेचक की बीमारी से जब वही सुन्दरी एकदम कुरूप बन जाती है तो उसकी ओर आँख उठाकर देखने की भी इच्छा नहीं होती। एक युवक जो महान् शक्ति सम्पन्न प्रतीत होता है किन्तु कुछ दिनों का ज्वर उसकी सारी शक्ति को निगल लेता है उसका शरीर जो गठीला और बलिष्ठ दिखाई देता था, वह निर्बल और बेडौल हो जाता है।

जैन साहित्य के इतिहास में सनत्कुमार चक्रवर्ती का वर्णन है जिनके दिव्य रूप को निहारने के लिए स्वर्ग से देव भी तरसते थे और उस अद्भुत रूप को देखकर मुग्ध हो जाते थे। पर वही रूप जिस पर चक्रवर्ती को नाज था किन्तु अपने थूक में कुलबुलाते हुए कीड़ों को देखकर स्वयं चक्रवर्ती को घृणा हो गयी थी।

इन सब बातों और घटनाओं पर विचार करके साधक सुन्दर रूप देखकर आकर्षित नहीं होता। वह चाहे सुन्दर हो चाहे असुन्दर हो साधक दोनों में सम रहता है और सतत चक्षुरिन्द्रिय संयम के सम्बन्ध में चिन्तन करता रहता है।

तृतीय भावना घ्राणेन्द्रिय संवर भावना है। घ्राण का अर्थ है सुगन्ध दुर्गन्ध को ग्रहण करने की शक्ति विशेष।

संसार में विविध प्रकार के पदार्थ हैं जिनकी गन्ध अत्यन्त मधुर होती है। केवड़ा-केतकी, जाई, जूही, गुलाब, रातरानी आदि के पुष्प अपनी मनमोहक सुगन्ध से दिल को लुभाते हैं। तो कितने ही पदार्थ ऐसे हैं जिनके रूप में सुगन्ध नहीं है अपितु गन्ध आते ही सिर चकराने लगता है।

कई पदार्थ जो सुगन्धमय हैं वे पदार्थ दुर्गन्धमय बन जाते हैं। जैसे सुगन्धित और मधुर मिष्ठान्न खाये जायें, किन्तु वही सुगन्धित मिष्ठान्न और सुगन्धित पदार्थ दुर्गन्धित पदार्थ के रूप में बदल जाते हैं। किन्तु साधक सुगन्धमय पदार्थ में आसक्त नहीं होता और दुर्गन्धमय पदार्थ से घृणा नहीं करता। वह इन्हें पुद्गलों का परिणमन मात्र मानता है। इस प्रकार का अभ्यास प्रस्तुत भावना में किया जाता है।

चतुर्थ भावना रसनेन्द्रिय संवर भावना है। रसनेन्द्रिय के दो कार्य हैं— रस लेना और बोलना। यहाँ पर रस लेने के सम्बन्ध में चिन्तन है।

संसार में कितने ही पदार्थ खट्टे होते हैं कितने ही मधुर होते हैं कितने ही तीखे होते हैं, कितने ही कटुक होते हैं, कितने ही कसैले होते हैं और कितने ही नमकीन होते हैं। इन रसों का अनुभव जिह्वा के द्वारा होता है।

साधक मनोनुकूल रस में आसक्त नहीं होता और अमनोज्ञ रस से खिन्न नहीं होता। उसे जो भी पदार्थ मिलता है उस पदार्थ का रस न लेकर केवल शरीर को धर्म पालन करने में सक्षम बनाये रखने के लिए उसका उपयोग करता है।[1] जैसे गाड़ी को चलाने के लिए गाड़ी के पहिया में तेल देना आवश्यक है, बिना तेल दिये गाड़ी सही रूप से चल नहीं सकती।[2] शरीर में कहीं भी जख्म हो गया हो तो उस जख्म को ठीक करने के लिए मरहम की आवश्यकता है। साधक भी इसी हेतु शरीर की गाड़ी चलाने के लिए आहार करता है। इस प्रकार साधक भोजन में रसयुक्त पदार्थों का उपयोग करता हुआ भी भोजन और रसों के प्रति अनासक्त रहता है। वह स्वाद के लिए नहीं अपितु जीवन निर्वाह के लिए आहार करता है।

सामान्य मानवों का लक्ष्य है—भोजन अत्यन्त स्वादिष्ट होना चाहिए, फिर वह कैसा ही क्यों न हो। उनका ध्यान रसनेन्द्रिय पर केन्द्रित है। अच्छी अच्छी स्वादिष्ट चटनी आचार मुरब्बे मिष्टान्न नमकीन आदि पदार्थों का खाना और मस्त रहना यह उनके जीवन का आदर्श है। स्वादु भोजन के चक्कर में पड़कर वे धार्मिक मर्यादा को विस्मृत हो जाते हैं यहाँ तक कि अपने स्वास्थ्य की भी चिन्ता नहीं करते। उनका आदर्श है—भोजन

---

१ न रसट्ठाए भुंजिज्जा जावणट्ठाए संजए।

२ अक्खोवंजणाणुलेवणभूयं संजम जायामाया निमित्तं भुंजेज्जा॥

—प्रश्नव्याकरण २ ५

का सतत चिन्तन करने से उनके प्रति ममत्व-वृत्ति कम हो जाती है। परिणामस्वरूप साधक अल्प या बहुत छोटा या बड़ा सजीव या निर्जीव पदार्थों पर ममत्व नहीं रखता है।

अपरिग्रह महाव्रत

अपरिग्रही मुनि जो भी वस्त्र पात्र कम्बल, रजोहरण आदि धर्मोपकरण रखते हैं वे सभी एकमात्र संयम की रक्षा के लिये रखते हैं। उनके मन में किसी भी प्रकार की आसक्ति नहीं होती। उन वस्तुओं को लेने और रखने में भी पूर्ण सावधानी रखते हैं आसक्ति तो बिलकुल भी नहीं रखते। पदार्थ के प्रति ही नहीं, शरीर के प्रति भी उनकी ममता नहीं होती।

जिसकी मनोभावनाओं में आसक्ति है उसके लिए सम्पूर्ण संसार ही परिग्रह है। जिसके अन्तर्मानस में मूर्च्छा और आसक्ति का अभाव है उसके अधीन सम्पूर्ण विश्व भी क्यों न हो, वह परिग्रह से मुक्त है। इसलिए जैन धर्म का आदेश है अपनी इच्छाओं की गाड़ी पर ब्रेक लगा दो जिससे वह अमर्यादित होकर न चले।

आज समाज की जो दयनीय स्थिति है उसका मूल है आवश्यकता से अधिक संग्रह जिससे मानव समाज में जीवनोपयोगी सामग्री का व्यवस्थित रूप से वितरण नहीं हो पा रहा है। किसी के पास अनेक भव्य भवन खाली पड़े हैं जहाँ रहने के लिए व्यक्ति नहीं है तो किसी के पास रहने के लिए झोंपड़ी भी नहीं है। किसी के पास अन्न के भण्डार भरे पड़े हैं तो किसी को खाने के लिए एक दाना भी नहीं है। किसी के पास रंग बिरंगे बढ़िया वस्त्र सड़ रहे हैं तो किसी का तन ढकने के लिए भी वस्त्र नहीं है। आज सारी सुख सुविधाएँ चन्द व्यक्तियों के पास एकत्रित हो गई हैं। शेष समाज अभाव से पीड़ित है जिसके कारण न उनकी भौतिक उन्नति हो रही है न आध्यात्मिक उन्नति। यदि सभी के पास आवश्यकता के अनुरूप सामग्री रहे तो कोई भी व्यक्ति दीन और दरिद्र नहीं रह सकता। भगवान महावीर का प्रस्तुत अपरिग्रहवाद जन-जन के आँसू पोंछ सकता है। भगवान महावीर ने गृहस्थों के लिए मर्यादित परिग्रह रखने का विधान किया और श्रमणों के लिए पूर्ण अपरिग्रह महाव्रत का विधान किया।

श्रमणों के वस्त्र रखने के सम्बन्ध में दो विचारधाराएँ हैं। एक दिगम्बर परम्परा की विचारधारा है जो श्रमण को वस्त्र नहीं रखने चाहिए इस विचार का समर्थन करती है तो दूसरी श्वेताम्बर विचारधारा श्रमणों के लिए वस्त्रों का विधान करती है।

आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध में श्रमण को एक वस्त्र सहित या वस्त्र सहित प्रभृति कहा है।[1] उत्तराध्ययन आदि में श्रमण की सचेल और अचेल इन दोनों अवस्थाओं का उल्लेख है।[2] आचारांग की दृष्टि से जिनकल्पी श्रमण शीत ऋतु व्यतीत हो जाने के पश्चात् अचेल रहते थे।[3]

वस्तुतः भगवान महावीर के समय में वस्त्र रखना या नहीं रखना यह विवाद का विषय नहीं था। परिस्थितिवश श्रमण वस्त्र धारण भी करता था और नहीं भी करता था। अचेल श्रमण को यह नहीं सोचना चाहिए कि मैं सचेल श्रमणों से श्रेष्ठ हूँ और सचेल श्रमणों को भी मन में हीन भाव नहीं लाने चाहिए और न परस्पर एक दूसरे की अवज्ञा ही करनी चाहिए।[4]

आचार्य उमास्वाति को श्वेताम्बर और दिगम्बर—ये दोनों परम्पराएँ अपने-अपने मान्य आचार्य मानती रही हैं। उन्होंने प्रशमरति प्रकरण में धर्म देह रक्षा के निमित्त अनुज्ञात, पिण्ड शय्या आदि के साथ वस्त्रैषणा का उल्लेख किया है[5] और कल्प्याकल्प्य की समीक्षा में भी वस्त्र का उल्लेख है।[6] तत्त्वार्थभाष्य में एषणा समिति की व्याख्या करते हुए वस्त्र का उल्लेख किया है।[7]

आगम युग में अचेलता और सचेलता ये दोनों ही मान्य रहे हैं। स्थानांग में अचेल अवस्था को भी इन्द्रियनिग्रह आदि के कारण प्रशस्त कहा है।[8] श्रमण के जो धर्मोपकरण हैं वे संयम साधना के लिए अत्यन्त उपकारी हैं। वह उन वस्त्र पात्र आदि को रखता है किन्तु उन पर उसकी मूर्च्छा नहीं होती। अतः वे परिग्रह में सम्मिलित नहीं हैं।[9] वे वस्त्र, पात्र कम्बल, रजोहरण आदि को संयम की रक्षा के लिए और लज्जा निवार

१ आचारांग २ ५ १ ३६४ २ उत्तराध्ययन २ १३
३ आचारांग १ ७ ४ २०१ ४ आचारांगवृत्ति १, ६ ३ सू० १८२
५ पिण्डः शय्या वस्त्रैषणादि पात्रैषणादि यच्चान्यत् ।
कल्प्याकल्प्यं सद्धर्मदेहरक्षानिमित्तोक्तम् ॥ —प्रशमरतिप्रकरण १३८
६ किंचिच्छुद्धं कल्प्यमकल्प्यं स्यात्कल्प्यमपि कल्प्यम् ।
पिण्डः शय्या वस्त्रं पात्रं वा भैषजाद्यं वा ॥ प्रशमरतिप्रकरण १४५
७ अन्नपानरजोहरणपात्रचीवरादीनां धर्मसाधनानामाश्रयस्य च उद्गमोत्पादनैषणादोषवर्जनम् एषणा समितिः । —तत्त्वार्थभाष्य ९ ५
८ स्थानांग ५ ३ ४५५ ९ दशवैकालिक ६ २०

णार्थ रखते हैं।[1] स्थानाग म वस्त्र रखने के तीन प्रयोजन बताये हैं—लज्जा जुगुप्सा निवारण और शीत, उष्ण व मच्छर आदि क परीषह से बचना[2]। प्रश्नव्याकरण म उपधि रखने के कारणो पर चिन्तन करत हुए लिखा है—श्रमण, सयम के लिए, वात, आतप दश, मच्छर आदि से बचने के लिए उपधि रखता है।[3]

श्रमण परिग्रह को मन वचन और कम से न स्वय सग्रह करता है, न दूसरा से करवाता है और न करने वाल का अनुमोदन ही करता है। वह पूण रूप से असग, अनासक्त और अकिंचन होता है। जन श्रमण का एक नाम निग्र थ है। आचाय हरिभद्र ने निग्र थ का अथ किया है—गाठ से रहित। 'निगतो ग्रन्थान् निग्रन्थ' जिसके परिग्रह की गांठ नही है वह निग्रन्थ है।

अपरिग्रह महाव्रत और भग

अपरिग्रह महाव्रत के चौपन भग होते हैं—अल्प बहु अणु-स्थूल सचित्त अचित्त, यह छ प्रकार का परिग्रह है। इन छ प्रकार के परिग्रहो को श्रमण न मन से स्वय ग्रहण कर न करवाये और न करने वाल का अनुमोदन करे। इस प्रकार मनायोग सम्बन्धी १८ भग हाते है तथा १८ वचन के और १८ शरीर के—कुल चौपन भग होते हैं।

जन श्रमण वस्त्र पात्र आदि बहुत ही सीमित और सयमोपयोगी रखता है। यहाँ तक कि एक बार लाया हुआ भाजन भी तीन प्रहर से अधिक नही रख सकता और चार मील से अधिक दूर पानी की एक बूद भी नही ले जा सकता। न वह अपने लिए बनाया हुआ भाजन ही ग्रहण करता है। वह सिर के बालो का भी हाथ से उखाडकर लोच करता है पदल परिभ्रमण करता है। इस प्रकार उसका जीवन पूण अपरिग्रही जीवन होता है।

□

---

१ दशवकालिक ६ १९   २ स्थानाग ३ १ १३८

३ प्रश्नव्याकरण—सवरद्वार १

६. विशिष्ट नियम : रात्रिभोजन-त्याग

जीवन यात्रा के लिए भाजन बहुत ही आवश्यक है। यदि मानव भोजन न करे तो उसका जीवन टिक नहीं सकता। अहिंसा की साधना के लिए, सत्य आदि व्रता के पालन हेतु मानव का जीवित रहना आवश्यक है और जीवित रहने के लिए भाजन आवश्यक है। पर भोजन कैसे किस लिए और कब करना चाहिए ? यह एक चिन्तनीय प्रश्न है ?

भोजन के लिए जीवन

सामान्य मानवों का मन्तव्य है कि भाजन बहुत ही स्वादिष्ट होना चाहिए। वे अच्छे से अच्छे मिष्टान्न, मिर्च मसाले, अचार-मुरब्बे युक्त पदार्थों का खान मे आनन्द की अनुभूति करते हैं। उनका जीवन भाजन के लिए है।

जीवन के लिए भोजन

दूसरे प्रकार के व्यक्तियों का यह चिन्तन है कि भाजन मे स्वाद नहीं, स्वास्थ्य प्रमुख होना चाहिए। जो भोजन शरीर का हृष्ट-पुष्ट बनाये—वह भले ही कैसा भी क्यों न हो उसका उपयोग करना चाहिए।

तीसरे प्रकार के आत्मार्थी साधको का मन्तव्य है भाजन के लिए जीवन नहीं, किन्तु जीवन के लिए भाजन है। वह भाजन हितकारी, मितकारी और पथ्यकारी हो। स्वास्थ्य और धर्म दोनों ही दृष्टि से लाभकारी हो। वह अभक्ष्य पदार्थ का उपयोग नहीं करता वह जानता है सात्त्विक भोजन से ही मन सात्त्विक रह सकता है। इसलिए वह तामसिक और विकार वर्द्धक भोजन नहीं करता।

भगवान् महावीर की विशेष शिक्षा

जैन श्रमण की भाजन-चर्या के सम्बन्ध में आगम साहित्य में विस्तार से निरूपण है। वह धार्मिक साधना की दृष्टि से भाजन करता है। जो भी क्षुधा मुधा प्राप्त हो जाता है उसे वह ग्रहण करता है। उसका भोजन का भी समय निर्धारित है। वह रात्रि में किसी प्रकार का भोजन

नहीं करता। भगवान महावीर ने रात्रिभोजन के निषेध में अपना तीव्र स्वर बुलन्द किया था। आर्य सुधर्मा ने भगवान महावीर की स्तुति करते हुए उनकी दो प्रमुख शिक्षाओं पर प्रकाश डाला है— "से वारिया इत्थि सराइभत्त"। उन्होंने इस पर बल दिया कि स्त्री और रात्रिभोजन दोनों का सेवन श्रमण को नहीं करना चाहिए। श्रमण के लिए रात्रिभोजन सर्वथा त्याज्य है।

रात्रिभोजन-त्याग छठा व्रत

दशवैकालिक सूत्र[1] में रात्रि भोजनविरमण को छठा व्रत कहा है तथा प्राणातिपातविरमण आदि पाँचों विरमणों को महाव्रत कहा है। दशवैकालिक के छठे अध्ययन में श्रमण जीवन के अठारह गुणों का उत्कीर्तन करते हुए रात्रिभोजन त्याग को महाव्रत के साथ सम्मिलित कर 'वयछक्क'[2] छह व्रतों का उल्लेख किया है। उसमें पाँचों महाव्रतों के समान ही छठे रात्रिभोजन त्याग को भी महत्त्व दिया है। उत्तराध्ययन में[3] श्रमण जीवन के कठोर आचार का निरूपण करते हुए स्पष्ट बताया है कि प्राणातिपातविरति आदि पाँच सर्वविरतियों के साथ ही रात्रिभोजन त्याग अर्थात रात्रि में सभी प्रकार के आहार का वर्जन करना चाहिए और यह व्रत महाव्रतों की तरह ही दृढ़ता से पालन किया जाता है।

महाव्रतों के अपवाद प्राप्त होते हैं पर रात्रिभोजन विरमण व्रत का कोई अपवाद नहीं है। रात्रिभोजनविरमण व्रत महाव्रतों की सुरक्षा के लिए है। एतदर्थ ही महाव्रतों का मूलगुण और रात्रिभोजनविरमण को उत्तर गुण में गिना है।[4] मूलगुण और उत्तरगुण में भेद को स्पष्ट करने के लिए ही प्राणातिपातविरमण आदि को महाव्रत और रात्रिभोजनविरमण को व्रत कहा है। यहाँ पर यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि श्रमण के लिए जैसे महाव्रत का पालन करना आवश्यक है उसी प्रकार रात्रिभोजनविरमण व्रत का पालन करना भी अनिवार्य है। रात्रिभोजनविरमण मूलगुणों की

---

१ दशवैकालिक अध्ययन ४ सूत्र १६

२ वयछक्क कायछक्कं अकप्पो गिहिभायणं।
पलियंकनिसेज्जा य सिणाणं सोहवज्जणं ॥ —दशवैकालिकनियुक्ति २६८

३ उत्तराध्ययन अध्ययन १६

४ किं राईभोयणं मूलगुणः उत्तरगुणः ? उत्तरगुण एवायं। तहावि सव्वमूलगुणरक्खा हेतुत्ति मूलगुणसम्भूतं पढिज्जति ॥ —अगस्त्यसिंहचूर्णि

रक्षा के लिए है। अगस्त्यसिंह स्थविर का मत है कि रात्रिभोजनविरमण का इसीलिए मूलगुणों के साथ प्रतिपादन किया है।

रात्रिभोजन अनुचित

रात्रिभोजनविरमण के सम्बन्ध में कहा है कि त्रस और स्थावर सूक्ष्म प्राणियों को रात्रि में देखा नहीं जा सकता। अतः निर्ग्रन्थ विधिपूर्वक किस प्रकार चल सकता है?

उदक से आर्द्र और बीजयुक्त भोजन तथा जीवाकुल मार्ग—ये केवल दिन में ही टाले जा सकते हैं, रात्रि में टालना उन्हें शक्य नहीं है। अतः भगवान महावीर ने इस हिंसात्मक दोष को देखकर ही कहा—जो निर्ग्रन्थ होते हैं वे रात्रिभोजन नहीं करते। चारों प्रकार के आहार में से किसी भी प्रकार का आहार नहीं करते।[1] इस प्रकार रात्रिभोजनविरमण व्रत में अहिंसा की विराट दृष्टि रही हुई है। रात्रिभोजन में ईर्या समिति के साथ ही रात्रि में भोजन का संग्रह करके रखना अपरिग्रह की मर्यादा में भी बाधक है।

इन सभी कारणों से रात्रिभोजन का श्रमण के लिए निषेध किया गया है। रात्रिभोजन करना अनाचीर्ण माना गया है।[2] रात्रिभक्त के चार विकल्प होते हैं। उन चारों का निषेध किया गया है। जो सूर्यास्त होते हुए भोजन करता है उसे 'पापी श्रमण' कहा है।[3] रात्रिभोजन-वर्जन श्रामण्य जीवन का अविभाज्य अंग है। रात में चारों आहारों में से किसी एक को भी ग्रहण करना सर्वथा अनुचित माना गया है।

मूलगुण : उत्तरगुण

प्रश्न यह है—उत्तराध्ययन सूत्र में पार्श्वापत्य केशी श्रमण और गणधर गौतम का संवाद है। उस संवाद में भगवान पार्श्वनाथ के धर्म को चार याम वाला कहा है और भगवान महावीर के धर्म को पाँच शिक्षा

---

1 दशवैकालिक अ० ६ गाथा २३-२५

2 दशवैकालिक अ० ३ गाथा २

3 अत्थन्तम्मि य सूरम्मि आहारेइ अभिक्खणं।
चोइओ पडिचोएइ पावसमणि त्ति वुच्चई॥ —उत्तराध्ययन, १७, १६

७. श्रमण-साधना की लक्ष्मण-रेखा : अष्ट प्रवचन माता

प्रवचन माता

महाव्रतो की सुरक्षा और विशुद्धता के लिए समिति और गुप्ति का विधान है। समिति और गुप्ति दोनो का सम्मिलित नाम उत्तराध्ययन आदि मे 'प्रवचन माता" दिया गया है।[1] सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान का प्रवचन कहा जाता है। उसकी रक्षा हेतु पाँच समितियाँ और तीन गुप्तियाँ—ये माता के सदृश हैं। इन अष्ट प्रवचन माताओ में सम्पूर्ण द्वादशागी समाविष्ट है।[2]

ये प्रवचन माताएँ चारित्ररूपा हैं। बिना ज्ञान-दर्शन के चारित्र नही होता। द्वादशागी मे ज्ञान दर्शन और चारित्र का ही विस्तार से विश्लेषण है। अत द्वादशागी को प्रवचन माता का विराट रूप कहा जा सकता है।

लौकिक जीवन म माँ की महिमा और गरिमा किससे छिपी है ? वह शिशु के जीवन का सवर्द्धन ही नही करती अपितु सुसस्कारो का भी सिंचन करती है। इसीलिए बालक माता की प्रतिकृति माना जाता है। आध्यात्मिक जीवन म भी ये प्रवचन माताए जगदबा के रूप मे हैं। इन आठों से प्रवचन का प्रसव होता है। इसलिए इन्हें प्रवचन माता कहा जाता है। इन आठो म सारा प्रवचन समा जाता है इसलिए भी इन्हें प्रवचन माता कहा जाता है।[3] प्रसव और समाना इन दोनो अर्थों म माता शब्द व्यवहृत हुआ है। भगवान जगत पितामह के रूप म हैं।[4]

---

१ उत्तराध्ययन २४ १

२ (क) वही २४ ३ (ख)

३ उत्तराध्ययन—बृहद् वृत्ति पत्र ५१३ ५१४

४ नन्दी

आत्मा के अनन्त आध्यात्मिक सद्गुणों को विकसित करने वाली यह प्रवचन माता है।

उत्तराध्ययननियुक्ति[1] में "प्रवचनमात" और "प्रवचन माता"—ये दोनों शब्द मिलते हैं। मूलाराधना[2] और मूलाराधना दर्पण[3] में प्रवचन माता शब्द का प्रयोग हुआ है।

समिति गुप्ति : परिभाषा

ईर्यासमिति, भाषा समिति, एषणा समिति, आदान भाण्डमात्र निक्षेपणा समिति, उच्चार-प्रस्रवण श्लेष्म सिंघाण-जल्ल-परिष्ठापनिका समिति—इन पाँचों की समिति संज्ञा है।[4] मनगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति इन तीन की गुप्ति संज्ञा है।[5] इन आठ को 'समिति' भी कहा गया है। इसका रहस्य प्रकट करते हुए टीकाकार ने कहा है कि गुप्तियाँ केवल निवृत्त्यात्मक ही नहीं होतीं प्रवृत्त्यात्मक भी होती हैं। इसी दृष्टि से उन्हें समिति कहा गया है। जो समित होता है वह नियमतः गुप्त होता है और जो गुप्त होता है वह समित होता भी है नहीं भी होता है।[6]

श्रमण की चारित्र में जो सम्यक् प्रवृत्ति होती है वह समिति है[7] और मुमुक्षु श्रमण की जो शुभ योगों में प्रवृत्ति होती है वह भी समिति है। प्रतिक्रमण सूत्र के वृत्तिकार आचार्य नमि ने[8]—समिति की व्युत्पत्ति करते हुए कहा है—प्राणातिपात प्रभृति पापों से निवृत्त रहने के लिए प्रशस्त एकाग्रतापूर्वक की जाने वाली आगमोक्त सम्यक् प्रवृत्ति समिति कहलाती है। साधक का अशुभ योगों से सर्वथा निवृत्त होना गुप्ति

---

१ उत्तराध्ययननियुक्ति गाथा ४५८-५९

२ मूलाराधना आश्वास ६ श्लो० ११८५

३ मूलाराधना दर्पण पृ० ११७२

४ (क) स्थानांग ५ । ३ । ४५७ (ख) समवायांग ५-७

५ (क) स्थानांग ३ । १ । १२६ (ख) समवायांग ३ २

६ उत्तराध्ययन बृहद्वृत्ति प० ५१४

७ (क) अट्ठ समिईओ पण्णत्ताओ तं जहा—ईरिया-समिई जाव-कायसमिई।

—स्थानांग स्थान ८ सू ६०१

(ख) उत्तराध्ययन २४।२६१

८ सम्=एकीभावेन इति=प्रवृत्तिः समितिः शोभनैकाग्रपरिणामचेष्टेत्यर्थः।

—प्रतिक्रमण सूत्रवृत्ति

कहलाता है। गुप्ति का अर्थ गोपन है—गोपन गुप्ति। आचार्य उमास्वाति ने[1] लिखा है मन वचन और शरीर के योगों का जो प्रशस्त निग्रह है वह गुप्ति है।

इस तरह अष्ट प्रवचन माताओं की समिति और गुप्ति ये दोनों सनाएँ भी आगम साहित्य में प्राप्त होती हैं।

पापों से निर्लिप्त

आचार्य शिवार्य ने[2] लिखा है—समितियों का सम्यक् प्रकार से पालन करने वाला श्रमण जो जीवों से आकुल-व्याकुल इस विराट विश्व में रहते हुए भी पापों से लिप्त नहीं होता। जैसे एक योद्धा जिसने सुदृढ़ कवच धारण कर रखा है उस पर तीक्ष्ण बाणों की वर्षा भी हो तो भी वे बाण उसे बींध नहीं सकते वैसे ही समितियों का सम्यक् पालन करने वाला श्रमण जीवन के विविध कार्यों में प्रवृत्त होता हुआ भी पापों से निर्लिप्त रहता है।[3]

इसी तरह गुप्ति भी पाप के निरुन्धन के लिए उपयोगी है। जैसे क्षेत्र की रक्षा के लिए बाड़ या नगर रक्षा हेतु खाई या प्राकार है[4] वैसे वह भी है। समिति और गुप्ति के अभाव में महाव्रत सुरक्षित नहीं रह सकते।[5] कोई श्रमण चौदह पूर्व का अध्ययन भी कर ले तथापि यदि वह प्रवचन माता में दक्ष नहीं है तो उसका ज्ञान अज्ञान है, लेकिन जो श्रमण आगम के रहस्य को नहीं जानता है किन्तु प्रवचन माता को सम्यक् प्रकार से जानता है वह स्वयं अपना भी कल्याण करता है और दूसरों का भी।

प्रवृत्ति और निवृत्ति

विवेकयुक्त प्रवृत्ति समिति है और अपने विशुद्ध आत्म-तत्त्व की रक्षा

---

१ सम्यग्योगनिग्रहो गुप्तिः —तत्त्वा० ६ ४

२ मूलाराधना ६ १२००

३ सरवासे वि पडंते जह दढकवचो ण विज्झदि सरेहिं।
तह समिदीहिं ण लिप्पइ साधू काएसु इरियंतो॥ —मूलाराधना ६ १२०२

४ छेत्तस्स वदी णयरस्स खाइया अहव होइ पायारो।
तह पावस्स णिरोहो ताओ गुत्तीओ साहुस्स॥
—मूलाराधना ६ ११८६

५ मूलाराधना ६ ११८५ मू० विजयोदयावृत्ति प ११०७

के लिए अशुभ योगों का रोकना गुप्ति है। समिति और गुप्ति में अन्तर यह है कि समिति प्रवृत्ति रूप है और गुप्ति निवृत्ति रूप है। यह स्पष्ट है कि समिति वाला नियम से गुप्ति वाला भी होता है। क्योंकि समिति भी सत्प्रवृत्ति रूप अंश गुप्ति ही है। जो गुप्ति वाला है वह समितिवाला हो भी सकता है और नहीं भी हो सकता। क्योंकि सत्प्रवृत्ति रूप गुप्ति के समय समिति अवश्य पाई जाती है किन्तु निवृत्तिरूप गुप्ति के समय समिति पाई भी जाती है और नहीं भी पाई जाती।[1]

अब हम संक्षेप में अष्ट प्रवचन माता के स्वरूप का विवेचन करेंगे। जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है अष्ट प्रवचन माता में पाँच समितियाँ और तीन गुप्तियाँ समाविष्ट हैं।

समिति

समिति पाँच हैं—(१) ईर्या समिति (२) भाषा समिति, (३) एषणा समिति, (४) आदान भाण्डमात्र निक्षेपण समिति, (५) उच्चार-प्रस्रवण श्लेष्म सिंघाण जल्ल परिष्ठापनिका समिति।

ईर्या समिति

युग परिमाण भूमि को एकाग्र चित्त से देखते हुए यतनापूर्वक गमनागमन करना ईर्या समिति है।[2] ईर्या का अर्थ गमन है। गमन विषयक सत्प्रवृत्ति ईर्या समिति है।[3]

युग का अर्थ शरीर अथवा गाड़ी का जुआ है। जुआ प्रारम्भ में सकरा और आगे से विस्तृत होता है। वैसे साधु की दृष्टि होनी चाहिए।[4] विशुद्धि मग्ग में भी भिक्षु को युग मात्रदर्शी कहा है। वहाँ लिखा है—श्रमण लोलुप स्वभाव को त्यागकर नीची आँखें किये हुए चार हाथ तक देखनेवाला हो। धीर श्रमण स्वेच्छा से विचरने वाला इच्छुक सपादचारी

---

१ प्रवीचारप्रवीचाररूपा गुप्तयः। समितयः प्रवीचाररूपा एव ॥
—आवश्यक हारिभद्रीयावृत्ति

२ उत्तराध्ययन २४-७

३ ईर्यायां समितिः ईर्यासमितिस्तया। ईर्याविषये एकीभावेन चेष्टनमित्यर्थः।
—आवश्यक हारिभद्रीयावृत्ति

४ दशवैकालिक ५।१।३ जिनदासचूर्णि पृ० १६८

बने।[1] अष्टाग हृदय म भी[2] युग मात्र भूमि को देखकर चलने का विधान है। किन्ही किन्ही ग्रन्था म कुक्कट के उडान[3] की दूरी जितनी दूरी पर दृष्टि डालकर चलन की बात कही गई है, और इस प्रकार चलनवाला भिक्षु 'कौक्कुटिक' कहलाता था।

ईर्या समिति की विशुद्ध आराधना व साधना के लिए चार बाता का ध्यान रखना आवश्यक है—आलम्बन काल माग और यतना।[4] क्याकि इन चारा से ईर्या समिति म विशुद्धि होती है।

प्रस्तुत समिति का आलम्बन ज्ञान दशन व चारित्र है। जस वद्ध व्यक्ति आलम्बन के सहारे इच्छित ऊँचाई पर पहुँच सकता है उसी तरह साधक ज्ञान दशन व चारित्र के सहारे शिवपद प्राप्त कर सकता है। आकाश मे उडान भरन के लिए पक्षी का पाख का आलम्बन चाहिए वसे ही साधक का ज्ञान दशन का सहारा लना आवश्यक है।

प्रथम आलम्बन अवस्सिया

साधक का लक्ष्य रत्नत्रय की प्राप्ति है और इसा लक्ष्य को पाने हेतु वह सम्पूण प्रवृत्ति गमनागमन करता है किन्तु आपवादिक स्थिति म वह ज्ञान दशन और चारित्र की अभिवद्धि के लिए वर्षावास म भी विहार कर अन्यत्र जा सकता है।[5] साधक स्वाध्याय व ध्यान के लिए[6] आहार पानी, वस्त्र प्रभति एषणीय पदार्थों की एषणा के लिए[7] शारीरिक मलमूत्रादि विसजन के लिए[8], और एक ग्राम स दूसर ग्राम जाने के उद्देश्य स[9] गमनागमन करता है। वह बिना आवश्यक काय के उपाश्रय स बाहर नही जाता, इसीलिए जाने के पूव वह अवस्सिया का तीन बार उच्चारण करता है। यह उसकी सामाचारी है।[1] यही ईर्यासमिति का आलबन कहा जाता है।

---

१ लोलुप्पचारच पहाय तस्मा ओक्खित्तचक्खू युगमत्तदस्सी।
आरक्खमानो भुवि सरिचार चरेय्य धीरो सपन्नचार॥
—विशुद्धि मग्ग १ २ पृ० ६८

२ अष्टाग हृदय सूत्र स्थान २ ३२

३ पाणिनी अष्टाध्यायी ४ ४ ४६

४ उत्तराध्ययन २४ ४

५ स्थानांग ५ २ ४१२

६ आचारांग २ ८-१० १६३ ६४

७ वही २, १ १ ४

८ वही २ १ १ ४

९ वही २ १-१ ४

१० उत्तराध्ययन २६ २

प्रधानता है। क्योंकि रात्रि में बाहर रहने से लोकापवाद या अन्य परीषह हो सकता है। आगम साहित्य में किस[1] प्रकार जल प्रवाह को पार करना चाहिए इसके लिए भी विधान दिये गये हैं और विशेष स्थिति में यदि नौका आरोहण करना पड़े तो उसके लिए भी निशीथभाष्य आदि में अनेक कारण प्रस्तुत किये हैं और बताया है कि विशेष परिस्थिति में ही वह नौका आदि से मार्ग तय कर सकता है। साधारण स्थिति में नौका आदि का उपयोग करना तथा नदी आदि को पार करना निषिद्ध है।

श्रमण अपने इष्ट स्थान पर पहुँचने के लिए अतीत काल में आकाश मार्ग से भी जाता था, पर विमान आदि से नहीं किन्तु लब्धिबल से जाता था। भगवती सूत्र में[2] श्रमण किस तरह अनन्त आकाश में उड़ान भरता था उसकी एक लम्बी सूची प्रस्तुत की है। सामान्य रूप से लब्धि का उपयोग करना निषिद्ध माना गया है। पर विशेष स्थिति में वह चारण लब्धि का उपयोग करता था।

चतुर्थ आलम्बन यतना

चतुर्थ आलम्बन यतना है। यतना का अर्थ है—विवेक। यतना के द्रव्य क्षेत्र काल व भाव की दृष्टि से चार प्रकार हैं। द्रव्य से—दिन में आँखों से देखकर चलना और रात्रि में रजोहरण से प्रमार्जन से चलना। क्षेत्र यतना—चार हाथ प्रमाण क्षेत्र को देखते हुए चलना। जितने समय तक चलना उतने समय तक विवेकपूर्वक चलना कालयतना है और भावयतना उपयोगपूर्वक चलना है।

श्रमण को चलते समय असम्भ्रान्त तथा अनासक्त रहना चाहिए। उसे मधुर गति से चलना चाहिए। विक्षिप्त और चंचल चित्त से चलने वाला व्यक्ति जीवों की यतना नहीं कर सकता। चलते समय वार्तालाप न करना चाहिए और न ठहाका मारकर हँसना ही चाहिए। गवाक्ष स्तनागार और भव्य भवन को निहारते हुए और दूसरों को संकेत करते हुए नहीं चलना चाहिए क्योंकि ऐसा करने से श्रमण ईर्या समिति का सम्यक् प्रकार से पालन नहीं कर सकता।

---

१ (क) निशीथभाष्य सू० ४२ गा० ४२१८
(ख) ईर्या—मरुधर केसरी अभिनन्दन ग्रन्थ खण्ड २ पृ० ८०

२ भगवतीसूत्र शतक २० उ० ६ पृ० ११६

उत्तराध्ययन सूत्र में देवराज इन्द्र और नमि राजर्षि के संवाद में[1] ईर्यासमिति को धनुष की प्रत्यंचा कहा है। जिससे उसकी उपयोगिता और महत्ता स्पष्ट परिज्ञात होती है।

भाषा समिति

क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, भय वाचालता और विकथा— इन आठ दोषों से रहित आवश्यकता होने पर भाषण में प्रवृत्ति करना, फलतः हित, मित, सत्य और सन्देह रहित स्पष्ट वचन कहना भाषा समिति है।[2] श्रमण सावधानीपूर्वक समय के अनुकूल और विवेकपूर्वक ऐसी भाषा का प्रयोग करता है जो सत्य महाव्रत के पालन करने में सहायक होती है।

ईर्या समिति की भाँति इस समिति में भी द्रव्य, क्षेत्र काल और भाव ये चार प्रकार हैं।

द्रव्य से—सत्यभाषा और व्यवहार भाषा का उपयोग करे कर्कश, कठोर, छेदकारी, भेदकारी, दूसरों को पीड़ा उत्पन्न करने वाली सावद्य भाषा का उपयोग न करे। क्षेत्र से—रास्ते में चलते हुए परस्पर वार्तालाप न करे। काल से—रात्रि में प्रथम प्रहर व्यतीत हो जाने पर उच्च स्वर से न बोले, जिससे दूसरों को बाधा उपस्थित हो, भाव से—ऐसे हितकारी प्रिय और सत्यवचन का उपयोग करे जिससे किसी को कष्ट न हो।

एषणा समिति

जीवन यात्रा के लिए श्रमण को भी भोजन की आवश्यकता होती है। यदि वह सर्वथा निराहार रहे तो उसका शरीर टिक नहीं सकता। इसलिए श्रमण जीवन की सुरक्षा के लिए भोजन करता है। वह जो कुछ भी खाता है वह स्वाद के लिए नहीं औषध के रूप में शरीर रक्षा के लिए खाता है। साधक का भोजन हितकारी, पथ्यकारी और मित होता है। वह अपवित्र मादक पदार्थों का सेवन बिल्कुल भी नहीं करता और न विकारवर्द्धक पदार्थों का ही उपयोग करता है। उसका भोजन सात्त्विक होता है।

श्रमण सांसारिक कार्यों से अलग रहता है। भिक्षा पर ही उसकी

---

१ उत्तराध्ययन ६।२१

२ भाषा समितिर्नाम हितमितासंदिग्धार्थ भाषणम्।

जीवन यात्रा चलती है। श्रमण की भिक्षा सामान्य भिक्षुक की तरह भिक्षा नहीं होती। उसकी भिक्षा ग्रहण करने के सम्बन्ध में नियमोपनियमों की विस्तार से सूची प्राप्त होती है। वह किसी को भी बिना पीडा पहुँचाये पूर्ण शुद्ध, सात्त्विक और आवश्यकतानुसार भिक्षा ग्रहण करता है। उसकी भिक्षा नवकोटि परिशुद्ध होती है।

प्रस्तुत विधान से यह भी ज्ञात होता है कि उसकी अहिंसा मर्यादा का कितनी गहराई से ध्यान रखा गया है। भिक्षा के लिए न वह स्वयं किसी तरह की पीडा देता है न दूसरों से दिलवाता है और यदि कोई किसी को पीडा दे तो उसका अनुमोदन भी नहीं करता। यह है उसके हृदय की विशालता और कोमलता।

एषणा समिति के द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव ये चार प्रकार हैं। द्रव्य से—वह ४२ और ६६ दोष रहित भिक्षा आदि ग्रहण करता है। क्षेत्र से—अप्रयोजन से अधिक दूर आहार के लिए न जाना। आवश्यकता होने पर दो कोस तक आहार ले जा सकता है उससे आगे नहीं। काल से—प्रथम प्रहर में लाया हुआ आहार चतुर्थ प्रहर में न खाना। श्रमण तीन प्रहर से अधिक आहार नहीं रखता। प्रस्तुत नियम उसकी संग्रह वृत्ति को रोकने के लिए और तृष्णा को घटाने के लिए है। यदि वह प्रथम प्रहर का आहार चतुर्थ प्रहर में ग्रहण करता है तो उसे प्रायश्चित्त आता है। भाव से—संयोजन आदि मांडले के दोषों को छोडकर आहारादि ग्रहण करे। आहार वस्त्र पात्र आदि पर ममत्व न रखे और समय पर जो भी निर्दोष अशन, वसन पात्र आदि मिल जाय उसे ग्रहण करे।[1]

श्रमण (१) पिण्ड (२) शय्या वसति (३) वस्त्र (४) पात्र का विशोधन करे।[2] आचार्य जिनदास महत्तर[3] ने कहा है—जिसने पिण्ड नियुक्ति का अध्ययन न किया हो उसका लाया हुआ भक्त-पान, जिसने शय्या (आचारांग २ २) का अध्ययन न किया हो उसके द्वारा याचित वसति जिसने वस्त्रैषणा (आचारांग २ ५) अध्ययन नहीं किया हो उनके द्वारा लाया हुआ वस्त्र वर्षाकाल में किसी को प्रव्रजित करना और ऋतुबद्ध काल में अयोग्य को प्रव्रजित करना शैक्षस्थापना अकल्प है। जिसने पात्रैषणा

१ उत्तराध्ययन २४ १२ १३

२ उत्तराध्ययन बृहद् वृत्ति पत्र ५१७

३ दशवैकालिक, जिनदासचूर्णि पृ० २२९

(आचाराग २ ६) का अध्ययन न किया हो उसके द्वारा आनित पात्र भी शक्षस्थापनाऽकल्प है।[1] अकल्पनीय पिण्ड आदि को अकल्पस्थापना अकल्प कहा जाता है।

प्रकारान्तर से पिण्ड, शय्या, वस्त्र और पात्र आदि से सयोजना आदि दोषो का ग्रहण किया गया है। आहार म सयोजना अप्रमाण अगार धूम कारण, आदि पाच दोष हैं। उनसे रहित आहारादि क ग्रहण का ध्यान श्रमण को रखना चाहिए। मुनि शुद्ध एषणा करे। गवेषणा ग्रहणषणा और भोगषणा के दोषा का वणन करे।[2]

मूलाचार मे भी उद्गम आदि ४६ दाषा से युक्त आहार ग्रहण का सवथा निषेध किया गया है, जिसमे औद्देशिक आहार ग्रहण का निषध है। वतमान म दिगम्बर परम्परा म एषणा समिति के व्यवहार म जा शिथिलता है उसका प्रारभ कब हुआ यह अन्वेषणीय है।

आदान भाण्ड मात्र निक्षेपणा समिति

वस्त्र, पात्र पुस्तक आदि भाडमात्र जितने उपकरण है उन्हें विवेक पूवक ग्रहण (आदान) करना और जीवरहित प्रमार्जित भूमि पर निक्षपण (रखना) आदान भाण्ड मात्र निक्षेपणा समिति है।[3]

श्रमण का प्रत्येक वस्तु याचित प्राप्त हाती है। उसका पूण उपयोग करना उसका परम कत्तव्य है। प्रत्येक पदाथ का व्यवहार उपयोगपूवक होना चाहिए। वस्तु को ग्रहण करने म रखने म अहिंसा की दृष्टि प्रमुख है। श्रमण क पास जो भी धार्मिक उपकरण ह उन्ह अच्छी तरह स देखकर और उन्हें प्रमाजन करक उठाना और रखना चाहिए जिसस कि जीवा की हिंसा न हो।

प्रस्तुत समिति के भी द्रव्य, क्षेत्र काल और भाव य चार विभाग हैं। द्रव्य से—वस्तु को विवेक पुरस्सर रखना और ग्रहण करना। क्षेत्र से—जिस क्षेत्र म विचरण करे प्रतिलेखना की जाय बिना देखे भाल उपयोग मे लाने से हिंसा का दोष लगता है। उसमे सूक्ष्म जीवा की उत्पत्ति हो जाने की और साथ ही बाहर के जीवा क आश्रय लेने की भी सभावना

---

१ दशवकालिक हारिभद्रीयावृत्ति पन्ना २०३

२ उत्तराध्ययन २४ ११ १२

३ आदान भाण्डमात्र निक्षेपणा समितिर्नाम [illegible] सुन्दरचेष्टेत्यर्थ। —आवश्यक हारिभद्रीयवृत्ति

रहती है। अतः सूक्ष्म दृष्टि से उसे निरीक्षण करना चाहिए। यदि कोई जीव दिखाई दे तो उसको रजोहरण या पूंजनी से प्रमार्जना करनी चाहिए और एकान्त स्थान में धीरे से छोड़ देना चाहिए।

वस्त्र, पात्र आदि को अच्छी तरह से खोलकर चारों ओर से देखना, प्रतिलेखना कहलाती है और रजोहरण आदि के द्वारा अच्छी तरह साफ करना प्रमार्जना है। प्रतिलेखना और प्रमार्जना दोनों परस्पर सम्बन्धित हैं। पहले प्रतिलेखना होती है, बाद में प्रमार्जना।

ओघनियुक्ति[1] के अनुसार शरीर, उपाश्रय, उपकरण, स्थंडिल—मल मूत्रविसर्जन की भूमि, अवष्टंभ और मार्ग ये प्रतिलेखनीय हैं। उपकरण प्रतिलेखना के दो प्रकार हैं—वस्त्र प्रतिलेखना और पात्र प्रतिलेखना। मुखवस्त्रिका और रजोहरण की प्रतिलेखना[2] के पश्चात रजोहरण को अंगुलियों से पकड़कर भाजन की प्रतिलेखना करे। उत्तराध्ययन में श्रमण के वस्त्र की प्रतिलेखना की विधि बताई है। सर्वप्रथम ऊकडू आसन पर बैठकर वस्त्र को ऊँचा रखे, स्थिर रखे और बिना शीघ्रता से चक्षु से देखकर प्रतिलेखना करे। उसके बाद वस्त्र को झटकाये और वस्त्र की प्रमार्जना करे।[3]

प्रतिलेखना की विधि

प्रतिलेखना करते समय वस्त्र व शरीर को न नचाये, न मोड़े, उपयोगशून्य होकर शीघ्र प्रतिलेखना न करे, वस्त्र के तीन भाग करके उनको दोनों ओर से अच्छी तरह से देखना चाहिए। देखने के पश्चात धीरे धीरे यतना से झटकाना चाहिए। झटकाने के पश्चात वस्त्र आदि पर लगे हुए जीव को यतना से प्रमार्जन कर हाथ में लेना और एकान्त स्थान पर यतना से परठना चाहिए।

प्रतिलेखना के प्रकार

स्थानांग में[4] प्रमाद प्रतिलेखना के छह प्रकार बताये हैं—

(१) विपरीत रीति से या बहुत ही शीघ्रता से प्रतिलेखना करना

---

१ ठाणे उवगरणे य थंडिल्लउवथंभमग्गपडिलेहा।
किमणं पडिलेहा पुव्वण्हे चेव अवरण्हे॥ —ओघनियुक्ति गाथा २६१

२ उत्तराध्ययन २६.२३

३ उत्तराध्ययन २६.२४ ४ स्थानांग ६

एक वस्त्र की प्रतिलेखना को बीच में अपूर्ण छोड़कर दूसरे वस्त्र की प्रतिलेखना करना आरभटा प्रतिलेखना है।

(२) जिस प्रतिलेखना में वस्त्र की सलवट न निकाली जाय वह सम्मर्दा प्रतिलेखना है अथवा प्रतिलेखना के उपकरणों पर बैठकर ही प्रतिलेखना करना।

(३) जैसे धान्य कूटते समय मूसल ऊपर नीचे और तिरछे लगता है, उसी तरह प्रतिलेखना करते समय वस्त्र को ऊपर नीचे और तिरछे लगाना मौसली प्रतिलेखना है।

(४) जैसे धूल से सना हुआ वस्त्र जोर से झटकाया जाता है वैसे प्रतिलेखना के वस्त्र को जोर से झटकाना प्रस्फोटना प्रतिलेखना है।

(५) प्रतिलेखना किये हुए वस्त्रों को बिना प्रतिलेखना किये हुए वस्त्र में मिला देना या प्रतिलेखना करते हुए वस्त्र के पल्ले को इधर उधर फेंकना विक्षिप्ता प्रतिलेखना है।

(६) प्रतिलेखना करते समय घुटनों के ऊपर, नीचे या पीछे हाथ रखना, दो घुटनों के बीच या भुजाओं के बीच एक घुटने को रखना वेदिका प्रतिलेखना है।

इस प्रकार से प्रतिलेखना करने का निषेध किया गया है।

विवेकपूर्वक की गई प्रतिलेखना और प्रमार्जना प्रशस्त कहलाती है और असावधानीपूर्वक की गई प्रतिलेखना और प्रमार्जना अप्रशस्त कहलाती है। जो श्रमण सम्यक् प्रकार से प्रतिलेखना प्रमार्जना नहीं करता अपने उपकरणों को इतस्ततः रख देता है शय्या आदि पर धूल धूसरित पैरों से ही सो जाता है वह सच्चा श्रमण नहीं है।

काल से—प्रतिलेखना के दो काल हैं[1]—पूर्वाह्न और अपराह्न। वस्त्र और पात्र की प्रतिलेखना का यही काल है। आचार्य नेमीचन्द्र ने[2] कालभेद से प्रतिलेखना के तीन काल बताये हैं—मुखपोतिका (मुखवस्त्रिका) आदि दस उपकरणों का प्रतिलेखना काल पूर्वाह्न यानी प्रभात का समय है। तृतीय प्रहर व्यतीत होने पर चौदह उपकरणों की प्रतिलेखना का समय

---

१ (क) ओघनियुक्तिभाष्य गा० १५८-१७३ वृत्ति
   (ख) उत्तराध्ययन बृ० वृ० पत्र ५३७
२ प्रवचनसारोद्धार गा० ५६०-५६२

रहती है। अतः सूक्ष्म दृष्टि से उसे निरीक्षण करना चाहिए। यदि कोई जीव दिखाई दे तो उसको रजोहरण या पूंजनी से प्रमार्जना करनी चाहिए और एकान्त स्थान में धीरे से छोड़ देना चाहिए।

वस्त्र, पात्र आदि को अच्छी तरह से ध्यानपूर्वक चारों ओर से देखना, प्रतिलेखना कहलाती है और रजोहरण आदि के द्वारा अच्छी तरह साफ करना प्रमार्जना है। प्रतिलेखना और प्रमार्जना दोनों परस्पर सम्बन्धित हैं। पहले प्रतिलेखना होती है बाद में प्रमार्जना।

ओघनियुक्ति[1] के अनुसार शरीर, उपाश्रय, उपकरण, स्थंडिल—मल मूत्रविसर्जन की भूमि, अवष्टम्भ और मार्ग ये प्रतिलेखनीय हैं। उपकरण प्रतिलेखना के दो प्रकार हैं—वस्त्र प्रतिलेखना और पात्र प्रतिलेखना। मुख वस्त्रिका और रजोहरण की प्रतिलेखना[2] के पश्चात् रजोहरण को अंगुलियों से पकड़कर भाजन की प्रतिलेखना करे। उत्तराध्ययन में श्रमण के वस्त्र की प्रतिलेखना की विधि बताई है। सर्वप्रथम उकडू आसन पर बैठकर वस्त्र को ऊँचा रखे, स्थिर रखे और बिना शीघ्रता से चक्षु से देखकर प्रतिलेखना करे। उसके बाद वस्त्र को झटकाये और वस्त्र की प्रमार्जना करे।[3]

प्रतिलेखना की विधि

प्रतिलेखना करते समय वस्त्र व शरीर को न नचाये, न मोड़, उपयोगशून्य होकर शीघ्र प्रतिलेखना न करे, वस्त्र के तीन भाग करके उनको दोनों ओर से अच्छी तरह से देखना चाहिए। देखने के पश्चात धीरे धीरे यतना से झटकाना चाहिए। झटकाने के पश्चात वस्त्र आदि पर लगे हुए जीव को यतना से प्रमार्जन कर हाथ में लेना और एकान्त स्थान पर यतना से परठना चाहिए।

प्रतिलेखना के प्रकार

स्थानांग में[4] प्रमाद प्रतिलेखना के छः प्रकार बताये हैं—

(१) विपरीत रीति से या बहुत ही शीघ्रता से प्रतिलेखना करना,

---

१ ठाणे उवगरणे य पडिमउवयममग्गपडिलेहा।
किमाई पडिलेहा पुव्वण्हे चेव अवरण्हे॥ —ओघनियुक्ति गाथा २६३

२ उत्तराध्ययन २६.२३

३ उत्तराध्ययन २६, २४

४ स्थानांग ६

एक वस्त्र की प्रतिलेखना को बीच मे अपूर्ण छोडकर दूसरे वस्त्र की प्रतिलेखना करना आरभटा प्रतिलेखना है।

(२) जिस प्रतिलेखना म वस्त्र की सलवट न निकाली जाय वह सम्मर्दा प्रतिलेखना है अथवा प्रतिलेखना के उपकरणो पर बैठकर ही प्रतिलेखना करना।

(३) जसे धान्य कटने समय मूसल ऊपर, नीचे और तिरछे लगता है, उसी तरह प्रतिलेखना करते समय वस्त्र को ऊपर नीचे और तिरछे लगाना मौसली प्रतिलेखना है।

(४) जसे धूल से सना हुआ वस्त्र जोर से झटकाया जाता है वसे प्रतिलेखना के वस्त्र को जोर से झटकाना प्रस्फोटना प्रतिलेखना है।

(५) प्रतिलेखना किये हुए वस्त्रो को बिना प्रतिलेखना किये हुए वस्त्र मे मिला देना या प्रतिलेखना करते हुए वस्त्र के पल्ले को इधर उधर फेंकना विक्षिप्ता प्रतिलेखना है।

(६) प्रतिलेखना करते समय घुटनो के ऊपर नीचे या पीछे हाथ रखना, दो घुटनो के बीच या भुजाओ के बीच एक घुटने को रखना वेदिका प्रतिलेखना है।

इस प्रकार से प्रतिलेखना करने का निषेध किया गया है।

विवेकपूर्वक की गई प्रतिलेखना और प्रमार्जना प्रशस्त कहलाती है और असावधानीपूर्वक की गई प्रतिलेखना और प्रमार्जना अप्रशस्त कहलाती है। जो श्रमण सम्यक् प्रकार से प्रतिलेखना प्रमार्जना नहीं करता अपने उपकरणों को इतस्तत रख देता है शय्या आदि पर धूल धूसरित पैरो से ही सो जाता है वह सच्चा श्रमण नहीं है।

काल से—प्रतिलेखना के दो काल हैं[1]—पूर्वाह्न और अपराह्न। पत्र और पात्र की प्रतिलेखना का यही काल है। आचार्य नेमिचन्द्र[2] कालभेद से प्रतिलेखना के तीन काल बताये हैं—मुखपोतिका (मुखवस्त्रिका) आदि दस उपकरणो का प्रतिलेखना काल पूर्वाह्न यानी प्रभात का समय है। तृतीय प्रहर व्यतीत होने पर चौदह उपकरणो की प्रतिलेखना का समय

---

१ (क) आवनियु क्तिभाष्य गा० १२८ १७१ वृत्ति
(ख) उत्तराध्ययन अ० वृ० पत्र ५३७

२ प्रवचनसारोद्धार गा० ५६० ५६२

निक्षेपण समिति में वस्तु रखने के लिए वस्तु का त्याग नहीं किया जाता, उसमें केवल यतनापूर्वक वस्तु को रखा जाता है पर परिष्ठापनिका समिति में वस्तु को सदा के लिए त्याग किया जाता है पुनः उसे ग्रहण कर उपयोग नहीं किया जाता।

गुप्ति

गुप्ति का शाब्दिक अर्थ रक्षा है। मन, वचन, काय के साथ में गुप्ति का योग होता है तो उसका अर्थ है—मन, वचन और काय का अकुशल प्रवृत्तियों से रक्षा और कुशल प्रवृत्तियों में संयोजन। सम्यक् प्रवृत्ति के सन्दर्भ में स्पष्ट ही यह अर्थ किया गया है। जब तक असम्यक् प्रवृत्ति से निवृत्ति नहीं होती वहाँ तक कोई भी प्रवृत्ति सम्यक् नहीं हो सकती। प्रस्तुत दृष्टि से सम्यक् प्रवृत्ति में गुप्ति होना अनिवार्य है।[1]

मन, वचन और काया की स्वच्छन्द प्रवृत्ति को रोकना निग्रह है। विषय सुख की अभिलाषा के लिए की जाने वाली प्रवृत्ति का निषेध करने हेतु 'सम्यक्' शब्द का प्रयोग किया गया है। सम्यक् प्रकार से योगों का निरोध होने से कर्मों का आस्रव रुक जाता है। आचार्य पतंजलि ने चित्तवृत्ति निरोधो योग—चित्तवृत्ति के निरोध को योग कहा है। प्रस्तुत सूत्र को गुप्ति के लिए इस रूप में कहा जा सकता है—चित्तवृत्ति निरोधो गुप्ति।

मनोगुप्ति

संरम्भ, समारम्भ और आरम्भ में प्रवृत्त हुए मन के व्यापार को रोकना मनोगुप्ति है।[2] किसी को मारने की इच्छा करना संरंभ है। मारने के साधनों पर विचार करना समारंभ है और मारने की क्रिया के लिए प्रारम्भ करने का विचार करना आरंभ है। मन के ये क्रमशः तीन विकल्प हैं। इन तीनों को रोकना आवश्यक है।

---

१ गोपनं गुप्तिः—मनःप्रभृतीनां कुशलानां प्रवर्तनमकुशलानां च निवर्तनमिति
आह च —
मणगुत्तिमाइयाओ गुत्तीओ तिन्नि समयकेऊहिं।
पवियारेयररूवा णिद्दिट्ठाओ जओ भणियं॥
समिओ णियमा गुत्तो गुत्तो समियत्तणमि भइयव्वो।
कुसलवइमुईरंतो, जं वइगुत्तोऽवि समिओऽवि॥

—स्थानांग वृत्ति पत्र १०५, १०६

२ उत्तराध्ययन २४।२१

मन के विचारों की प्रवृत्ति सत्य, असत्य, मिश्र और अनुभय होती है।[1] एतदर्थ मनोगुप्ति के भी (१) सत्य मनोगुप्ति—अर्थात सद्भूत पदार्थ में प्रवतमान मन की प्रवृत्ति का रोकना, (२) असत्य मनोगुप्ति—मिथ्या पदार्थों में प्रवतमान मन की प्रवृत्ति का रोकना, (३) सत्यमृषा मनोगुप्ति—सत्य और असत्य से मिश्रित मन के विचारों का रोकना (४) असत्यमृषा मनोगुप्ति—सत्य, असत्य एवम् सत्यासत्य से रहित मन के विचारों को रोकना। डा० हरमन जेकोबी प्रथम तीन विकल्पों को विधेयात्मक और चतुर्थ को निषेधात्मक मानते हैं।[2]

मन को एकाग्र करना और मन को समाधिस्थ करना ये दोनों मनोगुप्ति के प्रतिफल हैं। मन को जीतना अत्यन्त कठिन है। वह पवन के समान चचल है और दुष्ट घोडे जैसा दुस्साहसिक है। मन के सदृश कोई शत्रु नहीं है, अतः उसे मारना चाहिए। यह चिन्तन का एक पहलू है। दूसरा पहलू है मन मित्र है वह सृष्टि का निर्माता तथा ब्रह्मा के सदृश है। मन को अनुकूल कर लेने पर परमात्म की उपलब्धि होती है। मन परम शक्ति है। जब मन गलत दिशा में सरपट दौड़ना प्रारम्भ करता है तो सृष्टि में प्रलय का दृश्य उपस्थित कर देता है। निरपराध मानवों के रक्त की नदियाँ बहा देता है और हड्डियों के पहाड़ खड़े कर देता है।

इसके विपरीत जब मन मित्र के रूप में हो तो सृष्टि में स्वर्ग का निर्माण करता है सभ्यता और संस्कृति का जो भी विकास हुआ है वह मानव के चिन्तन और मनन के फलस्वरूप ही हुआ है। इसलिए मन को ब्रह्मा कहा है।

साधना के क्षेत्र में दो विचार हैं। जो साधक मन को शत्रु मानते हैं वे मन को मारने की बात कहते हैं। उनका वज्र आघोष है मन मारा तन बस किया। मन के मारने के लिए विविध प्रकार की क्रियाओं का विकास हुआ मन को मूर्च्छित करने के लिए मदिरा, भाँग गाँजा और धतूरा जैसे नशीले पदार्थ अपनाये गये—हठयोग की साधनाएँ आई। हठयोगी साधकों

---

१ सच्चा तहेव मोसा य सच्चमोसा तहेव य।
चउत्थी असच्चमोसा मणगुत्ती चउव्विहा॥ —उत्तराध्ययन २४ २०

२ First three refer to assertions and the fourth to injunctions
—सेक्रेड बुक्स आफ दि ईस्ट भाग ४५ पृ० १५० (हर्मन जेकोबी)

का मन्तव्य है—मन पारे के सदृश है। जैसे पारे को मारने से वह सिद्ध रसायन बन जाता है वैसे ही मन को मारने से वह सिद्ध रसायन के समान उपयोगी बनता है।

पर साधक साधक है वह साधने वाला है, मारने वाला नहीं। इसीलिए दूसरा लिखता है—'मन को साधो मारो मत'। मन का स्वभाव मनन करना है। जब वह मनन करेगा तो उसमें गतिशीलता आएगी ही। मन की उपलब्धि अत्यन्त पुण्यवानी के पश्चात हुई है। जिसके पास मन नहीं है वह सम्यग्दृष्टि भी नहीं बन सकता। मन भूत नहीं, देव है। उसकी चपलता का मोड़ने की आवश्यकता है। मन की एकाग्रता तभी लाभप्रद है जब उसमें पवित्रता होती है। पहले मन में जो असद् विचारों का कूड़ा कचरा है उसे निकालकर शुद्ध और निर्मल बनाइए। सधा हुआ मन साधना के पवित्र पथ पर दौड़ेगा। मन मधुमक्षिका की तरह है। जब उसे सत्कर्मों के फूलों में रस प्राप्त होगा तो वह स्वतः उन पर मंडराता रहेगा और उसकी गुनगुनाहट भी बन्द हो जाएगी। उसके समस्त संकल्प विकल्प और विकार समाप्त हो जाएंगे।

मन को आर्त्त रौद्रध्यान से हटाकर लोक परलोक हितकारी धर्म ध्यान सम्बन्धी चिन्तन करना और संसार के प्रति माध्यस्थ्य भाव रखना तथा राग द्वेष से मन का परावृत्त होना एवं अखण्ड अद्वैत परमचिद्रूप में सम्यक् रूप से अवस्थित रहना मनोगुप्ति है।

वचन गुप्ति

वचन के संरंभ, समारम्भ और आरम्भ सम्बन्धी व्यापार को रोकना, विकथा न करना, असत्य न बोलना, चुगली आदि न करना, मौन रहना वचन गुप्ति है।[1]

भारतीय तत्त्वचिन्तकों ने "वाक्" को परब्रह्म माना है। ब्रह्माद्वैतवाद की तरह शब्दाद्वैतवाद नाम का भी एक दर्शन है। उस दर्शन का यह मन्तव्य है कि सम्पूर्ण संसार शब्दमय है। सारे संसार में एक प्रकार का प्रकम्पन है। ध्वनि की तरंग उठ रही हैं। ऊर्मियाँ उछल रही हैं। ये सभी ध्वनियाँ शब्द हैं।

व्याकरण के मूर्धन्य मनीषियों ने और मन्त्रविद आचार्यों ने ध्वनि के चार रूप बताये हैं—वैखरी मध्यमा, पश्यन्ती और परा। वैखरी स्थूल ध्वनि है मध्यमा व्यंजन ध्वनि है, पश्यन्ती मनोमय ध्वनि और परा

---

१ उत्तराध्ययन २४ २२ २३

प्राणमय ध्वनि है। ये क्रमश स्थूल, सूक्ष्म सूक्ष्मतर और सूक्ष्म तम हैं।

आधुनिक वैज्ञानिकों ने ध्वनि की शक्ति को अनुभव कर लिया है। वे मानते हैं कि स्थूल ध्वनि से सूक्ष्म ध्वनि में अधिक शक्ति है, उससे अधिक सूक्ष्मतर में और उससे भी सूक्ष्मतम मे है। सूक्ष्मतम ध्वनि से हीरा जो सबसे अधिक कठोर है वह भी कट जाता है। पाश्चात्य देशों म सूक्ष्म ध्वनि-तरंगो से सफल आपरेशन होने लगे हैं।

प्राचीन साहित्य मे मत्रशक्ति के अनेक चमत्कार पढने को मिलते हैं। मत्र का गिनने से मकान प्रकंपित हो जाते थे देवताओं के सिंहासन चलायमान हो जाते थे। विज्ञान ने आज यह सिद्ध कर दिया है कि ध्वनि की तरंगो में अद्भुत व गजब की शक्ति है। स्थूल उपकरण जिन कार्यों को नहीं कर सकते हैं वह काय ध्वनि-तरंगों से सम्पन्न हो सकते हैं।

गणधर गौतम ने भगवान महावीर से पूछा[1]—भगवन! वचन गुप्ति से क्या लाभ है? भगवान ने कहा—वचन गुप्ति से निर्विचारता प्राप्त होती है। उसके विचार समाप्त हो जाते हैं।

सर्वप्रथम मन गुप्ति कही गयी है। उसका कारण यह है—यदि मन मे विचारों का ज्वार भाटा चलता रहा तो मन में चचलता रहेगी और यदि मन मे चचलता है तो वचन गुप्ति नहीं हो सकती। मन गुप्ति और वचन गुप्ति ये दोनों साथ साथ चलती हैं। यदि न बोलेंगे तो शरीर म समुत्पन्न शक्ति का व्यय नहीं होगा। बोलने से शक्ति का अपार व्यय होता है जिससे हमारे स्नायुओं म तनाव आता है।

सबसे पहले हमारे मन मे सकल्प विकल्प उठते हैं और उन सकल्प विकल्पों को व्यक्त करने के लिए हम बोलते हैं। जब सकल्प तीव्र हो जाते हैं तो उन्हें बाहर करने के लिए हम मचल उठते हैं। मानसिक आवेग की स्थिति म यदि दूसरा व्यक्ति नहीं है तो स्वय ही गुनगुनाने लगते हैं जिसे हम 'स्वगत वार्तालाप' कहते हैं। बोलने का दूसरा कारण जन सपर्क भी है। इसीलिए आचार्य ने अनेको बार कहा है। बोलने की क्रिया को दो भागों म विभक्त कर सकते हैं—बहिर्जल्प और अन्तर्जल्प। बहिर्जल्प

---

1 उत्तराध्ययन २९ ५८

स्थूल भाषा है—वैखरी वाणी है और अन्तर्जल्प सूक्ष्म भाषा और सूक्ष्म वाणी है। जब ये दोनों जल्प समाप्त होते हैं तभी वचन गुप्ति होती है।

योग का एक प्रसिद्ध सिद्धान्त है सुषुम्ना नाडी का सम्बन्ध ब्रह्मरन्ध्र के साथ है। वहाँ से एक प्रकार के रस का स्राव होता है और वह रस नीचे तक जाता है। जो व्यक्ति बहुत तेजी से शब्दों का उच्चारण करता है, उस समय सुषुम्ना से जो रस टपकता है उसके नौ बिन्दु स्रवित होते हैं और जो मध्यम शब्दोच्चारण करता है उसके बारह बिन्दु स्रवित होते हैं और जो विलम्बित अत्यन्त शनैः शनैः उच्चारण करता है उसके सोलह बिन्दु स्रवित होते हैं। इस तरह व्यक्ति ज्यों ज्यों कम बोलता है त्यों त्यों स्रोतों की मात्रा बढ़ती जाती है जिससे अद्भुत सुख का उसे अनुभव होने लगता है। एतदर्थ ही योग के आचार्यों ने वाक् संयम पर बल दिया और जैन मनीषियों ने वचन गुप्ति का संदेश दिया है। वचन गुप्ति से मनुष्य को शक्ति का अक्षय स्रोत प्राप्त होता है। यही कारण है—जितने भी तीर्थंकर हुए उन्होंने छद्मस्थ अवस्था में अधिक से अधिक समय मौन साधना में व्यतीत किया।

मनोगुप्ति के भाँति ही वचन गुप्ति के भी चार प्रकार हैं—(१) सत्य वाक् गुप्ति (२) मृषा वाक् गुप्ति (३) सत्यमृषा वाक् गुप्ति और (४) असत्यमृषा वाक् गुप्ति।[1]

आचार्य शिवकोटि ने[2] लिखा है—जिससे दूसरे प्राणियों को उपद्रव होता है ऐसे भाषण से परावृत्त होना वाक् गुप्ति है। अथवा जिस भाषण में प्रवृत्ति करने वाला आत्मा अशुभ कर्म का विस्तार करता है ऐसे भाषण से परावृत्त होना वाग गुप्ति है अथवा सम्पूर्ण प्रकार के वचनों का त्याग करना वाक् गुप्ति है।

कायगुप्ति

शारीरिक क्रिया सम्बन्धी संरम्भ समारम्भ, आरम्भ में प्रवृत्ति न करना उठने बैठने हिलने-चलने, खाने में संयम रखना, अशुभ व्यापारों का परित्याग रखना यतनापूर्वक सत्प्रवृत्ति करना कायगुप्ति है।

---

१ उत्तराध्ययन २४।२२

२ (क) भगवती आराधना ११८७

(ख) जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश भाग ३ पृ २४६

गणधर गौतम ने[1] भगवान महावीर से पूछा—कायगुप्ति से जीव क्या प्राप्त करता है ? तो भगवान ने उत्तर दिया—कायगुप्ति से जीव संवर को प्राप्त करता है। यहाँ पर 'संवर' का अर्थ अकुशल कायिक प्रवृत्ति से उत्पन्न आस्रव का निरोध करना है। जब अकुशल आस्रव का संवरण होने लगता है तब हिंसादि पापास्रव निरुद्ध होने लगते हैं। प्रवृत्ति का मुख्य केन्द्र काया है। आस्रव और संवर का काया से गहरा सम्बन्ध है। जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण ने[2] लिखा है—मुख्य योग काययोग है।

वचनयोग और मनोयोग के योग्य पुद्गल भाषावर्गणा और मनोवर्गणा का ग्रहण करने का कार्य काययोग से ही होता है। उसके स्थिर होने पर सहज संवर हो जाता है। काया की चंचलता या आस्रवाभिमुखता के बिना वचन व्यापार और मन की चंचलता नष्ट हो जाती है। मन की चंचलता और स्थिरता का शरीर की प्रवृत्ति से गहरा सम्बन्ध है। बिना शरीर को स्थिर किये श्वास स्थिर नहीं होता और बिना श्वास को स्थिर किये मन स्थिर नहीं हो सकता। विजातीय तत्त्व का ग्रहण शरीर के द्वारा होता है। अतः बन्ध और मोक्ष की प्रक्रिया में मन के साथ शरीर का बहुत ही गहरा सम्बन्ध है।

कायगुप्ति की साधना के लिए हमें सर्वप्रथम आत्म-केन्द्रित होना होगा। आत्म-दर्शन की भावना जब तीव्र होती है तब उसका ध्यान आत्म-केन्द्र पर केन्द्रित होगा जिससे शरीर में शिथिलता आने लगेगी और शरीर भान कम होने लगेगा। एतदर्थ ही भारतीय मनीषियों ने कहा—आत्मा और देह को भिन्न समझने का अभ्यास करो। जब साधक को आत्मा के अस्तित्व का भान होने लगता है तब उसकी शरीर के प्रति आसक्ति क्षीण होने लगती है। ममत्व, ममकार और अहंकार क्षीण होने से देह की चंचलता अपने आप क्षीण हो जाएगी।

आज भारत में सर्वत्र मिलावट का बोलबाला है। मिलावट के कारण शुद्ध वस्तु का मिलना भी कठिन हो गया है। गेहूं, चावल, चना आदि अन्न में कंकड़ मिलाये जाते हैं। भोजन करने वाले उन अन्नकणों में

---

१ उत्तराध्ययन २९ ५६

२ किं पुण तणुसंरंभेण जेण मुंचइ स वाइओ जोगो।
मण्णइ य स माणसिओ, तणुजोगो चेव य विभत्तो ॥

—विशेषावश्यकभाष्य, गाथा ३५९

८ आचार की सम्यक् भूमिकाएँ : समाचारी

विशिष्ट क्रियाएं सामाचारी

सामाचारी जन सस्कृति का पारिभाषिक शब्द है। या शिष्ट जन आचरित क्रिया-कलाप सामाचारी कहलाती है। आगम साहित्य का पर्यवेक्षण करने पर परिज्ञात होता है कि सामाचारी वह विशेष क्रिया कलाप है जो श्रमणों के लिए मौलिक नियमो की तरह अनिवार्य है। यद्यपि वे क्रियाएं लघु प्रतीत होती हैं किन्तु लघु होने पर भी साधक के जीवन में उसका गहरा असर पडता है और वे उस साधक के जीवन में आमूलचूल परिवर्तन कर देती हैं।

भगवती[1] स्थानाग,[2] उत्तराध्ययन,[3] प्रभृति आगमों में प्रमुख रूप से सामाचारी का वर्णन उपलब्ध होता है। आवश्यक नियुक्ति में भी सामाचारी पर चिन्तन हुआ है। दृष्टिवाद के नौवें पूर्व को आचार नामक ततीय वस्तु के बीसवें 'आघप्राभृत' में सामाचारी के सम्बन्ध में अत्यधिक विस्तार के साथ वर्णन था किन्तु वह सभी श्रमणो के लिए सुलभ नही थी। जो विशिष्ट मेधावी सन्त थे वे ही उसका अध्ययन-परिशीलन कर सकते थे। आज वह अनुपलब्ध है। विशिष्ट आगम मर्मज्ञ आचार्यों ने शिष्यों के अनुग्रहार्थ ओघ नियुक्ति आदि विशिष्ट ग्रन्थों का निर्माण किया जो पूर्व साहित्य पर आधृत है। प्रवचनसारोद्धार, धर्मसंग्रह में भी सामाचारी पर विचार चर्चा हुई है। उपाध्याय यशोविजयजी ने 'सामाचारी प्रकरण' ग्रन्थ की स्वतन्त्र रचना भी की है।

श्रमणाचार के मुख्य दो भेद हैं—व्रतात्मक आचार और व्यवहारात्मक आचार। व्रतात्मक आचार महाव्रत हैं जो शाश्वत है। व्यवहारात्मक आचार एक दूसरे के अनुग्रह पर अवलम्बित है। श्रमण के लिए जितना महत्त्वपूर्ण व्रतात्मक आचार है उतना ही महत्त्वपूर्ण व्यवहारात्मक आचार

---

१ भगवती २५ ७   २ स्थानांग १० सूत्र ७४९

३ उत्तराध्ययन, अ० २६

क्षेत्र (३) माग (४) सुख-दु ख (५) सूत्र । इन पाँचो विषयो म तत्पर रखना उपसपदा है ।[1]

उत्तराध्ययन के सामाचारी प्रकरण म श्रमण की दिन और रात्रि की परिचर्या का उल्लेख है । श्रमणो की परिचर्या के मुख्य आठ अग हैं—(१) स्वाध्याय (२) ध्यान (३) प्रतिलेखन (४) सेवा (५) आहार (६) उत्सग (७) निद्रा और (८) विहार ।[2]

ठीक समय पर सभी काय करना चाहिए—यह श्रमणों के जीवन का स्वण सूत्र था — काले काल समायरे ।

दिन और रात्रि के चार-चार प्रहर होत हैं । दिन के प्रथम प्रहर म स्वाध्याय, द्वितीय प्रहर में ध्यान ततीय प्रहर म आहार और चतुथ प्रहर में पुन स्वाध्याय का उल्लेख है । इसी प्रकार रात्रि के प्रथम प्रहर मे स्वाध्याय, द्वितीय प्रहर मे ध्यान, ततीय प्रहर म नीद और चतुथ प्रहर म पुन स्वाध्याय का निर्देश है ।[3] प्रथम और चतुथ प्रहर के प्रारम्भ म प्रतिलेखना का विधान है ।[4] विहार तथा उत्सग सामान्य रूप स ततीय प्रहर म किये जाते थे । विशेष परिस्थिति म अन्य समय में भी ये काय किय जा सकते थे ।

सेवा के लिए कोई निश्चित समय नही था । अन्य कार्यों से सेवा को अधिक प्रमुखता दी गई थी । प्रभात के पुण्य पलो मे शिष्य गुरुजनो से निवेदन करता है[5]—आप मुझ सेवा म नियुक्त करना चाहत हैं या स्वाध्याय म ? गुरुजन चाहें तो पहल शिष्य को यदि सेवा के लिए आवश्यक है तो सेवा के लिए नियुक्त कर ।

एक सहज जिज्ञासा हो सकती है श्रमण की दिनचर्या म धर्मोपदेश का उल्लेख क्यो नही हुआ ?

समाधान है—प्रत्येक श्रमण के लिए धर्मोपदेश दना आवश्यक नही था । इसलिए सामान्य दनिक चर्या म उसका उल्लेख नहीं हुआ है । दूसरी बात यह है कि स्वाध्याय के जो पाँच प्रकार हैं उनम अन्तिम प्रकार 'धम-कथा' है । इसलिए धर्मोपदेश का पृथक उल्लेख न कर

---

१ उवसपया य णया पचविहा जिणवरेहिं णिद्दिट्ठा ।
विणए खत्ते मग्गे सुह दुक्खे चव सुत्त य ॥ —मूलाचार १३६

२ उत्तराध्ययन १ ३१ ३ वही २६ अध्ययन गाथा १२ व १८

४ वही २६ ८ से २१ ५ वही २६ ६ १०

स्वाध्याय मे ही उसका समावेश किया गया है। आहार, नीद और उत्सग ये शरीर के लिए आवश्यक हैं, इसलिए उनका विशेष रूप से उल्लेख हुआ है। विहार भी निर तर नही होता है। वर्षावास मे ता लम्बे समय तक एक स्थान पर ही अवस्थिति रहती है। शेष आठ माह मे भी निरन्तर विहार नही था। इसलिए उसका भी पृथक रूप से उल्लेख नही हुआ। साधना की दष्टि से स्वाध्याय और ध्यान ये दो मुख्य थे। इसलिए स्वाध्याय के लिए चार प्रहर और ध्यान के लिए दा पहर का समय नियुक्त किया गया। उस युग म सारा ज्ञान कण्ठस्थ था। श्रुतज्ञान का लिखने की परम्परा नही थी। वह कही विस्मृत न हा जाय इसलिए स्वाध्याय अनिवाय माना गया। ध्यान तो आवश्यक था ही। विना ध्यान के साधना म अभिनव क्राति नही आ सकती थी। इसलिए ध्यान पर भी अत्यधिक बल दिया गया।

इस प्रकार सामाचारी साधक के लिए आवश्यक है। उससे अनेक सदगुणा की अभिवृद्धि होती है। साधक के जीवन के सभी दुगु ण नष्ट होते हैं और सद्गुण विकसित हाते है।

□

९, अन्तरपरीक्षण, अन्तर्परिष्कार : षडावश्यक

अन्तदर्शन की साधना

आज का युग भौतिकवादी है। मानव भौतिकवाद की ओर द्रुत गति से दौड रहा है तथा अध्यात्मवाद को विस्मृत हो रहा है। वह त्याग से भोग की ओर लपक रहा है। अहिंसा से हिंसा की ओर झुक रहा है। अपरिग्रह से परिग्रह की ओर कदम बढा रहा है। वस्तुत मानव का यह अभियान आरोहण की ओर नही, अवरोहण की ओर है, उत्थान की ओर नही, पतन की ओर है, विकास की ओर नही विनाश की ओर है। यही कारण है कि भौतिक दृष्टि से अत्यधिक उन्नति करने पर भी मानव का हृदय धडक रहा है उसके अन्तर्मानस म शान्ति की लहर तरगित नहा हो रही है।

जन दशन मानव को अन्तदशन की प्रेरणा देता है। जन दशन की प्रत्येक साधना अन्तदशन की साधना है। जो साधना अन्तदशन नही करती वह साधना नही अपितु विराधना है।

आत्मा को परखने का उपाय आवश्यक

'आवश्यक जन साधना का मूल प्राण है। वह जीवन शुद्धि और दोष-परिमाजन का जीवन्त भाष्य है। साधक चाहे कितना भी मूधन्य मनीषी हो, आगम साहित्य एव धम दशन का परिज्ञाता हो किन्तु यदि उसे आवश्यक का परिज्ञान नही है तो उसे कुछ भी प्राप्त नही है। आवश्यक' 'साधक का अपनी आत्मा को परखने व निरखने का एक महान उपाय है। जसे वदिक परम्परा म 'सन्ध्या है बौद्ध परम्परा म उपासना है पारसियो म 'खोर देह अवस्ता है यहूदी और ईसाइयो मे 'प्राथना' है इस्लाम धम मे 'नमाज है वसे ही जन धम म दोषो की शुद्धि के लिए और गुणो की अभिवद्धि के लिए 'आवश्यक' है।

आवश्यक के विभिन्न अर्थ

आवश्यक जैन साधना का प्रमुख अंग है। जो अवश्य ही किया जाय वह 'आवश्यक' है।[1] अथवा जो आत्मा को दुर्गुणों से हटाकर सद्गुणों के अधीन करे वह आवश्यक[2] है। गुणों से शून्य आत्मा को जो गुणों से पूर्ण रूप से वासित करे अर्थात् गुणों से युक्त करे वह 'आवश्यक' है।[3] जो गुणों की आधार भूमि हो वह आवासक[4]—आपाश्रय है। आवश्यक आध्यात्मिक समता, विनम्रता आदि विविध गुणों का आधार है। इसलिए वह आपाश्रय भी कहलाता है।

आवश्यक का विधान

अन्तर्दृष्टि-सम्पन्न साधक का लक्ष्य बाह्य पदार्थ नहीं होता। आत्मशोधन ही उसकी साधना का लक्ष्य होता है। जिस साधना से आत्मा सहज व स्थायी सुख का अनुभव करे, कर्म मल को नष्ट कर अजर अमर पद प्राप्त कर तथा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की अध्यात्म ज्योति प्रज्वलित हो, वह आवश्यक है। अपनी भूलों को निहारकर एवं उनके संशोधनार्थ कुछ न कुछ क्रिया करना आवश्यक है। श्रमण हो या श्रावक दोनों के लिए प्रातः व सायंकाल आवश्यक करने का विधान है।[5]

प्रथम और अन्तिम तीर्थंकर के श्रमणों के लिए यह अनिवार्य है कि वे नियमतः आवश्यक करें। यदि वे आवश्यक क्रिया नहीं करते हैं तो श्रमण धर्म से च्युत हो जाते हैं। यदि दोष लगा है तो भी और दोष नहीं लगा है तो भी आवश्यक (प्रतिक्रमण) अवश्य ही करना चाहिए। क्योंकि प्रथम और चरम तीर्थंकरों के शासन में प्रतिक्रमण सहित धर्म ही प्ररूपित

---

१ अवश्य कर्तव्यमावश्यकम्। श्रमणादिभिरवश्यम् उभयकाल क्रियते इति भावः।
—आवश्यक मलयगिरिवृत्ति

२ गुणानां वश्यमात्मानं करोतीति ज्ञानादिगुणानाम् आसमन्ताद् वश्या इन्द्रियकषायादिभाव शत्रवो यस्मात् तत् आवश्यकम्। —आवश्यक मलयगिरिवृत्ति

३ ज्ञानादिगुण-कदम्बकं मोक्षो वा आसमन्ताद् वश्य क्रियतेऽनेन इत्यावश्यकम्।
—मलयगिरिवृत्ति

४ आपाश्रयो वा इद गुणानाम् प्राकृतशैल्या आवस्सय।

५ समणेण सावएण य अवस्स कायव्वय हवइ जम्हा।
अन्तो अहो निसस्स य तम्हा आवस्सयं नाम॥
—आवश्यकवृत्ति गा० २, पृष्ठ ५३

किया गया।[1] श्रावकों के लिए भी आवश्यक का आचरण आवश्यक माना गया है। इसलिए परम्परा से परम श्रद्धालु श्रावक भी प्रतिदिन प्रातः-सन्ध्या आवश्यक करते ही हैं। यदि प्रतिदिन सम्भव नहीं होता है तो पक्ष के पश्चात् पाक्षिक, चातुर्मास के पश्चात् चातुर्मासिक और वर्ष के अन्त में अर्थात् संवत्सर के पश्चात् सांवत्सरिक प्रतिक्रमण करते हैं।

सांवत्सरिक प्रतिक्रमण का अत्यधिक महत्त्व रहा है। श्रमण व श्रावक सांवत्सरिक प्रतिक्रमण करते हैं। वर्तमान में सामूहिक रूप से सांवत्सरिक प्रतिक्रमण का अत्यधिक प्रचलन है। धार्मिक पाठशालाओं में भी सर्वप्रथम आवश्यक सूत्र का पाठ कराया जाता है।

आवश्यक के अंग

आवश्यक के छह अंग हैं—

(१) सामायिक—समभाव की साधना।
(२) चतुर्विंशतिस्तव—तीर्थंकर देव की स्तुति।
(३) वन्दन—सद्गुरुओं को नमस्कार।
(४) प्रतिक्रमण—दोषों की आलोचना।
(५) कायोत्सर्ग—शरीर के प्रति ममत्व का त्याग।
(६) प्रत्याख्यान—आहार आदि का त्याग।

अनुयोगद्वार में इनके नाम इस प्रकार दिये हैं—(१) सावद्य योग विरति (सामायिक) (२) उत्कीर्तन (चतुर्विंशतिस्तव) (३) गुणवत् प्रतिपत्ति (गुरु उपासना अथवा वन्दना) (४) स्खलितनिन्दना (प्रतिक्रमण—पिछले पापों की आलोचना) (५) व्रणचिकित्सा (कायोत्सर्ग—ध्यान—शरीर से ममत्व-त्याग) और (६) गुणधारण (प्रत्याख्यान—आगे के लिए त्याग, नियम ग्रहण आदि)

सामायिक के अंगों के क्रम की वैज्ञानिकता

साधक के लिए सर्वप्रथम समता का पालन करना आवश्यक है। समता को अपनाये बिना सद्गुणों का विकास नहीं हो सकता और न अवगुणों से ग्लानि ही हो सकती है। जब तक विषम भावों की ज्वालाएं अन्तर्हृदय में धधकती रहेंगी तब तक वह वीतरागी पुरुषों के सद्गुणों का

---

१ सपडिक्कमणो धम्मो, पुरिमस्स य पच्छिमस्स य जिणस्स
मज्झिमयाण जिणाण कारणजाए

उत्कीर्तन भी नहीं कर सकता। अतः प्रथम आवश्यक सामायिक है। समता को अपनाने वाला साधक ही महापुरुषों के गुणों को सम्माननीय और ग्रहण करने योग्य मानकर उन गुणों को जीवन में उतार सकता है। अतएव सामायिक के पश्चात् चतुर्विंशतिस्तव रखा गया है। गुण का महत्त्व हृदयंगम कर लेने के पश्चात ही साधक गुणी के सामने सिर झुकाता है। भक्ति भावना से विभोर होकर वन्दन करता है। वन्दन करने वाले साधक का हृदय नम्र होता है और जो नम्र होता है, वह सरल होता है। सरल व्यक्ति ही कृतदोषों की आलोचना करता है अतः वन्दन के पश्चात् प्रतिक्रमण आवश्यक रखा गया है। भूलों को स्मरण कर उनसे मुक्ति पाने हेतु तन और मन की स्थिरता आवश्यक है। कायोत्सर्ग में तन और मन की एकाग्रता की जाती है, स्थिर वृत्ति का अभ्यास किया जाता है। जब तन और मन में स्थिरता होती है तभी प्रत्याख्यान किया जा सकता है। मन डावाडोल हो तो प्रत्याख्यान संभव नहीं है, अतः प्रत्याख्यान को छठा क्रम दिया गया है। इस प्रकार आवश्यक की साधना के क्रम को रखा गया है जो कार्य कारण भाव की शृंखला पर अवस्थित और पूर्णतया वैज्ञानिक है। परिणामस्वरूप यह अन्तरनिरीक्षण-परीक्षण और आत्मसुधार का अमोघ उपाय है।

आवश्यक के पर्यायवाची

आवश्यक के अनुयोगद्वार में[1] आठ पर्यायवाची नाम दिये हैं—आवश्यक, अवश्य करणीय, ध्रुवनिग्रह, विशोधि, अध्ययनषटकवर्ग, न्याय, आराधना और मार्ग। इन नामों में किंचित् अर्थ भेद होने पर भी सभी समान अर्थ को अभिव्यक्त करते हैं।

द्रव्य और भाव आवश्यक

अनुयोग द्वार में आवश्यक के दो विभाग किये हैं—एक, द्रव्य आवश्यक[2]

---

१ आवस्सयं अवस्सकरणिज्जं धुवनिग्गहो विसोही य।
अज्झयण छक्कवग्गो नाओ आराहणा मग्गो ॥ —अनुयोगद्वारवृत्ति

२ जे इमे समणगुणमुक्कजोगी छक्काय निरणुकंपा हया इव उद्दामा, गया इव निरंकुसा घट्ठा मट्ठा तुप्पोट्ठा, पंडुरपडपाउरणा जिणाणमणाणाए सच्छंदं विहरिऊण उभओ कालं आवस्सयस्स उवट्ठंति से तं लोगुत्तरियं दव्वावस्सयं।

और दूसरा भाव आवश्यक।[1] द्रव्य आवश्यक म बिना चिंतन-पूवक अन्यमनस्क भाव से पाठो का केवल उच्चारण किया जाता है। जो पाठ बोला जा रहा है उसम न लगकर, मन इधर उधर भटकता रहता है। द्रव्य आवश्यक मे बाह्य क्रिया मात्र चलती है, किन्तु उपयोग के अभाव मे उस साधना म तेज प्रकट नहीं होता।

भाव आवश्यक म साधक उपयोग के साथ बिना किसी इच्छा यश कामना कामना के मन, वचन और काया को पूर्ण एकाग्र करके आवश्यक क्रियाएँ करता है। द्रव्य आवश्यक के साथ जब भाव आवश्यक का सुमेल होता है तो द्रव्य आवश्यक भी महान बन जाता है। एतदर्थ ही शास्त्रकारो न भाव आवश्यक को अधिक महत्त्व बताया है। भाव आवश्यक एक लोकोत्तर क्रिया है और उसका फल मोक्ष है।

अब हम आवश्यक का विस्तार स निरूपण कर रहे हैं।

सामायिक

साधना का प्राण सामायिक

सामायिक जन साधना का प्राण तत्त्व है। षडावश्यक म सामायिक का प्रथम स्थान है। सामायिक श्रमण और श्रावक दोनो के लिए आवश्यक है। जितने भी तीर्थंकर होते हैं वे सभी प्रथम सामायिक चारित्र का ग्रहण करते हैं। चारित्र के जो पाँच प्रकार बताये हैं उनमे सामायिक चारित्र प्रथम है। चौबीस ही तीथकरो के समय सामायिक चारित्र रहा है, शेष चारित्र अवस्थित नहीं हैं। श्रमणो के लिए सामायिक प्रथम चारित्र है तो गृहस्थो के लिए सामायिक द्वादश व्रतो म चार शिक्षाव्रतों मे प्रथम है। जन आचार का भव्य प्रासाद सामायिक की सुदृढ नीव पर ही अवस्थित है।

आचाय पूज्यपाद ने[2] तत्त्वार्थसूत्र की सर्वार्थसिद्धि वृत्ति मे सामायिक की परिभाषा करते हुए लिखा है— सम्' उपसर्गपूर्वक गति अर्थवाली

---

1 ज ण इमे समणो वा समणी वा सावओ वा साविया वा तच्चित्ते तम्मण तल्लेस तदज्झवसिए तत्तिव्वज्झवसाणे तदट्ठोवउत्ते तदप्पियकरण तब्भावणा भाविए अन्नत्थ कत्थइ मण अकरेमाण उभओकाल आवस्सय करेंति। से त लोगुत्तरिय भावावस्सय।

2 सम् एकीभावे वर्तते। तद्यथा सगत घृत सगत तैलमित्युच्यते एकीभूतमिति गम्यते। एकत्वेन अयन गमन समय समय एव सामायिकम्। समय प्रयोजनम स्यति वा विग्रह्य सामायिकम्। —सर्वार्थसिद्धि ७ २१

'इण' धातु से 'समय" शब्द निष्पन्न होता है। सम्=एकीभाव अय=गमन अर्थात एकीभाव के द्वारा बाह्य परिणति से पुनः मुड़कर आत्मा की ओर गमन करना "समय" है और समय का भाव सामायिक है'।

श्रेष्ठ आचरण : सामायिक

आवश्यक सूत्र के प्रशस्त टीकाकार मलयगिरि ने[1] लिखा है—राग द्वेष मे मध्यस्थ रहना सम है। मध्यस्थ भावयुक्त साधक की मोक्ष के अभिमुख जो प्रवृत्ति है, वह सामायिक है। जिनभद्र गणी क्षमाश्रमण ने भी यही परिभाषा स्वीकार की है।[2] आवश्यक सूत्र की नियुक्ति, चूर्णि, भाष्य और हारिभद्रीयावृत्ति, मलयगिरिवृत्ति आदि में सामायिक के विविध दृष्टियों से विभिन्न अर्थ किये हैं। सभी जीवों पर मैत्री भाव रखना 'साम' है, साम का लाभ जिससे हो वह सामायिक है।[3] पापकारी प्रवृत्तियों का परित्याग करना सावद्ययोग परित्याग कहलाता है। अहिंसा, समता प्रभृति सद्गुणों का आचरण निरवद्य योग है। सावद्ययोग का परित्याग कर शुद्ध स्वभाव में रमण करना 'सम' कहलाता है। जिस साधना के द्वारा उस 'सम' की प्राप्ति हो वह सामायिक है।[4] 'सम' शब्द का अर्थ श्रेष्ठ है और 'अयन' का अर्थ आचरण है। अर्थात् श्रेष्ठ आचरण का नाम सामायिक[5] है। अहिंसा आदि श्रेष्ठ साधना समय पर की जाती है वह सामायिक है।

---

१ समो रागद्वेषयोरपान्तरालवर्ती मध्यस्थ इण् गतौ अयन अयो गमनमित्यर्थ, समस्य अय समाय-समीभूतस्य सतोमोक्षाध्वनि प्रवृत्ति समाय एव सामायिकम्।

—आवश्यक मलयगिरिवृत्ति, ८५४

२ रागद्दोसविरहिओ समो त्ति अयण अयो त्ति गमण ति।
समगमण ति समाओ स एव सामाइयं नाम ॥

—विशेषावश्यकभाष्य ३४७७

३ अहवा साम मित्ती तत्थ अओ तेण वत्ति सामाओ।
अहवा सामस्साओ लाभो सामाइय नाम ॥

—विशेषावश्यकभाष्य, ३४८१

४ अहवा समस्स आओ गुणाणलाभो त्ति जो समाओ सो। —वही, ३४८०

५ सम्ममओ वा समओ सामाइयमुभय विद्धि भावाओ।
अहवा सम्मस्साओ लाभो सामाइय होइ ॥

—विशेषावश्यकभाष्य, ३४८२

समता योग है

सामायिक की व्युत्पत्तिया पर गहराई से चिन्तन करने पर स्पष्ट ज्ञात होता है कि उन सभी म समता पर बल दिया गया है। राग द्वेष के विभिन्न प्रसगो मे विषम न होकर आत्म स्वभाव मे सम रहना वस्तुत सामायिक है। समता से तात्पर्य है मन की स्थिरता राग द्वेष का उपशमन, समभाव अर्थात सुख दुःख मे निश्चल रहना। कर्मों के निमित्त से राग द्वेष के विषम भाव पैदा होते हैं। उन विषम भावो से अपने आप को हटाकर स्व स्वरूप म रमण करना समता है। समता को ही गीता मे योग कहा है।[1]

शुद्ध सामायिक

मन, वचन और काया की दुष्ट वृत्तियो को रोककर अपने निश्चित लक्ष्य की ओर ध्यान को केन्द्रित कर देना सामायिक है। सामायिक करने वाला साधक मन वचन और काया को वश म कर लेता है। विषय, कषाय और राग द्वेष मे अलग थलग रहकर वह सदा ही समभाव मे स्थित रहता है। शत्रु को देखकर उसके अन्तर्मानस म क्रोध की ज्वाला नही भडकती और न मित्र को देखकर ही वह राग से आल्हादित होता है किन्तु वह सदा समभाव मे अवस्थित रहता है। वह समता के गहन सागर मे डुबकी लगाता है जिससे विषमता की ज्वालाएँ उसकी साधना को नष्ट नही कर पाती। उसे न निन्दा के मच्छर डँसते हैं और न ईर्ष्या के बिच्छू ही डक मारते हैं। चाहे अनुकूल परिस्थिति हो चाहे प्रतिकूल परिस्थिति हो चाहे सुख के सुमन खिल रहे हो चाहे दुःख के नुकीले काँटे बींध रहे हो, पर वह सदा समभाव से रहता है। उसका चिन्तन सदा जाग्रत रहता है। वह सोचता है कि सयोग और वियोग—ये दोनो ही आत्मा के स्वभाव नही हैं। ये तो शुभाशुभ कर्मों के उदय का फल है। इन बाह्य सयोग और वियोग से न आत्मा का हित हो सकता है और न अहित ही हो सकता है। इसलिए वह सतत समभाव मे रहता है। आचार्य भद्रबाहु ने कहा—जो साधक त्रस और स्थावर रूप सभी जीवो पर समभाव रखता है उसकी

---

१ समत्व योगमुच्यते। —भगवद्गीता, २ ४८

क्योंकि करोड़ जन्म तक उत्कृष्ट तप की साधना करने पर भी जो कर्म नष्ट नहीं होते हैं उन कर्मों को सामायिक में स्थित साधक कुछ ही क्षणों में नष्ट कर देता है।[1]

आज तक जितने भी जीव मुक्त हुए हैं या वर्तमान में मुक्त हो रहे हैं अथवा भविष्य में मुक्त होंगे वे सभी समभावरूप सामायिक से ही मोक्ष प्राप्त करेंगे।

समता का लहराता सागर

समता के द्वारा ही साधक आत्म शक्तियों का केन्द्रीकरण करके अपनी महान् ऊर्जा को प्रकट करता है। मानव आज कामनाओं के भँवर जाल में उलझा रहता है जिससे उसका व्यक्तित्व क्षत विक्षत हो जाता है। द्वन्द्व व तनाव का वातावरण बना रहता है। बर्बरता पशुता संकीर्णता व राग द्वेष के विकार जन्म पाते हैं। जब मानव समता से विचलित हुआ तब प्रकृति में विकृति, व्यक्ति में तनाव, समाज में विषमता और युग में हिंसा के तत्त्व उभरे हैं। उन सभी को रोकने के लिए, सन्तुलन और व्यवस्था बनाये रखने के लिए सामायिक की आवश्यकता है। सामायिक समता का लहराता हुआ निर्मल सागर है। जो साधक उसमें स्नान कर लेता है वह राग द्वेष के कल्मष से मुक्त हो जाता है।

चौदह पूर्व का सार : सामायिक

सामायिक की साधना अत्यधिक उत्कृष्ट साधना है। अन्य जितनी भी साधनाएँ हैं वे सभी साधनाएँ सामायिक में अन्तर्निहित हो जाती हैं। एक जिज्ञासु ने उपाध्याय यशोविजयजी से जिज्ञासा प्रस्तुत की कि द्वादशांगी रूप जिनवाणी का सार क्या है? द्वादशांगी इतनी व्यापक और विराट है कि उसे प्रत्येक साधक समझ नहीं सकता। आप हमें उसका सार बताइए।

उन्होंने कहा—सामायिक ही सम्पूर्ण द्वादशांगी रूप जिनवाणी का सार है।[2] यही बात आचार्य जिनभद्र गणी क्षमाश्रमण से पूछी गयी तो उन्होंने चौदह पूर्वों का अर्थ पिण्ड सामायिक को बताया।[3]

---

१ तिव्वतव तवमाणे जं नवि निट्ठवइ जम्मकोडीहिं।
तं समभाविअचित्तो खवेइ कम्मं खणद्धेण॥

२ सकलद्वादशांगोपनिषद्भूतसामायिक सूत्रवत्। —तत्त्वार्थ वृत्ति १ १

३ सामाइयं संखेवो चोद्दस पुव्वत्थपिंडोत्ति॥ —विशेषा० भाष्य० गा० २७९६

जैसे रंग बिरंगे खिले हुए पुष्पों का सार गंध है। यदि पुष्प में गंध नहीं है, केवल रूप ही है तो वह केवल दर्शकों के नेत्रों को तृप्त कर सकता है किन्तु दिल और दिमाग को ताजगी नहीं दे सकता। दूध का सार घृत है। जिस दूध में घृत नहीं है वह नाम मात्र का ही दूध है। घृत से ही दूध में पौष्टिकता रही हुई है। वह शरीर को सात्त्विक शक्ति प्रदान करता है। इसी तरह तिल का सार भी तेल है। यदि तिलों में से तेल निकल जाय, इक्षु खण्ड से रस निकल जाय धान में से चावल निकल जाय तो वह निस्सार बन जाता है। वैसे ही साधना में से समभाव यानी सामायिक निकल जाय तो वह साधना भी निस्सार हो जाती है, नाम मात्र की ही रह जाती है, सच्ची साधना नहीं रहती। समता के अभाव में उपासना उपहास बन जाती है। साधक माया जाल के चंगुल में फँस जाता है। दूसरों की उन्नति को देखकर उसके अन्तर्मानस में ईर्ष्याग्नि सुलगने लगती है। वैर विरोध के जहरीले कीटाणु कुलबुलाने लगते हैं। इसीलिए सामायिक की आवश्यकता पर बल दिया गया है।

आत्मा ही सामायिक है

भगवती सूत्र में पार्श्वापत्य, कालास्यवसी अनगार से तुंगिया नगरी के श्रमणोपासकों ने जिज्ञासा प्रस्तुत की थी कि सामायिक क्या है? और सामायिक का अर्थ क्या है? कालास्यवसी अनगार ने स्पष्ट रूप से कहा—आत्मा ही सामायिक है और आत्मा ही सामायिक का अर्थ है। तात्पर्य यह है कि जब आत्मा पापमय व्यापारों का परित्याग कर समभाव में अवस्थित होता है तब सामायिक होती है। आत्मा का कापायिक विकारों से अलग होकर स्व-स्वरूप में रमण करना ही सामायिक है और वही आत्मपरिणति सामायिक का फल है।

सामायिक में साधक बाह्य दृष्टि का परित्याग कर अन्तर्दृष्टि को अपनाता है विषम भाव का परित्याग कर समभाव में अवस्थित होता है पर पदार्थों में ममत्व हटाकर निजभाव में स्थित होता है। जैसे, अनन्त आकाश विश्व के चराचर प्राणियों के लिए आधारभूत है वैसे ही सामायिक साधना आध्यात्मिक साधना के लिए आधारभूत है।

विविध दृष्टियों से सामायिक

सामायिक के स्वरूप का विश्लेषण करते हुए विविध दृष्टियों से सामायिक का प्रतिपादन किया है। जैसे नाम स्थापना, द्रव्य, काल, क्षेत्र, भाव।

नाम सामायिक

सामायिक करने वाला साधक साधना मे इतना स्थिर होता है कि चाहे शुभनाम हो चाहे अशुभ नाम हो, वह साधक के अन्तर्मानस पर कोई असर नहीं करता। वह सोचता है कि आत्मा अनामी है इसका तो कोई नाम ही नहीं है। नाम तो इस शरीर का है और यह शरीर नामकर्म की रचना है। इसलिए मैं व्यर्थ ही क्या संकल्प विकल्प करूं ?

स्थापना सामायिक

सामायिक का साधक चित्ताकर्षक वस्तु को देखकर आल्हादित नहीं होता और घिनौने रूप को देखकर घृणा नहीं करता। वह तो सोचता है—आत्मा रूपातीत है। सुरूपता और कुरूपता तो पुद्गल परमाणुओं का परिणमन है जो कभी शुभ रूप होता है, और कभी अशुभ रूप, मैं पुद्गल तत्त्व से पृथक् हूँ। मेरी इससे कोई भी लाभ या हानि होने वाली नहीं है—ऐसा सोचकर वह समभाव मे रहता है।

द्रव्य सामायिक

सामायिक व्रतधारी साधक पदार्थों की सुन्दरता को देखकर मुग्ध नहीं होता और असुन्दरता को देखकर खिन्न नहीं होता। इसी प्रकार बहुमूल्य वस्तु को देखकर आल्हादित नहीं होता और अल्पमूल्य वाली वस्तु को देखकर अप्रसन्न नहीं होता। वह चिन्तन करता है कि पदार्थों की सुन्दरता व असुन्दरता की कल्पना मानव की है। एक ही वस्तु एक व्यक्ति को सुन्दर प्रतीत होती है और दूसरे व्यक्ति को वह उतनी सुन्दर प्रतीत नहीं होती। हीरे पन्ने, माणक मोती आदि जवाहरात मे भी मानव ने ही मूल्य की कल्पना की है अन्यथा तो ये पत्थर के बेजान टुकड़े ही हैं। ऐसा विचार कर साधक सभी भौतिक पदार्थों के प्रति समभाव रखता है।

क्षेत्र सामायिक

सामायिक व्रतधारी साधक चाहे भीष्म ग्रीष्म की चिलचिलाती धूप हो भयंकर आंधी हो या पौष माह की सनसनाती हुई सर्दी हो। श्रावण भाद्रपद की हजार-हजार धारा के रूप में वर्षा हो रही हो अथवा रिमझिम रिमझिम बूंदें गिर रही हो, चाहे अनुकूल समय हो या प्रतिकूल समय हो साधक उस समय भी समभाव में ही विचरण करता है। वह सोचता है—शीत उष्ण आदि स्पर्श पुद्गल के हैं और ये मात्र स्पर्श पुद्गल को ही प्रभावित करते हैं। मैं तो आत्मस्वरूप हूं। मेरे पर किसी भी स्पर्श

द्रव्य केवल मुद्रा लगी हुई मिट्टी है। वह स्वर्णमुद्रा की तरह बाजार में मूल्य प्राप्त नहीं कर सकती। केवल बालकों का मनोरंजन कर सकती है। द्रव्यशून्य भाव केवल स्वर्ण है जिस पर मुद्रा उट्टंकित नहीं है। वह स्वर्ण के रूप में तो मूल्य प्राप्त कर सकता है पर मुद्रा के रूप में नहीं। द्रव्य युक्त भाव स्वर्ण मुद्रा है। वह अपना मूल्य रखती है और अबाध गति से सर्वत्र चलती है। इसी भावयुक्त द्रव्य सामायिक का भी महत्त्व है।

सामायिक के पात्र भेद से दो भेद होते हैं—(१) गृहस्थ की सामायिक और (२) श्रमण की सामायिक।[1] गृहस्थ की सामायिक कम से कम समय एक मुहूर्त यानी ४८ मिनट होता है। अधिक समय के लिए भी वह अपनी स्थिति के अनुसार सामायिक व्रत कर सकता है। श्रमण की सामायिक तो यावज्जीवन के लिए होती है।

आचार्य भद्रबाहु ने सामायिक के तीन[2] भेद बताये हैं—(१) सम्यक्त्व सामायिक (२) श्रुत सामायिक और (३) चारित्र सामायिक। समभाव की साधना के लिए सम्यक्त्व और श्रुत ये दोनों ही आवश्यक हैं। बिना सम्यक्त्व के श्रुत निर्मल नहीं होता और न चारित्र ही निर्मल होता है। सर्व प्रथम दृढ़ निष्ठा होने से विश्वास की शुद्धि होती है। सम्यक्त्व में अंधविश्वास नहीं रहता। वहाँ सम्यग्विश्वास होता है। श्रुत से विचारों की शुद्धि होती है। जब विश्वास और विचार शुद्ध होते हैं तब चारित्र शुद्ध होता है।

ऊपर की पंक्तियों में सामायिक के अधिकारी की दृष्टि से देश (गृहस्थ) और सर्व (श्रमण) सामायिक का जो भेद प्ररूपित किया है वह केवल चारित्र सामायिक की अपेक्षा से है। समता, सम्यक्त्व, शांति, सुविहित आदि विविध शब्द सामायिक के पर्याय के रूप में व्यवहृत हुए हैं।[3]

सामायिक आध्यात्मिक साधना है इसलिए जाति-पाँति का तनिक मात्र भी प्रश्न नहीं उठता। प्रत्येक जाति का व्यक्ति सामायिक की साधना कर सकता है। हरिकेशी मुनि[4] यद्यपि अन्त्यज थे पर सामायिक

---

१ आवश्यकनियुक्ति गाथा ७९६

२ सामाइयं च तिविहं सम्मत्त सुयं तहा चरित्तं च।
दुविहं चेव चरित्तं अगारमणगारियं चेव॥ —आवश्यकनियुक्ति ७९७

३ आवश्यकनियुक्ति गाथा १०३३

४ उत्तराध्ययन हरिकेशी अध्ययन

की विशुद्ध साधना से वे देवों द्वारा भी अर्चनीय बन गये। अर्जुन मालाकर[1] जो महान् हत्यारा था, सामायिक साधना से उसने मुक्ति को वरण कर लिया।

सामायिक का मूल्य

सामायिक का महत्त्व प्रतिपादन करने हेतु पूनिया श्रावक की घटना प्राप्त होती है। सम्राट श्रेणिक की जिज्ञासा पर भगवान महावीर ने बताया—तुम मरकर प्रथम नरक मे उत्पन्न होओगे क्योकि तुमने इसी प्रकार के कर्मों का अनुबन्धन किया है। श्रेणिक ने नरक से बचने का उपाय पूछा। भगवान ने चार उपाय बताये। उन उपायो मे एक उपाय पूनिया श्रावक की सामायिक को खरीदना था। जब श्रेणिक सामायिक खरीदने के लिए पहुचा तब पूनिया ने कहा—एक सामायिक का मूल्य कितना है, यह आप भगवान महावीर से ही पूछ लीजिए। श्रेणिक के प्रश्न के उत्तर म भगवान महावीर ने कहा—राजन ! तुम्हारे पास इतना विराट वैभव है कि उस धन के बड़े-बड़े अम्बार लग सकते हैं। पर यह सारा धन तो सामायिक की दलाली के लिए भी पर्याप्त नहीं है। सामायिक का मूल्य तो उससे भी बहुत अधिक है।

भगवान के इस कथन का निष्कर्ष यह है कि सामायिक एक अमूल्य साधना है। आध्यात्मिक साधना की तुलना भौतिक वैभव से नहीं की जा सकती। आध्यात्मिक निधि के सामने भौतिक सम्पदाएँ अतितुच्छ हैं।

सामायिक के दोष

सामायिक साधना म साधक को अत्यन्त जागरूक रहना होता है। उसे मन वचन और काया के दोषो से बचना होता है। सामायिक के कुल ३२ दोष बताये हैं। १० मन के दोष हैं १० वचन के दोष हैं और १२ काया के दोष हैं। सक्षेप मे वे इस प्रकार हैं—

मन के दोष[2]—(१) अविवेक—औचित्य अनौचित्य का विवेक न रखना।

(२) यश कीर्ति—मेरा सम्मान हो उससे प्रेरित होकर सामायिक करना।

(३) लाभार्थ—भौतिक वैभव की उपलब्धि के लिए सामायिक करना।

---

१ अतकृद्दशांग षष्ठ वर्ग तृतीय अध्ययन

२ अविवेक जसो कित्ती लाभत्थी गव्व भय नियाणत्थी।
संसय रोस अविणओ अबहुमाणए दोसा भाणियव्वा ॥

(४) गर्व—मैं अत्यधिक कुलीन व धर्मात्मा हूँ। मेरे समान सामायिक करने वाला कौन है? इस प्रकार की भावना मन में आना।

(५) भय—मैं उच्च कुलीन हूँ। यदि मैंने सामायिक नहीं की तो लोग क्या कहेंगे? इस भय से सामायिक करना अथवा राजा आदि के अपराध से मुक्त होने के लिए सामायिक करना।

(६) निदान—भौतिक पदार्थों की इच्छा करना। मैं सामायिक करूँ तो मुझे अमुक वस्तु या फल की उपलब्धि हो।

(७) संशय—मैं सामायिक कर रहा हूँ। इसका फल मुझे प्राप्त होगा या नहीं?

(८) रोष—सामायिक में क्रोध, मान आदि करना या सामायिक करने के पूर्व लड़ झगड़कर सामायिक में बैठना। उस क्रोध, कलह आदि का असर सामायिक करते समय भी बना रहता है।

(९) अविनय—सामायिक के प्रति तथा गुरु के प्रति, विनय का अभाव।

(१०) अबहुमान—किसी के दबाव से, बिना उत्साह के, सामायिक करना।

वचन के दोष[1]

(१) कुवचन—सामायिक में कुत्सित वचनों का प्रयोग करना।

(२) सहसाकार—बिना विचारे सहसा असत्य वचन बोलना।

(३) स्वच्छन्द—कामवृद्धि करने वाले गन्दे गीत आदि गाना।

(४) संक्षेप—जिस रूप में पाठ बोलना चाहिए उस रूप में न बोलकर संक्षेप करना।

(५) कलह—सामायिक में कलह उत्पन्न करने वाले वचन बोलना।

(६) विकथा—बिना किसी उद्देश्य के मनोरंजनार्थ कथा प्रयोग करना।

(७) हास्य—सामायिक में हँसना। व्यंग्यपूर्ण शब्दों का प्रयोग करना।

(८) अशुद्ध—सामायिक के पाठ को अशुद्ध बोलना।

(९) निरपेक्ष—बिना सावधानी के वचन बोलना।

(१०) मुम्मन—सामायिक का पाठ स्पष्ट रूप से न बोलकर गुनगुनाते हुए बोलना।

---

१ कुवयण सहसाकारे सच्छंद संखेव कलहं च।
विगहा विहासोऽसुद्धं निरवेक्खो मुणमुणा दस दोसा॥

काया के दोष[1]

(१) कुआसन—सामायिक में गुरु आदि के सामने अविनय मुद्रा में बैठना।

(२) चलासन—सामायिक में अस्थिर आसन में बैठना, बार-बार आसन बदलना।

(३) चलदृष्टि—बन्दर की तरह इधर उधर देखना।

(४) सावद्य क्रिया—स्वयं सावद्य क्रियाएँ करना और दूसरों से करवाना।

(५) आलंबन—रोग आदि बिना विशेष कारण के दीवार का सहारा लेकर बैठना।

(६) आकुंचन प्रसारण—बिना किसी प्रयोजन के हाथ-पैर को सिकोड़ते-फैलाते रहना।

(७) आलस्य—सामायिक में इस प्रकार की मुद्रा में बैठना जिससे आलस्य में अभिवृद्धि हो।

(८) मोटन—सामायिक में बैठे हुए हाथ-पैर की उँगलियाँ चटकाना।

(९) मल—सामायिक के समय शरीर पर से मल उतारते रहना।

(१०) विमासन—शोकग्रस्त मुद्रा में बैठना।

(११) निद्रा—सामायिक में ऊँघते रहना।

(१२) वैयावृत्य—आराम के लिए दूसरों से सेवा कराना।

कितने ही आचार्य वैयावृत्य के स्थान पर 'कंपन' दोष मानते हैं। उनका मन्तव्य है सामायिक साधना करते हुए इधर उधर फिरते रहना दोष है।

जो गृहस्थ साधक हैं जिनकी सामायिक स्वल्पकालीन है उनके लिए इन सामायिक के दोषों का निरूपण है। श्रमण तो अधिक जागरूक रहता है। साधक को इन दोषों से निवृत्त होकर सामायिक की साधना करनी चाहिए।

सामायिक जैन धर्म की एक विशुद्ध साधना पद्धति है। इस साधना पद्धति की तुलना पूर्ण रूप से अन्य धर्मों की साधना पद्धति से नहीं की जा

---

१ कुआसणं चलासणं चला दिट्ठी सावज्जकिरियाऽलंबणाकुंचण पसारणं।
आलस मोडन-मल विमासणं निद्दा वेयावच्चत्ति बारस काय दोसा॥

सकती। वैदिक धर्मानुयायियों की संध्या, मुसलमानों की नमाज, ईसाइयों की प्रेयर, योगियों का प्राणायाम की भाँति ही जैनियों की सामायिक साधना है। यह साधना जीवन को सजाने और संवारने की साधना है।

चतुर्विंशतिस्तव

षडावश्यक में दूसरा आवश्यक चतुर्विंशतिस्तव है। सामायिक साधना में सावद्य योग से निवृत्त रहने का संदेश दिया गया है। सावद्य योग से निवृत्त रहकर उस साधक को किसी न किसी आलंबन का आश्रय ग्रहण करना आवश्यक है जिससे वह समभाव में स्थिर रह सके। इसीलिए सामायिक में साधक को तीर्थंकर देवों की स्तुति करने का विधान है।

तीर्थंकर सबसे महान

चतुर्विंशतिस्तव भक्ति साहित्य की एक अपूर्व रचना है। उसमें भक्ति की भागीरथी प्रवाहित हो रही है। यदि साधक उस भागीरथी में अवगाहन करे तो वह आनन्दविभोर हुए बिना नहीं रह सकता। तीर्थंकर त्याग वैराग्य की दृष्टि से, संयम साधना की दृष्टि से महान् हैं। उनके गुणों का उत्कीर्तन करने से साधक के अन्तर्मानस में आध्यात्मिक बल का संचार होता है। उसकी श्रद्धा यदि किसी कारणवश शिथिल हो चुकी है तो उसमें अभिनव स्फूर्ति का संचार होता है। उसकी आँखों के सामने त्याग वैराग्य की ज्वलन्त प्रतिकृति आती है जिससे उसका अहंकार नष्ट हो जाता है।

वह सोचता है कि संसार में बल की दृष्टि से तीर्थंकर से बढ़कर कोई बली नहीं है। संसार के जितने भी शुभ परमाणु हैं उनके द्वारा तीर्थंकर का शरीर निर्मित होता है। इसलिए रूप की दृष्टि से भी तीर्थंकर महान हैं। संसार में कोई भी मानव पूर्वभव से अवधिज्ञान लेकर नहीं आता किन्तु तीर्थंकर पूर्वभव से अवधिज्ञान लेकर आते हैं। श्रमण बनते ही उन्हें मनःपर्यव ज्ञान हो जाता है और बाद में केवलज्ञान का दिव्य आलोक उनमें जगमगाने लगता है। इसलिए ज्ञान की दृष्टि से भी तीर्थंकर महान हैं। दर्शन (सम्यक्त्व) की दृष्टि से वे क्षायिक सम्यक्त्व के धारक होते हैं। उनका चारित्र भी उत्तरोत्तर विकसित होता है। ज्ञान, दर्शन, चारित्र के साथ ही दान में उनकी समता कोई नहीं कर सकता क्योंकि वे प्रतिदिन एक वर्ष तक एक करोड़ आठ लाख स्वर्ण मुद्राओं का दान देते हैं। वे गुण [illegible]। [illegible] में [illegible] भी अपने अद्भुत [illegible] नहीं कर सकता। [illegible] में भी प्रत्येक तीर्थंकर

एक प्रतिमान सस्थापित करते हैं। उससे अधिक उनके शासन म कोई भी साधक तप नही कर सकता। भगवान ऋषभदेव ने एक सवत्सर तक उत्कृष्ट तप की साधना की, अन्य बाईस तीथकरो ने आठ माह तक उत्कृष्ट तप की साधना की और भगवान महावीर ने छ माह की। तीथकर की तपसाधना की यह विशेषता है कि व तप काल म जल भी ग्रहण नही करते। भावना के क्षेत्र म भी तीथकरा की भावना उत्तरोत्तर वधमान हाती है।

अरिहन्त अनेक, तीथकर एक

इस प्रकार तीथकरो का जीवन अनेक विशेषताओ को लिए हुए होता है। एक काल मे एक स्थान पर अनेक अरिहन्त हा सकते है, पर तीथकर एक ही हाता है। प्रत्येक साधक प्रयत्न करने से अरिहन्त बन सकता है, किन्तु तीथकर बनने के लिए अनेक भवा की साधना अपेक्षित होती है। तीथकरत्व उत्कृष्ट पुण्य प्रकृति है। उनका स्मरण करने से गुणो का उत्कीतन करने से हृदय पवित्र होता है वासनाए शान्त हाती हैं, जसे तेज ज्वर के समय बफ की ठण्डी पटटी लगाने से ज्वर शान्त हो जाता है। जब जीवन मे वासना का ज्वर बचनी प्रदान कर रहा हा उस समय तीथकरो का स्मरण बफ की पटटी की तरह शान्ति प्रदान करता है। तीथकरो के स्तुति से सचित कम नष्ट हो जाते हैं। जसे एक नन्ही सी चिनगारी रूई के ढर को भस्म कर देती है वसे ही तीथकरा की स्तुति से कम नष्ट हो जाते हैं।

तीथकरों के उज्ज्वल आदश

जब हम तीथकरो की स्तुति करते हैं तो प्रत्येक तीथकर का एक उज्ज्वल आदश साधक क सामने रहता है। भगवान ऋषभदेव का स्मरण आते ही आदियुग का चित्र साधक के मानसपट पर चमकने लगता है। वह सोचने लगता है कि भगवान ने इस मानव सस्कृति का निर्माण किया, राज्य व्यवस्था का सचालन किया मनुष्य को कला और सभ्यता का पाठ पढाया और अ त म उस राजसी वभव को ठोकर मारकर श्रमण बन गये। एक सवत्सर तक भिक्षा न मिलने पर भी वही आह्लाद रहा।

भगवान शान्तिनाथ का जीवन शान्ति का महान् प्रतीक है। भगवती मल्ली का जीवन नारी जीवन का एक ज्वलन्त आदश है। भगवान अरिष्टनमि करुणा के साक्षात् अवतार हैं। पशु पक्षिया की रक्षा के लिए सर्वांगसु दरी राजीमती का भी परित्याग कर दत हैं।

भगवान पार्श्व का स्मरण आते ही उस युग की तप परम्परा का एक रूप सामने आता है जिसमें ज्ञान की ज्योति नहीं है। अन्तर्मानस में कषाय की ज्वालाएं धधक रही हैं तो बाहर भी पंचाग्नि की ज्वालाएं सुलग रही हैं। उन ज्वालाओं में से जलते हुए नाग को बचाते हैं तथा कमठ के द्वारा भयंकर यातना देने पर भी तनिक मात्र भी उनके मानस में रोष पैदा नहीं होता।

भगवान महावीर का जीवन महान क्रांतिकारी जीवन है। अनेक लोमहर्षक उपसर्गों से भी तनिक मात्र भी विचलित नहीं होते। आर्य और अनार्यों के द्वारा, देव और दानवों के द्वारा, पशु-पक्षियों के द्वारा दिये गये उपसर्गों में भी वे मेरु की तरह अचल रहते हैं। वे जाति-पाँति का खण्डन कर गुणों की महत्ता पर बल देते हैं। नारी जाति को साधना के सर्वोच्च पद पर भी आसीन करते हैं।

प्रेरणा का स्रोत : स्तुति

इस प्रकार तीर्थंकरों की स्तुति मानव में अपने पौरुष को जागृत करने की प्रेरणा देती है कि आत्मा ही परमात्मा है। एक दिन तीर्थंकरों की आत्मा भी हमारी तरह ही भोग वासना के दल दल में फंसी थी, पर ज्यों ही उसने अपने स्वरूप को समझा त्यों ही वे उसे त्यागकर नर से नारायण बन गये, आत्मा से परमात्मा हो गये। वैसे हम भी साधना के द्वारा परमात्मा बन सकते हैं। गीताकार ने कहा[1]—"श्रद्धामयोऽयं पुरुषः यो यच्छ्रद्धः स एव सः।"

साधक के अन्तर्मानस में जिस प्रकार की श्रद्धा जागृत होगी, भावना बलवती होगी, उसी प्रकार का उसका जीवन बनेगा। जिस घर में गरुड पक्षी का निवास हो उस घर में साँप नहीं रह सकते, वे गरुड की परिच्छाया से ही भागते हैं। जिसके हृदय में तीर्थंकरों की स्तुति रूपी गरुड आसीन हो वहां पर पाप रूपी साँप नहीं रह सकते। तीर्थंकरों का स्मरण ही पाप को नष्ट कर देता है। यही कारण है कि सामायिक साधना में चतुर्विंशतिस्तव का विधान है।

तीर्थ के निर्माता : तीर्थंकर

तीर्थंकर तीर्थ के कर्त्ता हैं। संसार समुद्र से आत्मा को तिराने वाला अहिंसा आदि से युक्त धर्म है, उस धर्मतीर्थ की संस्थापना करने के

---

१ भगवद्गीता १७, ३

कारण वे तीर्थंकर कहलाते हैं। तीर्थंकर साधु-साध्वी, श्रावक श्राविका रूपी चतुर्विध तीर्थ की स्थापना करते हैं। तीर्थंकर का अर्थ तीर्थ का निर्माता है। संस्कृत भाषा में तीर्थ' शब्द घाट (तरण योग्य स्थान) के लिए व्यवहृत हुआ है। वे धर्मतीर्थ रूपी घाट का निर्माण करते हैं जिससे कि साधारण साधक भी सुविधा से पार हो सके, इसीलिए तीर्थंकर आचार संहिता का निर्माण करते हैं। जिस साधक की जैसी योग्यता हो उसके अनुसार वह धार्मिक साधना कर सकता है। यहाँ एक प्रश्न सहज ही उद्बुद्ध हो सकता है कि तीर्थ की संस्थापना करने के कारण तीर्थंकर कहलाते हैं तो ऋषभदेव ही तीर्थंकर हो सकते हैं अन्य तेईस तीर्थंकर कैसे? उत्तर में निवेदन है कि प्रत्येक तीर्थंकर अपने युग में प्रचलित धर्म-परम्परा में जो विकृतियाँ आ जाती हैं, धर्म के नाम पर बाह्याडम्बर व पाखण्ड पनपने लगता है, उसका वे निरसन कर पुनः नवीन विधान बनाते हैं। धर्म का मूल प्राण वही रहता है, किन्तु बाह्य क्रियाकाण्डों में वे परिवर्तन करते हैं। इसलिए वे तीर्थंकर हैं। यही कारण है—तीर्थंकरों के शासन भेद का।

स्तुति से दर्शन की विशुद्धि

तीर्थंकर अपने अद्वितीय ज्ञानबल से जन जन में फैले हुए अज्ञान अन्धकार को छिन्न भिन्न कर देते हैं। मानव-जीवन का काया पलट कर देते हैं। उनका शरीर पूर्ण स्वस्थ और निर्मल होता है। विरोधी से विरोधी शक्ति भी उनके उपदेश को श्रवण कर शान्त हो जाती है। जहाँ पर तीर्थंकर विचरण करते हैं वहाँ पर न दुर्भिक्ष होता है न अतिवृष्टि होती है न किसी भी प्रकार का उपद्रव होता है। रुग्ण से रुग्ण व्यक्ति भी उनके दिव्य प्रभाव से रोगमुक्त हो जाता है। वे केवल शारीरिक ही नहीं आध्यात्मिक स्वास्थ्य प्रदान करते हैं। इसीलिए सामायिक साधना में चतुर्विंशतिस्तव को प्रधानता दी गई है।

एक शिष्य ने जिज्ञासा प्रस्तुत की—भगवन्![1] चतुर्विंशतिस्तव करने से जीव को किस सद्गुण की उपलब्धि होती है? भगवान महावीर ने कहा—चतुर्विंशतिस्तव से दर्शन की विशुद्धि होती है।

अतः स्पष्ट है कि तीर्थंकरों की स्तुति करने से साधक को अनेक

---

१ चउव्वीसत्थएणं भन्ते! जीवे किं जणयइ?
चउव्वीसत्थएणं दसण विसोहिं जणयइ। —उत्तराध्ययन २९.१०

लाभ होते हैं। उसकी श्रद्धा परिमार्जित होती है सम्यक्त्व शुद्ध होता है उपसर्ग एवं परीषह समभाव से सहने की शक्ति विकसित होती है और तीर्थंकर जैसा बनने की प्रेरणा मन में उद्बुद्ध होती है। इसीलिए षडावश्यकों में तीर्थंकर स्तुति अथवा चतुर्विंशतिस्तव को स्थान दिया गया है।

वन्दन

सामायिक साधना में चतुर्विंशतिस्तव के द्वारा तीर्थंकरों की स्तुति का उत्कीर्तन किया जाता है और यह साधक यह दृढ़ संकल्प करता है कि मुझे भी तीर्थंकर की तरह अपने जीवन का उत्कर्ष करना है। तीर्थंकर के पश्चात दूसरा स्थान गुरु का है। तीर्थंकर देव है। इसलिए देव के पश्चात गुरु को नमन किया जाता है। उनका स्तवन और अभिवादन किया जाता है। आवश्यकनियुक्ति में वन्दन के अर्थ में ही चिति कर्म कृतिकर्म, पूजाकर्म आदि विविध पर्यायवाची शब्द व्यवहृत हुए हैं। साधक मन, वचन और शरीर से सद्गुरु के प्रति सर्वात्मना समर्पित होता है।

सद्गुणों को नमस्कार

यह सत्य है कि मानव का मस्तिष्क हर किसी के चरणों में नहीं झुक सकता और झुकना भी नहीं चाहिए। जो सद्गुणी है उन्हीं के चरणों में वह नत होता है। जीवन में विनय आवश्यक है। जैन धर्म ने विनय को धर्म का मूल कहा है। विनय के सम्बन्ध में विस्तार से विवेचन करने के बावजूद भी जैनधर्म वैनयिक नहीं है। भगवान महावीर के युग में इस प्रकार का एक पंथ प्रचलित था जिसके अनुयायी पशु-पक्षी या अन्य कोई भी जो उन्हें मिल जाता उसे ही नमस्कार करते थे। जैन धर्म ने कहा कि तुम्हारा मस्तिष्क ऐरे गैरे के चरणों में झुकने के लिए नहीं है। नम्र रहना अलग बात है, पर प्राणी मात्र को परमादरणीय समझकर नमस्कार करना अलग बात है। जैन धर्म गुणों का उपासक है। वह सद्गुणी के चरणों में अपना सिर झुकाता है। क्योंकि सद्गुणों के प्रति वह नत होता है। सद्गुणों का नमन करने का अर्थ है सद्गुणों को अपनाना। यदि साधक असंयमी, पतित व्यक्ति को नमस्कार करता है जिसके जीवन में दुराचार पनप रहा हो वासनाएँ उभर रही हों राग द्वेष की ज्वालाएँ धधक रही हों तो उन व्यक्तियों को नमन करने का अर्थ है उन दुर्गुणों को प्रोत्साहन देना।

आचार्य भद्रबाहु ने[1] स्पष्ट रूप से लिखा है—ऐसे गुणहीन व्यक्तियों को नमस्कार नहीं करना चाहिए। क्योंकि गुणों से रहित व्यक्ति अवन्दनीय हैं। अवन्दनीय व्यक्तियों को नमस्कार करने से कर्मों की निर्जरा नहीं होती और न कीर्ति ही बढ़ती है। असंयम, दुराचार का अनुमोदन करने से कर्म बंधते हैं। वह वन्दन व्यर्थ है। एक अवन्दनीय व्यक्ति जो जानता है कि मेरा जीवन दुर्गुणों का आगार है यदि वह सद्गुणी व्यक्तियों से नमस्कार कराता है तो वह अपने जीवन को दूषित करता है ? असंयम की वृद्धि करा कर अपना पतन करता है।[2]

इस प्रकार का व्यक्ति उस पापकर्म से अगले जन्म में अपंग रोगी और विकलांग बनता है। उसे पुनः धर्ममार्ग मिलना अत्यन्त कठिन हो जाता है।

वन्दनीय कौन ?

जैन धर्म की दृष्टि से साधक में द्रव्य चारित्र और भाव-चारित्र दोनों ही आवश्यक हैं। यदि द्रव्यचारित्र नहीं है और केवल भावचरित्र ही है तो भी वह प्रशंसनीय नहीं है। क्योंकि सामान्य साधकों के लिए उसका पवित्र चरित्र ही पथ प्रदर्शक होता है। यदि केवल द्रव्यचारित्र ही है, भावचारित्र का अभाव है तो भी वह श्लाघनीय नहीं है। वह केवल बाहर का दिखावा है। साधक को ऐसे गुरु की आवश्यकता है जिसका द्रव्य और भाव दोनों ही चारित्र निर्मल हो निश्चय और व्यवहार दोनों की दृष्टियों से जिसके जीवन में पूर्णता हो। भाव और द्रव्य दोनों ही परिपूर्णता ही जिस सद्गुरु के जीवन में होती है वह अभिवन्दनीय होता है। ऐसे सद्गुरु से साधक पवित्र प्रेरणा ग्रहण कर सकता है। वन्दनावश्यक में ऐसे ही सद्गुरुओं को नमन करने का विधान है।

द्रव्यवन्दन और भाववन्दन

वन्दन करने से अहंकार नष्ट होता है। विनय की उपलब्धि होती है। सद्गुरुओं के प्रति अनन्य श्रद्धा व्यक्त होती है। तीर्थंकरों की आज्ञा का पालन करने से शुद्ध धर्म की आराधना होती है। अतः साधक को सतत

---

१ पासत्थाई वन्दमाणस्स नेव कित्ती न निज्जरा होई।
कायकिलेस एमेव कुणई तह कम्मबंध च ॥ —आवश्यकनिर्युक्ति ११०८

२ जे बंभचेरभट्ठा पाए उड्डंति बंभयारीणं।
ते होंति कुंट मुंटा बोही य सुदुल्लहा तेसिं ॥ —आवश्यकनिर्युक्ति ११०९

जागरूक रहकर वन्दन करना चाहिए। तनिक मात्र भी वन्दन के प्रति उपेक्षा नहीं बरतनी चाहिए। जब साधक के जीवन के अणु अणु में भक्ति का अजस्र स्रोत प्रवाहित होता है तब सहसा वह सद्गुरुओं के चरणों में झुक जाता है। जिस वन्दन में भक्ति नहीं हो केवल भय, प्रलोभन, प्रतिष्ठा आदि भावनाएँ पनप रही हो, वह वन्दन केवल द्रव्यवन्दन है भाववन्दन नहीं। द्रव्यवन्दन कितनी ही बार कर्मबन्धन का कारण भी बन जाता है। पवित्र और निर्मल भावना के द्वारा किया गया वन्दन ही सही वन्दन है। आचार्य मलयगिरि ने लिखा है द्रव्यवन्दन मिथ्यादृष्टि भी करता है, किन्तु भाववन्दन सम्यक्दृष्टि ही करता है।

आवश्यकचूर्णि में द्रव्य और भाववन्दन को स्पष्ट करने के लिए एक ऐतिहासिक प्रसंग दिया है—

एक बार भगवान अरिष्टनेमि द्वारका पधारे। वासुदेव कृष्ण भगवान को वन्दन करने के लिए पहुँचे। श्रीकृष्ण के अन्तर्मानस में एक विचार तरंग उद्बुद्ध हुई कि जब भी भगवान पधारते हैं भगवान को नमस्कार करने के लिए मैं प्रतिदिन पहुँचता हूँ और जो विशिष्ट सन्त हैं उन्हीं को नमस्कार कर भगवान का उपदेश सुनने के लिए बैठ जाता हूँ पर आज मैं सभी श्रमणों को नमस्कार करूँगा। उसी भक्ति की तीव्र प्रभा से प्रभावित होकर श्रीकृष्ण नमस्कार करते हैं। श्रीकृष्ण के साथ उनका अनुचर वीरकौलिक था। उसने भी श्रीकृष्ण की देखा देखी नमस्कार किया। जब भगवान से पूछा गया कि भगवान ! श्रीकृष्ण ने और वीरकौलिक ने नमस्कार किया है। दोनों की नमस्कार क्रिया समान रही। कृपा कर बताइए कि दोनों में से किसे अधिक लाभ हुआ और किसे कम लाभ हुआ ?

भगवान ने कहा—श्रीकृष्ण ने तो भाववन्दन किया। द्रव्यवन्दन के साथ ही उसमें भावों की उत्कृष्ट तीव्रता थी। जिसके फलस्वरूप श्रीकृष्ण ने क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त किया और तीर्थंकर नामकर्म का भी अनुबन्धन किया। किन्तु वीरकौलिक का वन्दन भावरहित वन्दन था। उसने केवल द्रव्यवन्दन ही किया। श्रीकृष्ण को प्रसन्न करना ही उसका उद्देश्य था जिसके कारण उसे केवल श्रीकृष्ण की प्रसन्नता प्राप्त हुई। इसके अतिरिक्त कुछ भी लाभ न हुआ।

द्रव्यवन्दना अभव्य जीव भी करता है। उसकी वह क्रिया केवल

अर्पित किया जाता है। पर उससे किसी प्रकार का आध्यात्मिक लाभ नहीं होता। इसलिए द्रव्य और भाव ये दोनों ही वन्दन के लिए आवश्यक हैं। वन्दन योग्य आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक, स्थविर और रत्नाधिक ये श्रमण के पाँच प्रकार[1] कहे हैं।

वन्दन बत्तीस दोषों से रहित होना चाहिए। अनादृत आदि वन्दन के बत्तीस दोष आवश्यकनिर्युक्ति में प्रतिपादित किये गये हैं। उन सभी दोषों को टालकर वन्दन करना चाहिए।

प्रतिक्रमण

अमोघ औषधि : प्रतिक्रमण

भारतवर्ष की सभी अध्यात्मवादी धर्म-परम्पराएँ आत्म साधना को प्रथम प्रमुखता प्रदान कर रही हैं। आत्मा में अनन्त काल से प्रमाद और अज्ञानता के कारण विकार और वासनाएँ अपना प्रभुत्व जमा चुकी हैं। उन्हें हटाकर ईश्वरत्व को जगाना है। साधक में जो पशुत्व की वृत्ति है वह उसकी स्वयं की नहीं अपितु बाहर से आई हुई है। साधक का जीव परपदार्थों में घिरे हुए सूर्य के समान है जिसका दिव्य आलोक कालिमा में छुप रहा है। कर्मों की काली घटाएँ घिरने के कारण आत्मा का परम तत्त्व दिखाई नहीं दे रहा है, जिससे वह अपने आपको दीन हीन समझ रहा है। भूतकाल में अज्ञान अथवा प्रमाद के कारण तुम्हारे से भूल हो गयी है तो उन दुष्कृत्य पापों की आलोचना, निन्दना, गर्हणा आदि के द्वारा प्रतिक्रमण करो। आत्मा पर लगे हुए पाप के धब्बों को धो दो। उस पर मरहम पट्टी कर स्वस्थ बना दो। पापों के रोग को मिटाने की प्रतिक्रमण सबसे बड़ी अमोघ औषध है।

पापों की आलोचना : प्रतिक्रमण है

प्रतिक्रमण का अर्थ है—पुनः लौटना। हम अपनी मर्यादाओं का अतिक्रमण करके अपनी स्वभाव दशा से निकलकर विभाव दशा में चले गये थे तो पुनः स्वभाव रूप सीमाओं में प्रत्यागमन करना प्रतिक्रमण है। जो पाप मन, वचन और काया से स्वयं किये जाते हैं, दूसरों से करवाये जाते हैं और दूसरों के द्वारा किये हुए पापों का अनुमोदन किया जाता है इन सभी पापों की निवृत्ति हेतु किये हुए पापों की आलोचना करना, निन्दा करना प्रतिक्रमण है।

---

1 आवश्यकनिर्युक्ति, गा० ११९५

आचार्य हेमचन्द्र[1] ने लिखा है—शुभ योगों से अशुभ योगों में गये हुए अपने आपको पुनः शुभ योगों में लौटा लाना प्रतिक्रमण है। आवश्यक सूत्र की हारिभद्रीयावृत्ति में भी लिखा है—प्रमादवश शुभयोग से च्युत होकर अशुभ योग को प्राप्त करने के पश्चात् पुनः शुभयोग को प्राप्त करना प्रतिक्रमण है।[2]

संसार का मूल कारण राग-द्वेष प्रभृति औदयिक भाव है और मोक्ष का मूल कारण क्षायोपशमिक भाव हैं जिसमें समता, क्षमा, नम्रता प्रभृति भाव की प्रमुखता होती है। साधक क्षायोपशमिक भाव से औदयिक भाव में जाता है जो निज भाव नहीं है, तदुपरान्त वह पुनः क्षायोपशमिक भाव में आता है, इस प्रतिकूल गमन को प्रतिक्रमण कहा गया है।[3]

प्रतिक्रमण के पाँच प्रकार

साधना के क्षेत्र में मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय और अशुभ योग—पाँचों बहुत ही भयंकर दोष माने गये हैं। साधक प्रातः और सन्ध्या के सुहावने समय में अपने जीवन का अन्तर्निरीक्षण करता है। उस समय वह गहराई से चिन्तन करता है कि वह कहीं सम्यक्त्व के प्रशस्त पथ को छोड़कर मिथ्यात्व की कटीली झाड़ियों में तो नहीं उलझा है ? व्रत के स्वरूप को विस्मृत होकर अव्रत को तो ग्रहण नहीं किया है ? अप्रमत्त के नन्दन वन में विहरण के स्थान पर प्रमाद की झुलसती मरुभूमि में तो विचरण नहीं किया है ? अकषाय के सुगंधित सरसब्ज बाग को छोड़कर कषाय के धधकते हुए पथ पर तो नहीं चला है ? मन, वचन और काय की प्रवृत्ति जो शुभ योग में लगनी चाहिए थी, वह अशुभ योग में तो नहीं लगी ? यदि मैं मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय और अशुभ योग में गया हूँ

---

१ 'प्रतीपं क्रमणं प्रतिक्रमणम्' अयमर्थः—शुभयोगेभ्योऽशुभयोगान्तरं क्रान्तस्य शुभेषु एव क्रमणात्प्रतीपं क्रमणम्।

—योगशास्त्र, तृतीय प्रकाश, स्वोपज्ञवृत्ति

२ स्वस्थानाद् यत्परस्थानं, प्रमादस्य वशाद्गतः।
तत्रैव क्रमणं भूयः प्रतिक्रमणमुच्यते ॥

३ क्षायोपशमिकाद् भावादौदयिकस्य वशं गतः।
तत्रापि च स एवार्थः प्रतिकूलगमात्स्मृतः ॥

तो मुझे पुन सम्यक्त्व, व्रत, अकषाय अप्रमाद और शुभ योग में आना चाहिये। इसी दृष्टि से इन पाँचो का प्रतिक्रमण किया जाता है।[1]

प्रतिक्रमण के पर्यायवाची

आवश्यकनियुक्ति, आवश्यकचूर्णि, आवश्यक हारिभद्रीयावृत्ति आवश्यक मलयगिरिवृत्ति प्रभृति ग्रन्थो म प्रतिक्रमण के सम्बन्ध म बहुत ही विस्तार के साथ विचार-चर्चाएं की गई हैं। उन्होने प्रतिक्रमण के आठ पर्यायवाची[2] शब्द भी दिये है जो विभिन्न अर्थों को व्यक्त करते हैं। यद्यपि आठो का भाव एक है पर विस्तार की दृष्टि से समझने के लिए पर्यायवाची शब्द अत्यन्त उपयोगी हैं।

(१) प्रतिक्रमण[3]

"प्रति" उपसर्ग है, "क्रमु" धातु है। 'प्रति का तात्पर्य है प्रतिकूल और 'क्रमु का तात्पर्य है पदनिक्षेप। जिन प्रवृत्तियो से साधक सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यकचारित्र रूप स्वस्थान से हटकर मिथ्यात्व, अज्ञान, असयम रूप परस्थान मे चला गया हो उसका पुन अपने आप मे लौट आना, प्रतिक्रमण या पुनरावृत्ति है। पाप क्षेत्र मे आत्मशुद्धि के क्षेत्र म आना प्रतिक्रमण है।

(२) प्रतिचरणा[4]

असयम क्षेत्र से अलग थलग रहकर अत्यन्त सावधान होकर विशुद्धता के साथ सयम का पालन करना प्रतिचरणा है। सयम साधना मे अग्रसर होना प्रतिचरणा है।

(३) परिहरणा (प्रतिहरणा)

साधक को साधना के पथ पर अपने मुस्तैदी कदम बढाते हुए उसके

---

१ (क) प्रति प्रति वर्तन वा शुभेषु योगेषु मोक्षफलदेषु।
निःशल्यस्य यतेयत् तज्ज्ञेय प्रतिक्रमणम्॥
(ख) आवश्यकनिर्युक्ति गाथा १२५०

२ पडिकमण पडियरणा परिहरणा वारणा नियत्ती य।
निन्दा गरिहा सोही पडिकमण अट्ठहा होइ॥
—आवश्यकनियुक्ति १२३३

३ पडिक्कमण पुनरावृत्ति। —आवश्यकचूर्णि

४ अत्यादरात् चरणा पडिचरणा अकार्यपरिहार: कार्यप्रवृत्तिश्च।
—आवश्यकचूर्णि

पथ मे अनेक बाधाएँ आती हैं। कभी असयम का आकर्षण उसे साधना से विचलित करना चाहता है तो कभी अज्ञान और कभी प्रतिकूल परिस्थितियाँ उत्पन्न होती हैं। यदि साधक परिहरणा न रखे तो वह पथभ्रष्ट हो सकता है। इसलिए वह प्रतिपल प्रतिक्षण अशुभ योग, दुर्ध्यान और दुराचरणा का त्याग करता है यही परिहरणा है।

(४) वारणा

वारणा का अर्थ है निषेध। साधक विषय भोग के दलदल मे न फसे, इसलिए साधक को प्रतिपल प्रतिक्षण जागरूक रहने की प्रेरणा वीतराग प्रभु ने प्रदान की। साधक विषय कषायो से बचकर और सयम साधना करते हुए ही मोक्ष प्राप्त कर सकता है। इसलिए विषय-कषायो से निवृत्त होने के लिए प्रतिक्रमण के अर्थ मे वारणा शब्द का प्रयोग हुआ है।

(५) निवृत्ति[1]

जैन साधना म निवृत्ति का अत्यन्त महत्त्व रहा है। साधक सतत जागरूक रहता है तथापि कभी प्रमादवश अशुभ कार्यों मे उसकी प्रवृत्ति हो जाय तो उसे शीघ्र ही पुन शुभ म आ जाना चाहिये। अशुभ से निवृत्त होकर शुभ मे प्रवृत्ति करना चाहिए। अशुभ से निवृत्त होने के लिए ही यहाँ प्रतिक्रमण का पर्यायवाची निवृत्ति बताया गया है।

(६) निन्दा

साधक को प्रतिक्रमण के समय अन्तर्निरीक्षण करना होता है। उसके जीवन मे जो भी पापयुक्त प्रवृत्ति हुई हो शुद्ध हृदय स उसे उन पापो की निन्दा करनी चाहिए। स्व निन्दा जीवन को माँजने के लिए है। उससे पापो के प्रति मन म ग्लानि पदा होती है और साधक यह दृढ निश्चय करता है कि जो पाप मैंने पहले असावधानी से किये थे वे अब भविष्य म नही करूगा। इस प्रकार पापो की निन्दा करने के लिए प्रतिक्रमण के अर्थ मे निन्दा शब्द का भी व्यवहार हुआ है।

यह भी सत्य है कि जिसके अन्तमानस मे अहकार का काला नाग फन फैलाये हुए फुत्कारें मार रहा होगा वह अपने पापो की निन्दा नही कर सकता।

---

[1] अशुभभाव निवत्तण नियत्ती। —आवश्यकचूर्णि

(७) गर्हा

निन्दा अपने आप की जाती है जबकि गर्हा गुरुजनों के समक्ष की जाती है। गुरुओं के समक्ष निःशल्य होकर अपने पापों को प्रकट कर देना अत्यन्त कठिन कार्य है। जिस साधक का आत्मबल प्रबल नहीं होता वह कभी भी गर्हा नहीं कर सकता। गर्हा में पापों के प्रति तीव्र पश्चात्ताप होता है। गर्हा पाप रूपी विष को उतारने वाला वह गारुडी मन्त्र है जिसके प्रयोग से साधक पाप के विष से मुक्त हो जाता है। इसीलिए गर्हा को प्रतिक्रमण का पर्यायवाची कहा है।

(८) शुद्धि

शुद्धि का अर्थ निर्मलता है। जैसे बरतन पर लगे हुए दाग को खटाई से साफ किया जाता है, सोने पर लगे हुए मल को अग्नि में तपाकर शुद्ध किया जाता है, ऊनी वस्त्र के मल को पेट्रोल से साफ किया जाता है वैसे ही हृदय के मल का प्रतिक्रमण करके दूर किया जाता है। इसलिए उसे शुद्धि कहा है।

प्रतिक्रमण के चार भेद

आचार्य भद्रबाहु ने साधक को उत्प्रेरित किया है कि वह प्रतिक्रमण में प्रमुख रूप से चार विषयों पर गहराई से अनुचिन्तन करे। इस दृष्टि से प्रतिक्रमण के चार भेद[1] बनते हैं—

(१) श्रमण और श्रावक के लिए क्रमशः महाव्रत और अणुव्रत का विधान है। उनमें दोष न लगे इसके लिए सतत सावधानी अपेक्षित है। यद्यपि श्रमण और श्रावक सतत जागरूक तथा सावधान रहता है तथापि कभी असावधानी से यदि हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्म, परिग्रह आदि में स्खलना हो गई हो तो श्रमण और श्रावक को उसकी शुद्धि हेतु प्रतिक्रमण करना चाहिए।

(२) श्रमण और श्रावकों के लिए एक आचार संहिता आगम साहित्य में निरूपित की गई है। श्रमण के लिए स्वाध्याय, ध्यान, प्रतिलेखन आदि अनेक विधान हैं। श्रावक के लिए भी दैनन्दिन साधना के विधान हैं। यदि उन विधानों के अनुपालन-साधना में स्खलना हो जाय, समय पर स्वाध्याय, ध्यान आदि न किया जाय तो उस सम्बन्ध में

---

१ पडिसिद्धाणं करणे किच्चाणमकरणे पडिक्कमणं।
असद्दहणे य तहा विवरीयपरूवणाए अ॥

—आवश्यकनिर्युक्ति गाथा १२६८

प्रतिक्रमण करना चाहिए। सत्कार्य के प्रति जरा भी असावधानी भी ठीक नहीं है।

(३) आत्मा आदि अमूर्त पदार्थों का प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा सिद्ध करना कठिन है। वह तो आगम आदि प्रमाणों द्वारा ही सिद्ध किया जा सकता है। उन अमूर्त तत्त्वों के सम्बन्ध में मन में यह सोचना कि आत्मा है या नहीं। यदि इस प्रकार मन में अश्रद्धा उत्पन्न हुई हो तो उसकी शुद्धि के लिए साधक को प्रतिक्रमण करना चाहिए।

(४) हिंसा आदि दुष्कृत्य जिनका महर्षियों ने निषेध किया है साधक को उनका प्रतिपादन करना भी निषिद्ध है। कभी असावधानी से यदि उसका प्रतिपादन किया हो तो साधक को चाहिए उसका प्रतिक्रमण कर शुद्धि करे।

द्रव्य और भाव प्रतिक्रमण

अनुयोगद्वार सूत्र में प्रतिक्रमण के दो प्रकार बताये हैं—एक द्रव्य प्रतिक्रमण और दूसरा भाव प्रतिक्रमण।

द्रव्य प्रतिक्रमण वह है जिसमें साधक एक स्थान पर आसीन होकर बिना उपयोग के यश प्राप्ति की अभिलाषा से प्रतिक्रमण करता है। यह प्रतिक्रमण यन्त्र की भाँति चलता है। उसमें चिन्तन का अभाव होता है। पापों के प्रति तीव्र ग्लानि नहीं होती। इसलिए द्रव्य प्रतिक्रमण करने वाला साधक पुन पुन उन्हीं स्खलनाओं को करता रहता है। वास्तविक दृष्टि से जैसी आत्मशुद्धि अपेक्षित है वैसी उस प्रतिक्रमण में नहीं हो पाती।

भाव प्रतिक्रमण[1] वह है जिसमें साधक के अन्तर्मानस में अपने कृत पापों के प्रति गहरी ग्लानि होती है। वह चिन्तन करता है—मैंने इस प्रकार की स्खलनाएँ क्यों की? वह दृढ़ निश्चय के साथ उपयोगपूर्वक उन पापों की आलोचना करता है। साथ ही भविष्य में पुन वे दोष न लगें इसके लिए दृढ़ संकल्प करता है। इस रूप में भाव प्रतिक्रमण वास्तविक प्रतिक्रमण है।

भाव प्रतिक्रमण में ही साधक न स्वयं मन वचन काया से मिथ्यात्व कषाय आदि दुर्भावों में गमन करता है न दूसरों को गमन करने के लिए

---

१ आवश्यकमणं जं सम्मन्तणाइगुणजुत्तस्स पडिक्कमणं ति। —आवश्यकचूर्णि

उत्प्रेरित करता है और जो साधक दुर्भावों में गमन करते हों उनका अनुमोदन भी नहीं करता है।[1]

आत्मशुद्धि प्रतिक्रमण

साधारणतया यह समझा जाता है कि प्रतिक्रमण अतीत काल में लगे हुए दोषों की परिशुद्धि के लिए है। पर श्रुतकेवली भद्रबाहु ने[2] बताया है कि प्रतिक्रमण केवल अतीत काल में लगे दोषों की ही शुद्धि नहीं करता अपितु वह वर्तमान और भविष्य काल के दोषों की भी शुद्धि करता है।

अतीत काल में लगे हुए दोषों की आलोचना तो प्रतिक्रमण में की ही जाती है। वर्तमान काल में भी साधक संवर साधना में लगे रहने से पापों से निवृत्त रहता है। साथ ही प्रतिक्रमण में वह प्रत्याख्यान ग्रहण करता है जिससे भावी दोषों से भी बच जाता है।

भूतकाल के अशुभ योग से निवृत्ति, वर्तमान काल में अशुभ योग से निवृत्त होकर शुभ योग में प्रवृत्ति और भविष्यकालीन अशुभ योग से हटकर शुभ योग में प्रवृत्ति करूँगा--यह संकल्प, इस तरह प्रतिक्रमण तीनों कालों का होता है।

काल की दृष्टि से प्रतिक्रमण के भेद

काल की दृष्टि से प्रतिक्रमण के पाँच प्रकार भी बताये हैं।[3] दैवसिक, रात्रिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक और सांवत्सरिक।

दैवसिक--दिन के अन्त में किये जाने वाला प्रतिक्रमण दैवसिक है।

---

१ मिच्छत्ताइ ण गच्छइ ण य गच्छावेइ णाणुजाणई।
ज मण-वय-काएहिं त भणिय भावपडिक्कमण ॥

—आवश्यक निर्युक्ति (हारिभद्रीया वृत्ति)

२ (क) आवश्यकनियुक्ति

(ख) प्रतिक्रमण—शब्दो हि अत्राशुभयोगनिवृत्तिमात्रार्थ सामान्येन परिगृह्यते तथा च सत्यतीतविषय प्रतिक्रमण निन्दाद्वारेण अशुभयोगनिवृत्तिरेवेति प्रत्युत्पन्नविषयमपि संवरद्वारेण अशुभयोग-निवृत्तिरेव अनागतविषयमपि प्रत्याख्यानद्वारेण अशुभयोगनिवृत्तिरेवेति न दोष इति। —आचार्य हरिभद्र

३ णणु देवसिय राइय पडिक्कमो किमिति पक्खिय चाउम्मासिय संवत्सरिएसु विसेसं पडिक्कमिति? जधा लोगे गेहं दिवसे दिवसे पमज्जिज्जंत पि पक्खान्तिसु अब्भधित उवलवणपमज्जणादीहिं सज्जिज्जति। एवमिहावि ववमोऽणत्तिसेसे कीरति त्ति। —आवश्यकचूर्णि

रात्रिक—रात्रि के अन्त मे किया जाने वाला प्रतिक्रमण। रात्रि में लगे हुए दोषो की आलोचना करना।

पाक्षिक—पक्ष (पन्द्रह दिन) के अन्त मे पापो की आलोचना करना।

चातुर्मासिक—चार माह के पश्चात कार्तिकी पूर्णिमा, फाल्गुनी पूर्णिमा, आषाढ़ी पूर्णिमा के दिन चार माह मे लगे हुए दोषो की आलोचना करना।

सांवत्सरिक—आषाढ़ी पूर्णिमा के उनपचास या पचासवें दिन वर्ष भर म लगे हुए दोषो का प्रतिक्रमण करना।

यह सहज जिज्ञासा हो सकती है कि जब हम प्रतिदिन प्रातः साय नियमित प्रतिक्रमण करते हैं फिर पाक्षिक चातुर्मासिक एव सावत्सरिक प्रतिक्रमण की क्या आवश्यकता है ? समाधान है—प्रतिदिन मकान की सफाई करते हैं तथापि पर्व दिनो म विशेष रूप से सफाई की जाती है। वैसे ही प्रतिदिन प्रतिक्रमण म अतिचारो की आलोचना की जाती है। पर पर्व दिनो म विशेष रूप से जागरूक रहकर, जीवन का निरीक्षण और परीक्षण और पाप का प्रक्षालन आवश्यक है।

स्थानाग म¹ प्रतिक्रमण के छह प्रकार अन्य दृष्टियो से प्रतिपादित किये हैं वे इस प्रकार हैं—

(१) उच्चार प्रतिक्रमण—विवेकपूर्वक पुरीष त्याग, ईर्या प्रतिक्रमण का विधान है। मल परठकर आने के समय मार्ग म गमनागमन सबधी जो दोष लगते हैं उनका प्रतिक्रमण।

(२) प्रस्रवण प्रतिक्रमण—विवेकपूर्वक लघुशका को परठने के पश्चात् ईर्या का प्रतिक्रमण।

(३) इत्वर प्रतिक्रमण—दैवसिक रात्रिक आदि स्वल्पकालीन प्रतिक्रमण करना।

(४) यावत्कथिक प्रतिक्रमण—महाव्रत आदि जो यावज्जीवन के लिए हैं अथवा भक्त परिज्ञा स्वीकार करना।

(५) यत्किंचित् मिथ्या प्रतिक्रमण—सयम म सावधानी रखने के बावजूद भी प्रमाद से या असावधानी से सयम म असयम रूप किसी भी प्रकार का स्खलन हो जाने पर उसी समय "मिच्छामि दुक्कड" देना यत्किंचित मिथ्या प्रतिक्रमण है।

---

१ स्थानांग ६ ५३८

(६) स्वप्नांतिक प्रतिक्रमण—स्वप्न में यदि कोई विकारी भावनाएँ उत्सुक हुई हो तो उसका प्रतिक्रमण करना।

जीवन को मांजने की कला : प्रतिक्रमण

इस प्रकार प्रतिक्रमण जैन साधना का प्राण तत्त्व है। ऐसी कोई भी क्रिया नहीं जिसमें प्रमादवश स्खलना न हो सके। चाहे लघुशंका निवृत्त होते समय चाहे शौच निवृत्त होते समय, चाहे प्रतिलेखना करते समय, चाहे भिक्षा के लिए इधर से उधर जाते समय साधक को उन स्खलनाओं के प्रति सतत जागरूक रहना चाहिए। उन स्खलनाओं के सम्बन्ध में किंचित मात्र भी उपेक्षा न रखकर उन दोष से निवृत्ति हेतु प्रतिक्रमण करना चाहिए। क्योंकि प्रतिक्रमण की साधना जीवन को मांजने की एक अपूर्व कला है।

साधक प्रतिक्रमण में अपने जीवन का गहराई से निरीक्षण करता है। उसके मन में, वचन में और काया में एकरूपता होती है। साधक साधना करते समय यदि कभी क्रोध, मान, माया, लोभ से साधना से च्युत हो जाता है उससे भूल हो जाती है तो वह प्रतिक्रमण के समय अपने जीवन का गहराई से अवलोकन कर एक एक दोष का परिष्कार करता है। मन में छिपे हुए दोष जो लज्जा के कारण प्रकट नहीं कर सका, उन दोषों को भी सद्गुरु के समक्ष या भगवान की साक्षी से प्रकट कर देता है। जैसे कुशल चिकित्सक परीक्षण करता है और शरीर में रही हुई व्याधि को एक्स रे आदि के द्वारा बता देता है वैसे ही प्रतिक्रमण में साधक अपने जीवन की प्रत्येक प्रवृत्ति का अवलोकन करते हुए उन दोषों को व्यक्त कर हल्का बनाता है।

प्रतिक्रमण साधक जीवन की एक अपूर्व कला है। यह वह डायरी है जिसमें साधक अपने दोषों की सूची लिखकर एक एक दोष से मुक्त होने का उपक्रम करता है। वही कुशल व्यापारी कहलाता है जो प्रति दिन सायंकाल देखता है कि आज के दिन मैंने कितना लाभ प्राप्त किया है। जिस व्यापारी को अपनी आमदनी का परिज्ञान नहीं है वह सफल व्यापारी नहीं हो सकता। साधक को देखना चाहिए कि आज के दिन ऐसा कौन-सा कर्तव्य था जो मुझे करना चाहिए था पर प्रमाद के कारण मैं उसको नहीं कर सका। [illegible] मुझे [illegible] से विमुख नहीं होना चाहिए था।

प्रवचनसारोद्धार

	चतुर्विंशतिस्तव	श्लोक	चरण	उच्छ्वास
(१) दैवसिक	२	२५	१००	१००
(२) रात्रिक	४	१२½	५०	५०
(३) पाक्षिक	१२	७५	३००	३००
(४) चातुर्मासिक	२०	१२५	५००	५००
(५) सांवत्सरिक	४०	२५२	१००८	१००८

विजयोदया

	चतुर्विंशतिस्तव	श्लोक	चरण	उच्छ्वास
(१) दैवसिक	४	२५	१००	१००
(२) रात्रिक	२	१२½	५०	५०
(३) पाक्षिक	१२	७५	३००	३००
(४) चातुर्मासिक	१६	१००	४००	४००
(५) सांवत्सरिक	[illegible]	[illegible]	[illegible]	५००

श्रमण के लिए कायोत्सग का विधान

आचाय अमितगति का अभिमत है[1] कि श्रमण को दिन और रात म कुल २८ बार कायोत्सर्ग करना चाहिए। स्वाध्याय काल मे बारह बार वन्दन काल मे छ बार प्रतिक्रमण काल मे आठ बार और योग भक्ति काल मे दो बार इस प्रकार कुल अटठाइस बार कायोत्सर्ग करना चाहिए।

आचाय अपराजित का मन्तव्य है कि पच महाव्रत सबधी अतिक्रमण होने पर १०८ उच्छवासो का कायोत्सर्ग करना चाहिए। कायोत्सर्ग करते समय मन की चचलता से या उच्छवासो की सख्या की परिगणना मे सन्देह समुत्पन्न हा जाय तो आठ श्वसोच्छवासो का और अधिक कायोत्सर्ग करना चाहिए।[2]

श्वेतावर और दिगबर दोना ही परम्पराओ के साहित्य के पयवेक्षण से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीन काल मे श्रमण साधको के लिए कायोत्सग का विधान विशेष रूप से रहा है। उत्तराध्ययन[3] के श्रमण सामाचारी अध्ययन म और दशवकालिक[4] चूलिका मे श्रमण को पुन पुन कायोत्सग करने वाला बताया है।

कायोत्सग मे मानसिक एकाग्रता सवप्रथम आवश्यक है। कायोत्सग अनेक प्रयोजना से किया जाता है। क्रोध, मान, माया लोभ का उपशमन कायोत्सग का मुख्य प्रयोजन है।[5] अमगल विघ्न और बाधा के परिहार के लिए भी कायोत्सग का विधान प्राप्त हाता है। किसी शुभ काय के

---

१ अष्टाविंशति सख्याना कायोत्सर्गा मता जिन ।
अहोरात्रगता सव षडावश्यक कारिणाम् ॥
स्वाध्याये द्वादश प्राज्ञ वन्दनाया षडीरिता ।
अष्टौ प्रतिक्रमे योग भक्तौ तौ द्वावुदाहृतौ ॥

—अमितगति श्रावकाचार ८ ६६ ६७

२ प्रत्यूषमि प्राणिवधादिषु पचस्वतीचारेषु अष्टशतोच्छवास-मात्रकाल कायोत्सग। कायोत्सर्गे कृते यदि शक्यते उच्छवासस्य स्खलन वा परिणामस्य उच्छवासाष्टमधिक स्थातव्यम्।

—मूलाराधना २ ११६ विजयोदया वृत्ति

३ उत्तराध्ययन २६ ३८ ५१

४ अभिक्खण काउस्सगकारी —दशवैकालिक चूलिका २-७

५ कायोत्सग शतक गाथा० ८

प्रारम्भ म यात्रा म यदि किसी प्रकार का उपसग, वाधा या अपशकुन हो जाय तो आठ श्वास प्रश्वास का कायोत्सग करना चाहिए और उस कायोत्सग म नमस्कार महामन्त्र का चिन्तन करना चाहिए।

द्वितीय वार पुन बाधा उपस्थित हो जाय तो सोलह श्वास प्रश्वास का कायोत्सग कर दो बार नमस्कार महामन्त्र का चिन्तन करना चाहिए। यदि ततीय वार भी बाधा उपस्थित हो तो बत्तीस श्वास प्रश्वास का कायोत्सग कर चार बार नमस्कार महामन्त्र का चिन्तन करना चाहिए। चतुथ वार भी यदि बाधा उपस्थित हो तो विघ्न अवश्य आने वाला है ऐसा समझकर विहार यात्रा का और शुभ-काय को प्रारम्भ नही करना चाहिए।[1]

कायोत्सग की प्रक्रिया कष्टप्रद नही है। कायोत्सग से शरीर को पूर्ण विश्रान्ति प्राप्त होती है और मन मे अपूव शान्ति का अनुभव होता है। इसीलिए कायोत्सग लबे समय तक भी किया जा सकता है। कायोत्सर्ग म मन को श्वास मे केन्द्रित किया जाता है। एतदथ उसका काल मान श्वास गिनती से भी किया जा सकता है।

कायोत्सग का फल

कायोत्सग का प्रधान उद्देश्य है आत्मा का सान्निध्य प्राप्त करना, और सहज गुण है मानसिक सतुलन बनाये रखना, बुद्धि का विकास करना और शरीर का पूर्ण स्वस्थ रखना।

आचाय भद्रबाहु ने कायोत्सग के अनेक फल बताये हैं।

(१) देह जाड्य शुद्धि—श्लेष्म आदि के द्वारा देह म जडता आती है कायोत्सग से श्लेष्म आदि के दोष नष्ट हो जाते हैं। इसलिए उनसे उत्पन्न होने वाली जडता भी समाप्त हो जाती है।

(२) मति जाड्य शुद्धि—कायोत्सर्ग म मन की प्रवत्ति केन्द्रित हो जाती है। उससे चित्त एकाग्र होता है, बौद्धिक जडता नष्ट होकर उसम तीक्ष्णता आती है।

---

१ सव्वेसु खलियम्मि गमणे पच मगल।
दो सिलोगे य चिन्तेज्जा एगग्गा वावि तव्वण॥
बिइय पुण खलियम्मि उग्गाणा होति तह य सोलस य।
तइयम्मि उ बत्तीसा चउत्थम्मि न गच्छए अण्ण॥
—व्यवहारभाष्य पीठिका गाथा ११८ ११९

(३) सुख दुःख तितिक्षा—कायोत्सर्ग से सुख दुःख को सहन करने की व क्षमता उत्पन्न होती है।

(४) अनुप्रेक्षा—कायोत्सर्ग में अवस्थित व्यक्ति अनुप्रेक्षा या भावना स्थिरतापूर्वक अभ्यास करता है।

(५) ध्यान—कायोत्सर्ग में शुभध्यान का सहज अभ्यास हो ता है।[1]

कायोत्सर्ग में शारीरिक चंचलता के विसर्जन के साथ ही शारीरिक त्व का भी विसर्जन होता है जिससे शरीर और मन में तनाव उत्पन्न होता। शरीरशास्त्रियों का मानना है कि तनाव से अनेक शारीरिक मानसिक व्याधियाँ समुत्पन्न होती हैं। उदाहरणार्थ, शारीरिक ति से—

(१) स्नायुओं में शर्करा कम हो जाती है।

(२) लक्टिक ऐसिड स्नायुओं में एकत्रित होती है।

(३) लक्टिक एसिडिटी की अभिवृद्धि होने से शरीर में उष्णता जाती है।

(४) स्नायु तन्त्र में थकान का अनुभव होता है।

(५) रक्त में प्राणवायु की मात्रा न्यून हो जाती है।

त्सर्ग से—

(१) ऐसिड पुनः शर्करा में परिवर्तित हो जाती है।

(२) लक्टिक ऐसिड का स्नायुओं में जमाव न्यून हो जाता है।

(३) लक्टिक एसिड की न्यूनता से शारीरिक उष्णता न्यून होती है।

(४) स्नायु तन्त्र में अभिनव ताजगी आती है।

(५) रक्त में प्राणवायु की मात्रा बढ़ जाती है।

(क) देहमइजड्डसुद्धी सुहदुक्खतितिक्खया अणुप्पेहा।
झायइ य सुहं झाणं एगग्गो काउसग्गम्मि॥
—कायोत्सर्ग शतक गाथा १३

(ख) मणसो एगग्गत्तं जणयइ देहस्स हणइ जड्डत्तं।
काउस्सग्गगुणा खलु सुहदुहमज्झत्थया चेव॥
—व्यवहारभाष्य पीठिका गाथा १२५

(ग) प्रयत्न विशेषतः परमलाघवसम्भवात्। —वही वृत्ति

स्नायविक तनाव की औषधि कायोत्सर्ग

इस प्रकार स्वास्थ्य की दृष्टि से भी कायोत्सर्ग का अत्यधिक महत्त्व है। मन, मस्तिष्क और शरीर का परस्पर गहरा सम्बन्ध है। जब इन तीनो म सामजस्य नही होता तब स्नायविक तनाव समुत्पन्न होते हैं। जब हम कोई काय करते हैं तब तन और मन मे सतुलन रहना चाहिए। जब सतुलन नही रहता है यथा—शरीर से काय किया जा रहा है और मन अन्य स्थानो पर भटक रहा है तब स्नायविक तनाव बढता जाता है। कायोत्सग इस स्नायविक तनाव को दूर करने का एक सुन्दर उपाय है।

कायोत्सग और मुद्रा

कायोत्सग म सवप्रथम आवश्यक है—शिथिलीकरण। यदि आप बठे बठे ही कायोत्सग करना चाहते हैं तो सुखासन से या पदमासन से बैठें, फिर रीढ की हड्डी और गरदन को सीधा कर। उनमे झुकाव और तनाव न हो। शिथिल और सीधे सरल अगोपाग रह। उसके पश्चात दीघ श्वास लीजिए। बिना कष्ट के जितना लबा ले सकें श्वास को उतना लबा करने का प्रयत्न करें। इससे शरीर और मन दोनो के शिथिलीकरण म अत्यधिक सहयोग मिलेगा। आठ दस बार दीघ श्वास लेने के पश्चात वह क्रम सहज हो जाएगा। स्थिर बठने से अपने आप ही कुछ-कुछ शिथिलीकरण हो सकता है। और उसके बाद जिस अग को शिथिल करना हो उसमे मन को केन्द्रित करें। जसे सवप्रथम गदन, कधा, छाती, पेट, दाएँ-बाए पृष्ठभाग, भुजाए हाथ हथेली, अगुली कटि पर आदि सभी की मास-पेशियों को शिथिल किया जाय।

इस प्रकार शारीरिक अवयव व मास पेशियों के शिथिल हो जाने से स्थूल शरीर से सबध विच्छेद होकर सूक्ष्म शरीर से—तेजस और कामण से सम्बध स्थापित किया जाता है। तेजस शरीर से दीप्ति प्राप्त होती है। कामण शरीर के साथ सम्बध स्थापित कर भेदविज्ञान का अभ्यास किया जाता है। इस तरह शरीर आत्म ऐक्य की जो मानसिक भ्राति है वह भेदविज्ञान से मिट जाती है।

शरीर एक यतन के सदश है जिसमे श्वास इन्द्रिय मन और मस्तिष्क जसी अनेक शक्तियाँ रही हुई हैं। उन शक्तियो से परिचित होने का सरल माग कायोत्सग है। कायोत्सग म श्वास सूक्ष्म होता है। शरीर और मन के बीच म श्वास है। श्वास के पाँच प्रकार बताये हैं—सहज श्वास शान्त श्वास उखडा श्वास विक्षिप्त श्वास और तेज श्वास।

होती है जिसके कारण मनुष्य के अन्तर्मानस में सदा अशांति बनी रहती है। उस अशांति को नष्ट करने का एकमात्र उपाय प्रत्याख्यान है।

प्रत्याख्यान में साधक अशांति के मूल कारण आसक्ति और तृष्णा को नष्ट करता है। जब तक आसक्ति बनी हुई है तब तक शांति उपलब्ध नहीं हो सकती। सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वन्दन, प्रतिक्रमण और कायोत्सर्ग के द्वारा आत्मशुद्धि हो जाती है। किन्तु पुनः आसक्ति रूपी तस्करराज साधक के अन्तर्मानस में प्रविष्ट न हो इसके लिए प्रत्याख्यान अत्यन्त आवश्यक है। एक बार वस्त्र को स्वच्छ बना दिया गया। वह पुनः मलिन न हो इसके लिए हम उस वस्त्र को कपाट में रखते हैं। इसी तरह मन में मलिनता न आए इसीलिए प्रत्याख्यान किया जाता है।

शाश्वत सुख का कारण

अनुयोगद्वार में प्रत्याख्यान का अपर नाम 'गुणधारण' दिया है। गुणधारण से तात्पर्य है व्रत रूपी गुणों का धारण करना। मन, वचन और काया के योगों को रोककर शुभयोगों में प्रवृत्ति को केन्द्रित किया जाता है। शुभ योगों में केन्द्रित करने से इच्छाओं का निरुन्धन होता है। तृष्णाएं शांत हो जाती हैं। अनेक सद्गुणों की उपलब्धि होती है।

एतदर्थ ही आचार्य भद्रबाहु ने स्पष्ट रूप से कहा—प्रत्याख्यान से संयम होता है, संयम से आश्रव का निरुन्धन होता है और आश्रव के निरुन्धन से तृष्णा का अन्त हो जाता है।[1] तृष्णा के अन्त से अनुपम उपशम भाव समुत्पन्न होता है और उससे प्रत्याख्यान विशुद्ध बनता है।[2] उपशम भाव की विशुद्धि से चारित्रधर्म प्रकट होता है। चारित्र से कर्म निर्जरित होते हैं। उससे अपूर्वकरण होता है। अपूर्वकरण होने से केवलज्ञान केवलदर्शन का दिव्य आलोक जगमगाने लगता है और शाश्वत मुक्तिरूपी सुख प्राप्त होता है।[3]

---

१ पच्चक्खाणम्मि कए आसवदाराइ हुंति पिहियाइं।
आसव वुच्छेएण तण्हा वुच्छेयणं होइ॥ —आवश्यकनिर्युक्ति १५९४

२ ... च्छेएण य अउलोवसमो भवे मणुस्साणं।
उवसमेण पुणो पच्चक्खाणं हवइ सुद्धं॥ —आवश्यकनिर्युक्ति १५९५

३ ... कम्मविवेगो तओ अपुव्वं तु।
तओ य मुक्खो सया सुक्खो॥ —आवश्यकनिर्युक्ति १५९६

होती है जिसके कारण मनुष्य के अन्तर्मानस में सदा अशान्ति बनी रहती है। उस अशान्ति को नष्ट करने का एकमात्र उपाय प्रत्याख्यान है।

प्रत्याख्यान में साधक अशान्ति के मूल कारण आसक्ति और तृष्णा को नष्ट करता है। जब तक आसक्ति बनी हुई है तब तक शान्ति उपलब्ध नहीं हो सकती। सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वन्दन, प्रतिक्रमण और कायोत्सर्ग के द्वारा आत्मशुद्धि हो जाती है। किन्तु पुनः आसक्तिरूपी तस्करराज साधक के अन्तर्मानस में प्रविष्ट न हो इसके लिए प्रत्याख्यान अत्यन्त आवश्यक है। एक बार वस्त्र को स्वच्छ बना दिया गया। वह पुनः मलिन न हो इसके लिए हम उस वस्त्र को कपाट में रखते हैं। इसी तरह मन में मलिनता न आये इसीलिए प्रत्याख्यान किया जाता है।

शाश्वत सुख का कारण

अनुयोगद्वार में प्रत्याख्यान का अपर नाम गुणधारण दिया है। गुणधारण से तात्पर्य है व्रत रूपी गुणों का धारण करना। मन, वचन और काया के योगों को रोककर शुभयोगों में प्रवृत्ति को केन्द्रित किया जाता है। शुभ योगों में केन्द्रित करने से इच्छाओं का निरोधन होता है। तृष्णाएँ शान्त हो जाती हैं। अनेक सद्गुणों की उपलब्धि होती है।

एतदर्थ ही आचार्य भद्रबाहु ने स्पष्ट रूप से कहा—प्रत्याख्यान से संयम होता है, संयम से आश्रव का निरोधन होता है और आश्रव के निरोधन से तृष्णा का अन्त हो जाता है।[1] तृष्णा के अन्त से अनुपम उपशम भाव समुत्पन्न होता है और उससे प्रत्याख्यान विशुद्ध बनता है।[2] उपशम भाव की विशुद्धि से चारित्रधर्म प्रकट होता है। चारित्र से कर्म निर्जरित होते हैं। उससे अपूर्वकरण होता है। अपूर्वकरण होने से केवलज्ञान केवलदर्शन का दिव्य आलोक जगमगाने लगता है और शाश्वत मुक्तिरूपी सुख प्राप्त होता है।[3]

---

१ पच्चक्खाणम्मि कए आसवदाराइं हुंति पिहियाइं।
आसव वुच्छेएणं तण्हा वुच्छेयणं होइ॥ —आवश्यकनिर्युक्ति १५९४

२ तण्हा-वोच्छेएण य अउलोवसमो भवे मणुस्साणं।
अउलोवसमेण पुणो पच्चक्खाणं हवइ सुद्धं॥ —आवश्यकनिर्युक्ति १५९५

३ तत्तो चरित्तधम्मो कम्मविवेगो तओ अपुव्वं तु।
तत्तो केवलनाणं तओ य मुक्खो सया सुक्खो॥

—आवश्यकनिर्युक्ति १५९६

प्रत्याख्यान के दो भेद

प्रत्याख्यान के मुख्य रूप से मूलगुण प्रत्याख्यान और उत्तरगुण प्रत्याख्यान, इस प्रकार दो भेद किये गये हैं। मूलगुण प्रत्याख्यान यावज्जीवन के लिए ग्रहण किये जाते हैं। मूलगुण प्रत्याख्यान के सर्वमूलगुण प्रत्याख्यान और देशमूलगुण प्रत्याख्यान ये दो भेद हैं। प्रथम में श्रमण के पंच महाव्रत आते हैं और द्वितीय में गृहस्थ श्रमणोपासक के पाँच अणुव्रत आते हैं।

उत्तरगुण प्रत्याख्यान प्रतिदिन ग्रहण किये जाते हैं या कुछ दिनों के लिए ग्रहण किये जाते हैं। उत्तरगुण प्रत्याख्यान के भी देश उत्तरगुण प्रत्याख्यान और सर्व उत्तरगुण प्रत्याख्यान के रूप में दो भेद होते हैं। गृहस्थों के लिए तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत—ये सात उत्तरगुण प्रत्याख्यान हैं। श्रमण और श्रमणोपासक दोनों के लिए दस प्रकार के प्रत्याख्यान प्रतिपादित किये गये हैं। वे सब उत्तरगुण प्रत्याख्यान हैं।

दस प्रत्याख्यान

भगवती सूत्र, स्थानांग वृत्ति, आवश्यकनियुक्ति और मूलाचार में दस प्रत्याख्यानों[1] का वर्णन है। जिसका संक्षिप्तसार इस प्रकार है—

(१) अनागत—पर्युषण आदि पर्व में जो तप करना चाहिए वह तप पहले कर लेना जिससे कि पर्व के समय वृद्ध, रुग्ण, तपस्वी आदि की सेवा सहज रूप से की जा सके। मूलाचार के टीकाकार वसुनन्दि ने लिखा है—चतुर्दशी को किया जाने वाला तप त्रयोदशी को करना।

(२) अतिक्रान्त—जो तप पर्व के दिनों में करना चाहिए वह तप पर्व के दिनों में सेवा आदि का प्रसंग उपस्थित होने से न कर सके तो उसे अपर्व के दिनों में करना चाहिए। वसुनन्दि के अनुसार चतुर्दशी को किया जाने वाला उपवास प्रतिपदा को करना।

(३) कोटिसहित—जो पूर्व तप चल रहा हो उस तप को बिना पूर्ण किये ही अगला तप प्रारंभ कर देना। जैसे उपवास का बिना पारणा किये ही अगला तप प्रारम्भ करना। आचार्य अभयदेव ने भी स्थानांगवृत्ति में यही अर्थ किया है। आचार्य वट्टकेर ने मूलाचार में कोटि सहित प्रत्याख्यान का अर्थ लिखा है कि शक्ति की अपेक्षा उपवास आदि करने का

---

१ (क) भगवती सूत्र ७ २ (ख) स्थानांग वृत्ति पत्र ४७२, ४७१
(ग) आवश्यकनियुक्ति अ ६ (घ) मूलाचार षडावश्यक अधिकार गा० १४०,१४१

संकल्प करना। वसुनन्दि के अनुसार यह संकल्प सम्बन्धित प्रत्याख्यान है। जैसे—अगले दिन स्वाध्याय वेला पूर्ण होने पर यदि शक्ति रही तो मैं उपवास करूँगा, अन्यथा नहीं करूँगा।

(४) नियन्त्रित—जिस दिन प्रत्याख्यान करने का विचार हो उस दिन रोग आदि विशेष बाधाएँ उपस्थित हो जायें तो भी उन बाधाओं की परवाह किये बिना जो मन में प्रत्याख्यान धारण किया है वह प्रत्याख्यान कर लेना। मूलाचार में इसका नाम विसर्जित है। पर दोनों में अर्थभेद नहीं है।

प्रस्तुत प्रत्याख्यान चतुर्दश पूर्व के धारी, जिनकल्पी श्रमण, दशपूर्व धारी श्रमण के लिए है क्योंकि उनका संकल्प बल इतना सुदृढ़ होता है कि किसी भी प्रकार की कोई भी बाधा उनको उनके निश्चय से विचलित नहीं कर सकती। क्योंकि जंबूस्वामी के निर्वाण के बाद जिनकल्प का विच्छेद हो चुका है, इसलिए यह प्रत्याख्यान भी व्युच्छिन्न हो गया है।

(५) साकार—प्रत्याख्यान करते समय मन में विशेष आकार कि अमुक प्रकार का कोई कारण विशेष उपस्थित हो जायगा तो मैं उसका आगार रखता हूँ—इस प्रकार मन में अपवाद की कल्पना करके जो त्याग किया जाता है वह साकार प्रत्याख्यान है।

(६) निराकार—यह प्रत्याख्यान बिना किसी प्रकार के अपवाद की छूट रखे किया जाता है। निराकार प्रत्याख्यान में दृढ़ मनोबल की अपेक्षा होती है।

आचार्य अभयदेव ने पाँचवें और छठे प्रत्याख्यान के सम्बन्ध में लिखा है कि साकार प्रत्याख्यान में सभी प्रकार के अपवाद व्यवहार में लाये जा सकते हैं और अनाकार प्रत्याख्यान में महत्तर की आज्ञा आदि अपवाद भी व्यवहार में नहीं लाये जा सकते किन्तु 'अनाभोग और सहसागार की छूट इनमें भी रहती है।'

वसुनन्दि ने 'आकार' का अर्थ भेद किया है। उसका अर्थ स्पष्ट करते हुए लिखा है कि अमुक नक्षत्र में अमुक तपस्या करनी है नक्षत्र आदि के भेद के आधार पर लम्बे समय की तपस्याएँ करना साकार प्रत्याख्यान है। नक्षत्र आदि का विचार किये बिना स्वेच्छा से उपवास आदि करना अनाकार प्रत्याख्यान है।

(७) परिमाण कृत—श्रमण भिक्षा के लिए जाते समय या आहार ग्रहण करते समय यह प्रतिज्ञा ग्रहण करता है कि मैं आज इतना ही ग्रास ग्रहण करूँगा या भोजन लेने के लिए गृहस्थ के यहाँ पर जाते समय मैं

में यह विचार करना कि अमुक प्रकार का आहार प्राप्त होगा तो ही मैं ग्रहण करूँगा, जैसे—भिक्षु प्रतिमाधारी श्रमण दत्ति आदि की कल्पना करके ही आहार लेते हैं।

मूलाचार में परिमाण कृत के स्थान पर परिणामगत शब्द आया है।

(८) निरवशेष—असन, पान, खादिम और स्वादिम—चारों प्रकार के आहार का पूर्ण रूप से परित्याग करना। वसुनन्दि श्रमण ने यावज्जीवन के लिए माना है, श्वेताम्बर आगमों में ऐसा वर्णन नहीं है।

(९) सांकेतिक—जो प्रत्याख्यान संकेतपूर्वक किया जाता है, जैसे—मुट्ठी बाँधकर, किसी वस्त्र के गाँठ लगाकर—जब तक मैं मुट्ठी या गाँठ नहीं खोलूँगा वहाँ तक कुछ भी वस्तु मुँह में न डालूँगा। इस प्रकार यह प्रत्याख्यान सांकेतिक है। इसमें साधक अपनी सुविधा के अनुसार प्रत्याख्यान करता है।

मूलाचार में इसका नाम 'अद्धानगत' है। वसुनन्दि श्रमण ने अध्वानगत प्रत्याख्यान का अर्थ मार्ग विषयक प्रत्याख्यान किया है। यह अटवी, नदी आदि को पार करते समय उपवास करने की पद्धति का सूचक है। सहेतुक प्रत्याख्यान का अर्थ है—उपसर्ग आदि आने पर किया जाने वाला उपवास।

(१०) अद्धा—समय विशेष की निश्चित मर्यादा के अनुसार प्रत्याख्यान करना। इस प्रत्याख्यान के (नमोक्कार सहित) नवकारसी, पोरसी पूर्वार्द्ध, एकाशन, एकस्थान, आचाम्ल, उपवास, दिवसचरिम, अभिग्रह, निर्विकृतिक—ये दस प्रत्याख्यान अद्धा (अध्वा) प्रत्याख्यान के अन्तर्गत आते हैं। 'अद्धा' का अर्थ 'काल' है।

आचार्य अभयदेव ने अध्वा का अर्थ पौरुषी आदि कालमान के आधार पर किया जाने वाला प्रत्याख्यान किया है।

प्रत्याख्यान में आत्मा मन वचन और काया की दुष्ट प्रवृत्तियों को रोककर शुभ प्रवृत्तियों में प्रवृत्त होता है। आस्रव के निरुन्धन होने से साधक पूर्ण निस्पृह हो जाता है जिससे उसे शान्ति उपलब्ध होती है। प्रत्याख्यान में साधक अमुक पदार्थों का सेवन करता और अमुक पदार्थों का परित्याग करता है। जो पदार्थ वह ग्रहण करता है उनमें भी आसक्ति नहीं होती। इस कारण उसके विशेष गुण समुत्पन्न होते हैं।

प्रत्याख्यान की विशुद्धि

साधना के क्षेत्र मे प्रत्याख्यान का विशिष्ट महत्त्व रहा है। प्रत्याख्यान म किसी भी प्रकार का दोष न लगे इसके लिए साधक सतत जागरूक रहता है। इसलिए आवश्यक मे छ प्रकार की विशुद्धि का उल्लेख है।

(१) श्रद्धानविशुद्धि—पच महाव्रत बारह व्रत आदि रूप जो प्रत्याख्यान है उनका पूर्ण श्रद्धा के साथ पालन करना।

(२) ज्ञानविशुद्धि—जिनकल्प स्थविरकल्प मूलगुण उत्तरगुण आदि जिस प्रत्याख्यान का जैसा स्वरूप है उस स्वरूप को सही रूप से जानना।

(३) विनयविशुद्धि—मन, वचन और काया सहित तो प्रत्याख्यान होता ही है। साथ ही प्रत्याख्यान म जितनी वन्दनाओ का विधान है प्रत्याख्यान के साथ उतना व दन करना आवश्यक है।

(४) अनुभाषणाशुद्धि—प्रत्याख्यान ग्रहण करते समय सद्गुरु के सम्मुख विनय मुद्रा म खड़े रहकर जिस प्रकार सद्गुरु पाठो का उच्चारण करें उसी प्रकार शुद्ध बोलना।

(५) अनुपालना शुद्धि—भयकर वन म तथा दुर्भिक्ष आदि म और रुग्ण अवस्था म व्रत का उत्साह के साथ सम्यक प्रकार से पालन करना।

(६) भाव विशुद्धि—राग-द्वेष रहित पवित्र भावना से प्रत्याख्यान का पालन करना।

प्रत्याख्यान के दोष

आचार्य भद्रबाहु[1] ने कहा है कि प्रत्याख्यान म तीन प्रकार के दोष लगने की सभावना रहती है अत उन दोषों स साधक को बचना चाहिए।

(१) अमुक व्यक्ति ने प्रत्याख्यान ग्रहण किया जिसके कारण उसका समाज म आदर हो रहा है। मैं भी इस प्रकार के प्रत्याख्यान करूँ जिससे मेरा आदर हो। इस प्रकार मन म राग भावना को लेकर प्रत्याख्यान करना।

(२) मैं ऐसा प्रत्याख्यान ग्रहण करू जिसके कारण जिन्होंने प्रत्याख्यान ग्रहण किया है उनकी कीर्ति कौमुदी धुंधली हो जाय। इस

[1] आवश्यकनिर्युक्ति

प्रकार दूसरे के प्रति मन में दुर्भावना से उत्प्रेरित होकर प्रत्याख्यान करना। इसमें तीव्र द्वेष प्रकट होता है।

(३) इस लोक में मुझे यश प्राप्त होगा और परलोक में भी मेरे जीवन में सुख और शान्ति की वंशी बजेगी। इस भावना से उत्प्रेरित होकर प्रत्याख्यान करना। इसमें यश की अभिलाषा, वैभव प्राप्ति की कामना आदि है।

सुप्रत्याख्यान और दुष्प्रत्याख्यान

शिष्य ने जिज्ञासा प्रस्तुत की—गुरुदेव! किस साधक का प्रत्याख्यान सुप्रत्याख्यान है और किस साधक का प्रत्याख्यान दुष्प्रत्याख्यान है? भगवान ने समाधान किया—जिस साधक को जीव अजीव का परिज्ञान है, प्रत्याख्यान किस उद्देश्य से किया जा रहा है इसकी अच्छी तरह से जानकारी है उस साधक का प्रत्याख्यान सुप्रत्याख्यान है। जिस साधक को जीव अजीव का परिज्ञान नहीं है, अज्ञान का उस पर इतना आवरण है कि प्रत्याख्यान करता हुआ भी प्रत्याख्यान के मर्म को नहीं जानता उसका वह प्रत्याख्यान दुष्प्रत्याख्यान है। क्योंकि वह प्रत्याख्यान के मर्म को नहीं समझता। इसलिए वह असंयत है, अविरत है और एकान्त बाल है।[1]

[illegible]

प्रत्याख्यान हो जाता है। यदि वह उसके मम को नही समझता है तो उसका प्रत्याख्यान अशुद्ध प्रत्याख्यान है।

(३) प्रत्याख्यान प्रदान करने वाला गुरु प्रत्याख्यान के मम को नही जानता हो किन्तु जो प्रत्याख्यान ग्रहण कर रहा है वह प्रत्याख्यान के रहस्य को जानता है तो वह प्रत्याख्यान शुद्ध प्रत्याख्यान है। यदि ज्ञाता गुरु विद्यमान हो उनकी उपस्थिति म भी परम्परा आदि की दृष्टि से अगीतार्थ से प्रत्याख्यान ग्रहण करना योग्य नही है।

(४) प्रत्याख्यान ग्रहण करने वाला प्रत्याख्यान के मम को नही जानता और जिसमे प्रत्याख्यान ग्रहण करना है वह भी प्रत्याख्यान के रहस्य से अनभिज्ञ है तो उसका प्रत्याख्यान अशुद्ध प्रत्याख्यान है।

प्रत्याख्यान षडावश्यक मे सुमेरु के स्थान पर है। प्रत्याख्यान से भविष्य म आनेवाली अव्रत की सभी क्रियाएँ रुक जाती हैं और वह साधक नियमापनियम का सम्यक पालन करता है।

प्रत्याख्यान के विविध प्रकार

उत्तराध्ययन म प्रत्याख्यान के सम्बन्ध म चिन्तन करते हुए निम्न प्रकार बताये हैं—

(१) सभोग प्रत्याख्यान[1]—श्रमणो के द्वारा लाये हुए आहार का एक स्थान पर मडली बद्ध बठकर खाने का परित्याग करना। इससे जीव स्वावलबी होता है और अपने द्वारा प्राप्त लाभ से ही सतुष्ट रहता है।

(२) उपधि प्रत्याख्यान[2]—वस्त्र आदि उपकरणो का त्याग करना। इससे स्वाध्याय आदि करने मे विघ्न नही उपस्थित होता। आकाक्षा रहित होने से वस्त्र आदि मागने की और उनकी रक्षा करने की उसे इच्छा नहीं होती और मन में सक्लेश नही होता।

(३) आहार प्रत्याख्यान[3]—आहार का परित्याग करने से जीवन के प्रति ममत्व नही रहता। निर्ममत्व होने से आहार के अभाव म भी उसे किसी भी प्रकार के कष्ट की अनुभूति नहीं होती।

(४) योग प्रत्याख्यान[4]—मन वचन और काय सम्बन्धी प्रवृत्ति को रोकना योग प्रत्याख्यान है। यह चौदहवें गुणस्थान में प्राप्त होता है।

---

१ उत्तराध्ययन २६ ३३ २ वही २६ ३४
३ - ४ वही

करता है, इसीलिए इनका नाम षडावश्यक है। सामायिक में वह सभी प्रकार के सावद्य (पापमय) योगों से विरत होता है चतुर्विंशतिस्तव द्वारा वह तीर्थंकर भगवानों जैसी वीतरागता अपने अन्दर भी विकसित करने की भावना रखता है वन्दना द्वारा वह स्वयं को विनय गुण से विभूषित करता है, 'प्रतिक्रमण' द्वारा वह समस्त बाह्य एवं वैभाविक परिणतियों से विरत होकर बहिर्मुखी से अन्तर्मुखी बनता है कायोत्सर्ग में काय कषाय की 'पर समकार' उनका व्युत्सर्ग करके अपने शुद्धात्मभाव का चिंतन करता है धर्म शुक्लध्यान की साधना करता है और प्रत्याख्यान में विविध प्रकार के त्याग लेता है। इस प्रकार इन षडावश्यकों से अपने जीवन को—आध्यात्मिक साधना को जगमगाता है मुक्ति की राह पर अपने दृढ कदम बढाता है।

इसीलिए साधक जीवन में षडावश्यकों का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है।

□

उपसंहार

आचार सम्बन्धी इस समग्र वर्णन विवेचन से पाठक के समक्ष आचारविधि, मर्यादा एवं व्रताचरण की सम्पूर्ण रूपरेखा का एक स्पष्ट चित्र उजागर हो सकेगा, ऐसा विश्वास है।

जैसा कि मैंने प्रारम्भ में लिखा है—आचार जीवन की रीढ़ है, साधना का मूल बिन्दु है। आचार शुद्धि के बिना विचार शुद्धि सम्भव नहीं है और विचार शुद्धि के बिना जीवन विकास, आत्म उत्थान एवं निर्वाण—सब एक कल्पना मात्र रहेंगे।

भगवान महावीर का यह वचन—धम्मो सुद्धस्स चिट्ठई—बहुत ही गम्भीर अर्थ की सूचना करता है और धर्म की खेती के लिए जीवन भूमि के परिष्कार व परिमार्जन की स्पष्ट उद्घोषणा भी।

वैसे तो भारत व विश्व के सभी धर्म प्रवर्तकों व धर्मोपदेशकों ने आचार शुद्धि की अनिवार्यता स्वीकार की है और जोरदार शब्दों में उसका महत्त्व बताया है किन्तु जहाँ तक जैनधर्म का प्रश्न है वह तो आचार शुद्धिमूलक ही है। ज्ञाता सूत्र के प्रसंग में एक प्रसिद्ध परिव्राजक संन्यासी को जैनधर्म (निर्ग्रन्थधर्म) का मूल बताते हुए कहा है—विणयमूलो धम्मो—हमारे धर्म का मूल विनय है और विनय का अर्थ किया गया है, आचार शुद्धि, अनुशासित एवं संयम पूर्ण जीवन।

आचार को विभिन्न दृष्टियों, अपेक्षाओं से समग्र रूप में समझने और जानने के लिए इस पुस्तक के प्रथम खंड में भारत के ही नहीं, विश्व के भी लगभग सभी प्रचलित अथवा प्राचीन कालीन धर्मों के आचार सम्बन्धी दृष्टिकोण तथा उनके महान प्रवर्तकों के तत्सम्बन्धी विचार एवं उपदेश दिये गये हैं। भारत के वैदिक, बौद्ध, लुप्तप्राय आजीवक, सिक्ख, संत परम्परा आदि तथा विश्व के यूनानी, चीनी, पारसी, ईसाई, मुस्लिम, सूफी, ताओ, कन्फ्यूसियस आदि धर्मों और धर्म प्रवर्तकों के विचारों का वर्णन भी कर दिया है। यह वर्णन पाठकों को उन धर्मों द्वारा विहित आचार सम्बन्धी उपयुक्त जानकारी प्रदान करेगा।

पाठक द्वितीय खड म जन आचार को आधारभूमिरूप—सम्यगदशन के सम्बध मे पढ ही चुके हैं। सम्यक्त्व का सीधा-सा शाब्दिक अथ ही है—सचाई या यथाथता। जीवन म आचार विचार म यथाथ भूमिका आना, स्पष्टता व निमलता आना ही सम्यगदशन की पहचान है और इसके बाद ही आत्मा विकास की ओर गतिमान होता हुआ गुणस्थान की उच्च भूमिकाओ पर चढता है। व्रत आदि की साधना मे सफल होता है।

तृतीय खड म व्रत साधना की पष्ठभूमि के पश्चात श्रावक आचार' का विशद वणन पाठको ने पढा होगा। श्रावकाचार आचार शुद्धि का एक मानदड है, एक तुला है। इसकी साधना से आचार म निमलता, पवित्रता व व्यवहार म शुद्धता स्वत प्रतिफलित होती है और क्रमश यह साधना जीवन शुद्धि की ओर बढती है।

जीवन गति है, छलाँग भरना नही। क्रमश गति करना, उत्तरोत्तर प्रगति करना यही साधना का माग है। इसी सन्दभ म चतुथ खड म जीवन शद्धि का एक विशेष निखरा हुआ स्वरूप —'श्रमण जीवन' का वणन किया गया ह।

जन श्रमण का जीवन-साधना की दष्टि से अन्य श्रमण व सन्यासियों की अपेक्षा अधिक सशक्त परिष्कृत व विविध मर्यादाओ तथा कल्पो म सन्निबद्ध ह। श्रावकाचार की तरह श्रमणाचार पर भी बडा गम्भीर व व्यापक चिन्तन मनन किया गया है। इस विषय को पढने स पाठक स्वय यह अनुभव कर पाये होगे कि श्रावकचर्या एव श्रमणचर्या वास्तव म सामाजिक एव आत्मिक विज्ञान की दष्टि म पूणत वज्ञानिक हैं। इनके आचार विधान नियम कल्प एव निषध न केवल धार्मिक विश्वासो पर आधत हैं बल्कि उनके पीछे शरीर विज्ञान मानव मानस विज्ञान चेतना विवेक और नीतिशास्त्र की मान्यता व स्थापनाओ का भी सपूण पष्ठबल ह। आज के सन्दभ में जन जीवन चर्या अधिक वज्ञानिक व अधिक स्वास्थ्यप्रद है। जन जीवन साधना म अहिंसा सत्य-ब्रह्मचय और और अपरिग्रह आदि का जो आदश है उसकी दुहरी प्रामाणिकता आज है—समाजदशन क क्षत्र म भी स्वास्थ्य रक्षा की दष्टि से भी तथा अध्यात्म चेतना के ऊर्ध्वारोहण की दष्टि म भी। श्रमण सघ की व्यवस्था भी कितनी लोकतात्रिक और स्वायत्तता पोषित है और वह भी कई वष पूव के चिन्तन पर आधृत—यह आश्चय के साथ-साथ । विषय है।

तप साधना की विवेचना में पाठक अनुभव कर चुके होंगे कि सिर्फ शरीर को कष्ट देना मात्र नहीं है बल्कि मन व इन्द्रियों का धरना तप है। जनधर्म की तप सम्बन्धी धारणाएँ व चिन्तन उसके प्रकार—वास्तव में ही किसी समृद्ध चिन्तन एवं व्यापक उदात्त सा परम्परा के सूचक तो हैं ही, साथ ही धर्म-साधना के सम्बन्ध में दृष्टिकोण भी उपस्थित करते हैं। ध्यान योग एवं भावना योग के तो सचमुच ही साधना की परिष्कृत विधि तथा मनोविज्ञान की ग अन्तर प्रविष्टि का सूचक है। मानव मानस का इतना सूक्ष्म नि परीक्षण-अवलोकन सम्भवतः अन्यत्र दुर्लभ होगा।

चतुर्थ खंड के अन्त में मृत्युकला—संलेखना का वर्णन जन अद्वितीय देन है। जीवन ही नहीं किन्तु मृत्यु को भी सुखमय प्र दायिनी बनाने की कला—जन चिन्तकों की एक अद्भुत शोध है। मरण या इच्छा मृत्यु के सम्बन्ध में क्रमिक तैयारी व मानस की नि निर्भयता जीवन में आनन्द का स्रोत बहाने वाली है। मृत्यु को भयाकुल आज के मानव को जैन धर्म का यह आह्वान—तुम्हारा भी सुखी होगा, तुम्हारी मृत्यु भी सुखद व प्रसन्नतादायिनी है यदि तुम विश्वास करते हो तो तुम्हारा अगला जन्म—परलोक भी होगा बशर्ते—इसकी साधना विधि सीख लो। कितना सन्तोष शान्तिदायक है।

वैसे तो चतुर्थ खण्ड में ही जीवन साधना का उपसंहार हो किन्तु श्रमण चर्या के मुख्य व्रत—महाव्रतों का वर्णन जब तक न तक साधना को समग्रता नहीं आ सकती इसी दृष्टि से पंचम खंड महाव्रत सामाचारी—षडावश्यक आदि का विवेचन किया गया।

इस प्रकार भले ही यह विवेचन विस्तृत व विशालकाय है किन्तु एक ही स्थान पर पाठक को जानने योग्य स्वीकारने व त्यागने योग्य—ज्ञेय-हेय का परिबोध हो जाय तो—इस काय ग्रन्थ की सार्थकता है उपादेयता है और लेखक का श्रम भी। इसी दृष्टि से यह सम्पूर्ण समायोजन हुआ है।
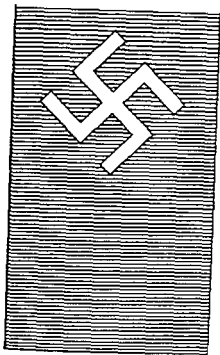
- ☐ पारिभाषिक शब्दकोष
- ☐ पुस्तक में प्रयुक्त ग्रन्थ सूची
- ☐ शुद्धि पत्र

अविरति—चारित्र मोहनीय कर्म के सर्वघाती स्पर्द्धकों के उदय से प्राणी हिंसा और इन्द्रिय विषयों से विरत न हो और अभिलाषा की निवृत्ति रूप परिणाम का न होना।

असंयत सम्यग्दृष्टि—सम्यग्दर्शन से युक्त होकर भी जो चारित्र मोहनीय के उदय से संयम भाव से विहीन है।

असंयम—षट्काय जीवों का घात करना तथा इन्द्रिय और मन को नियन्त्रित न रखना।

असंविग्न—पार्श्वस्थ और शिथिलाचारी श्रमण।

असात—रोग आदि के होने से जो पीड़ा होती है। जिस कर्म का वेदन-अनुभव परिताप के साथ किया जाता है।

असातावेदनीय—असाता का अर्थ दुःख है। उस दुःख का वेदन जिस कर्म के उदय से होता है, वह असातावेदनीय कर्म कहलाता है।

अस्तिकाय—जिनका गुणों और अनेक प्रकार की पर्यायों के साथ अस्ति स्वभाव है—अभेद या तद्रूपता है अथवा जिन द्रव्यों के प्रदेश अथवा परमाणु रत्न राशि के समान अलग-अलग न हों, वरन् अभेद हों, वे अस्तिकाय कहलाते हैं। जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश—ये पाँचों द्रव्य अस्तिकाय हैं।

अस्तेय महाव्रत—खान, मार्ग और पंक (कीचड़) आदि में गिरी हुई, नष्ट और विस्मृत दूसरों की किसी भी वस्तु का ग्रहण न करना।

अहंकार—जो कर्म जनित भाव वस्तुतः आत्मा से पृथक् हैं, उनमें अपनेपन का दुराग्रह होना।

अहिंसा—रागादि भावों की अनुद्भूति या अनुत्पत्ति।

अहिंसाणुव्रत—मन, वचन व काया से तथा कृत-कारित और अनुमोदना से त्रसजीवों की सांकल्पिक हिंसा का परित्याग करना।

अहिंसा महाव्रत—सभी प्रकार के प्राणातिपातों से निवृत्त होना।

आकाशगामित्व—जिस ऋद्धि के प्रभाव से पर्यङ्कासन से बैठे हुए अथवा कायोत्सर्ग में स्थित श्रमण पैरों को बिना उठाए आकाश गमन में कुशल हों।

आकाशचारण—भूमि से चार अंगुल ऊपर आकाश में चलने की शक्ति वाले श्रमण। आकाशचारण श्रमण पाद-क्षेप करते हुए भी प्राणियों को बिना पीड़ा पहुँचाए आकाश में गमन करते हैं।

आकाशगामिनी—जो आकाशगामी विद्या के प्रभाव से या पादलेपों के सद्भाव से आकाश में गमनागमन कर सकते हैं अथवा आकाश से स्वर्ण

आत्मभ्रान्ति—शरीर को आत्मा मानकर रागादि से परिणत हुआ मन जो आत्म स्वरूप में अस्थिरता को प्राप्त होता है वह।

आत्मा—ज्ञान-दर्शन स्वरूप जीव ही आत्मा है।

आद्यन्तिकमरण—जीव नारक आदि आयुस्वरूप जिन कर्म प्रदेशों का अनुभव करके मरता है—उन्हें छोड़ता है अथवा मर चुका है—वह भविष्य में उनका अनुभव करके मरने वाला नहीं है—उन्हें पुनः छोड़ने वाला नहीं है अतः इस प्रकार का द्रव्याश्रित मरण।

आदाननिक्षेपण समिति—ज्ञान संयम के साधनभूत पुस्तक व अन्य वस्त्र आदि धर्मोपकरणों को सावधानीपूर्वक अच्छी तरह से देखकर उठाना और रखना।

आधाकर्मिक (दोष)—श्रमणों के लिए बनाया हुआ आहार।

आन्तरतप—प्रायश्चित्त आदि छह प्रकार के तप जिनको लौकिक जन देख नहीं सकते विधर्मी भाव से उनकी आराधना नहीं कर सकते और जो मुक्ति के अन्तरंग कारण हैं उन्हें आन्तर और आभ्यन्तर तप कहते हैं।

आभिनिबोधिक—अभिमुख और नियमित पदार्थ को इन्द्रिय और मन के द्वारा जानना। यह मतिज्ञान का अवान्तर भेद है।

आम्नायार्थवाचक—आम्नाय के अनुसार आगम के उत्सर्ग और अपवाद रूप अर्थ का प्रतिपादन करने वाला आचार्य।

आयुकर्म—इस कर्म के उदय से जीव मनुष्य देव आदि के रूप में जीवित रहता है और इसके क्षय होने पर वह दूसरी पर्याय में चला जाता है लौकिक भाषा में वह मर जाता है।

आवर्जीकरण—केवली समुद्घात के पूर्व जो अतिशय शुभ योगों का आयोजन (व्यापार) किया जाता है वह आवर्जीकरण है। इसे 'आवर्जितकरण' और आयोजिकरण भी कहते हैं।

आरम्भविरत—पूर्व प्रतिमाओं के साथ आठ मास तक स्वयं आरम्भ न करने वाला श्रावक आरम्भविरत कहलाता है।

आरम्भ-समारम्भ—आरम्भ का अर्थ प्राणियों को पीड़ा पहुँचाने वाली प्रवृत्ति है और समारम्भ का अर्थ है प्राणी विघातक साधनों को जुटाना। इसी उद्योग आदि व्यापार से जो प्राणी विघात होता है वह आरम्भ-समारम्भ है।

आराधक—जो पाँचों इन्द्रियों को वश रखता है मन आदि तीनों योगों को प्रवृत्ति में सावधान है तथा ज्ञान संयम और नियम में संलग्न है ऐसा जीव।

आर्जव धर्म—कुटिलता का परित्याग कर निर्मल अन्तःकरण से प्रवृत्ति करना।

आर्त्तध्यान —अनिष्ट का सयोग होने पर उसे दूर करने के लिए इष्ट का वियोग होने पर उसकी प्राप्ति के लिए पीडा होने पर उसके परिहार के लिये निदान—आगामी काल मे सुख की प्राप्ति के लिए पुन पुन चिन्तन करना।

आर्य—जो गुणो से युक्त हो और गुणिजन जिसकी सेवा करते हो।

आर्यिका—पाँच महाव्रतो को धारण करने वाली महिला—साध्वी।

आलम्बन—ध्यान के आधारभूत बाह्य पदार्थ।

आलोचन—गुरु के सम्मुख दश दोषों से रहित अपने प्रमादजनित दोषो का निवेदन करना। इसे आलोचना भी कहते है।

आलोचनाह —जिन अपराधो की शुद्धि केवल आलोचना से ही की जाती है। आलोचना मर्यादापूर्वक बालक के समान सरल माया और मद से रहित होकर करनी चाहिए।

आलोचनाशुद्धि—क्रोधादि कषाय इन्द्रिय विषय तीनो प्रकार के गारव और राग द्वेष को दूर कर आलोचना करना।

आवलि—असख्यात समय समूह की एक आवली होती है।

आवश्यक—श्रमण और श्रावक दिन रात के भीतर जिस धार्मिक क्रिया को अवश्य करणीय समझकर करते हैं।

आवीचिमरण—वीचि का अर्थ तरग है। तरग के सदृश जो निरतरता से आयुकर्म के निषेको का प्रतिक्षण क्रम से उदय होना है उस का अनुभव आवीचिमरण है।

आशीविष—ऐसी ऋद्धि जिसके प्रभाव से मर जाय ऐसा कहने पर प्राणी सहसा मरण को प्राप्त होता है।

आश्रवभावना—समस्त ससारी जीवों के मिथ्यात्व कषाय अविरति प्रमाद और आर्त रौद्र आदि ध्यानो से निरन्तर कर्मों का आगमन होता रहता है इस प्रकार का चिन्तन।

आहार—औदारिक आदि तीन शरीर और छ पर्याप्तियो के योग्य पुद्गलों का ग्रहण करना।

आहारक शरीर—सूक्ष्म पदार्थों के विषय मे शका-समाधान अथवा जिज्ञासा शान्ति के लिए अथवा असयम मे परिहार की इच्छा से प्रमत्तसंयत के द्वारा जो शरीर की रचना की जाती है वह।

आहारक समुद्घात—अल्पपाप और सूक्ष्म तत्त्वों के अवधारण रूप

मिल करने वाले आत्मप्रदेश नगर का रचना में शरीर जो गम, गात—आत्म प्रदेश बहिर्गमन होता है वह।

आहारपर्याप्ति—आहार-वर्गणा के पुद्गल परमाणुओं को ग्रहण कर उन्हें खल और रस भाग में परिणमन कराने की शक्ति।

आहारसंज्ञा—आहार को देखने से या उसके स्मरण से अथवा वेदनीय की उदीरणा होने से आहार की अभिलाषा होना।

इंगिणीमरण—दूसरे से सेवा न कराते हुए जो साधक स्वयं ही शरीर की सेवा करते हुए मरण होता है वह।

इच्छाकार—पर प्रयोग के बिना स्वेच्छा से मन से काय करना।

इत्वर अनशन—परिमित काल तक जो आहार का त्याग किया जाता है वह।

इत्वर परिगृहीतागमन—द्रव्य देकर कुछ काल के लिए अपने अधीन करके व्यभिचारिणी (वेश्या) स्त्री के साथ विषय सेवन करना।

इन्द्रिय—परम ऐश्वर्य को प्राप्त करने वाले आत्मा को इन्द्र और उस इन्द्र के लिंग या चिह्न को इन्द्रिय कहते हैं अथवा जो जीव को अर्थ की उपलब्धि में निमित्त होता है वह इन्द्रिय है।

इन्द्रियजय—चक्षु श्रोत्र आदि इन्द्रिय विषयों को ज्ञान से वश में करना जानना।

इन्द्रिय संयम—पाँचों इन्द्रियों के विषयों में राग-द्वेष का अभाव।

इभ्य—जिसके पास सचित्त सुवर्ण रत्नादि की राशि के अम्बार में हाथी भी छिपा रहे वैसा धनवान पुरुष।

इर्यासमिति—प्रासुक—जीवजन्तु रहित मार्ग पर चार हाथ (युगमात्र) भूमि को देखते हुए यतनापूर्वक गमन करना।

ईर्ष्या—दूसरों के उत्कर्ष को सहन न करना।

उच्चगोत्र—जिसके उदय से लोकपूजित कुल में जन्म हो।

उच्चारप्रस्रवणसमिति—जो भूमि प्रासुक हो अंकुरोत्पादन और नीलफूलादि जीवों से रहित हो—वहाँ पर मल-मूत्रादि का विसर्जन करना।

उत्कालिक (श्रुत)—जिस अंगबाह्य श्रुत के स्वाध्याय का काल नियत नहीं है।

उत्सर्ग—बाल वृद्ध श्रान्त और रुग्ण साधु मूलभूत संयम का विनाश न हो इस दृष्टि से जो शुद्ध आत्मतत्त्व के साधनभूत अपने योग्य अति कठोर संयम का आचरण करता है वह संयम-परिपालन उत्सर्ग मार्ग है।

उत्सर्पिणी—जिस काल में जीवों की आयु शरीर की ऊँचाई बल विभूति आदि में उत्तरोत्तर वृद्धि हो। कालचक्र का आधा भाग।

उन्मूल—तीर्थंकर और गणधरों के उपदेश के विपरीत तत्त्व का स्वमति से कथन करना।

उदीरणा—अधिक स्थिति और अनुभाग को लिए हुए जो कर्म स्थित हैं उनकी उस स्थिति व अनुभाग को घीरे करके फल देने को उन्मुख करना।

उदारगवेषण—ऐसा श्रमण जो उपकरणों में मुग्ध होता हुआ अनेक प्रकार के विविध परिग्रह से युक्त होता है और विविध उपकरणों का अभिलाषी होकर उनके सत्कार की अपेक्षा करता है।

उपगूहन—बाल एव अशक्त जनों के द्वारा विशुद्ध मोक्षमार्ग की होने वाली निन्दा को दूर करना।

उपचार विनय—आचार्य आदि के सामने आने पर खड़े होना उनके सामने जाना उन्हें प्रणाम आदि करना।

उपबृंहण—उत्तम क्षमा आदि की भावना से अपने धर्म को बढ़ाना अथवा साधर्मी बन्धुओं के समीचीन गुणों की प्रशंसा करना उन्हें बढ़ाना।

उपभोग-परिभोगपरिमाणव्रत—अन्न पान आदि उपभोग वस्त्र अलंकार आदि परिभोग—इन दोनों का परिमाण करना।

उपवास—अशन पेय खाद्य और स्वाद्य—चार प्रकार के आहार का परित्याग करना।

उपशम—आत्मा में कारणवश कर्म के फल देने की शक्ति का प्रगट न होने देना।

उपशम श्रेणी—जहाँ (अपूर्वकरण अनिवृत्तिकरण सूक्ष्मसंपराय और उपशान्तमोह गुणस्थान) जीव मोहनीय—चारित्रमोहनीय का उपशान्त करता हुआ आरोहण करता है।

उपशमसम्यक्त्व—दर्शनमोहनीय के उपशमन से उत्पन्न होने वाला सम्यक्त्व। दूसरे शब्दों में औपशमिक लब्धि से अनन्तानुबन्धी चार और दर्शनमोहनीय तीन—इन सात प्रकृतियों का उपशमन होता है।

उपशान्त कषाय—सम्पूर्ण मोह कर्म का उपशमन करने वाला—ग्यारहवाँ गुणस्थानवर्ती जीव।

उपाध्याय—जो रत्नत्रय से सम्पन्न होकर जिन प्ररूपित पदार्थों का निष्पक्ष वृत्ति से उपदेश करते हैं। ये २५ गुणधारी होते हैं।

उपासकदशांग—जिस अंग में उपासकों के नगर आदि तथा प्रत्याख्यान पौषध आदि के ग्रहण की विधि एवं विवेचन उपसर्ग, संलेखना भक्त प्रत्याख्यान देवलोक गमन आदि

उपांशुजप—जिस की ध्वनि दूसरे को सुनाई न दे, ऐसे अन्तर्जप रूप मन्त्रोच्चारण करना।

उपेक्षासंयम—असंयम योग्य कार्यों में प्रवृत्त होना और संयम योग्य कार्यों में प्रवृत्त न होना उपेक्षा संयम है अथवा देश काल का ज्ञाता त्रिगुप्ति गुप्त श्रमण के राग-द्वेष का अभाव उपेक्षा संयम है।

ऋजुता—मायाचार से रहित मन वचन काया की सरल प्रवृत्ति।

एकत्वभावना—जीव अकेला ही उत्पन्न होता है और अकेला ही कर्मों का उपार्जन करता है और अकेला ही उन्हें भोगता है—पुनः पुनः ऐसा चिन्तन करना।

एकत्ववितर्कअविचार—मोह को समूलोच्छेदन करने की भावना से अनन्तगुणी विशुद्धि सहित योग विशेष के द्वारा ज्ञानावरण की सहायक बहुत-सी प्रकृतियों के बन्ध का निरोध, उनकी स्थिति के ह्रास व क्षय को करने वाला श्रुतज्ञानोपयोग से सहित तथा अर्थ व्यंजन और योग की संक्रांति रहित जो एक द्रव्य गुण और पर्याय का चिंतन करता है, ऐसे क्षीणकषायवर्ती गुणस्थान वाले श्रमण के जो निश्चल शुक्लध्यान होता है वह एकत्व वितर्क अविचार ध्यान है।

एकेन्द्रिय—वह जीव जो एक स्पर्श इन्द्रिय के द्वारा सुख-दुःख का संवेदन करता है।

एषणासमिति—कृत कारित व अनुमोदना दोषों से रहित दूसरे द्वारा दिए गए प्रासुक व शुद्ध भोजन का ग्रहण करना।

ओघमरण—आयु का क्षय होने पर मृत्यु को प्राप्त करना।

ओघसंज्ञा—ज्ञानावरण कर्म के अल्प क्षयोपशम से अव्यक्त ज्ञानोपयोग रूप जो संज्ञा होती है वह। इसका निश्चय लता समूह के आरोहण आदि रूप लिङ्ग के द्वारा होता है।

औद्देशिक—अपना और पराया का विभाग किए बिना अपने लिए पकाया जाने वाले आहार में से कुछ भाग को भिक्षाचरों के उद्देश्य से उसमें कुछ और मिलाकर पकाना।

औषधदान—रोगी के लिए शक्ति के अनुसार औषधि प्रदान करना।

औदयिकभाव—कर्म के उदय से उत्पन्न आत्मा के परिणाम।

औपशमिक चारित्र—समस्त मोहनीय के उपशमन से प्रादुर्भूत होने वाला चारित्र।

औपशमिकसम्यक्त्व—दर्शनमोहनीय की तीन और चारित्रमोहनीय की चार (अनन्तानुबन्धी चार) इन सात प्रकृतियों के उपशमन से प्रकट होने वाला सम्यक्त्व।

करुणा—दूसरे जीवों के दु:ख को दूर करने की इच्छा।

कषाय—कर्म और संसार को कष कहा जाता है इस प्रकार कष को प्राप्त करना। दूसरे शब्दों में चारित्रमोह के अन्तर्भूत कषायमोहनीय के उदय से आत्मा में जो क्रोध मान माया लोभ रूप कलुषता उत्पन्न होती है वह।

कषाय सलेखना—परिणामों की विशुद्धि करना अर्थात क्रोधादि कषायों को कृश करना।

कायगुप्ति—शयन आसन आसन निक्षेप स्थान और गमन आदि क्रियाओं को करते समय शरीर की प्रवृत्ति को नियमित रखना। जीव-जन्तुओं को निहार कर प्रमार्जित कर विवेकपूर्वक उक्त कार्य करना।

कारकसम्यक्त्व—जिस सम्यक्त्व के होने पर जीव आगमोक्त व्रत तप आदि के अनुष्ठान को तदनुसार ही करे।

कांक्षा—इस लोक सम्बन्धी और परलोक सम्बन्धी विषयों की अभिलाषा।

कूटलेखक्रिया—बनावटी लेख लिखना दूसरों के हस्ताक्षर बनाना दूसरों के द्वारा जो नहीं कहा गया है उसे दूसरे की प्रेरणा से कहना।

क्षपक—चारित्र मोहनीय कर्म को क्षय करने वाला श्रमण।

क्षपकश्रेणी—मोहनीयकर्म को क्षय करता हुआ आत्मा जिस श्रेणी (अपूर्वकरण अनिवृत्तिकरण सूक्ष्म सपराय और क्षीणमोह इन चार गुणस्थानों रूप श्रेणी) पर आरूढ होता है।

क्षमा—क्रोध की उत्पत्ति के निमित्तभूत बाह्य कारण प्रत्यक्ष में होने पर भी किञ्चित् मात्र भी क्रोध न करना।

क्षय—कर्मों की आत्यन्तिक निवृत्ति।

क्षयोपशम—सर्वघाती स्पर्धक अनन्तगुण हीन होकर देशघाती स्पर्धक में परिणत होते हुए उदय को प्राप्त होते हैं। उनकी अनन्तगुण हीनता का नाम क्षय है, उन्हीं का देशघाती रूप में अवस्थित रहना यह उपशम है इस प्रकार के क्षय और उपशम के साथ जो उदय हुआ करता है वह क्षयोपशम है।

क्षयोपशमसम्यक्त्व—जो मिथ्यात्व उदय को प्राप्त हुआ है वह क्षीण और जो उदय को अप्राप्त है वह उपशान्त—इस क्षय व साथ उपशमरूप मिश्र अवस्था को प्राप्त होना इसे क्षयोपशम या क्षायोपशमिक सम्यक्त्व कहते हैं।

क्षीणमोह—मोह विजय के पथिक श्रमण का मोह जब सर्वथा क्षय हो जाता है ऐसी निर्मोह अवस्था।

गण—जो श्रमण स्थविर मर्यादा के उपदेशक या श्रुत में वृद्ध होते हैं उनका समूह।

गणधर—जो गण का रक्षण करता है अथवा जो अनुपम ज्ञानदर्शन आदि रूप धर्म गण को धारण करता है वह।

गणावच्छेदक—गच्छ के एक आचार्य के नेतृत्व में वर्तमान श्रमण समूह के कार्यों की जो चिन्ता करता है वह।

गणी—ग्यारह अंगों का ज्ञाता अथवा गच्छ का स्वामी।

गुणव्रत—अणुव्रतों के उपकारक होने से दिग्व्रत, अनर्थदण्डव्रत और भोगोपभोग व्रत को गुणव्रत कहते हैं।

गुणस्थान—शुद्धि-अशुद्धि के प्रकर्ष अपकर्ष द्वारा जो जीव के स्वभावभूत ज्ञान दर्शन चारित्र रूप गुणों में भेद किया जाता है वह।

गुप्ति—सम्यग्दर्शनपूर्वक मन, वचन व काया के योगों का निग्रह करना।

गोदोहिका—गोदोहन के समय जिस प्रकार दोनों एड़ियों को ऊपर उठाकर बैठा जाता है उसी प्रकार के आसन विशेष से बैठना।

ग्रन्थि—जैसे किसी वृक्ष विशेष की कठोर गाँठ अतिशय दुर्भेद्य होती है वैसे ही कर्मोदय से उत्पन्न जो जीव के घनीभूत राग-द्वेष परिणाम उस गाँठ के समान दुर्भेद्य होते हैं वह ग्रन्थि है।

घातिकर्म—क्रम से केवलज्ञान, केवलदर्शन, सम्यक्त्व व चारित्र तथा वीर्य रूप जीव गुणों के घातक ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय ये चार कर्म।

चक्रवर्ती—षट्खण्ड भरतक्षेत्र का अधिपति और बत्तीस हजार मुकुटबद्ध आदि राजाओं का अधिपति।

चतुर्विंशतिस्तव—नामनिरुक्ति के साथ ऋषभादि चौबीस तीर्थंकरों के गुणों का उत्कीर्तन करना।

चरणकुशील—मूलगुण व उत्तरगुणों की प्रतिसेवना के साथ चारित्र की विराधना करने वाला श्रमण।

चलदोष—जो श्रद्धान आत्मीय अनेक विशेषों में चंचलता को प्राप्त होता है वह चल दोष से दूषित होता है।

चारण—(१) जल, जंघा, तन्तु, पुष्प, पत्र, श्रेणि (आकाश प्रदेश पंक्ति) और अग्नि की शिखा आदि के आलम्बन से गमन में समर्थ साधु (२) जिस चारणऋद्धि के प्रभाव से साधु अतिशययुक्त गमन में समर्थ होते हैं।

चारित्र—शुभ कर्म में प्रवृत्ति और अशुभ कर्म से निवृत्ति—हिंसा आदि से निवृत्त होना।

चारित्रमोहनीय—जो बाह्य और आभ्यन्तर क्रियाओं की निवृत्तिरूप चारित्र को मोहित करता है विघ्न करता है।

तप आचार—अनशनादि धर्मक्रियाओं में प्रवृत्त होना।

तीर्थ—संसार-समुद्र से दुःखी प्राणियों को पार उतारने वाला श्रेष्ठ मार्ग।

त्रस—त्रस नामकर्म के वशीभूत जीव जैसे—द्वीन्द्रियादि जीव।

दर्शन—(सम्यग्दर्शन)—आप्त आगम और पदार्थों में जो रुचि होती है वह। रुचि प्रत्यय श्रद्धा स्पर्शन—ये समानार्थक हैं।

दर्शनाचार—निःशंकादि आठ अंगयुक्त सम्यक्त्व का परिपालन करना।

दशपूर्वी—दसवें विद्यानुवाद पूर्व को पढ़ते हुए रोहिणी आदि पाँच सौ महाविद्याओं के तथा अंगुष्ठ प्रसेनादि सात सौ छोटी विद्याओं के द्वारा सिद्ध होकर अभीष्ट कार्यसिद्धि के लिए उनके द्वारा प्रार्थना करने पर भी जो उनकी इच्छा न करते हुए चारित्र से विचलित नहीं होते हैं उन विद्याओं को धारण करने वाले श्रमण।

दंश मशक-परीषह—डांस मच्छर मक्खी पिस्सू मधुमक्खी, खटमल कीट चींटी आदि द्वारा दी गई बाधा को शांति से सहन करना मन, वचन और काया से उन्हें पीड़ा न पहुँचाना उनके प्रति दुर्भाव न लाना।

दान—अपने और दूसरे के अनुग्रह के लिए जो धन आदि अपने स्वामित्व की वस्तु का त्याग किया जाता है वह।

दिग्व्रत—दिशाओं की मर्यादा करके मैं इससे बाहर नहीं जाऊँगा जीवन पर्यन्त के लिए ऐसा नियम करके उससे बाहर नहीं जाना।

दीक्षा—समस्त परिग्रह का परित्याग और भव परम्परा को नष्ट करने वाली।

दीक्षायोग्य—जो जाति कुल से शुद्ध रूपवान शान्त परिणामी, धीर सन्तुष्ट और संसार से उदासीन हो वह।

दीपक सम्यक्त्व—जो स्वयं मिथ्यादृष्टि होकर धर्मकथा आदि द्वारा दूसरे के सम्यक्त्व का प्रकाशक होता है उस कारण से कार्य के उपचार से दीपक सम्यक्त्व कहा है।

दुर्ध्यान—जो ध्यान अप्रशस्त होता है।

[illegible]—कार्य की सिद्धि करने के लिए दूत का कार्य सम्पन्न कर आहार ग्रहण करना।

[illegible]

[illegible]

[illegible]

क्षयोपशम से प्राप्त हुए कर्म की जो निर्जरा होती है वह। यह निर्जरा सभी संसारी जीवों को होती है।

[illegible]शारवस्थ—नित्यपिण्ड और अग्रपिण्ड को खाने वाला श्रमण।

दिशाविरति—ग्राम नगर आदि के जितने प्रदेश का परिमाण निश्चित किया गया है उसके बाहर गमन का परित्याग करना।

देशव्रती—अप्रत्याख्यानावरण कषाय का उपशमन होने पर पृथ्वी आदि स्थावरों के घात में प्रवृत्त होता हुआ भी जो यथाशक्ति त्रस जीवों की हिंसा से विरत रहता है ऐसा श्रावक।

द्यूत—जिस क्रिया में चौसर के पासे ताश रेस के घोड़े आदि पर निश्चित धन से जय-पराजय होती है।

द्रव्यकायोत्सर्ग—जो कायोत्सर्ग के वर्णन करने वाले प्राभृत का ज्ञाता होकर वर्तमान में उसके उपयोग से रहित है उस जीव को अथवा उसके शरीर को द्रव्य कायोत्सर्ग कहा जाता है।

द्रव्यमन—पुद्गलविपाकी नाम कर्म के उदय से जो पुद्गल मन रूप से परिणत होते हैं अथवा मनःपर्याप्ति नामक कर्म के उदय से प्राप्त मनोवर्गणा—मन वर्गणा को ग्रहण करके मन रूप परिणमाये गये द्रव्य का नाम द्रव्य मन है।

धर्मकथा—सर्वज्ञोक्त अहिंसादिस्वरूप धर्म का कथन करना तथा अनुयोग के [illegible] से उत्तम पुरुषों के जीवन चरित्र का कथन करना।

धर्मध्यान—आज्ञाविचय अपायविचय विपाकविचय और संस्थानविचय [illegible] पुनः चिन्तन करना। विचय का अर्थ विवेक या विचारणा है। [illegible] चिन्तनधारा।

धर्मरुचि—जो जिन प्ररूपित अस्तिकायधर्म श्रुतधर्म और चारित्र [illegible] करता है वह।

धर्मानुप्रेक्षा—अहिंसा जिसका लक्षण है [illegible] सत्य है क्षमा जिसका बल है ब्रह्मचर्य से [illegible]

ध्याता—मैं र का नी हू और पर मेरा ना है मैं ज्ञानस्वरूप हू, इस प्रकार जो ध्यान म चिन्तन करता है वह   अथवा जो कषाय की कलुषता स रहित व विषयो स विरक्त होता हुआ मन को निज स्वभाव म स्थित करता है वह।

ध्यान—स्थिर अध्यवसाय—आत्मपरिणाम।

ध्येय—केवलज्ञान आदि रूप अनेक गुणो स सम्पन्न वीतराग जिन और उनके द्वारा उपदिष्ट नौ पदार्थ ध्येय है ध्यान करने योग्य हैं इनके अतिरिक्त बारह अनुप्रेक्षाए उपशम और क्षपक श्रेणी पर आरूढ होने की विधि २३ वगणाए ५ परिवतन प्रकृति स्थिति आदि न्ध भेद भी ध्येय हैं।

नरक—असातावेदनीय वन्दनीय कम के उदय स शीत उष्ण आदि की वेदना स जो नरो—जीवो को श करात हैं रुलाते हैं वे अथवा जो पाप करने वाले प्राणियो को अतिशय दुख को प्राप्त कराते हैं।

निकाचित—कम के जिस प्रदेश पिण्ड का न अपकर्षण हो न अन्य प्रकृति रूप सक्रमण हो वह निकाचित कम है।

निगोद—जीवो के आश्रय विशेषो का नाम निगोद है अथवा जो अनन्तानन्त जीवो को नियत गो-याने भूमि (आधार) देता है वह।

नित्यपिण्ड—मैं आपको प्रतिदिन इतना आहार दूँगा आप मेरे घर पर गोचरी के लिए आइये इस प्रकार निमन्त्रित होकर प्रतिदिन गृहस्थ के घर जाकर आहार ग्रहण करना।

निदान—विशेष सुख की अभिलाषा म सयम चारित्र और तप का कोई फल है तो म चक्रवर्ती अधचक्री आदि होऊँ। इस प्रकार सकल्प कर अनुष्ठित तप व चारित्र का ग्रण्डन करना। तप के फल रूप भौतिक ऋद्धि प्राप्त करने का सकल्प।

नियाग—सदा आमन्त्रित आहार का ग्रहण करना। अनामन्त्रित को ग्रहण न करना।

निरालम्ब्य ध्यान—ध्यान की जिस अवस्था म न कोई धारणा हो न किसी मन्त्र का चिन्तन हो न मन म किसी प्रकार का चिन्तन हो किन्तु अपनी आत्मा को आत्मा के द्वारा देखकर श्रमण जो आत्मस्थ होता है वह अवस्था।

निर्ग्रन्थ—बाह्य और आभ्यन्तर मिथ्यात्व आदि ग्रन्थ स रहित—निर्ग्रन्थ।

निर्जरा—बधे हुए कर्मों के प्रदेशो पिण्ड के गलन का नाम निर्जरा है अर्थात् परिपाक के वश या तप के द्वारा कर्मों के आत्मा स पृथक होने को निर्जरा कहा है।

निर्विचिकित्सा—मानव शरीर यद्यपि स्वभाव स अपवित्र है तथापि रत्नत्रय की

मौन—प्रशस्त और अप्रशस्त समस्त वचन विलास का त्याग।

यानि—जीवो के उत्पन्न होने का स्थान।

रूपातीत ध्यान—वर्ण रस गंध और स्पर्श से रहित केवलज्ञान दर्शन स्वरूप सिद्ध परमेष्ठी का या शुद्ध आत्मा का ध्यान करना।

रौद्रध्यान—रुद्र का अर्थ क्रूर आशय है इसका कर्म या इससे होने वाला भाव रौद्र है। जो पुरुष प्राणियो को रुलाता है वह रुद्र क्रूर अथवा सब जीवों में निर्दय कहलाता है ऐसे पुरुष में जो ध्यान होता है वह रौद्रध्यान कहलाता है।

वाचना—शिष्यों को पढ़ाना।

विकृति—जिस आहार से जिह्वा या मन में तथा इन्द्रियो में विकार उत्पन्न हो।

विनय—(१) पूज्य पुरुषो का आदर करना। (२) रत्नत्रय को धारण करने वाले पुरुषो के प्रति नम्र होना।

विभाव—(१) कर्मों के उदय से होने वाले जीव के रागादि विकारी भाव। निमित्त की अपेक्षा कथन करने पर ये कर्मों के हैं और जीव की अपेक्षा कथन करने पर ये जीव के हैं। संयोगी होने से वस्तुतः वे किसी एक के नहीं हैं। (२) स्वभाव से अन्यथा परिणमन करना विभाव है।

वीतराग—जिनका राग नष्ट हो चुका है ऐसे केवली भगवान।

वैनयिक मिथ्यात्व—सब मतों व सब देवताओं को एक समान मानना।

वैयावृत्य—गुणो में अनुरागपूर्वक संयमी पुरुषों के खेद को दूर करना तथा अन्य प्रकार से उनकी सेवा करना। आचार्य उपाध्याय तपस्वी—आदि के भेद से वैयावृत्य के दस प्रकार हैं।

वैराग्य—विषयो से विरत होना।

व्युत्सर्ग—परिमित काल के लिए शरीर से ममत्व का त्याग करना।

व्रत—यावज्जीवन हिंसादि पापों की एकदेश या सर्वदेश निवृत्ति अथवा प्रतिज्ञा सहित जो नियम लिया जाता है वह व्रत है।

शरीर—जो शरीर नाम कर्म के उदय से प्राप्त होकर—शीर्यन्ते अर्थात गलता है वह।

शल्य—पीड़ा देने वाली वस्तु—जैसे शरीर में कांटा चुभने पर कष्ट होता है वैसे ही मिथ्यादर्शन माया और निदान—ये तीन शल्य है।

शुक्लध्यान—निर्मल गुणयुक्त आत्मपरिणति कषाय रूपी रज के क्षय या उपशम होने से आत्मा में सुनिर्मल परिणाम होता है और वह शुक्लध्यान वैडूर्यमणि के समान सुनिर्मल और निष्कम्प होता है।

शौच—प्रकर्ष प्राप्त लोभ का त्याग शौचधर्म है।

श्रमण—जो मोक्ष मार्ग में श्रम करता है अथवा जो उपशम भाव रखता है वह अथवा जो संसार के सभी प्राणियों पर समभाव रखता है वह। श्रमण साधु यति ऋषि मुनि आदि समानार्थक शब्द हैं।

श्रावक—धर्म सुनने वाला, धर्म पर श्रद्धा रखने वाला, तथा विवेकवान विरक्त चित्त अणुव्रती गृहस्थ को श्रावक कहा है। इसके तीन प्रकार हैं—पाक्षिक, नैष्ठिक और साधक। जिन धर्म का पक्ष मात्र करने वाला पाक्षिक, व्रतधारी नैष्ठिक और वैराग्य की प्रकर्षता से उत्तरोत्तर ११ प्रतिमा धारण करने वाला साधक। शक्ति को न छिपाता हुआ वह किसी दशा में क्रमपूर्वक उन्नति करता है। अन्तिम श्रेणी में ऐलक रूप साधु से किञ्चित् न्यून होता है।

श्रुतज्ञान—(१) मतिज्ञान से जाने हुए पदार्थ से, अवलम्बन से तत्सम्बन्धी दूसरे पदार्थ का ज्ञान होता है वह (२) शब्द सुनने के पश्चात् जो मन की ही प्रधानता से अर्थज्ञान होता है वह।

संक्रमण—जीव के परिणामों के प्रभाव से कर्म प्रकृति का बदलकर अन्य प्रकृति रूप हो जाना।

संज्ञी—मन के सद्भाव के कारण जिन जीवों में शिक्षा ग्रहण करने व विशेष प्रकार से विचार, तर्क आदि करने की शक्ति होती है वे संज्ञी हैं। यद्यपि चींटी आदि क्षुद्र जन्तुओं में भी इष्ट पदार्थ की प्राप्ति हेतु गमन और अनिष्ट पदार्थों से दूर हटने की क्रिया देखी जाती है लेकिन यह उनकी सहज स्वाभाविक क्रिया है बुद्धिपूर्वक क्रिया नहीं इसलिए उपरोक्त लक्षण के अभाव में वे संज्ञी नहीं हैं।

संज्वलन—संयम के साथ एकीभाव होकर या जिसके सद्भाव में संयम चमकता रहता है अथवा जो कषाय यथाख्यात चारित्र का घात करता है वह।

सम्पराय—कषाय और संसार।

सम्मूर्च्छन—तीनों लोकों में ऊपर नीचे तिरछे सभी ओर से देह का मूर्च्छन अर्थात् ग्रहण होना।

संयत—बहिरंग और अन्तरंग आश्रवों से विरत होने वाला श्रमण।

संयतासंयत—जो एकदेश विरति में लगा हुआ है वह श्रावक, संयम धारण करने के अभ्यास में स्थित कुछ संयम और कुछ असंयम-परिणाम युक्त।

संयम—सम्यक् रूप से यम अर्थात् नियन्त्रण।

संवर—आश्रवों का निरोध जिससे कर्मों का आगमन रुके अथवा कर्मों का रुकना संवर है।

संवेग—संसार के दुःखों से हमेशा डरते रहना।

संसार—संसरण संसार है जिसका अर्थ परिवर्तन है। कर्म के विपाक के वश से आत्मा को भवान्तर की प्राप्ति होना।

संसारी—कर्मकलंक से जो लिप्त है और अपने स्वरूप को नहीं जानने वाला और जो मोह से बंधा हुआ है वह संसारी है।

सत्य—जैसा हुआ हो वैसा ही कहना। राग-द्वेष अथवा मोह से होने वाले मृषा भाषा के परिणाम को जो सर्वथा—पूर्णरूप से छोड़ता है वह सत्यमहाव्रत है और स्थूल झूठ को स्वयं न बोले न बुलावे तथा जिस वचन से विपत्ति आती हो वह यथार्थ वचन भी न स्वयं बोले और न बुलावे वह सत्य अणुव्रत है।

समय—जघन्य गति से एक पुद्गल परमाणु सटे हुए द्वितीय परमाणु तक जितने काल में जाता है उतना काल एक समय कहलाता है।

समिति—चलने फिरने बोलने-चालने और आहार ग्रहण करने में वस्तु को उठाने धरने में और मल-मूत्र को निक्षेप करने में सम्यक् प्रकार में प्रवृत्ति करना अथवा प्राणी पीड़ा के परिहार के लिए सम्यक् प्रकार से प्रवृत्ति करना समिति है।

समुद्घात—वेदना आदि निमित्तों से मूल शरीर को न छोड़कर तैजस कार्मण रूप उत्तर देह के साथ-साथ जीव प्रदेशों का शरीर से बाहर निकलना समुद्घात है।

सम्यग्दर्शन—दुरभिनिवेश रहित पदार्थों का यथार्थ श्रद्धान अथवा आत्म प्रत्यक्ष पूर्वक स्व-पर भेद का कर्तव्य-अकर्तव्य का विवेक सम्यग्दर्शन है।

संलेखना—सम्यक् प्रकार से काय और कषाय को लेखन करना—कृश करना संलेखना है।

सागार—आगारयुक्त—श्रावक।

सामायिक—सुख-दुःख लाभ-अलाभ इष्ट-अनिष्ट आदि विषमताओं में राग-द्वेष न करना अपितु साक्षी भाव से उसका ज्ञाता द्रष्टा बने हुए समता-स्वभावी आत्मा में स्थित रहना और सब सावद्य योग से निवृत्त होना।

सासादन—सम्यक्त्व रूप रत्नपर्वत के शिखर से च्युत मिथ्यात्व रूप भूमि की ओर पतनोन्मुख और सम्यक्त्व के वमन रूप जीव के परिणाम।

सुमेरु—तीनों लोकों का मानदण्ड और मध्यलोक का सर्वप्रधान पर्वत है।

सूक्ष्मसम्पराय—जिस चारित्र में अति सूक्ष्म कषाय होता है जैसे कसुमसा रंग भीतर से सूक्ष्म लालिमा वाला होता है वैसे ही सूक्ष्मराग लोभ होने से इसे सूक्ष्म सम्पराय कहते हैं।

स्तेय—बिना दी हुई वस्तु लेना स्तेय है।

स्थविरकल्पिक—गच्छ में रहकर साधना करने वाला श्रमण।

स्याद्वाद—वस्तु का कथन करने की अनेकान्तमयी पद्धति।

स्वाध्याय—सतशास्त्र का मनन चिन्तन या उपदेश दना, अथवा अपन आत्मा का हित करने वाला अध्ययन करना।

हास्यमोहनीय—जिस कम के उदय स बिना कारण अथवा कारण सहित हँसी आवे।

हिंसा—स्व तथा पर के अतरग प्राणो का हनन करना। जहाँ रागादि हों वहाँ स्वहिंसा है और षटकाय जीवो को मारना परहिंसा है। परहिंसा भी स्व हिंसापूवक होन स परमाथ म स्वहिंसा ही है।

हिरण्य—जिसमें रूप्य—चान्दी आदि का व्यवहार होता है।

हीयमान अवधिज्ञान—उत्पत्ति के समय अधिक विषयों को प्रत्यक्ष करने वाला किन्तु उत्तरोत्तर अल्प अल्पतर अल्पतम होन वाला अवधिज्ञान।

□

प्रयुक्त ग्रन्थ सूची

अकालस्तुति

अंगिरा

अंगुत्तरनिकाय
  भदन्त आनन्द कौसल्यायन महाबोधि सभा कलकत्ता, सन् १९५७

अग्निपुराण

अथर्ववेद
  भाष्यकार श्री जयदेव शर्मा आर्य साहित्य मण्डल अजमेर वि स १९८६

अथर्ववेद सायण भाष्य

अनुयोगद्वारवृत्ति
  आगमोदय समिति १९२४ तथा आत्माराम जी महाराज

अनुत्तरोपपातिकदशा
  विनयमुनि सन्मति ज्ञानपीठ आगरा

अनगार धर्मामृत
  आशाधरजी माणिकचन्द दि जैन ग्रन्थमाला बम्बई

अपराक ज्ञानरत्नाकर

आप्टेज संस्कृत इंग्लिश डिक्शनरी

अभिधान चिन्तामणि कोश
  आचार्य हेमचन्द्र

अभिधान राजेन्द्र कोश भाग १-७
  जैन प्रभाकर प्रेस रतलाम

अध्यात्म रामायण

अभिज्ञान शाकुंतल
  चौखम्बा संस्कृत सिरीज वाराणसी १९७२

अध्यात्म विचारणा
  प दलसुखभाई मालवणिया

अष्टांग हृदय
  वाग्भट

अष्टांग संग्रह

अष्टपाहुड
  आचार्य कुन्दकुन्द माणिक्यचन्द दि जैन ग्रन्थमाला, बम्बई १९२३

अत्रि स्मृति

अन्तकृद्दशांग
  जैन धर्म प्रचार सभा भावनगर वि १९८०

अत्रि सूत्र

अध्यात्म मत-परीक्षा

अमरकोश
  निर्णय सागर प्रेस बम्बई

अशोक के धर्मलेख
  जनार्दन भट्ट पब्लिकेशन्स डिवीजन, दिल्ली

अष्टक प्रकरण
  हरिभद्र सूरि

अंगारस

आचार धर्मामृत

उत्तराध्ययनचूर्णि
रतलाम सन् १९३३
उत्तराध्ययन
आचार्य तुलसी
उपवास से जीवनरक्षा
उपवास
उपदेशमाला
मलधारी हेमचन्द्र, ऋषभदेवजी
केसरीमल संस्था रतलाम
उपासकदशाग का अनुवाद
प्रो० हानले
उपासकाचार
उपासकाचार
आचार्य अमितगति
उपासकदशांग
आगमोदय समिति बम्बई १९२०
उत्तर हिन्दुस्तान में जनधर्म
चिमनलाल जयचन्द शाह
ऋग्वेद
वसन्त श्रीपाद सातवेलकर, भारत
मुद्रणालय औंध सातारा १९४८
ऋग्वेद यास्क निरुक्त
एन० के० भगत पटना युनिवर्सिटी
रीडरशिप लेक्चरर्स
ऐतरेय ब्राह्मण
ऐतरेय आरण्यक
ऐतरेय उपनिषद
ओघनिय क्ति
विजयदान सूरीश्वर जन ग्रन्थमाला
सूरत सन् १९५७
ओघनिय क्तिभाष्य
ओघवृत्ति
औपपातिक सूत्र
औपपातिक वृत्ति
अभयदेवकृत आगमसंग्रह कलकत्ता
सन १८८० ।
आगमोदय समिति बम्बई सन १९१६
कठोपनिषद
निर्णय सागर प्रेस बम्बई १९३२
कथासरित्सागर
कबीर ग्रन्थावली
कसाय पाहुड भाग १—६
कल्पसूत्र
पुण्यविजयजी म साराभाई मणिलाल
नवाब अहमदाबाद सन १९५२
कल्पसूत्र कल्पलता टीका
समयसुन्दर गणि जिनदत्त सूरि
प्राचीन पुस्तकोद्धार सूरत सन् १९३९
कल्पसूत्र सुबोधिका
विनयविजय आत्मानन्द सभा भाव
नगर, स १९७५
कल्पद्रुम कलिका
लक्ष्मीवल्लभ जन आत्मानन्द सभा
भावनगर १९७५
कल्प समर्थन
कल्पसूत्र कल्पार्थबोधिनी
विजय राजेन्द्र सूरि राजेन्द्र प्रवचन
कार्य-खुडाला (फालना)
कल्प दर्शनम्
कल्पद्रुम कल्पद्रुम-कलिका टीका
कल्पसूत्रनिर्युक्ति
पुण्यविजयजी साराभाई नवाब
अहमदाबाद, सन् १९५२
कल्पसूत्रचूर्णि
पुण्यविजयजी साराभाई नवाब
अहमदाबाद सन् १९५२

कल्पसूत्रवृत्ति
कल्पसूत्र
श्री देवेन्द्र मुनि
काठ संहिता
कामसूत्र
कथाकोश
देवभद्र सूरि
कवितावली
काशी भारद्वाज सूत्र
कार्तिकेयानुप्रेक्षा
आचार्य स्वामी कार्तिकेय
कर्पूर प्रकरण
कर्मस्तव
महेसाणा संस्करण
क्रिया-कोश
मोहनलाल बांठिया, १६ सी, डोवर लेन, कलकत्ता २९
कौशीतकी ब्राह्मण उपनिषद्
कुम्भ जातक
कुवलयमाला
उद्योतन सूरि
कुरान शरीफ
कायोत्सर्ग शतक
कूर्मपुराण
बाइबिल थोथिका इंडिका एशियाटिक सोसायटी आफ बंगाल
कृष्णयजुर्वेद
कौटिल्य अर्थशास्त्र
गरुड़ पुराण
गीत गोविन्द
जयदेव
गीता रहस्य
लोकमान्य तिलक
गीता
गीता प्रेस, गोरखपुर
गीतावली
गोपथब्राह्मण
गोचरचर्यासूत्र
गोरक्षा शतक
गांधीजी की सूक्तियाँ
गोम्मटसार—कर्मकाण्ड
नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती रायचन्द्र जैन शास्त्रमाला १९२८
गोभिल स्मृति
गोभिल गृह्यसूत्र
गोम्मटसार
नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती अनु० जे० एल० जैनी एम० ए०
गुणस्थान क्रमारोह
सोपनवरि
गुरु ग्रन्थ साहिब
गौतम धर्मसूत्र
गौतम स्मृति
गृहस्थधर्म
आचार्य जवाहरलालजी महाराज
गृहस्थधर्म
आचार्य फूलचन्द जी महाराज
गृहस्थाचार
गुरुवन्दन भाष्य
देवेन्द्र सूरि
चतुःशरण
चन्द्रवेध्यक
चाणक्यनीति
चारित्र पाहुड
आचार्य कुन्दकुन्द
चरक संहिता

ता० तनेन्द्रिय
ता० गाथा मेतालिया
तारा सध्य व्यवस्था
थेरी गाथा
    राहुल सांकृत्यायन, रंगून १९३७
दशवकालिक सूत्र
    आ० आत्मारामजीकृत हिन्दी टीका सहित महेन्द्रगढ़ वि स १९८९
दशवकालिक जिनदास चूणि
दशवकालिक हरिभद्रीयावृत्ति
    देवचन्द्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धार भण्डार बम्बई १९१८
दशवकालिकनियुक्ति
    देवचन्द्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धार बम्बई १९१८
दर्शन और चिन्तन
    प० सुखलाल जी सघवी
दर्शन पाहुड
    आचाय कुन्दकुन्द
दर्शनसार,
    हिन्दी जैन ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय बम्बई वि स १९७३
दर्शन का प्रयोजन
दर्शन और चिन्तन
    प सुखलाल जी सघवी
दशवकालिक अगस्त्यसिंहचूणि
    प्राकृत ग्रन्थ परिषद् वाराणसी ५ प्र स १९७३
दि दरमाऊ—एफ० मक्समूलर
दीघनिकाय
    हिन्दी अनु० राहुल सांकृत्यायन महाबोधि सभा सारनाथ वाराणसी सन् १९३६
दशाश्रुतस्कन्ध
    आ आत्माराम जी म जैन शास्त्र माला कार्यालय लाहौर सं १९३६
दशाश्रुतस्कन्ध नियुक्ति
    मणिविजयजी ग्रन्थमाला भावनगर वि सं २०११
दशाश्रुतस्कन्ध चूणि
    मणिविजय जी ग्रन्थमाला भावनगर वि २०११
द्रव्यसंग्रह
    आ० नेमिचन्द्र स० डा० दरबारी लाल जी कोठिया
दसारमुनि
द्वादशानुप्रेक्षा
धम्मपद
    भिक्षु धर्मरक्षित, मास्टर खेलाडी एंड संस बनारस १९५३
धर्मसंग्रह श्रावकाचार
    मेधावी
धर्मबिन्दु प्रकरण
    आचाय हरिभद्र
धर्मशास्त्र का इतिहास
    पी० वी० काणे
धर्म संग्रह
ध्यान शतक
    भाष्य० जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण श्री कमलचंद रंग जी वैणव सूर्योदय प्रेस जामनगर
नव तत्त्व साहित्य संग्रह
नमस्कार स्वाध्याय ग्रन्थ
नव पद प्रकरण सटीक
    देवगुप्त सूरि
नारद पुराण

निमि जातक

निशीथ सूत्र

निशीथ सूत्र भाष्य
  सन्मति ज्ञानपीठ आगरा

निशीथ सूत्र सभाष्य चूर्णि
  सन्मति ज्ञानपीठ आगरा १९५७ ६०

निरयावलिया

नियमसार
  कुन्दकुन्द सं प अजितप्रसाद लखनऊ १९३७

निरुक्त

नीतिवाक्यामृत
  आचार्य सोमदेव सूरि

न्यायसूत्र भाष्य

न्यायमञ्जरी
  गौतमसूत्र तत्त्वार्थविवृत्ति चौ स सिरीज वाराणसी १९३१ १९५४

न्यायवार्तिक
  स विन्ध्येश्वरीप्रसाद द्विवेदी चौखम्बा स सी वाराणसी १९७५

न्यायभाष्य

निर्णयसिन्धु

पद्मपुराण

परिशिष्ट पर्व
  आचार्य हेमचन्द्र

परमात्म द्वात्रिंशिका

पातञ्जल योगसूत्र

पातञ्जल-योग-व्यासभाष्य

पद्मचरित
  रविषेण

पातञ्जल योग वृत्ति
  आचार्य यशोविजय

परमात्मप्रकाश

पिण्डनिर्युक्ति

पिण्डविशुद्धि
  जिनवल्लभ सूरि

पुरुषार्थसिद्ध्युपाय
  अमृतचन्द्राचार्य—परमश्रुत प्रभावक मंडल बम्बई वी स २४३१

पुरुषार्थानुशासनभाव सग्रह
  प गोविन्द

पञ्चास्तिकाय
  कुन्दकुन्द स प्रो ए चक्रवर्ती प्र कुमार देवेन्द्र प्रसाद आरा १९२०

पञ्चवस्तु

पञ्चाचाराधिकार

पञ्चाशक सटीक विवरण

पञ्चसग्रह
  चन्द्रर्षि महत्तर (भा० २) स विजय प्रेम सूरि

पञ्च विंशतिका
  पद्मनन्दी

पञ्चकल्प महाभाष्य

पञ्चसूत्र

पञ्चनियण्ठि
  आ० हरिभद्र

पञ्चनियण्ठि
  अभयदेव

पञ्चवस्तुक
  आचार्य हरिभद्र

प्रवचनसारोद्धार
  नेमिचन्द्र (सिद्धसेन टीका सहित)

प्रवचनसार तात्पर्य वृत्ति टीका

प्रतिक्रमण सूत्रवृत्ति

प्रज्ञापना प्रदेश
  [illegible]

मत्स्य पुराण

माकण्डय पुराण

यजुर्वेद
जयदेव जी शर्मा आय साहित्य मडल अजमेर वि स २००५

यतिधम सग्रह

यतिदिन कृत्य
हरिभद्र

यशस्तिलक चम्पू
आचाय सोमदेव

याज्ञवल्क्यस्मृति

योगदशन व्यास भाष्य

योगप्रदीप

योगदशन

योगशास्त्र
आ० हेमचन्द्र

योगशास्त्र
आ श्री हेमचन्द्र/ऋषभचद जौहरी किशनलाल जन दिल्ली १९६३

योग बिन्दु
हरिभद्र—जैन धम प्रसारक सभा भावनगर, १९११

योगलक्षण द्वात्रिंशिका

योगभेद द्वात्रिंशिका

योगावतार द्वात्रिंशिका

योगशिखोपनिषद्

योग वाशिष्ठ

रघुवश
मल्लिनाथ टीका

रघुवश
कालिदास

रत्नकरण्ड श्रावकाचार
स्वामी समन्तभद्र

रत्नमाला
आ० शिवकोटि

राजप्रश्नीय
आगमोदय समिति बम्बई सन् १९२५

रामचरितमानस

रामायण

रयणसार
आचाय कुन्दकुन्द

रयणसार
अमतचन्द

लब्धि-सार

लाटी सहिता

लोकप्रकाश
उपाध्याय विनयविजय जी

लिंग पुराण

वराह पुराण

वशिष्ठ धमसूत्र

वशिष्ठ स्मृति

वसुनन्दी श्रावकाचार

वायु पुराण
प्र मनसुखराय मोर कलकत्ता १९५९

वाग्भट

वसुदेव हिण्डी
सघदास गणि और धमसेन गणि

वरांग चरित
जटासीन नन्दी

वाजसनेयी सहिता

वाल्मीकि रामायण

विषय निग्रह कुलक

विधि कौमुदी
आचाय रत्नशेखर सूरि

विपाक सूत्र

विष्णु धमसूत्र

विष्णु पुराण

विष्णुधर्मोत्तर पुराण

विनयपिटक

विशेषावश्यकभाष्य

    जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण

    सं दलसुख मालवणिया

विसुद्धिमग्ग

विवाद रत्नाकर

वीतराग स्तोत्र

वेराइटीस आफ रिलिजियस एक्सपीरियन्स

बृहदारण्यक उपनिषद्

बृहद्धर्म पुराण

बृहन्नारदीय पुराण

वृद्ध पाराशर स्मृति

वृद्ध योगी-याज्ञवल्क्य

बृहत्कल्पसूत्र

बृहद्द्रव्यसंग्रह

    नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती

बृहत्कल्पनियुक्ति

    पुण्यविजयजी सम्पादित आत्मानन्द
        सभा भावनगर सन् १९३३-४१

बृहत्कल्प लघुभाष्य

    आत्मानन्द सभा भावनगर

वेदान्त सूत्र भाष्य

    आचार्य शंकर

वैशेषिक दर्शन

    डॉ० भगवानदास

वैशेषिक सूत्र

[illegible] संग्रह

व्यवहार सूत्र

    मुनि कन्हैयालाल जी कमल

व्यवहारभाष्य

    केशवलाल प्रेमचन्द अहमदाबाद
    वि स १९८२-८२

व्यवहार भाष्य टीका

    मलयगिरि वृत्ति प्रकाशक-अहमदा
    बाद

व्यवहारनियुक्ति

    भद्रबाहु सम्पादक मुनि माणक

समयसार

    आचार्य कुन्दकुन्द जैन[illegible] अंग्रेजी
    अनु० अजिताश्रम लखनऊ १९[illegible]

सप्त तत्त्व प्रकरणम्

    आचार्य हेमचन्द्र

सप्ततिस्थानक

सत्तरिसयस्थानक

संबोध सत्तरि

समवायांग

    अ भा श्वे स्था जैन शास्त्रोद्धार
    समिति राजकोट १९६२

समवायांग

    अभयदेव वृत्ति

समवायांग

    मु० कन्हैयालालजी महाराज

सर्वार्थसिद्धि

समीचीन धर्मशास्त्र

    समन्तभद्र

सन्मति [illegible]

सामवेद पूर्वार्चिक

सागार धर्मामृत

    आशाधर श्री मा दि जैन ग
    बम्बई १९१७

साधना के सूत्र

    मधुकर मुनि

सामाचारी प्रकरण

साहित्य और संस्कृति

    देवेन्द्र मुनि भारतीय विद्या प्रकाशन
    वाराणसी

सावयधम्म दोहा
सिगालोवाद सूत्र
सिन्दूर प्रकरण
सिफरा लव्य व्यवस्था
सिस्टम्स आफ बुद्धिस्टिक थाट
सुत्तनिपात
सुश्रुत सूत्र स्थान
सूत्रकृताग
अ भा श्वे स्था जन शास्त्रोद्धार समिति राजकोट १६६६
सूत्रकृताग, शीलाक वत्ति
सूफीमत साधना और साहित्य
सूक्ति मुक्ता
आचाय सोमप्रभ सूरि
स्मृति मुक्ताफल
स्मृतिचन्द्रिका
सेक्रड बुक्स आफ दी ईस्ट भाग—४५
सयुक्त निकाय
आ० भिक्षु जगदीश काश्यप
सस्तारक
सवेग रगशाला
देवभद्र सूरि
सस्कृत शब्दाथ कौस्तुभ
सबोध सत्तरि
स्थानांग सूत्र
स्थानांग टीका
अभयदेव
सस्कृत भाव सग्रह
वामदेव
सांख्य कारिका
स डॉ उमाशकर त्रिपाठी वाराणसी १९७०
सांब पुराण
स्कन्दपुराण
समयसार
कुन्दकुन्दाचार्य, भारतीय जैन सिद्धान्त प्रकाशन संस्था, काशी ई सन्—१९१५
साइकोलाजी एण्ड मारल्स
स्याद्वादमजरी
सम्यग्दशन
डॉ० एल० के० गांधी श्याम जी वेलजी विरानी राजकोट
सुत्तागमे
धर्मोपदेष्टा फूलचन्द जी महाराज
सौन्दरनन्द
अश्वघोष
शतपथ ब्राह्मण
शब्दकल्पद्रुम
शाकुतल नाटक
शाखा श्रोत
शौण्डिल्योपनिषद
शात सुधारस
शिव सहिता
शिवपुराण
श्रीमद्भागवत
श्रावकधम प्रकरण वत्ति
श्रावकधम विधि प्रकरण
श्रावकधम विधि
जिनेश्वर सूरि
श्रावकधम
महासती उज्ज्वलकुमारी जी
श्रावकधम दशन
उपाध्याय पुष्कर मुनि जी

श्रावकाचार
वसुनन्दी
श्रावकाचार
अमितगति अनन्तकीर्ति ग्रन्थमाला
बम्बई १६७६
श्रावकाचार
गुणभूषण
श्रावकाचार
पूज्यपाद
श्रावकाचार
पद्मनन्दी
श्रावकाचार संग्रह
श्रमणसूत्र
श्रमणसूत्र
उपाध्याय अमर मुनि
श्राद्धदिन कृत्य सूत्र
देवेन्द्र सूरि
श्राद्धगुण विवरण
जिनमण्डनगणि
श्राद्धविधि
रत्नशेखर सूरि
षट्खण्डागम
धवलावृत्ति लेखक—वीरसेनाचार्य
जैन साहित्योद्धारक फंड अमरावती
ई सन्—१६३८ १६५८
षट्प्राभृतादि
आ कुन्दकुन्द श्रुतसागर कृत
संस्कृत टीका सहित
षट्स्थान प्रकरण
आचार्य जिनेश्वर सविहित
त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित्र
हेमचन्द्र सूरि—जैन धर्म प्रसारक
सभा भावनगर बम्बई वि स
१६६५
हरिभद्रीय अष्टक
हरिभक्ति विलास
हरिवंश पुराण
आचार्य जिनसेन
हारीतस्मृति
हिस्ट्री आफ इण्डियन फिलासफी
हिस्ट्री आफ फिलासफी—ईस्टर्न एण्ड वेस्टर्न
हेमाद्रि व्रत
हारीत धर्मसूत्र
ज्ञान-सार
उपाध्याय यशोविजय जी
ज्ञानार्णव
ज्ञाताधर्मकथा
ज्ञाता सूत्र
आचार्य अमोलक ऋषि जी म०
हैदराबाद वी स २४४६

□

सावयधम्म दोहा
सिगालोवाद सूत्र
सिन्दूर प्रकरण
सिक्ख लॉ व्यवस्था
सिस्टम्स आफ बुद्धिस्टिक थाट
सुत्तनिपात
सुश्रुत सूत्र स्थान
सूत्रकृतांग
अ भा श्वे स्था जैन शास्त्रोद्धार समिति राजकोट १९६६
सूत्रकृतांग, शीलांक वृत्ति
सूफीमत साधना और साहित्य
सूक्ति मुक्ता
आचार्य सोमप्रभ सूरि
स्मृति मुक्ताफल
स्मृतिचन्द्रिका
सेक्रेड बुक्स आफ दी ईस्ट भाग—४५
संयुक्त निकाय
आ० भिक्षु जगदीश काश्यप
संस्तारक
संवेग रंगशाला
देवभद्र सूरि
संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ
संबोध सत्तरि
स्थानांग सूत्र
स्थानांग टीका
अभयदेव
संस्कृत भाव संग्रह
वामदेव
सांख्य कारिका
स डॉ उमाशंकर त्रिपाठी वाराणसी १९७०
साम्ब पुराण
स्कन्दपुराण
समयसार
कुन्दकुन्दाचार्य, भारतीय जैन सिद्धान्त प्रकाशन संस्था, काशी, ई० सन्—१९१५
साइकोलॉजी एण्ड मारल्स
स्याद्वादमंजरी
सम्यग्ज्ञान
डॉ० एल० के० गांधी श्याम जी वेलजी विरानी, राजकोट
सुत्तागमे
धर्मोपदेष्टा, फूलचन्द जी महाराज
सौन्दरनन्द
अश्वघोष
शतपथ ब्राह्मण
शब्दकल्पद्रुम
शाकुन्तल नाटक
शाखा श्रोत
शांडिल्योपनिषद्
शान्त सुधारस
शिव संहिता
शिवपुराण
श्रीमद्भागवत
श्रावकधर्म प्रकरण वृत्ति
श्रावकधर्म विधि प्रकरण
श्रावक-धर्म विधि
जिनेश्वर सूरि
श्रावकधर्म
महासती उज्ज्वलकुमारी जी
श्रावकधर्म दर्शन
उपाध्याय पुष्कर मुनि जी

ावकाचार
वसुनन्दी
ावकाचार
अमितगति अनन्तकीर्ति ग्रन्थालय
बम्बई १६७६
ावकाचार
गुणभूषण
ावकाचार
पूज्यपाद
ावकाचार
पद्मनन्दी
ावकाचार संग्रह
मणसूत्र
मणसूत्र
उपाध्याय अमर मुनि
ाद्धविन कृत्य सूत्र
देवेन्द्र सूरि
ाद्धगुण विवरण
जिनमण्डनगणि
ाद्धविधि
रत्नशेखर सूरि
टखण्डागम
धवलावृत्ति लेखक—वीरसेनाचार्य
जैन साहित्योद्धारक फंड अमरावती
ई सन्—१६३८ १६५९
षट्प्राभृतादि
आ कुन्दकुन्द श्रुतसागर कृत
संस्कृत टीका सहित
षट्स्थान प्रकरण
आचार्य जिनेश्वर सविन्ति
त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित्र
हेमचन्द्र सूरि—जैन धर्म प्रसारक
सभा भावनगर बम्बई वि स
१६६५
हरिभद्रीय अष्टक
हरिभक्ति विलास
हरिवंश पुराण
आचार्य जिनसेन
हारीतस्मृति
हिस्ट्री आफ इण्डियन फिलासफी
हिस्ट्री आफ फिलासफी—ईस्टन एण्ड वेस्टन
हेमादि व्रत
हारीत धर्मसूत्र
ज्ञान-सार
उपाध्याय यशोविजय जी
ज्ञानार्णव
ज्ञाताधर्मकथा
ज्ञाता सूत्र
आचार्य अमोलक ऋषि जी म०
हैदराबाद वी स २४४६

□

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
४८०	२३	सहिता	संहिता
४८५	५	पथक	पृथक
४८५	२४	उनक	उनके
४८८	२२	सम्बन्ध चिन्तन	सम्बन्ध में चिन्तन
५००	६	विन विजय जी	विनयविजय जी
५००	१५	आचाय	आचार्य
५०५	१३	गणावच्छेन्क	गणावच्छेदक
५१६	४	अन्त स्पृत	अन्तःस्पृष्ट
५३८	१०	सतापयुक्त	संतापयुक्त
५३८	१६	सतुलित	संतुलित
५४०	१७	क ता	करता
५४०	१७	नरथिक	नरर्थिक
५८५	२३	उ का	उसका
५९३	६	प्रचर	प्रचुर
६४०	१४	भग	भोग
६४४	२५	मानानुबन्धी भावना	मानानुबन्धी भावना
६५६	१२	सवर भावना	संवर भावना
६६२	२०	वमानिक	वैमानिक
६८१	४	क्षधा	क्षुधा
६८४	१०	सय	सूर्य
६९५	२४	जाने असमथ हो,	जाने में असमर्थ हो
७००	५	इस सभी	इन सभी
७१६	१६	चके	चुके
७२२	१९	पाण	पाषाण
७२४	४	चकी	चुकी
७२४	५	चका	चुका
७२९	७	प्र ख	प्रमुख
७३०	११	चके	चुके
७३९	११	काय	कार्य
७६४	२८	शद्धोपयोग	शुद्धोपयोग
७८२	२०	धरी में	धुरी में
७८३	६	विभषा	विभूषा
७८५	२१	चके	चुके

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२८५	८	जसे	जैसे
२८७	७	देखत	देखते
३०२	५	स्वार्थसिद्धिमूलक	सर्वार्थसिद्धिमूलक
३१४	४	पग्ग्रह	परिग्रह
३१४	६	दायों	दायों
३१६	४	नऋत्य	नैऋत्य
३१६	५	सिर की आर	सिर की ओर
३१६	१३	पमाने	पमाने
३२७	१७	अधग्ण्ड	अधदण्ड
३३२	२१	ह	है
३६७	१७	से महावग्ग	महावग्ग से
३८४	५	मत	मत
३८८	१२	पारगन	पारगत
३९७	१२	मग	मग
३९७	१२	सघाटी	संघाटी
४०१	२७	पस्तुत	प्रस्तुत
४०२	१६	सावत्सरिक	सांवत्सरिक
४०२	२५	आयबिल	आयंबिल
४०८	२२	वणन	वर्णन
४११	२१	वणन	वर्णन
४१२	२२	थो	थाने
४१५	३१	किसी	किस
४२?	१६	दशवकालिकभाष्य	दशवैकालिकभाष्य
४?६	१८	आराधनारल	आराधनारत्न
४४२	६	[illegible] क साथ	[illegible] के साथ
४४५	३	छ वर्ष का	छह् वर्ष की
४४६	७	आर्यरक्षित	आर्यरक्षित
४४८	७	[illegible]	[illegible]
४५०	६	है	हैं
४५१	११	[illegible]	वैराग्य
४५१	११	[illegible]	उसके पश्चात्
४६०	१८	[illegible]	शरण
४६०	१०	[illegible]	[illegible]

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध
८०१	१०	स ॒ द्र
८२५	२२	कीटाण
८३१	२७	जीवाण
८५५	१५	चौदह कारण बताय हैं
८८८	६	प्रमाजना
६२०	२०	तात्पय
६३१	१८	काया पलट
६५५	१७	मन
६५६	२७	पच
६५८	२०	सास-पेशिया
६५८	२३	सबन्ध
६६२	२३	चतुदर्शी
६७१	२२	दष्टि

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
८०१	१०	स ु द्र	समुद्र
८२५	२२	कीटाण	कीटाणु
८३१	२७	जीवाण	जीवाणु
८५५	१५	चौन्ह कारण बताये हैं	चौन्ह प्रकार बताये हैं
८८८	६	प्रमाजना	प्रमार्जना
९२०	२०	तात्पय	तात्पर्य
९३१	१८	काया पलट	कायाकल्प
९५५	१७	मत्र	मन
९५६	२७	पत्र	पथ
९५८	२०	सास-पेशिया	मांस-पेशियाँ
९५८	२३	सबध	सबध
९६२	२३	चतुदर्शी	चतुदशी
९७१	२२	दष्टि	दृष्टि

□